



सुकवि-माधुरी-माला — प्रथम पुष्प

# बिहारी-रत्नाकर

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव
( माधुरी-संपादक )

# सुंदर काव्य-ग्रंथ

| | |
|---|---|
| मतिराम-ग्रंथावली | २॥), ३) |
| हिंदी-नवरत्न | ४॥), ५) |
| देव और बिहारी | १॥), २) |
| पूर्ण-संग्रह | १॥), २) |
| पराग | ॥), १) |
| उषा | ॥=) |
| भारत-गीत | ॥), १) |
| आत्मार्पण | ।) |
| निबंध-निचय | १), १॥) |
| विश्व-साहित्य | १॥), २) |
| भवभूति | ॥=), १=) |
| तुलसी-ग्रंथावली | ६) |
| कबीर-वचनावली | १।) |
| सतसई-संजीवन-भाष्य ( पद्मसिंह शर्मा ) | ४॥) |
| काव्य-निर्णय | १॥) |
| भाव-विलास | ।=) |
| भवानी-विलास | ।=) |
| रस-विलास | ।=) |
| अष्टयाम | ≡) |
| शृंगार-निर्णय | ॥) |
| शृंगार-दर्पण | ॥) |
| नवरस-तरंग | १) |
| रतन-हज़ारा | ॥) |
| रस-प्रबोध | ।=) |
| भाषा-भूषण | ॥) |
| जायसी-ग्रंथावली | ३) |
| हरिश्चंद्र ( काव्य ) | ≡) |
| जगद्विनोद | ॥) |
| पद्माभरण | ≡) |
| भूषण-ग्रंथावली | ।-) |
| आलम-केलि | १) |
| कविता-कौमुदी ( चार भाग ) | १२) |
| रामचंद्रिका | २) |
| बिहारी-सतसई (कृष्ण कवि ) | १) |
| शिवसिंह-सरोज | २) |
| सुजान-चरित्र | २) |
| ब्रज-माधुरी-सार | २) |
| काव्य-प्रभाकर | ८) |
| साहित्य-प्रभाकर | ३॥) |
| सूक्ति-सरोवर | ६॥) |
| विद्यापति की पदावली | २) |
| सूर-सागर | ६) |
| संक्षिप्त सूर-सागर | २) |

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ



श्रीमहाराज जयसिंह ( मिर्ज़ा राजा, जयशाह ), आमेर

N. K. Press, Lucknow.

# बिहारी-रत्नाकर

अर्थात्

## बिहारी-सतसई पर रत्नाकरी टीका

प्रणेता
श्रीजगन्नाथदास "रत्नाकर" बी॰ ए॰

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर ;
देखत मैं छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर ।

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथम संस्करण

श्रावण, संवत् १९८३

मूल्य ५)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ



मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

# संपादकीय निवेदन

प्रचलित भारतीय भाषाओं में हमारी मातृभाषा हिंदी का प्राचीन कविता-भांडार जितना भरापुरा है, उतना कदाचित् ही और किसी का हो। हिंदी-माता का यही साहित्य-भांडार अन्यान्य बहनों के सामने उसका मस्तक ऊँचा किए हुए है। किंतु अथाह रत्नाकर के समान हमारे इस सुविस्तृत साहित्य के भी अधिकांश रमणीय रत्नों का परमोज्ज्वल प्रकाश काव्य-रत्न-प्रेमियों का नेत्ररंजन और मनोरंजन नहीं कर रहा है। समुद्र की अँधेरी, अज्ञात और अगम्य गुफाओं में जैसे असंख्य, मंजुल, मनोमोहक और मूल्यवान् मणियाँ भरी पड़ी हैं, वैसे ही हमारे भी बहुतेरे उत्कृष्ट, उज्ज्वल और उपयोगी ग्रंथ, हस्तलिखित रूप में, प्राचीन प्रकार के बस्तों में बँधे, बक्सों में बंद पड़े सड़ रहे हैं; मानो साहित्य-संसार से उनका कोई संबंध ही नहीं। इसमें संदेह नहीं कि कुछ साहित्यिक गोताखोरों ने बस्तों की कंदराओं से निकालकर अनेक ग्रंथ-रत्नों का मुद्रण-उद्धार अवश्य किया है; परंतु वे भी प्रकाशन के उस प्राचीन परिच्छद में प्रकट हुए हैं, जो इस समय बिलकुल प्रचलित नहीं। इसके अतिरिक्त ये ग्रंथ-रत्न जिस रूप में प्राप्त हुए हैं, उसी में प्रायः प्रकाशित भी कर दिए गए हैं। उनका समुचित संशोधन और संस्करण करके—भूमिका, टिप्पणी आदि की ओप तथा डाँक देकर, सुंदर, सुसज्जित स्वरूप में, साहित्य-संसार को समर्पित करने का पर्याप्त प्रयत्न प्रायः किया ही नहीं गया है। इसलिये इन दोनों ही स्थितियों—बस्तों में बँधने की हस्तलिखित स्थिति और प्राचीन प्रकार से छपने की मुद्रित स्थिति—का परिणाम प्रायः एक ही हो रहा है। इन दोनों ही ढंगों के ग्रंथों से वर्तमान हिंदी-कविता-प्रेमी यथेष्ट लाभ नहीं उठा रहे हैं—या यों कहिए कि उठा ही नहीं सकते। क्या यह शोक की बात नहीं कि सूर, बिहारी, देव, मतिराम, कबीर, सेनापति, पद्माकर, हरिश्चंद्र आदि बड़े-बड़े कवियों तक की कमनीय कृतियाँ, जिनका जगत् की किसी भी भाषा को गर्व हो सकता था, सर्वांग-सुंदर संस्करणों में सुलभ नहीं! मातृभाषा का यह भारी अभाव हमारे हृदय में, सुदीर्घ काल से, काँटे की तरह खटक रहा था।

हर्ष की बात है, इधर जब से कुछ समालोचक-जौहरियों ने प्राचीन काव्य-रत्नों को परि-

श्रम-पूर्वक परखकर साहित्य-संसार को उनके वास्तविक सुंदर, स्निग्ध और शीतल प्रकाश का परिचय कराना और संपादक-रूपी गुण-ग्राहकों ने अपने पत्र-भांडारों में इन प्राचीन या प्राचीन ढंग की कविता-मणियों को सादर और सस्नेह स्थान देना शुरू कर दिया है, तब से इन पुराने जवाहरातों के दिव्य दर्शनों के लिये प्रेमियों की प्यास बढ़ती ही जा रही है—उनका यह अनुराग धीरे-धीरे प्रगाढ़ और व्यापक होता जा रहा है। परंतु परिताप का विषय है कि प्रेमी पाठकों की इस परम पुनीत लालसा की पूर्ति के लिये कोई पूरा प्रयत्न नहीं हो रहा है। आशा थी, सभी साहित्यिक संस्थाओं की मुकुटमणि काशी-नागरीप्रचारिणी सभा इस कार्य को तीव्र गति से करेगी। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर अब तक उसी ने सबसे अधिक सराहनीय सेवा की भी है; किंतु अपने अन्यान्य अनेक उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहने के कारण इस ओर उसकी चाल इतनी मंद है, और कार्य का परिमाण इतना स्वल्प कि उसके द्वारा प्राचीन कविता-मणियों के पूर्ण प्रकाश का कठिन कार्य शीघ्र संपन्न होते नहीं दिखलाई पड़ता। प्रयाग के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से भी इस संबंध में समुचित सेवा संभाव्य थी। किंतु जिस उदासीन भाव से वह इस मार्ग में बढ़ रहा है, उससे भी प्राचीन कविता-प्रेमियों को पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो रहा है। अतएव ऐसी परिस्थिति पर पूर्णतः विचार करके—प्राचीन हिंदी-कविता के ग्रंथों के समुचित प्रकाशन का अत्यंत शिथिल प्रयत्न देखकर—यदि हमारे हृदय में भय का उदय हो, तो उचित ही है। कारण, समुद्र की तरंग-मालाएँ किसी अवसर-विशेष पर ही तट की ओर उमड़ चलती हैं। हिंदी-संसार में इस समय प्राचीन हिंदी-कविता के प्रति जो प्रेम प्रस्फुटित हुआ है, उसे देखते हुए हमें उस साहित्य के उद्धार का यही उपयुक्त समय प्रतीत होता है। अवसर बार-बार नहीं आता। अनेक बहुमूल्य ग्रंथ-रत्न बस्तों में बँधे नष्ट हो गए, अनेक नष्टप्राय हैं; पर कुछ प्रेमियों की सतर्कता से अब भी सुरक्षित हैं। जिन सज्जनों ने साहित्य-रक्षा के सुकार्य में इस प्रकार सहायता पहुँचाई है, उनकी सत्कीर्ति साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। किंतु अब उनसे इस रखवाली का काम लेते रहना ठीक नहीं। अब तो इन ग्रंथ-रत्नों को बाहर लाना ही पड़ेगा—उनके सर्वांगसुंदर प्रकाशन का प्रबंध करना ही पड़ेगा, जिसमें उनकी जगमग ज्योति से काव्य-जगत् जगमगा उठे।

जिन प्रेसों तथा प्रकाशकों ने प्रतिकूल काल में भी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन करके उन्हें नष्ट नहीं होने दिया, उनमें कदाचित् लखनऊ के नवलकिशोर-प्रेस का नाम ही अग्रगण्य है। सैकड़ों सुंदर काव्यों का उद्धार करके उन्हें साहित्य-रसिकों को समर्पित करने का श्रेय उसे है। उसके अनंतर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के अतिरिक्त (जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आए हैं) काशी के भारत-जीवन और लाइट-प्रेस, बंबई के वेंकटेश्वर-प्रेस, बाँकीपुर के

खड्गविलास-प्रेस आदि का नंबर आता है। इन सभी संस्थाओं के उपकार का भार हिंदी-भाषा-भाषी-मात्र के सिर पर है। परंतु उपकार-मात्र मान लेने ही से इनके प्रति हमारी कृतज्ञता का पर्याप्त प्रदर्शन न हो सकेगा। यह तो प्रकट ही है कि जिस उच्च उद्देश्य से उत्साहित होकर उनके संचालकों ने इन ग्रंथों को छपवाया था, उसकी सिद्धि अब उन ग्रंथों से, उनके प्राचीन परिच्छद में होने के कारण, नहीं हो रही है। अतएव हमें चाहिए कि उनके उस उच्च उद्देश्य की पूर्ति करके ही उन्हें अपनी हार्दिक कृतज्ञता की भेंट अर्पित करें; अर्थात् उनके प्रकाशित किए हुए ग्रंथ-रत्नों के, वर्तमान रुचि और साधनों के अनुकूल, सुलभ, सरल और सर्वांग-सुंदर संस्करण निकालें। यह काम कम कठिन नहीं। विद्या, बुद्धि, समय, परिश्रम और लक्ष्मी, सभी के सहयोग विना इसमें सफलता की कुछ भी आशा नहीं। किंतु प्राचीन काव्यों के उद्धार का कार्य अनिश्चित समय के लिये स्थगित भी नहीं किया जा सकता। अतएव इन सब पहलुओं पर विचार करके अब हम ही प्राचीन हिंदी-काव्य के प्रकाशन का भार, अपने अनेक मित्रों और कृपालुओं की सहायता के बल पर, अपने दुर्बल कंधों पर लेने को तैयार हो गए हैं, और तत्संबंधी विशाल आयोजन बड़े उत्साह और आनंद के साथ प्रेमी पाठकों के निकट प्रकट करते हैं।

हमारा विचार है, **सुकवि-माधुरी-माला** के नाम से एक पुस्तकमाला के प्रकाशन का प्रारंभ किया जाय। उसमें हिंदी के सभी मुख्य कवियों के काव्य छपें। सबका संपादन सुचारु रूप से सर्वांग-सुंदर हो। सभी मुद्रित और अमुद्रित प्राप्य प्रतियों से मिलाकर पुस्तकों में पाठ-शुद्धि तो की ही जाय, साथ ही आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक भूमिका, आवश्यक टीका-टिप्पणी, अवतरण, शब्दार्थ, पाठांतर आदि का भी उनमें समावेश रहे। जो काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् जिन कवियों की कविता के मर्मज्ञ हों, उनसे उन्हीं के काव्य का संपादन कराया जाय। संपादन-कार्य के लिये एक संपादक-समिति निर्मित की जाय। दो-तीन संपादक विशेष रूप से इसी कार्य के लिये नियुक्त किए जायँ। हम लोग यह कार्य आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं करना चाहते—प्राचीन काव्य-सुमनों की सुगंध से साहित्य-संसार को सुवासित कर देना ही हमारा इष्ट है। अतएव हम चाहते हैं कि धनी-मानी सज्जन इस माला को अपनाकर, विद्वान् काव्य-मर्मज्ञ इसके संपादन में सहायता पहुँचाकर, जिन महानुभावों के पास हस्त-लिखित पुस्तकें हों, वे उन्हें देकर तथा सर्वसाधारण इस माला के ग्राहक बनकर हमारे इस कार्य में समुचित सहायता पहुँचावें। पुस्तकों की छपाई आदि बाहरी वेष-भूषा के संबंध में हमें कुछ नहीं कहना। कारण, हमारी गंगा-पुस्तकमाला, महिला-माला और बाल-विनोद-वाटिका हिंदी-संसार में इस संबंध में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। और, यह तो कहना ही व्यर्थ है कि इस

माला की पुस्तकें भी वेष-भूषा में उसी प्रकार की होंगी। हाँ, यह सूचित कर देना जरूरी है कि इस माला की पुस्तकें भी आवश्यकतानुसार चारु चित्रों से सुसज्जित की जायँगी।

संपादन तथा प्रकाशन-क्रम में सबसे ज़्यादा ख़याल काव्योत्कर्ष का रक्खा जायगा, अर्थात् उच्च कोटि के कवियों के ग्रंथ पहले और उनसे नीची श्रेणी के कवियों के ग्रंथ बाद को छापे जायँगे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रहेगा कि सबसे पहले उन ग्रंथों में हाथ लगाया जाय, जो अभी तक कहीं भी नहीं छपे; उसके बाद उन ग्रंथों में, जिन्हें मुद्रण-सौभाग्य तो प्राप्त हुआ है, किंतु जिनका संपादन बिलकुल ही नहीं अथवा सम्यक् प्रकार से नहीं हुआ। स्थूल रूप से यही हमारा क्रम रहेगा; किंतु विशेष कारणों से इस क्रम में परिवर्तन भी हो सकेगा। इस माला में जिन प्रधान कवियों के ग्रंथ निकालने का निश्चय किया गया है, उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

(१) चंद
(२) जगनिक
(३) विद्यापति
(४) कबीरदास
(५) गुरु नानकजी
(६) सूरदास
(७) नंददास
(८) हितहरिवंश
(९) कृपाराम
(१०) मलिक मुहम्मद जायसी
(११) मीराबाई
(१२) नरोत्तमदास
(१३) हरिदास
(१४) तुलसीदास
(१५) केशव
(१६) रहीम
(१७) गंग
(१८) बीरबल
(१९) बलभद्र
(२०) मुबारक
(२१) रसखान
(२२) दादूदयाल
(२३) सेनापति
(२४) सुंदर
(२५) बिहारी
(२६) चिंतामणि
(२७) भूषण
(२८) मतिराम
(२९) कुलपति मिश्र
(३०) जसवंतसिंह
(३१) नरहरि
(३२) कवींद्र
(३३) सुंदर
(३४) सुखदेव मिश्र
(३५) कालिदास
(३६) रामजी
(३७) नेवाज
(३८) वृंद
(३९) प्रबीनराय
(४०) आलम

( ४१ ) लाल
( ४२ ) घनानंद
( ४३ ) देव
( ४४ ) श्रीपति
( ४५ ) बैताल
( ४६ ) उदयनाथ
( ४७ ) रसलीन
( ४८ ) घाघ
( ४९ ) रसनिधि
( ५० ) नागरीदास
( ५१ ) चरनदास
( ५२ ) तोष
( ५३ ) रघुनाथ
( ५४ ) गुमान
( ५५ ) दास
( ५६ ) दूलह
( ५७ ) गिरिधर
( ५८ ) सूदन
( ५९ ) सीतल
( ६० ) दयाबाई
( ६१ ) सहजो
( ६२ ) ठाकुर
( ६३ ) बोधा
( ६४ ) धेनु
( ६५ ) श्रीधर
( ६६ ) सूरति मिश्र
( ६७ ) कृष्ण
( ६८ ) गंजन
( ६९ ) बख़्शी हंसराज
( ७० ) भूपति
( ७१ ) दलपतिराय-बंसीधर
( ७२ ) सोमनाथ
( ७३ ) चाचा वृंदावनदास
( ७४ ) शिव
( ७५ ) कुमारमणि भट्ट
( ७६ ) रघुनाथ
( ७७ ) हरचरणदास
( ७८ ) बैरीसाल
( ७९ ) किशोर
( ८० ) दत्त
( ८१ ) रतन
( ८२ ) गोकुलनाथ
( ८३ ) गोपीनाथ
( ८४ ) मणिदेव
( ८५ ) शिवनाथ
( ८६ ) लाल कलानिधि
( ८७ ) रामचंद्र
( ८८ ) चंदन
( ८९ ) सबलसिंह
( ९० ) मधुसूदनदास
( ९१ ) ब्रजवासीदास
( ९२ ) देवकीनंदन
( ९३ ) गुरुदत्त
( ९४ ) घासीराम
( ९५ ) हठी
( ९६ ) थान
( ९७ ) बेनी
( ९८ ) भौन

( ९९ ) बेनीप्रवीन
( १०० ) जसवंतसिंह
( १०१ ) पद्माकर
( १०२ ) ग्वाल
( १०३ ) चंद्रशेखर
( १०४ ) प्रतापसिंह
( १०५ ) दीनदयालु मिश्र
( १०६ ) सेवक
( १०७ ) हरिश्चंद्र
( १०८ ) द्विजदेव
( १०९ ) लेखराज
( ११० ) प्रतापनारायण
( १११ ) महाराज रघुराजसिंह
( ११२ ) द्विजराज
( ११३ ) ब्रजराज
( ११४ ) हनुमान
( ११५ ) ललिताप्रसाद त्रिवेदी
( ११६ ) पूर्ण

संपादन-कार्य में हमें जिन विद्वान् सज्जनों से सहायता मिलने की आशा है, उनमें से कुछ लोगों के नाम ये हैं—

( १ ) पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी
( २ ) बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर"
( ३ ) पं० श्रीधर पाठक
( ४ ) पं० नाथूराम-शंकर शर्मा
( ५ ) बाबू श्यामसुंदरदास
( ६ ) पं० किशोरीलाल गोस्वामी
( ७ ) श्रीमान् मिश्र-बंधु
( ८ ) पं० पद्मसिंह शर्मा
( ९ ) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
( १० ) पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी
( ११ ) पं० रामचंद्र शुक्ल
( १२ ) पं० शालग्राम शास्त्री
( १३ ) पं० आद्यादत्तजी
( १४ ) पं० कृष्णबिहारी मिश्र
( १५ ) पं० लोचनप्रसाद पांडेय
( १६ ) बाबू मैथिलीशरण गुप्त
( १७ ) पं० रूपनारायण पांडेय
( १८ ) पं० गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही"
( १९ ) पं० रामनरेश त्रिपाठी
( २० ) श्रीमान् याज्ञिक-त्रय
( २१ ) पं० शिवाधार पांडेय
( २२ ) पं० बदरीनाथ भट्ट
( २३ ) श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा
( २४ ) श्रीयुत वियोगी हरि
( २५ ) ठाकुर लक्ष्मणसिंह
( २६ ) पं० हर्षदेव ओली

माला को सफल बनाने में हम अपनी ओर से कोई कोर-कसर न रक्खेंगे; परंतु प्रेमी पाठकों से भी प्रार्थना है कि यदि वे मातृभाषा-मंदिर के दिव्य दीपकों की उज्ज्वल आभा से अपनी आँखों की परितृप्ति चाहते हैं, तो अविलंब हमारा करावलंब करें, जिसमें हम शीघ्र ही भगवती भारती को सुकवि-माधुरी-माला पहनाने में कृतकार्य हों।

इस माला के लिये कई कृतविद्य कवियों की कृतियों का सुचारु रूप से संपादन हो चुका



बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०

है। सर्वप्रथम सुपरिचित, सहृदय सुकवि बिहारीदास की सुप्रसिद्ध सतसई का सुंदर, सटीक और संशोधित संस्करण ही साहित्य-संसार की सेवा में समुपस्थित किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस के बाद शायद सतसई ही समस्त सुशिक्षित-समाज में सबसे अधिक समादृत हुई है। जितना शृंगार-रस-वाटिका के इस सुविकसित और सुगंधित सुमन का सौंदर्य सहृदयों के चित्त में चुभा और आँखों में खुबा है, उतना औरों का नहीं। अन्यान्य अनेक कवियों की कविता-कामिनियाँ भी कमनीयता में कम नहीं; किंतु सतसई-सुंदरी की-सी सुंदरता उनमें कहाँ? इस सुंदरी की सरस सूक्ति-चितवनों के विषय में तो मानो स्वयं कवि ने ही कह दिया है—

**अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ;**
**वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।**

सतसई के सुविस्तृत सम्मान के प्रमाण में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस पर पचासों टीकाएँ बन जाने पर भी यह क्रम अभी तक जारी है। 'बिहारी-रत्नाकर' अंतिम और, हमारी राय में, सर्वोत्कृष्ट टीका है।

शृंगारी कवियों में बिहारी का स्थान बहुत ऊँचा है। नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहे भी उन्होंने अवश्य लिखे हैं; किंतु सतसई में प्रधानता शृंगार-रस ही की है। प्रत्येक पद्य उनकी प्रशस्त प्रतिभा का परिचायक है। उच्च कोटि की काव्य-कला, व्याकरण-विशुद्ध, परम परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव ( Brevity ) में बिहारी अपना जोड़ नहीं रखते। ऐसे श्रेष्ठ कवि की कविता का समुचित रूप से संशोधन करके उसके गूढ़ तथा सूक्ष्म भाव समझना और स्पष्ट रूप से प्रकाशित कर देना कुछ हँसी-खेल नहीं। इस कठिन कार्य के लिये विशेष विद्या-बुद्धि, काव्य-मर्मज्ञता, सुचिंतन और परिश्रम अपेक्षित हैं। ये सब गुण 'बिहारी-रत्नाकर' टीका के कर्ता में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। तुलसी, सूर, बिहारी, मतिराम, चंद, घनानंद, पद्माकर आदि कवियों का जितना अध्ययन इन्होंने किया है, उतना हिंदी-साहित्य के शायद ही अन्य किसी विद्वान् ने किया हो। बिहारी-सतसई पर तो आपने विशेष रूप से परिश्रम किया है। अतएव उस पर टीका लिखने के आप सर्वथा अधिकारी हैं। आप और कोई नहीं, हिंदी-साहित्य-मंदिर के सुदृढ़ स्तंभ बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए० हैं।

रत्नाकरजी का जन्म संवत् १९२३ में, ऋषि-पंचमी के दिन, काशी में, हुआ था। आपके पिता का नाम बाबू पुरुषोत्तमदास था। वह दिल्लीवाल अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वजों का आदि निवास-स्थान सफ़ीदों ( सर्पदमन ), ज़िला पानीपत में था। पानीपत की दूसरी लड़ाई के अनंतर वे अकबर के दरबार में आए, और मुग़ल-साम्राज्य में ऊँचे-ऊँचे

पद सुशोभित करते रहे। फिर मुग़ल-राज्य के नष्टप्राय हो जाने पर जहाँदारशाह के साथ काशी चले आए, और वहीं बस गए।

बाबू पुरुषोत्तमदासजी फ़ारसी के पूरे पंडित थे। हिंदी-कविता के प्रति भी उन्हें प्रगाढ़ प्रेम था। अनेक अच्छे-अच्छे कवि उनके मकान पर आया करते थे। जो बाहर से आते, वे उन्हीं के पास ठहरते। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र उनके मित्र और संबंधी थे। अतः वह भी उनके पास प्रायः आते थे। बालक रत्नाकरजी इस गोष्ठी में अक्सर बैठते थे, और कभी-कभी कुछ बोल भी उठते थे। एक दिन, इसी प्रकार आपके कुछ कहने पर भारतेंदुजी ने कहा—"यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा।" भारतेंदुजी की यह भविष्यद्वाणी सोलहो आने ठीक उतरी। रत्नाकरजी पर इस सत्संगति का इतना प्रभाव पड़ा कि वह भी उर्दू और फिर हिंदी में कविता करने लगे।

जगन्नाथदासजी की सारी शिक्षा काशी में ही हुई। कॉलेज में आपकी द्वितीय भाषा फ़ारसी थी। फ़ारसी लेकर ही उन्होंने सन् १८९१ में बी० ए० पास किया, और एम० ए० में भी फ़ारसी पढ़ी। किंतु किसी कारण परीक्षा न दे सके। सन् १९०० के लगभग आवागढ़-राज्य में आप प्रधान कर्मचारी नियुक्त हुए, और वहाँ दो वर्ष तक योग्यता के साथ काम किया। किंतु वहाँ की आब-हवा अनुकूल नहीं हुई—आप अस्वस्थ रहने लगे। इसलिये उक्त पद का त्याग करके काशी लौट आए। फिर वहाँ से अपने समय के अनन्य हिंदी-प्रेमी रईस, अयोध्या-नरेश स्वर्गीय महामहोपाध्याय महाराजा सर प्रतापनारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० ने आपको, सन् १९०२ में, बुलाकर अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया, और आपकी योग्यता और कार्यदक्षता से प्रसन्न होकर थोड़े ही दिन बाद आपको चीफ़ सेक्रेटरी के उच्च पद पर आसीन किया। सन् १९०६ के अंत में, महाराज के अकाल में काल-कवलित हो जाने पर, श्रीमती महारानी अवधेश्वरी ने आपको अपना निज मंत्री (प्राइवेट सेक्रेटरी) नियत कर लिया। तब से आप इसी पद पर रहकर रियासत का काम कुशलता के साथ कर रहे हैं। कठिन अभियोगों आदि में राज्य को इन्होंने बड़ी मदद पहुँचाई है। राजकाज के झंझटों में पड़े रहने के कारण इन्हें एक सुदीर्घ समय तक साहित्य-सेवा से वंचित रहना पड़ा। हर्ष की बात है, इधर ३-४ वर्षों से मित्रों के साग्रह अनुरोध से आप साहित्य-मंदिर में आकर सरस्वतीदेवी की आराधना करने लगे हैं।

ग्रेजुएट होने पर भी रत्नाकरजी सनातनधर्म के पक्के अनुयायी हैं, और हिंदू-सभ्यता के पूरे समर्थक। आपको प्रसिद्धि की परवा नहीं है। यही कारण है कि आपकी वास्तविक योग्यता से, थोड़े दिन पहले, बहुत कम लोग परिचित थे। आप बड़े हँसमुख और ज़िंदादिल आदमी हैं।

आपकी मंडली में बैठकर न हँसना कठिन काम है। आपकी बातचीत में बड़ा मजा आता है। स्वभाव आपका बहुत ही मृदुल है। स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र है। बचपन ही से आप व्यायाम-प्रिय हैं, और अपना जीवन बड़े संयम के साथ व्यतीत करते हैं। इसीलिये आप इस समय, ६० वर्ष की अवस्था में भी, ४५ वर्ष से अधिक के नहीं जँचते। वैद्यक का आपको बहुत शौक़ है।

रत्नाकरजी इस समय व्रज-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि और ज्ञाता समझे जाते हैं। आपकी कविताएँ बड़ी सरस और सुंदर होती हैं। आपके कवित्त देव, पद्माकर आदि के कवित्तों का ध्यान दिला देते हैं। हमारी राय में आपकी-जैसी सरस, मधुर, विशुद्ध और परिमार्जित भाषा लिखने में व्रजभाषा के बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं। प्राकृत का भी आपको अच्छा अभ्यास है। शिला-लेख आदि पढ़ने और प्राचीन शोध के कार्य में आपको विशेष रुचि है। कानपुर के प्रथम अखिल भारतीय हिंदी-कवि-सम्मेलन का सभापति-पद आप विभूषित कर चुके हैं। हिंडोला, हरिश्चंद्र, समालोचनादर्श, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर आदि कई काव्य-पुस्तकें आपने लिखी हैं, जो प्रकाशित भी हो चुकी हैं। अन्यान्य गुणों के साथ आपमें एक अवगुण भी है। वह यह कि आप बड़े आलसी हैं। आपसे कुछ लिखवा लेना आसान नहीं। सख़्त तक़ाज़े कीजिए, तब जाकर कहीं कुछ लिखेंगे। गंगावतरण, कलकाशी, अष्टक-रत्नाकर और ऊधव-शतक, ये चार काव्य-ग्रंथ इधर आपने और लिखे हैं, जो शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। आशा है, रत्नाकरजी भविष्य में भी भाषा-भांडार को अनेक भव्य और नव्य रत्नों से भरते रहेंगे।

अस्तु, 'बिहारी-रत्नाकर' प्रेमी पाठकों के कर-कमलों में इस आशा के साथ सहर्ष अर्पित किया जाता है कि वे इसका उचित आदर करके इसे स्थायी साहित्य में चिरस्थायी स्थान प्रदान करेंगे।

लखनऊ; }
१।८।२६ } दुलारेलाल भार्गव

# प्राक्कथन

प्रायः ३२-३३ वर्ष हुए हमने महाकवि श्री बिहारीदास जी की सतसई का विधिवत् अध्ययन किया था। उस समय हमारे पास उक्त ग्रंथ की ५ टीकाएँ थीं—(१) नवलकिशोर-प्रेस की छपी हुई कृष्ण कवि की कवित्तों वाली टीका, (२) भारतजीवन-प्रेस की छपी हुई हरि-प्रकाश टीका, (३) लल्लूलालजी-कृत तथा उन्हीं की छपवाई हुई लालचंद्रिका टीका, (४) विद्योदय-प्रेस की छपी हुई पं० परमानंदजी-कृत शृंगार-सप्तशती नाम की संस्कृत-टीका तथा (५) सरदार कवि की टीका (हस्त-लिखित)॥

इन पुस्तकों में किए गए अर्थों का मिलान करने पर कितने ही दोहों के अर्थों में मत-भेद पाया गया, और अनेक दोहों के विषय में यह भी भावना हुई कि उनके यथार्थ अर्थों का बोध उनमें से किसी टीका से भी नहीं हो सकता। उक्त पुस्तकों में दोहों के पूर्वापर क्रम, संख्या तथा कहीं कहीं पाठों में भी भेद मिला, और शब्दों के रूपों तथा लेखन-प्रणाली में तो बहुत बड़ा अंतर पाया गया। एक ही पुस्तक में कोई शब्द अथवा कारक एक दोहे में एक प्रकार से और दूसरे में दूसरे प्रकार से लिखा दिखाई दिया॥

इन्हीं बातों के कारण एवं बिहारी की कोमल-कांत पदावली और प्रशस्त प्रतिभा से प्रभावित होकर हमारा विचार हुआ कि सतसई का एक ऐसा संस्करण प्रकाशित किया जाय, जिसमें यथासंभव दोहों का पाठ शुद्ध हो, और उस पर एक ऐसी टीका भी लिखी जाय, जिससे दोहों के यथार्थ भावार्थ पाठकों की समझ में सहज ही आ सकें। सन् १८९६ ईसवी में लालचंद्रिका का जो संस्करण सर जॉर्ज ग्रियर्सन साहब ने प्रकाशित किया, उसमें कई स्थानों पर अपना नाम देख कर हमारा उत्साह और भी बढ़ा, और सन् १८९७ ई० में हमने उक्त विचार से सतसई के दोहों के भावार्थों की सामान्य टिप्पणियाँ भी, छपी हुई हरि-प्रकाश टीका की एक प्रति के पार्श्व भाग में, लिख डालीं। इस टीका का नाम 'बिहारी-रत्नाकर' रखने का विचार था। उसे देखकर हमारे मित्र स्वर्गीय साहित्याचार्य श्रीयुत पं० अंबिकादत्त व्यास जी ने, अपने 'बिहारी-बिहार'-नामक ग्रंथ की भूमिका के २८वें पृष्ठ पर, यह लिखा था—

"बिहारी-रत्नाकर—यह टीका थोड़े ही दिन हुए कि बन के प्रस्तुत हुई है, और शीघ्र ही छपने वाली है। टीका बहुत ही छोटी है परंतु लगढग पचीस दोहों के अर्थ बहुत ही अपूर्व हैं, और दोहों के पाठ जहाँ तक हो सका बहुत ही शुद्ध किए गए हैं। इसके ग्रंथकार इस समय के काशी के प्रसिद्ध मधुर कवि हैं। इनका वास्तविक नाम बाबू जगन्नाथदास है। ये इस समय लगढग पचीस वर्ष के होंगे। अंग्रेज़ी में इनने बी० ए० पास किया है और उर्दू,

Jaipur Palace, Rajputana.
*2nd December, 1918.*

My dear Maharaja Sahib,

I regret very much that yours of the 2nd. October last, enclosing one from the Maharani of Ajodhya, regarding Bihari Lal's Satsai, remains unacknowledged. The delay was due on account of the difficulty the Librarian had in searching the original manuscript. Copies have been found, but the Librarian cannot say definitely if any one of the manuscripts is in the author's own handwriting. Though Bihari Lal was a famous poet of the time, yet there were several other contemporary poets who had also won renown. It appears from an inspection of the manuscripts that in some of the copies they had inserted some of their own *Dohas*. The manuscripts in question can be shown to a Pandit deputed for the purpose. The duty of the Pandit will be to compare the texts and find out which of the manuscripts is original.

With kindest regards and all good wishes,

I remain,
Yours sincerely,
(Sd.) S. MADHO SINGH.

*The Hon'ble Maharaja Sir Rameshwar Singh Bahadur,*
*G. C. I. E., K. E B. of Darbhanga*
*DARBHANGA.*

श्रीयुत कर्नल विंध्येश्वरीप्रसादसिंह जी ने, श्रीमान् महाराज काशी-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री बाबू ललितमोहन जी सेन राय से, जो पत्र जयपुर की कौंसिल के मेंबर राय-बहादुर श्री अविनाशचंद्र सेन को लिखवाया था, उसके उत्तर की प्रतिलिपि यह है—

Jaipur, Palace.
*22nd. December, 1918.*

My dear Lalit Babu,

I am duly in receipt of your kind letter of the 10th November, but as I was out of the station for a long time, I am sorry I could not reply to it earlier.

As regards the Satsaya of Behari, the Librarian reports that some manuscript copies of the book are in the Palace Library, but he cannot definitely say if any one of the manuscripts is in the author's own handwriting. Behari Lal was a famous poet of the time, and it appears from an inspection of the manuscripts that in some of the copies some contemporary poets had inserted several *Dohas* of their own. The manuscripts in question can be shown to the Pandit whom you may depute for the purpose. The duty of the Pandit will be to compare the texts and find out which of the manuscripts is the original one.

I may add in this connection that similar enquiries have been made by the Hon'ble the Maharaja of Darbhanga, and a reply to the above effect has been

given to him. It would, therefore, be convenient if you enquire from the Private Secretary to the Maharaja of Darbhanga, when they are going to send their Pandit for the purpose, and you can arrange to send your Pandit with him at the same time. I may also say that at least a week's notice should be given to us, as His Highness the Maharaja is shortly going out on a long tour, and His Highness' permission will be required before the manuscripts are shown to the Pandit.

Yours sincerely,

(Sd.) ABINASH CHANDRA SEN

*Rai Bahadur, Member of Council ( Foreign Department )*

B. LALIT MOHAN SEN RAY

*Private Secretary to His Highness the Maharaja of Benares,*

*Fort Ramnagar, BENARES.*

यह शुभ समाचार पा कर हमने अयोध्या के राज-पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ज्योतिषी को जयपुर भेजने का प्रबंध किया, क्योंकि उस समय हमारा जाना कई कारणों से न हो सका। सन् १९१९ के मार्च महीने की २५ तारीख़ को उक्त पंडित जी ने जयपुर को प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर पहले तो उन्हें बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, जो हिंदुस्थानी दरबारों में प्रायः उपस्थित होती हैं। पर उक्त पंडित जी महाशय बड़े उद्योगी, चतुर तथा कर्म-कुशल हैं। शनैः शनैः सब कठिनाइयाँ दूर करके वह प्राचीन प्रतियों के अवलोकन तथा उनकी प्रतिलिपि प्राप्त करने में सफल हुए। राज-पुस्तकालय के अतिरिक्त और भी कई स्थानों से उन्हें सतसई की कई प्रतियाँ मिलीं। उनमें से मुख्य मुख्य का वर्णन आवश्यकतानुसार यथास्थान किया जायगा॥

यों तो उक्त पुस्तकालय में सतसई की कई प्रतियाँ हैं, पर बिहारी के हाथ की लिखी कोई नहीं निकली। जो प्रति सबसे प्राचीन है, उसकी प्रतिलिपि पंडित जी को बड़ी कठिनता से उतार मिली। इस प्रति में केवल ४९२ दोहे हैं। यह मिर्ज़ा राजा जयशाह के पुत्र कुँवर श्री रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त लिखी गई थी। इसकी जिल्द चमड़े की है और इसके अंत में कुछ पन्ने अलग से सिए हुए हैं। इसमें ४९२वें दोहे के पश्चात् और उसी पृष्ठ पर, जिस पर ४९२वाँ दोहा है, कुछ स्थान छोड़ कर, ये तीन दोहे, कुछ कच्चे अक्षरों में, लिखे हैं —

श्री रानी चौहानि कौ करतब देखि रसाल।
फ़ूलति है मन मैं सिया, पहिरि फ़ूल की माल॥ १॥
दान ग्यान हरि-ध्यान कौं सावधान सब ठौर।
श्री रानी चौहानि है रानिनु की सिरमौर॥ २॥
नित असीस हौं देत हौं उर मनाइ जगदीस।
राम कुँवर जयसिंह कौ जीयौ कोरि बरीस॥ ३॥

इसके पश्चात् के पृष्ठों पर सुंदर, गोपाललाल, मुकुंद, गंग, चतुरलाल, मंडन तथा अन्य, इन कवियों की थोड़ी थोड़ी कविताएँ, ऊपर लिखे हुए दोहों ही के जैसे भद्दे अक्षरों में, दी हुई हैं। फिर 'अनुभव-प्रकाश' शीर्षक से ११२ दोहे लिखे हुए हैं। इन दोहों के कर्ता का कोई नाम नहीं दिया है। तदनंतर ६ दोहे फुटकर हैं, जिनमें ५ तो बिहारी के हैं, और शेष और किसी के। फिर कुछ बुझौवलें हैं, और अंत में ये दोहे—

एक बयस, एकै बिरछ, एकै भोग, बिलास।
सोन चिरैया उड़ि गई, (अब) गहौ राम-कर आस॥
चौहानी रानी लता, राम-रूप फल-फूल।
खग-मृग-मधुकर-वृंद सब, परे रहौ गहि मूल॥
सुचि सिँगार मैं बूड़ि कै भयौ बिहारी-दास।
जग तैं फिरत उदास अब सुकबि बिहारी-दास॥
मंडन मंडन कै जगत............................."

इसके पश्चात् के कुछ पन्ने नहीं हैं। हाँ, इसी पन्ने पर, एक स्थान पर, 'क, ख, ग, घ, च, छ, झ, ट, ड, ण, य, र, ल, श, ष, ह' लड़कों के से अक्षरों में लिखा है। फिर एक पृष्ठ पर यह लिखा है—

शुक्लांबरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजं।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशांतये॥
देवान् पितॄन् द्विजान् हव्यकव्याद्यैः करुणामया।
ततः प्रभृति पूज्यैते त्रैलोक्ये सचराचरे॥
ॐ विष्णे भास्वद् क्रीट।
जल मैं बसै कमोदनी, चंदा बसै अकास।
जो जाके मन मैं बसै, सो ताही के पास॥

इस पुस्तक के आरंभ में जो एक पत्रा छूटा हुआ है, उसके पृष्ठ पर लड़कों के से अक्षरों में ऊपर 'रामसिंह जी' लिखा है। फिर राग केदारा के शीर्षक से एक गीत की दो तुकें वैसे ही अक्षरों में लिखी हैं, जो स्पष्ट पढ़ी नहीं जातीं। पर उस गीत का आरंभ यह है—

जाके दरस कुँ जी तरसत।

फिर वैसे ही अक्षरों में एक दोहा लिखा है, जो कुछ पढ़ा जाता है—

बौरी, बहकि न बोलियै, रहियै मन कौं गोइ।
जग सौं कछु कहियै नहीं, जो हरि-प्यारी होइ॥

तदनंतर वर्णमाला के कुछ अक्षर अंट-संट लिखे हैं। उनके अंत में 'राम' शब्द वैसे ही अक्षरों में है। फिर वैसे ही अक्षरों में यह लिखा है—

अचल बिराजै पातसाही राव..........................

अस्तुति कहि न जात पेख्यौ रसना । क, ख, ग, घ ॥

यह लिखना वैसा ही है, जैसे बहुधा आठ दस वर्ष के बालक अपनी पुस्तकों के पांडु-पत्रों पर लीपा-पोता करते हैं ॥

इस पुस्तक के विषय में, जयपुर में, यह प्रसिद्ध है कि इसे बिहारी ने कुँवर रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त लिखवा दिया था, जिनको वह स्वयं पढ़ाते भी थे। इसमें ५०० दोहे तो उन्होंने आदि में अपने रक्खे थे, और फिर थोड़ी थोड़ी कविता अन्य कवियों की संग्रह कर दी थी। दोहे तो इस पुस्तक में अच्छे अक्षरों में और बहुत कुछ शुद्ध भी लिखे हुए हैं, किंतु अन्य कविताओं के अक्षर भद्दे तथा कच्चे हैं, और कई लेखकों के लिखे प्रतीत होते हैं। ज्ञात होता है, बिहारी ने अपने दोहे तो अपनी शुद्ध लिखी हुई चौपतिया में से किसी अच्छे लेखक से उतरवा दिए, और शेष कविताएँ भिन्न भिन्न चौपतियों में से कई लेखकों द्वारा लिखी गईं ॥

यह पुस्तक कुँवर रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त लिखी गई थी, यह बात उसमें जहाँ तहाँ की गई लीपापोती से भी पुष्ट होती है; क्योंकि बाल-वृंद प्रायः इसी प्रकार अपनी पाठ-पुस्तकों पर अपना नाम लिखते और चीतचात किया करते हैं। इस चीतचात को कुँवर रामसिंह जी के हाथ की मानने में कोई असंगति भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि एक तो इसमें रामसिंह जी का नाम दो एक स्थानों पर लिखा हुआ है, दूसरे पुस्तक की आकृति से उसका ढाई तीन सौ वर्ष का लिखा हुआ होना भी ठीक जँचता है, और तीसरे बिहारी के दोहों के अतिरिक्त और जिन जिन कवियों की कविताएँ उसमें संगृहीत हैं, वे बिहारी के समकालीन अथवा कुछ पूर्व के हैं ॥

इस पुस्तक के अंतिम दोहे पर ५०० का अंक लगा हुआ है, पर गिनती में वस्तुतः इसमें केवल ४९३ ही दोहे हैं। लेखक के प्रमाद से बीच बीच के अंकों में गड़बड़ हो गई है, और उसी गड़बड़ के अनुसार जहाँ ५००वाँ अंक पूरा हुआ, वहीं उसने बिहारी के दोहों का लिखना समाप्त कर दिया, क्योंकि उसे कदाचित् ५०० ही दोहे लिखने की आज्ञा मिली थी॥

इस संग्रह में भी जो दोहे बिहारी के हैं, उनका पूर्वापर क्रम वही है, जो रत्नकुँवरि वाली प्रति में। केवल दो चार स्थानों पर कुछ उलटपुलट है। अतः इस पुस्तक से भी यही लक्षित होता है कि यही क्रम बिहारी के दोहों के निर्माण का है ॥

इस पुस्तक की प्रतिलिपि प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ीं। उनका यहाँ वर्णन करने से कुछ लाभ नहीं; केवल इतना ही कहना अलम् है कि हमारे पंडित जी महाशय को इस कार्य के निमित्त जयपुर में ३ महीने १० दिन लग गए। इस अवसर में उन्होंने जयपुर के कई प्रतिष्ठित महानुभावों से परिचय प्राप्त किया, और अन्य पुस्तकों का भी पता लगाया। इस खोज में उन्हें अनेक पुस्तकें दृष्टि-गोचर हुईं। उनमें से जो विशेष महत्त्व-पूर्ण समझीं गईं, उनकी प्रतिलिपियाँ भी वह ले आए। जयपुर के जिन सज्जनों से पंडित जी ने परिचय प्राप्त किया, उनमें से मुख्य मुख्य ये हैं—

(१) राय बहादुर बाबू अविनाशचंद्र सेन सी० आई० ई०, मॅवर कौंसिल तथा प्राइवेट सेक्रेटरी महाराजा साहब बहादुर,

(२) ठाकुर श्रीनंदकिशोरसिंह साहब, रईस और मॅवर कौंसिल,

(३) राय बहादुर श्री पं० गोपीनाथ जी पुरोहित एम० ए०, सी० आई० ई०,

(४) श्री पं० हरनारायण जी पुरोहित बी० ए०, दारोगा ड्योढ़ी रनिवास,

(५) श्रीयुत बालदत्त जी खवास ॥

ये सब महाशय बड़े सज्जन तथा विद्याव्यसनी हैं। इन्होंने हमारे पंडित जी को अनेक सहायताएँ पहुँचाईं, जिनके लिए हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं ॥

इन महानुभावों के अतिरिक्त कई सहृदय कवि-कोविदों से भी हमारे पंडित जी को सहायता मिली। उनमें से मुख्य ये हैं—

(१) महामहोपाध्याय श्री पं० दुर्गाप्रसाद जी द्विवेदी, मुख्याध्यापक राजकीय पाठशाला,

(२) श्री पं० रामनारायण जी मिश्र, अध्यापक महाराजा कॉलेज,

(३) श्री पं० गौरीदत्त जी कवि,

(४) श्री विनोदीलाल जी कवि,

(५) श्री पं० मथुरानाथ जी कवि ॥

इन विद्वद्वरों के भी हम कृतज्ञ हैं ॥

जो पुस्तकें हमारे पंडित जी जयपुर से लाए, उनमें बिहारी के किसी शिष्य की लिखी हुई सतसई की एक प्रतिलिपि भी है। श्री रामसिंह जी के राज्यकाल में 'सम्राट जी' नाम के एक राजगुरु थे। बिहारी के किसी शिष्य ने, सं० १७३६ में, सतसई की एक प्रति लिख कर उन्हें अर्पित की थी। उसकी एक प्रतिलिपि संवत् १८०० के भाद्र-कृष्ण ३० चंद्रवार की लिखी हुई इस समय जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान है। उसी की प्रतिलिपि हमारे पंडित जी ले आए हैं। संवत् १८०० की लिखी हुई इस सतसई के अंत में, उड़े हुए से अक्षरों में, कुछ लिखा है, जिसका अभिप्राय यह है कि यह पुस्तक ब्रह्मपुरी के राजगुरु की संवत् १७३६ की प्रति से लिखी गई है, जिसे बिहारी के शिष्य ने लिख कर गुरु जी को दिया था, पर शोधने को रह गई है ॥

इस पुस्तक के बीच बीच में किसी किसी शब्द के ऊपर अथवा पार्श्व में कुछ उर्दू अक्षरों में लिखा है, किंतु उड़ जाने के कारण स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता। प्रतीत होता है, कहीं कहीं शब्दार्थ लिखा गया है ॥

इस शिष्य वाली पुस्तक में भी दोहों का पूर्वापर क्रम वही है, जो रत्नकुँवरि जी वाली पुस्तक में। केवल ५-७ दोहों में स्थानांतर दिखलाई पड़ता है, और २२ दोहे, जिनमें प्रायः भगवत्-संबंधी कविता है, और जो इस क्रम की अन्य पुस्तकों में बीच बीच में आए हैं, इस पुस्तक के अंत में रक्खे हुए मिलते हैं। रत्नकुँवरि वाली पुस्तक से इसमें ये ५ दोहे न्यून हैं—

संपति केस, सुदेस, नर नमत दुहुँनु इक बानि।
बिभव सतर कुच, नीच नर, नरम बिभव की हानि ॥ १ ॥

औंधाई सीसी सु लखि बिरह-बरत बिललात।
बीचहिँ सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात ॥ २ ॥
सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिँ बानक मो मन सदा बसौ बिहारी लाल ॥ ३ ॥
एरी, यह तेरी, दई, क्यौं हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह-भरैं हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ ॥ ४ ॥
हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥ ५ ॥

६८६ दोहों के पश्चात् इस प्रति में ७३ दोहे ऐसे दिए हैं, जो इस क्रम की और किसी प्रति में नहीं मिलते, और बिहारी-रचित भी प्रतीत नहीं होते। वे बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण में दे दिए गए हैं ॥

इन दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त एक पुस्तक संवत् १७७२ की लिखी हुई भी हमारे पंडित जी जयपुर से, किसी अन्य कवि से, ले आए। यह उदयपुर-प्रांत के बेलागाछी निवासी मानसिंह कवि की टीका-समेत है। खेद की बात है, इसमें आदि के कुछ पत्रे नहीं हैं, जिससे २५० दोहों की टीका इसमें नहीं मिलती। पर जो दोहे इसमें हैं, उनका पूर्वापर क्रम ठीक वही है, जो रत्नकुँवरि जी वाली पुस्तक में ॥

यों तो जयपुर तथा अन्यान्य स्थानों से सतसई की कितनी ही मूल तथा सटीक प्रतियाँ प्राप्त हुईं, पर ऊपर कही हुई पाँचों प्रतियों से प्राचीनतर प्रति हमारे देखने में नहीं आई। इनके अतिरिक्त सतसई की एक और सटीक प्रति भी हमें अभी थोड़े दिन हुए, बिहारी-रत्नाकर का मुख्य भाग छप जाने के पश्चात्, मित्रवर श्रीयुत पं० दुलारेलाल जी भार्गव के द्वारा, जयपुर-निवासी श्रीयुत पं० हनूमान् शर्मा जी से प्राप्त हुई है। हमारे अनुमान से बिहारी-सतसई पर यही सबसे पहली टीका है। इसमें भी ५-७ दोहों को छोड़ कर शेष दोहों का पूर्वापर क्रम वही है, जो रत्नकुँवरि जी वाली पुस्तक में ॥

इन पाँचों प्रतियों में दोहों का पूर्वापर क्रम प्रायः एक ही सा दृष्टिगोचर होता है, और ये हैं भी बहुत प्राचीन, अतएव यह अनुमान करना युक्तियुक्त ही है कि यही क्रम बिहारी की दोहा-रचना का है, और उन्होंने अपनी सतसई इसी क्रम में छोड़ी। यदि बिहारी ने अपनी सतसई में दोहों का कोई साहित्यिक अथवा अन्य प्रकार का क्रम बाँध दिया होता, तो फिर उन्हें इस प्रकार घालमेल करके क्रमहीन कर देने का न तो किसी को साहस ही होता, और न कोई आवश्यकता ही रहती। अस्तु। सतसई का जो क्रम पहले पहल कोविद कवि ने संवत् १७४२ में लगाया, उसके अंत में यह दोहा लिखा है—

किए सात सौ दोहरा, सुकबि बिहारीदास।
बिनहिँ अनुक्रम ए भए, महि-मंडल सुप्रकास ॥

इससे भी बिहारी का अपनी सतसई को विना किसी विशेष क्रम ही के छोड़ जाना सिद्ध होता है, और यही बात पुरुषोत्तम जी के इस दोहे से भी व्यंजित होती है—

जद्यपि है सोभा सहज मुकतनि, तऊ सु देखि ।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेखि ॥

बिहारी के अपनी सतसई को इसी क्रम में—बिना किसी विशेष क्रम लगाए—छोड़ जाने के कारण अनेक कवियों तथा टीकाकारों ने अपने अपने मत के अनुसार उसके क्रम बाँध लिए। इनका विवरण भूमिका में यथास्थान होगा ॥

बिहारी-रत्नाकर में इन्हीं पाँचों प्रतियों के आधार पर दोहों के पूर्वापर क्रम, पाठ तथा संख्या का निर्धारण किया गया है। इसका विशेष विवरण भी भूमिका में दिया जायगा ॥

उल्लेख की सरलता के अभिप्राय से ये पुस्तकें १, २ इत्यादि संख्याओं के नाम से विशिष्ट कर दी गई हैं। रामसिंह जी वाली पुस्तक के निमित्त १, बिहारी के शिष्य वाली प्रति के निमित्त २, मानसिंह जी की टीका वाली पुस्तक के निमित्त ३, गिरधरलाल जी वाली प्रति के निमित्त ४ और रत्नकुँवरि जी वाली प्रति के निमित्त ५ संख्या मानी है। बिहारी-रत्नाकर में, पाद-टिप्पणियों में, इन्हीं संख्याओं का आवेष्ट में उपयोग किया गया है ॥

## बिहारी-रत्नाकर का क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में दोहों का पूर्वापर क्रम प्रायः एक ही सा है—केवल दो चार दोहों के स्थानों में कुछ भेद पाया जाता है। ३ तथा ५ अंकों वाली पुस्तकों के क्रम तथा संख्या सर्वथा एक ही हैं, और १ अंक की पुस्तक में जो ४६३ दोहे हैं, उनका पूर्वापर क्रम भी उनके अनुसार ही है। अतः बिहारी-रत्नाकर के दोहों की संख्या तथा क्रम के निमित्त तृतीय तथा पंचम पुस्तकें ही आधारभूत मानी गई हैं। परंतु प्राचीन प्रतियों से बिहारी का अपने क्रम में दस दस अथवा बीस बीस पर एक एक भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहा रखना अभीष्ट समझ कर, जहाँ जहाँ इन स्थानों से उक्त प्रकार के दोहे कुछ विचलित मिले, वहाँ वहाँ उनके स्थान, अपनी बुद्धि के अनुसार, हमने ठीक कर दिए हैं। किंतु संभव है, जिस स्थान पर हमने कहीं दूर का कोई दोहा स्थापित किया है, वहाँ के निमित्त बिहारी ने कोई अन्य दोहा सोचा हो। अतएव यह दिखलाने के लिए कि किस किस दोहे में स्थान-परिवर्तन किया गया है, हमने पहले उपस्करण में एक कोष्ठ तीसरी पुस्तक ( मानसिंह जी की टीका वाली प्रति ) का भी रख दिया है ॥

यद्यपि बिहारी ने सतसई में दोहों का पूर्वापर क्रम तो वही रहने दिया, जिस क्रम से उनकी रचना हुई थी, तथापि, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, प्राचीन पुस्तकों के देखने से भासित होता है कि उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दस दस अथवा बीस बीस दोहों के पश्चात् एक एक भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहा रहे। बनाते समय भी उन्होंने इस बात पर ध्यान रक्खा था, और रचना-काल में, भावों के उद्गार के कारण, जहाँ जहाँ वे इस बात को न कर सके, वहाँ वहाँ उन्होंने उसकी पूर्ति ग्रंथ समाप्त होने पर कर दी, अर्थात् जहाँ जहाँ दस दस अथवा बीस बीस पर भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहे नहीं पड़े, वहाँ वहाँ नए दोहे बना कर

अथवा अन्य स्थानों से उठा कर रखने का प्रयत्न किया। इस कार्य में, ज्ञात होता है, उन्होंने ऐसे अधिकांश दोहों को जो अपनी चौपतिया के पार्श्व भाग में, जिन स्थानों पर ऐसे दोहे स्थापित होने चाहिए थे, उनके सम्मुख लिख दिया, और किसी किसी दोहे के सामने केवल वह संख्या लिख दी, जिस पर उस दोहे का रखना अभीष्ट था। चौपतिया की प्रतिलिपि उतारने वाले ने उन दोहों को, जो पार्श्व भाग पर लिखे थे, बिहारी का अभिप्राय न समझ कर, कहीं कहीं उचित स्थानों से दो एक संख्या आगे पीछे लिख दिया, और जिन दोहों के सामने वे अंक मात्र लिखे थे, जिन पर वे दोहे जाने चाहिए थे, उनको प्रमाद से जहाँ का तहाँ रहने दिया, अर्थात् अभीष्ट स्थान पर नहीं रक्खा। इन चूकों में पहली चूक का कारण तो यह अनुमानित हो सकता है कि पार्श्व भाग में लिखे हुए दोहे एक ही दोहे के सामने नहीं समा सकते, वरन् तीन चार दोहों के सामने पड़ जाते हैं, अतः ऐसे किसी लेखक का, जिसे इस बात का भान न रहा हो कि पार्श्व भाग पर ये दोहे किस स्थान पर रखने के अभिप्राय से लिख दिए गए हैं, उनका उचित अंकों के दो चार अंक आगे पीछे समावेश कर देना पूर्णतया संभव और स्वाभाविक ही है। ऐसी चूकों के उदाहरण ११, ४१, ६१, ७१, ६१ इत्यादि अंकों के दोहों में दृष्टिगोचर होते हैं, जो ३ तथा ५-संख्यक पुस्तकों में १०, ४२ ६२, ६६, ८७ इत्यादि अंकों पर लिखे मिलते हैं। दूसरी चूक का कारण लेखक का पार्श्व-अंकों पर ध्यान न देना, या उनका अभिप्राय न समझना अथवा, यदि कोई दोहा पीछे से आगे आया है तो, उसे पीछे वाले दोहे के सामने के अंक का, उचित स्थान के आस-पास के दोहों के लिखते समय, न देखना प्रतीत होता है। ऐसी चूकों के उदाहरण १२१, १३१; १८१, २६१, ४०१ इत्यादि अंकों के दोहों में दिखाई देते हैं, जो ३ तथा ५ अंकों की पुस्तकों में ५२, ११७, १६२, २१६, ३६८ इत्यादि अंकों पर हैं॥

## बिहारी-रत्नाकर में दोहों की संख्या

मानसिंह वाली टीका अर्थात् हमारी तीसरी प्राचीन प्रति में ७१३ दोहे मिलते हैं, और अंत में टीकाकार ने स्पष्ट रूप से लिख भी दिया है कि सतसई में ७१३ दोहे हैं। रत्नकुँवरि वाली पुस्तक अर्थात् पाँचवीं प्राचीन प्रति में भी ये ही ७१३ दोहे देखने में आते हैं। बिहारी के शिष्य वाली प्रति अर्थात् दूसरी प्राचीन प्रति में इन ७१३ दोहों में से ११७, ३०१, ६०४ और ७१३ अंकों के दोहे नहीं हैं। पर इनमें से ११७ तथा ३०१ अंकों के दोहे तो अन्य प्राचीन प्रतियों में विद्यमान हैं, और ६०४ अंक वाला दोहा तीसरी, चौथी तथा पाँचवीं पुस्तकों में उपलब्ध है, और पहली प्रति में केवल ४६३ तक दोहे हैं, अतः उसमें भी इसकी उपस्थिति मान लेना असंगत नहीं है। अब रहा ७१३ अंक वाला दोहा। यह चौथे अंक की पुस्तक में भी नहीं है। पर कृष्णलाल की गद्य टीका वाली प्रति में, जिसका कथन ऊपर हो चुका है, यह ७१३ ही अंक पर पाया जाता है, अतः इसकी उपस्थिति दो सटीक प्रतियों तथा एक मूल प्रति में है। इसके अतिरिक्त पहले अंक की प्रति में इसकी उपस्थिति तथा अनुपस्थिति, दोनों संदिग्ध हैं। सटीक पुस्तकें सामान्यतः मूल पुस्तकों से अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं, अतः इस ७१३ अंक वाले दोहे को बिहारी-कृत मानना समीचीन प्रतीत

होता है। २ अंक की पुस्तक में जो ७३ दोहे अधिक हैं, वे इनमें से अन्य किसी प्राचीन प्रति में नहीं मिलते, और न वे अपनी रचना-प्रणाली ही से बिहारी-कृत प्रतीत होते हैं। चौथे अंक की प्रति में ४६४, ४६८ और ५६३ से ले कर ५६६ तक एवं ७१३ अंक के दोहे नहीं हैं। इनमें से ५६३ से ले कर ५६६ अंकों तक के दोहों के न होने के विषय में तो यह प्रतीत होता है कि लेखक ने जिस प्रति से लिखा, उसका एक पृष्ठ का पृष्ठ भूल से छोड़ दिया; क्योंकि ये दोहे अन्य सब प्राचीन प्रतियों में मिलते हैं। ४६४ तथा ४६८ अंकों के दोहे बिहारी के प्रसिद्ध दोहे हैं, और प्रायः सतसई की सभी प्रतियों में प्राप्त होते हैं। अतः इनके इस प्रति में छूट जाने का कारण लेखक का प्रमाद मात्र मानना संगत है; और, ७१३ अंक के दोहे के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। इस प्रति में ये दो दोहे बिहारी-रत्नाकर से अधिक हैं—

मान छुटैगौ मानिनी, पिय-मुख देखि उदोतु।
जैसैं लागैं घाम के, पाला पानी होतु॥ ७॥
प्यौ बिछुरत तन थकि रह्यौ, लागि चल्यौ चितु गैल।
जैसैं चीर चुराइ लै, चलि नहिं सकै चुरैल॥ ४६॥

पर ये दोनों दोहे न तो हमारी किसी अन्य प्राचीन प्रति ही में मिलते हैं, और न बिहारी की रचना ही से टक्कर खाते हैं, अतः इनको बिहारी-कृत मानना समीचीन नहीं ज्ञात होता॥

ऊपर लिखे हुए कारणों से बिहारी-रत्नाकर में वे ही ७१३ दोहे स्वीकृत किए गए हैं, जो मानसिंह वाली टीका तथा रत्नकुँवरि जी वाली प्रति अर्थात् हमारी तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में हैं॥

## बिहारी-रत्नाकर का पाठ-संशोधन

दोहों के पाठ शुद्ध करने में हमको बड़ा श्रम उठाना पड़ा। प्रत्येक दोहे के पाठ का मिलान पाँचों प्राचीन प्रतियों से करने के अतिरिक्त जो शब्द सतसई में अथवा अन्यान्य ब्रजभाषा-ग्रंथों में कई कई रूपों से लिखे मिलते हैं, उनके बिहारी-स्वीकृत रूपों के निर्धारित करने में बहुत समय व्यय हुआ, और बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। जैसे 'नेक' शब्द ब्रजभाषा की अन्यान्य पुस्तकों तथा सतसई की अनेक प्रतियों में 'नेक', 'नैक', 'नैंक' तथा 'नैकु' रूपों में लिखा मिलता है। इसका बिहारी-स्वीकृत रूप स्थिर करने के लिये पहले तो यह निर्धारित किया गया कि सतसई भर में यह १५ दोहों में आया है, और उनके अतिरिक्त ४ दोहों में यह 'नैंकौ' के रूप में मिलता है। पहली पुस्तक में केवल ४६३ दोहे हैं, अतः उसमें यह शब्द बारह दोहों में आया है। इनमें से आठ दोहों में तो यह 'नेक' रूप में लिखा है, और चार दोहों में 'नैंक' रूप में। दूसरी पुस्तक में यह एक स्थान पर 'नेक', दस स्थानों पर 'नैंक', दो स्थानों पर 'नैंकु' तथा दो स्थानों पर 'नैन' के रूप में मिलता है। तीसरी पुस्तक में आदि के २५० दोहे खंडित हैं, अतः उसमें यह शब्द केवल छ दोहों में आया है। उनमें से एक दोहे में 'नेक', एक में 'नैक' तथा चार में 'नैंक' रूप में है। चौथी पुस्तक में यह एक स्थान पर 'नेकु' तथा चौदह स्थानों पर 'नेक' लिखा मिलता है। पाँचवीं पुस्तक में इसका रूप छ स्थानों पर 'नैंक' और नव स्थानों पर 'नेक' पाया जाता है॥

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि हमारी प्राचीन प्रतियों में से भी पहली तथा दूसरी प्रतियाँ विशेष प्रामाणिक तथा शुद्ध हैं । अतः शब्दों के रूप-निर्धारण में विशेषतः इन्हीं से सहायता ली गई है। इन दोनों पुस्तकों को मिला कर ६ स्थानों पर इसका पाठ 'नैंक', १४ स्थानों पर 'नैंक' और दो दो स्थानों पर 'नैंकु' तथा 'नैंन' मिलता है। अतएव सतसई में प्रयोगाधिक्य के विचार से इस शब्द का 'नैंक' पाठ ही ठीक ठहरता है । फिर इस बात पर विचार करने से भी कि यह शब्द संस्कृत शब्द ईषदर्थवाचक 'नञ्' में 'क' प्रत्यय लगा कर बना हुआ प्रतीत होता है, इसका 'नैंक' रूप शुद्ध जचता है । इसका कहीं 'नेक', कहीं 'नैक' इत्यादि लिखना लेखकों की असावधानी मात्र है। अब रह गया इस बात पर विचार करना कि 'नैंक' तथा 'नैंकु' रूपों में कौन विशेष ग्राह्य है । इसके विषय में यह वक्तव्य है कि प्राचीन प्रतियों के किसी किसी दोहे में यह शब्द उकारांत लिखा मिलता है, और व्रजभाषा की अन्यान्य पुस्तकों में भी कहीं कहीं यह उकारांत ही दिखाई देता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह शब्द प्रायः क्रियाविशेषणवत् ही प्रयुक्त किया जाता है, और ऐसे क्रियाविशेषण संस्कृत में कर्मकारक रूप में रक्खे जाते हैं। अपभ्रंश तथा प्राचीन साहित्यिक व्रजभाषा में अकारांत पुंलिंग शब्द के कर्मकारक का एकवचन रूप उकारांत होता था, अतः 'नैंक' शब्द का, उसके क्रियाविशेषण होने की अवस्था में, उकारांत प्रयोग समीचीन है। इसी विचार से ऐसे अवसरों पर उसका पाठ 'नैंकु' रक्खा गया है। पर जहाँ वह क्रियाविशेषण-रूप से नहीं आया है—जैसे ७६ अंक के दोहे में—वहाँ वह अकारांत ही रक्खा गया है ॥

इसी प्रकार सतसई की प्राचीन प्रतियों तथा व्रजभाषा के अन्यान्य ग्रंथों में अनेक अकारांत शब्दों को कहीं अकारांत तथा कहीं उकारांत लिखा पा कर—जैसे स्याम, रूप इत्यादि तथा स्यामु, रूपु इत्यादि—इस बात के निर्णय की आवश्यकता पड़ी कि उकारांत लिखने की प्रथा किसी सिद्धांत पर निर्भर है, अथवा कवि तथा लेखक की रुचि की अनुसारिणी। पाँचों प्रतियों के ऐसे उकारांत लिखे हुए शब्दों की जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि ऐसा उकार एकवचन शब्दों ही में लगाया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्धारित हुआ कि वे शब्द पुंलिंग कर्ताकारक अथवा कर्मकारक हैं । यद्यपि किसी किसी प्रति में कहीं कहीं कर्ता तथा कर्मकारकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कोई कोई शब्द भी उकारांत लिखे दृष्टिगोचर हुए, पर उनकी संख्या इतनी न्यून है कि वे परिगणनीय नहीं। उनके लेख में लेखक का प्रमाद मात्र मानना ही समुचित प्रतीत हुआ । प्रथम तथा द्वितीय पुस्तकों में तो यह लेख-प्रणाली भली भाँति निबाही गई है, केवल परिगणित स्थानों पर यथेष्ट उकार लगा नहीं निकलता, जो कि लेखक की असावधानी मात्र कही जा सकती है। तृतीय पुस्तक में और भी अधिक उकार छोड़ दिए गए हैं, और चतुर्थ तथा पंचम पुस्तकों में बहुत अधिक। पर यह बात ध्यान देने की है कि जिन जिन स्थानों पर प्रथम अथवा द्वितीय पुस्तक में उकार छूट गया है, उनमें से कितने ही स्थानों पर तृतीय, चतुर्थ अथवा पंचम पुस्तक में वह लगा मिलता है । अतः सब मिला कर जाँच करने से ऐसे स्थान बहुत ही कम रह जाते हैं, जहाँ पाँचों पुस्तकों में से किसी में यथेष्ट स्थान पर उकार न लगा हो। इस जाँच से यह बात सिद्ध हुई कि बिहारी ने एक विशेष प्रकार के अकारांत पुंलिंग शब्दों के कर्ता

तथा कर्मकारकों के एकवचन का प्रयोग उकारांत रूप में किया है, और इस नियम का निर्वाह उन्होंने, केवल दोहों के मध्य ही में नहीं, जहाँ कि अकारांत को उकारांत अथवा उकारांत को अकारांत लिखने में कोई बाधा नहीं पड़ती, प्रत्युत तुकांतों में भी किया है, जहाँ अंत्यानुप्रास लेख-प्रणाली को स्वेच्छाचारिणी नहीं होने देता, जैसा कि ११८, ६२५, ६७५ इत्यादि अंकों के दोहों से विदित होता है। सतसई में इस नियम का निरीक्षण करने पर इस बात पर ध्यान गया कि अपभ्रंश में भी उसी प्रकार के अकारांत पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग शब्दों के कर्ता तथा कर्मकारकों के एकवचन रूप उकारांत होते थे। अतः ऐसे रूपों का इस संस्करण में उकारांत स्वीकृत करना समुचित समझा गया, और तद्नुसार वर्तमानकालिक कृदंत के एकवचन के रूप की भी जाँच करके वह भी उकारांत ही स्वीकृत किया गया, जैसे—१० अंक के दोहे में 'रहतु', २७ अंक के दोहे में 'बेधतु', ३६ अंक के दोहे में 'आवतु' इत्यादि। इस उकारांत-प्रथा के ग्रहण करने में इस बात का भी विचार कर लिया गया है कि ऐसे पाठ से पुस्तक भर में कहीं पाठ-साम्य में बाधा नहीं पड़ सकती, प्रत्युत विना इस परिपाटी के ग्रहण किए पाठ-साम्य स्थापित नहीं हो सकता॥

सामान्यकारक के बहुवचन का रूप, सतसई की भिन्न भिन्न प्रतियों में, कहीं इकारांत और कहीं उकारांत देखने में आता है, जैसे—दृगनि, दृगनु, भागनि, भागनु इत्यादि। कहीं कहीं ऐसे शब्द अकारांत लिखे हुए भी मिलते हैं, जैसे—दृगन, भागन इत्यादि। हमारी प्रथम प्राचीन पुस्तक में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, केवल ४६३ दोहे हैं। उनमें ऐसे शब्द अनुमान से १३०-१३५ स्थानों पर आए हैं। उनमें से २८-३० स्थानों पर तो वे अकारांत लिखे हैं, ४ स्थानों पर इकारांत तथा शेष स्थानों पर उकारांत। अकारांत रूपों के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि लेखक की असावधानी से उनमें उकार लगाना रह गया है, और इकारांत रूप इतने कम हैं कि उनको भी लेखक का प्रमाद मानना ही समुचित है। अतः प्रथम पुस्तक के अनुसार सतसई में ऐसे रूपों का उकारांत प्रयोग सिद्ध होता है। द्वितीय पुस्तक में ऐसे शब्द अनुमान से २६ स्थानों पर अकारांत, १७ स्थानों पर उकारांत तथा १३८ स्थानों पर इकारांत मिलते हैं। अतः इस पुस्तक के अनुसार ऐसे शब्दों का इकारांत होना कहा जा सकता है। तृतीय पुस्तक में ऐसे शब्द ३१ स्थानों पर अकारांत, ४० स्थानों पर इकारांत तथा ५६ स्थानों पर उकारांत हैं, और चतुर्थ पुस्तक में ६६ स्थानों पर अकारांत, ३६ स्थानों पर इकारांत तथा ८१ स्थानों पर उकारांत हैं। पाँचवीं पुस्तक में ऐसे शब्द ८१ स्थानों पर अकारांत, ३१ स्थानों पर इकारांत तथा ७४ स्थानों पर उकारांत हैं। पाँचों पुस्तकों को मिला कर ऐसे शब्द २२३ स्थानों पर अकारांत, २५० स्थानों पर इकारांत तथा ३२८ स्थानों पर उकारांत ठहरते हैं*। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो शब्द एक प्रति में इकारांत लिखा मिलता है, वह अन्य प्रति में उकारांत दिखाई देता है।

---

* स्थानों की संख्याएँ जो दी गई हैं, उनकी जाँच भली भाँति नहीं की गई है, अतः संभावना है कि इनमें दो एक संख्याओं की भूल हो। पर जो निष्कर्ष उनसे निकाला गया है, उसमें इस अल्प भूल से किसी बाधा की संभावना नहीं है॥

अतः ऐसे शब्द बहुत न्यून रह जाते हैं, जो अधिक प्रतियों में इकारांत लिखे हों, और ऐसे बहुत अधिक, जो अधिकांश प्रतियों में उकारांत। इस गणना से भी सतसई में ऐसे रूपों का पाठ-साम्य के अनुरोध से उकारांत ही स्वीकृत करना समीचीन प्रतीत हुआ। इसके अतिरिक्त पाठ-साम्य की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे शब्दों के अकारांत तथा इकारांत रूपों का निर्वाह सतसई भर में होता दिखाई नहीं दिया, जैसे—६७५, ४८६ इत्यादि दोहों में ; पर उनके उकारांत रूप रखने में कहीं कोई बाधा नहीं पड़ी, अतः सतसई भर में ऐसे शब्द उकारांत ही रक्खे गए हैं। केवल दो एक स्थानों पर वे असावधानी से इकारांत छप गए हैं, और ३२०-संख्यक दोहे में 'दृगनि' शब्द जान बूझ कर इकारांत छोड़ दिया गया है, जिसका कारण टीका में दिखा दिया गया है। पर हमारी समझ में उसको भी पाठ-साम्य के अनुरोध से 'दृगनु' ही होना युक्त है॥

कारणसूचक ऐसे शब्द, जैसे—चलैं, परैं, कीनैं, लखैं इत्यादि, जिनका अर्थ, चलने से, चलने में, चलने पर इत्यादि होता है, सतसई तथा व्रजभाषा के अन्यान्य ग्रंथों में कई रूपों से लिखे दिखाई देते हैं। इनके बिहारी-स्वीकृत रूपों के निर्धारित करने के निमित्त भी पाँचों प्रतियों में आए हुए रूपों की संख्याओं की जाँच की गई, और अनुप्रास में आए हुए ऐसे रूपों पर भी विचार किया गया, जैसे १८४ अंक के दोहे के 'करैं' शब्द पर। इन अनुसंधानों से ऐसे शब्दों का 'चलैं, परैं' इत्यादि रूप स्वीकृत करना युक्त प्रतीत हुआ। फिर ऐसे रूपों की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया, तो ज्ञात हुआ कि ये रूप संस्कृत के क्रियार्थक संज्ञा 'चलन', 'पतन' इत्यादि, अथवा भूतकालिक कृदंत 'चलित', 'पतित' इत्यादि के सामान्यकारक के रूपों के—अर्थात् 'चलनहिं, पतनहिं' अथवा 'चलितहिं, पतितहिं' इत्यादि के—रूपांतर मात्र हैं, जो करण-कारक के अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे संस्कृत के 'चलनेन, पतनेन' इत्यादि। 'चलनहिं' अथवा 'चलितहिं' इत्यादि से 'चलैं' इत्यादि रूप उसी प्रकार बन जाते हैं, जैसे 'रामहिं' से 'रामैं'। ऐसे शब्दों के 'चलैं', 'परैं' इत्यादि रूप ही ग्राह्य ठहरते हैं॥

बिहारी-रत्नाकर की पाठ-शुद्धि के निमित्त इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के यथार्थ रूप पर यथाशक्ति भली भाँति विचार किया गया है, जिसके निदर्शनार्थ दो चार शब्दों की संशोधन-विधि 'स्थालीपुलाकन्याय' से ऊपर कथन कर दी गई है॥

यद्यपि पाठ की शुद्धि तथा साम्य में यथाशक्ति श्रम किया गया है, पर फिर भी कहीं कहीं असावधानी अथवा भ्रम से अशुद्धियाँ तथा पाठ-विषमताएँ रह गई हैं। कहीं उकार छूट गया है, तो कहीं अधिक लग गया है ; कहीं 'ऐं' के स्थान पर 'ए' अथवा 'ए' के स्थान पर 'ऐं' छप गया है, तो कहीं 'ए' के स्थान पर 'ये' अथवा 'ये' के स्थान पर 'ए' हो गया है, इत्यादि। यद्यपि ऐसी अशुद्धियों की संख्या अधिक नहीं है—वे उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं, तथापि हम उनके निमित्त प्रिय पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। हमारा विचार था कि पुस्तकांत में एक शुद्धाशुद्ध पत्र लगा दिया जाय, पर फिर यह उचित प्रतीत हुआ कि दूसरे संस्करण में फिर से और भी भली भाँति विचार कर के पाठ-परिवर्तन किया जाय, और इस संस्करण में जो कुछ है, वही रहने दिया जाय॥

## बिहारी-रत्नाकर-टीका

इस ग्रंथ का टीका-भाग, सं० १९७८ के माघ-मास से, श्री अयोध्यापुरी में, आरंभ हो कर संवत् १९७९ के भाद्रपद की ऋषि-पंचमी को, हमारी ५९वीं वर्षगाँठ के दिन, कश्मीर-प्रांत के निशातबाग-नामक स्थान में समाप्त हुआ ॥

पहले हमारा विचार था कि इस टीका में प्रत्येक दोहे पर साहित्य के सब अंग—अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि इत्यादि—भी लिखें । पर अवकाशाभावात् उक्त संकल्प के पूरे होने में बहुत दिनों की आवश्यकता थी । अतः हमारे कई सज्जन मित्रों ने सम्मति दी कि इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण केवल दोहों की पाठ-शुद्धि कर के तथा अर्थ मात्र दे कर प्रकाशित कर दिया जाय; क्योंकि पाठ-शुद्धि तथा अर्थ ही पर अलंकारादि निर्भर रहते हैं । उनके अनुरोध तथा सम्मति से हमने भी ऐसा ही करना उचित समझा, जिसमें जो श्रम हो चुका है, वह वृथा न जाय । यदि अवकाश प्राप्त हुआ, और इस ग्रंथ के पुनः संस्करण का अवसर आया, तो यथासंभव कुछ साहित्यिक विषय भी प्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित किए जायँगे ॥

इस टीका में विशेषतः इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाठकों की समझ में शब्दार्थ तथा भावार्थ भली भाँति आ जायँ । दोहे के शब्दों के पारस्परिक व्याकरणिक संबंध तथा कारक इत्यादि के, स्पष्ट रूप से, प्रकट करने का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया है । प्रत्येक दोहे के पश्चात् उसके कठिन शब्दों के अर्थ दे दिए गए हैं, और फिर उस दोहे के कहे जाने का अवसर, वक्ता, बोधव्य इत्यादि, 'अवतरण' शीर्षक के अंतर्गत, बतलाए गए हैं । उनके पश्चात् 'अर्थ' शीर्षक के अंतर्गत दोहे का अर्थ लिखा गया है । अर्थ लिखने में जो कोई शब्द अथवा वाक्यांश कठिन ज्ञात हुआ, उसका अर्थ, उसके पश्चात्, गोल कोष्ठक में दे दिया गया है, और जिस किसी शब्द अथवा वाक्यखंड का अध्याहार करना उचित समझा गया, वह चौखूँटे कोष्ठक में रख दिया गया है । जहाँ कहीं कोई विशेष बात कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ वह टिप्पणी-रूप से एक भिन्न वाक्य-विच्छेद (पैराग्राफ़) में लिखी गई है ॥

पाँचों प्रतियों के आवश्यक आवश्यक पाठांतर भी, दोहे के शब्दों पर १,२ आदि अंक लगा कर, पाद-टिप्पणियों में दे दिए गए हैं । पाद-टिप्पणियों में जो अंक कोष्ठक के बाहर हैं, वे तो वे हैं, जो दोहों पर दिए गए हैं, और पाठांतर के पश्चात् जो अंक कोष्ठक में हैं, वे पाँचों प्रतियों के सांकेतिक अंक हैं ॥

इस टीका में अधिकांश दोहों के अर्थ अन्यान्य टीकाओं से भिन्न हैं । उनके यथार्थ होने की विवेचना पाठकों की समझ, रुचि तथा न्याय पर निर्भर है ॥

हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ज्योतिषी बिहारी-सतसई की अनेक प्रतियों के साथ बिहारी के एक चित्र की अनुकृति भी जयपुर से लाए हैं । उक्त चित्र किसी अंतःपुर में लगा हुआ है । उसका पता पंडित जी को संयोग से लग गया, और उन्होंने बड़े यत्न तथा उद्योग से उसकी अनुकृति प्राप्त कर ली । उसमें उस समय का दृश्य दिखलाया गया है, जब बिहारी ने "नहिँ पराग, नहिँ मधुर मधु" इत्यादि दोहा लिख कर महाराज जयसिंह के



श्रीराजा जगदंबिकाप्रतापसिंह, अयोध्या

N. K. Press, Lucknow.

पास भेजा था। आमेरगढ़ के विनायक-पौरि तथा उसके सामने के प्रशस्त चबूतरे का दृश्य उसमें दिखलाया गया है। बिहारी के चित्र उसमें दो जगह हैं। एक तो बिहारी के आने समय का चित्र है, जिसके पीछे लाल ढाल वाला एक मिरदहा, जो बिहारी को बुलाने गया था, खड़ा है, और सामने कोई राजकर्मचारी बिहारी का स्वागत कर रहा है। दूसरे स्थान पर कतिपय और कर्मचारियों के साथ बिहारी का बैठा हुआ चित्र है। इसमें बिहारी उक्त दोहा लिख कर, एक वर्षवर ( खोजे ) को देते हुए दिखलाए गए हैं, और वह वर्षवर वह दोहा ले जा कर किसी दासी को दे रहा है। इस चित्र के विषय में जयपुर में यह कहा जाता है कि जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से राजा नवोढ़ा रानी के प्रेम-पाश से मुक्त हो कर बाहर निकल आए, और अपना काम-काज करने लगे, तो चौहानी रानी ने प्रसन्न हो कर आज्ञा दी कि उस समय की घटना का ज्यों का त्यों चित्र बनाया जाय। बस, उसी आज्ञा के अनुसार उक्त चित्र तैयार किया गया। उसके नीचे के भाग में दोनों पार्श्वों पर दो दो अंक लिखे हुए हैं, अर्थात् वाम पार्श्व पर १६ तथा दक्षिण पार्श्व पर ६२। इन चारों अंकों को मिला कर हम इसको विक्रम संवत् १६६२ अनुमानित करते हैं॥

उक्त चित्र बहुत बड़ा है। उसे छोटा कर के पुस्तक में देने योग्य बनवाने में बिहारी के चित्र के बहुत छोटे हो जाने की आशंका थी। अतः हमने उक्त चित्र में से केवल बिहारी का खड़ा चित्र अलग कर के बिहारी-रत्नाकर में दे दिया है। मिर्ज़ा राजा जयशाह का भी एक चित्र पाठकों के अवलोकनार्थ इस पुस्तक में दिया गया है। यह चित्र भी हमारे पंडित जी जयपुर से लाए थे॥

अब हम श्रीमान् महाराजाधिराज दरभंगा-नरेश, श्रीमान् महाराजाधिराज काशी-नरेश, श्रीयुत कर्नल विंध्येश्वरीप्रसाद सिंह सी० आई० ई० तथा स्वर्गवासी श्रीमान् महाराजाधिराज सवाई जयपुराधीश एवं जयपुर के उन सज्जनों को, जिनका नाम ऊपर कथन किया गया है, इस संस्करण की सामग्री एकत्र करने में सहायता पहुँचाने के निमित्त, अनेकानेक हार्दिक धन्यवाद देते हैं, और राजराजेश्वरी श्रीमती महारानी अवधेश्वरी की असीम कृतज्ञता स्वीकृत करते हैं, जिनके व्यय तथा उत्साह-प्रदान से यह टीका संपादित हो सकी। अपने वि० भू० पंडित श्री रामनाथ ज्योतिषी को भी हम, कष्ट उठा कर अनेक अमूल्य प्रतियाँ संग्रह करने के निमित्त, साधुवाद का अधिकारी समझते हैं। माधुरी तथा गंगा-पुस्तकमाला के संपादक, हमारे मित्र श्री दुलारेलाल जी भार्गव ने इस ग्रंथ को प्रकाशित करने में बड़ा उत्साह प्रदर्शित किया, और इसके संशोधन में बहुत बड़ी सहायता दी, जिसके निमित्त हम उनको अनेकानेक धन्यवाद देते हैं, और इस संस्करण की भूल-चूक के निमित्त अपने सज्जन पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करके यह प्राक्कथन समाप्त करते हैं॥

श्री राजसदन, अयोध्या;
भाद्र-कृष्णजन्माष्टमी, भौमवार, संवत् १६८२ वि०
( तारीख़ ११ अगस्त, सन् १६२५ ई० )

श्री जगन्नाथदास
( रत्नाकर )

## भूमिका की विज्ञप्ति

बिहारी-रत्नाकर के छप जाने पर हमारा विचार हुआ कि उसके साथ एक यथायोग्य भूमिका भी लगा दें, और हमने उसका लिखना आरंभ भी कर दिया। यद्यपि उसका अधिकांश तो लिख गया है, पर अवकाशाभाव से उसकी समाप्ति अभी तक न हो सकी, और इस समय कई कारणों से उसे पूरा करने का अवसर प्राप्त होना भी कठिन प्रतीत होता है। इधर बिहारी-रत्नाकर को छपे प्रायः डेढ़ वर्ष हो चुके हैं, और हमारे सज्जन मित्र तथा प्रेमी पाठकगण उसे देखने की उत्कंठा प्रकट कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त भूमिका का जितना भाग लिखा जा चुका है, उससे अनुमान करने पर स्वयं भूमिका ही एक स्वतंत्र ग्रंथ होने के निमित्त अलम् जान पड़ती है। अतः इस समय क्षमा-प्रार्थना के साथ केवल एक प्राक्कथन लगाकर बिहारी-रत्नाकर प्रकाशित कर दिया जाता है। आशा है, उसका भूमिका-भाग स्वतंत्र रूप में शीघ्र ही पाठकों की भेंट किया जायगा।

श्रीअयोध्या:
फाल्गुन-कृष्ण १४ (शिवरात्रि),
सं० १९८२ वि०

जगन्नाथदास ('रत्नाकर')

---



महाकवि श्रीविहारीदास

N. K. Press, Lucknow.

# बिहारी-रत्नाकर

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

दोहा

**मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।**
**जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥**

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

## टीकाकार का मंगलाचरण

कृपा-कौमुदी कौ करौ श्रीव्रजचंद प्रकास ।
उमगै रतनाकर-हियैं बानी-बिमलबिलास ॥

**भव**=संसार । **बाधा**=रुकावट, विघ्न । **भव-बाधा**=संसार के विघ्न अर्थात् दुःख, दारिद्र तथा अनेक प्रकार की चिंताएँ इत्यादि, जो बाधा-रूप मैं उपस्थित हो कर संसार के मनुष्यौँ को किसी उत्तम अभीष्ट का एकाग्रता-पूर्वक साधन नहीं करने देतीँ । स्मरण रहे कि कवि-परिपाटी में दुःख-दारिद्रादि का रंग काला माना जाता है । 'भव-बाधा' का अर्थ टीकाकारों ने बहुधा जन्म-मरण का दुःख लिखा है । वह भी ठीक है। पर यहाँ यह शब्द ग्रंथ के मंगलाचरण में आया है । अतः यहाँ कवि की यही प्रार्थना विशेष संगत है कि हमारे अनेक प्रकार के चिंतादि-जनित विघ्नौँ का निवारण कीजिए, जिसमें ग्रंथ के पूर्ण होने मैं विघ्न न हो ॥ **झाँईं**—इस शब्द के यहाँ तीन अर्थ लिए गए हैँ—( १ ) परछाँहीं, आभा । ( २ ) झाँकी, झलक । ( ३ ) ध्यान । प्राकृत-व्याकरणौँ के "ध्यह्योर्झः", इस सूत्र के अनुसार 'ध्य' के स्थान में 'झ' हो कर 'ध्यान' शब्द से 'झाँईं' बन जाता है । त्रिविक्रम ने अपने प्राकृत-व्याकरण मैं 'ध्यान' शब्द का 'झाण' रूप लिखा भी है । 'न' के स्थान में बहुधा 'यँ' भाषा के शब्दों में देखा जाता है; जैसे 'दाहिने' के स्थान पर 'दायें' । हेमचंद्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में जो निम्न-लिखित छंद अपभ्रंश के उदाहरण में रक्खा है, उसमें ध्यात्वा का अपभ्रंश रूप 'झाइवि' प्रयुक्त हुआ है—

दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिँ लाइवि णावइ दइवें घडिअउ ॥

**परैं**=पड़ने से । इस शब्द के भी निम्न-लिखित तीन भावार्थ 'झाँईं' के तीनों अर्थों से यथाक्रम अन्वित होते हैं—( १ ) तन पर पड़ने से । ( २ ) दृष्टि मैं पड़ने से । ( ३ ) हृदय मैं पड़ने से ॥ **स्यामु** ( श्याम )—यह शब्द भी यहाँ तीन अर्थों मैं प्रयुक्त हुआ है—( १ ) श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्णचंद्र । ( २ ) श्रीकृष्णचंद्र । ( ३ ) काले रंग वाला पदार्थ अर्थात् कल्मष, पातक, दुःख, दारिद्रादि, जिनका रंग कवि-परिपाटी मैं काला नियत है। उपादान लक्षणा शक्ति से 'श्याम' का अर्थ श्याम रंग का पदार्थ होता है, जैसे 'सुरंग दौड़ता है' वाक्य मैं 'सुरंग' शब्द का अर्थ सुरंग घोड़ा होता है। फिर साहित्य की परिपाटी के अनुसार काले पदार्थ से पातक, कल्मष इत्यादि का ग्रहण हो जाता है ॥ **हरित-दुति** ( हरित-द्युति )—इस शब्द के भी इस दोहे मैं तीन अर्थ ग्रहण किए गए हैं—( १ ) हरे रंग वाला । ( २ ) हराभरा, डहडहा अर्थात् प्रसन्न-वदन। ( ३ ) हतद्युति, गतद्युति, हतप्रभ अर्थात् तेज-हीन, प्रभा-शून्य, अथवा भयंकरता-रहित। द्युति का अर्थ नाटकों में भयंकर चेष्टा भी होता है। इस अर्थ में 'हरित' शब्द हत का अपभ्रंश है ॥

( अवतरण )—अपनी सतसई की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से कवि, इस मंगलाचरण-रूप दोहे मैं, श्रीराधिकाजी से सांसारिक बाधा दूर करने की प्रार्थना करता है । सतसई मैं यद्यपि और रसौं के भी दोहे हैं, तथापि प्रधानतः श्रृंगार ही रस की है । इसके अतिरिक्त श्रृंगार रस मैं सब रसौं की स्थायियाँ संचारी हो कर संचरित होती हैं, जिसके कारण वह रसराज कहलाता है । अतः सतसई मैं श्रृंगार रस के मुख्य प्रवर्तक श्रीराधाकृष्ण ही का मंगलाचरण रहना समीचीन है । श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण मैं भी, श्रृंगार रस मैं, प्रधानता श्रीराधिकाजी ही की है, और कवि जिस संप्रदाय का अनुयायी था, उसमैं भी श्रीराधिकाजी ही प्रधान मानी जाती हैं । अतः उसने श्रीराधिकाजी ही से अपनी 'भव-बाधा' हरने की प्रार्थना की है—

( अर्थ )—**जिसके तन की झाँईं पड़ने से श्याम हरित-द्युति हो जाता है, "राधा नागरि सोइ" ( हे वही राधा नागरी, अथवा वही राधा नागरी ) मेरी भव-बाधा हरो ( तुम हरो, अथवा हरें ) ॥**

इस दोहे मैं 'राधा नागरि' पद संबोधन भी माना जा सकता है, और प्रथमपुरुष-वाची भी; क्योंकि 'हरौ' क्रिया का अन्वय, प्रार्थनात्मक वाक्य मैं, मध्यम पुरुष से भी हो सकता है, और प्रथम पुरुष से भी। फिर मंगलाचरण मैं, आराध्य देवता से, मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष, दोनौं ही रूपौं मैं प्रार्थना करने की प्रणाली प्रशस्त है ॥

यह दोहा बिहारी की प्रतिभा का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है । इसमैं कवि ने 'झाँईं', 'स्यामु' तथा 'हरित-दुति' शब्दौं के तीन तीन अर्थ रख कर एक ही वाक्य से तीन भाव निकाले हैं, जो तीनौं ही उसके इष्टार्थ के साधक हैं ॥

पहला अर्थ तो इस दोहे का यह हुआ—

**हे वही राधा नागरी, जिसके तन की परछाँहीं अर्थात् आभा पड़ने से श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्णचंद्र हरे रंग की द्युति वाले हो जाते हैं, मेरी भव-बाधा हरो ॥**

इस अर्थ से कवि श्रीराधिकाजी के शरीर की गुराई की प्रशंसा करता है कि वह ऐसे सुनहरे रंग की है कि उसकी आभा पड़ने से श्रीकृष्णचंद्र का श्याम रंग हरा हो जाता है । पीले तथा नीले रंगौं के मेल से हरे रंग का बनना लोक-प्रसिद्ध ही है । इसी भाव को कवि ने अपने "नित प्रति एकत

ही इत्यादि" दोहे में भी कहा है, और माघ का एक श्लोक भी गौर तथा श्याम छवियों के, पारस्परिक आभा से, हरी हो जाने के वर्णन में है, जो कि "नित प्रति एकत ही इत्यादि" दोहे की टीका में उद्धृत किया गया है। इस भाँति उनके रूप की प्रशंसा कर के कवि उनसे अपनी भव-बाधा दूर करने की बिनती करता है ॥

अब दूसरा अर्थ नीचे लिखा जाता है—

हे वही राधा नागरी, जिसके तन की झाँकी अर्थात् झलक [ आँखों में ] पड़ने से ( दिखाई देने से ) श्रीकृष्णचंद्र हरेभरे अर्थात् प्रसन्न-वदन हो जाते हैं, मेरी भव-बाधा हरो ॥

इस अर्थ से कवि, श्रीराधिकाजी के श्रीकृष्णचंद्र की अत्यंत प्रेमपात्री होने की प्रशंसा करता हुआ, उनसे अपनी भव-बाधा निवारण करने की प्रार्थना करता है ॥

ऊपर कहे हुए दोनों अर्थों से कवि, श्रीराधिकाजी के रूप तथा प्रियतम-प्रियता की प्रशंसा करता हुआ, निम्न-लिखित तीसरे अर्थ से उनमें भव-बाधा हरने का सामर्थ्य सिद्ध कर के, उनको अपनी भव-बाधा हरने पर उद्यत करता है । इस सामर्थ्य के सिद्ध करने से कवि का यह तात्पर्य है कि, अपने सामर्थ्य का स्मरण कर के, वह शीघ्र ही उसकी भव-बाधा हरने के लिए उत्साहित हो जायँ ॥

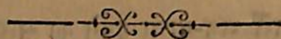
वह तीसरा अर्थ यह है—

हे वही राधा नागरी, जिसके तन ( रूप ) का ध्यान पड़ने से (भक्त के हृदय में आने से ) काले रंग वाला [ पदार्थ अर्थात् कल्मष, पातक इत्यादि ] हतद्युति ( गतद्युति अर्थात् अपनी कल्मषता से रहित ) हो जाता है ( अर्थात् अपना दुःखद प्रभाव छोड़ देता है ), मेरी भव-बाधा ( सांसारिक दुःख, दारिद्र, चिंता इत्यादि, जिनका रंग कवि-परिपाटी में काला माना जाता है ) हरो ॥

ऊपर के तीनों अर्थों में "राधा नागरि" पद संबोधन माना गया है । उसे प्रथमपुरुष-वाची मान कर भी इस दोहे के यही तीनों अर्थ हो सकते हैं ॥

हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में से चार में "मेरी भव-बाधा", यही पाठ है, और तीसरे अंक की पुस्तक आदि में खंडित है। कृष्ण कवि की टीका के अनुसार भी यही पाठ ठीक ठहरता है । कृष्ण कवि ने, अपनी टीका में, प्रत्येक दोहे की जाति का नाम तथा उसके गुरु और लघु अक्षरों की संख्या लिख दी है। इस दोहे को उन्होंने 'करभ' लिखा है, जिसमें ३२ अक्षर, अर्थात् १६ गुरु और १६ लघु, होते हैं। यह संख्या 'भव-बाधा' ही पाठ मानने से चरितार्थ होती है, अथवा 'भौ-बाधा हरहु' पाठ रखने से । पर 'हरहु' पाठ किसी पुस्तक में नहीं मिलता । एक पुरानी लिखी हुई पुस्तक, जिसमें दोहों का क्रम पुरुषोत्तमदासजी के बाँधे हुए क्रम के अनुसार है, हमको वृंदावन में मिली है । उसमें 'भौ-बाधा' पाठ तो है, पर 'हरहु' पाठ उसमें भी नहीं है । अतः यदि 'भौ-बाधा' पाठ शुद्ध माना जाय, तो यह दोहा करभ जाति का नहीं रहता, जैसा कि कृष्ण कवि ने इसको लिखा है । कृष्ण कवि ने अपनी टीका संवत् १७८२ में समाप्त की थी । अतः यह बात स्पष्ट है कि उस समय जब कि बिहारी को मरे बहुत दिन नहीं बीते थे, 'भव-बाधा' ही पाठ प्रसिद्ध था । पर विचारने की बात यह है कि मंगलाचरण के दोहे के आदि में बिहारी ने 'मेरी भव-बाधा' कैसे रक्खा होगा; क्योंकि इस पाठ के आदि में त-गण पड़ता है, जो कि अशुभ माना जाता है । इसी को यदि वह 'मेरी भौ-बाधा' कर देते, तो

आदि मैं शुभ गण म-गण पड़ जाता, और छंद मैं भी कोई त्रुटि न पड़ती। यह कहना तो असंगत ही होगा कि बिहारी गण-विचार नहीं जानते थे; क्योंकि यह तो ऐसी सामान्य बात है कि इसको थोड़ा पढ़े हुए लोग भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त 'भव-बाधा' को 'भौ-बाधा' कर देने मैं कोई कठिनाई भी न थी। फिर बिहारी ने, मंगलाचरण के दोहे के आदि मैं, 'भव-बाधा' क्यों लिखा? इसके दो कारण हो सकते हैं—पहला तो यह कि बिहारी के दोहे बहुधा, उनके मुख से सुन कर, राजसभा के लेखक अथवा बिहारी के शिष्य लिख लिया करते थे, अतः संभव है कि यह पाठ लिखने वालों के प्रमाद से प्रचलित हो गया हो; दूसरा यह कि बिहारी ने इस दोहे को मंगलाचरण मैं रखने के अभिप्राय से न बनाया हो, पर, सतसई संकलित करते समय, इसको इस योग्य देख कर, मंगलाचरण मैं रख दिया हो, और इसके आदि के गण पर ध्यान न दिया हो। जो हो, हमारी समझ मैं, 'मेरी भौ-बाधा हरौ' पाठ होता, तो अच्छा होता। पर प्राचीन पुस्तकों मैं 'मेरी भव-बाधा हरौ' ही पाठ होने के कारण यही पाठ इस संस्करण मैं रक्खा गया है॥



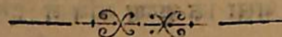
**अपने अँग के जानि कै जोबन-नृपति प्रबीन।**
**स्तन, मन, नैन, नितंब कौ बड़ौ इजाफ़ा कीन॥ २॥**

**अपने अँग के** (अपने अंग के)—राजा के प्रधान, अमात्य, सेनापति तथा सेना इत्यादि राजा के अंग अर्थात् सहायक कहलाते हैं। अतः अंग का अर्थ यहाँ सहायक अथवा पक्षी होता है। 'अपने अँग के' का अर्थ अपने पक्षियों के दल मैं हुआ॥ **इजाफ़ा** (इज़ाफ़ा)—अरबी भाषा मैं इज़ाफ़ा बढ़ती अर्थात् वृद्धि को कहते हैं। जब कोई बादशाह, अपने किसी सरदार अथवा कर्मचारी को अपना शुभचिंतक समझ कर, अथवा उसके किसी अच्छे काम से प्रसन्न हो कर, उसकी जागीर अथवा वेतनादि मैं वृद्धि कर देता है, तो यह वृद्धि इज़ाफ़ा कहलाती है॥

(अवतरण)—नायक नवयौवना मुग्धा के शरीर तथा उत्साह मैं वृद्धि देख, रीझ कर, उसकी प्रशंसा करता हुआ, अपने मन मैं कहता है—

**(अर्थ)—यौवन-रूपी प्रवीन (दान, दंड इत्यादि उपायों मैं निपुण) नृपति (राजा) ने, [उनको] अपने अंग का (दल का, पक्ष का) समझ कर, स्तनों (कुचों), मन, नयनों, [और] नितंबों का बड़ा इज़ाफ़ा कर दिया है॥**

टीकाकारों ने प्रायः ऐसे दोहों को सखी का वचन सखी से, नायक से, अथवा स्वयं नायिका से माना है। पर हमारी समझ मैं ऐसे दोहों को, सखी का वचन मानने की अपेक्षा, नायक का वचन मानने मैं विशेष रस है; क्योंकि किसी गुण-ग्राहक की प्रशंसा से किसी वस्तु के गुणों की जैसी वास्तविकता प्रकट होती है, वैसी किसी अभिप्राय से प्रशंसा करने वाले की प्रशंसा से नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे दोहों मैं हमने प्रायः नायक का स्वगत वचन माना है॥



**अर तैं टरत न बर-परे, दई मरक मनु मैन।**
**होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन॥ ३॥**

१. कैं (२)। २. होड़ाहोड़ा (२, ४)।

अर ( अँड़ )=किसी बात के निमित्त हठ-पूर्वक डट जाना । यहाँ 'अर' का अर्थ अपने गौरव के निमित्त हठ करना है ॥ **बर-परे**—'बर' का अर्थ बल है । यहाँ इसका अर्थ उत्साह, उमंग है । अतः 'बर-परे' का अर्थ उमंग से भरे हुए होता है ॥ **मदक**=बढ़ावा, चाँटी ॥ **होड़ाहोड़ी**—होड़ बराबरी करने की स्पृहा—लागडाँट—को कहते हैं । 'होड़ाहोड़ी' का अर्थ परस्पर की लागडाँट होता है ॥

( अवतरण )—नवयौवना नायिका की शोभा से रीझ कर नायक, उसकी प्रशंसा करता हुआ, अपने मन में कहता है—

( अर्थ )—[ अहा ! इस स्त्री के शरीर में यौवनागमन के कारण ] उमंग से भरे हुए चित्त, चतुराई और नयन [ अपने अपने ] हठ से नहीं हटते, [ और ] होड़ाहोड़ी ( परस्पर लागडाँट कर के ) बढ़ चले हैं, मानो मदन ने [ इन्हें ] बढ़ावा दे रक्खा है ॥

**औरै-ओप कनीनिकनु गनी घनी-सिरताज ।**
**मनीँ धनी के नेह की बनीँ छनीँ पट लाज ॥ ४ ॥**

**औरै-ओप**=कुछ और ही ओप वाली । यह समस्त पद 'कनीनिकनु' का विशेषण है ॥ **कनीनिकनु**—कनीनिका आँख की पुतली को कहते हैं । 'कनीनिकनु' कनीनिका शब्द के संबंधकारक का बहुवचनांत रूप होता है । इसके पश्चात् की तृतीया की विभक्ति का लोप है, अतः इसका अर्थ कनीनिकाओं से, अर्थात् कनीनिकाओं के कारण, हुआ ॥ **गनी**=गिनी गई है, मानी गई है ॥ **घनी-सिरताज**—घनी का अर्थ अनेक होता है । यहाँ इसका अर्थ अनेक सपत्नी है । 'सिरताज' फ़ारसी समस्त शब्द 'सरताज' का रूपांतर है । इसका अर्थ शिरोमणि अर्थात् श्रेष्ठतम होता है ! इसलिए 'घनी-सिरताज' का अर्थ अनेक सपत्नियों में शिरोमणि अर्थात् श्रेष्ठतम पत्नी हुआ ॥ **मनीँ** ( मणि )=हीरा, नीलम इत्यादि, अथवा सर्प इत्यादि से निकली हुई मणियाँ । मणियों में अनेक प्रकार के प्रभाव माने जाते हैं । किसी मणि के पहनने से लक्ष्मी की प्राप्ति, किसी से अन्य मनुष्यों का सम्मोहन इत्यादि माना जाता है ॥ **धनी**=प्रभु, स्वामी अर्थात् पति ॥ **मनीँ धनी के नेह की**—इसका अर्थ पति के स्नेह को आकर्षित करने वाली मणियाँ होता है ॥ **छनीँ**=आच्छादित, छिपी हुई । मणि, मंत्र इत्यादि का प्रभाव छिपे रहने पर विशेष होता और खुल जाने पर जाता रहता है । इसी प्रकार लज्जा से आच्छादित नेत्रों में भी आकर्षण-शक्ति विशेष होती है । इसी लिए कवि ने कनीनिकाओं को मणि बना कर लज्जा-रूपी पट से ढाँप रक्खा है ॥

( अवतरण )—नवयौवना मुग्धा की आँखों की पुतलियों में यौवनागमन के कारण कुछ विलक्षण प्रभा तथा लज्जा का संचार हो गया है । उसी की प्रशंसा सखी, उसके हृदय में उत्साह बढ़ाने के निमित्त, करती है—

( अर्थ )—[ अब तू अपनी ] और ही ओप ( प्रभा ) वाली कनीनिकाओं के कारण अनेक [ सपत्नियों ] में शिरोमणि गिनी गई है, [ क्योंकि ये तेरी कनीनिकाएँ ] लज्जा-रूपी पट में छिपी हुई ( लिपटी हुई ) पति के स्नेह की ( पति के स्नेह को तेरी ओर आकर्षित करने वाली ) मणियाँ बन गई हैं ॥

१. मनी ( १, ४, ५ ) ।

**सनि-कज्जल[1] चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।**
**क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥ ५॥**

**सनि** ( शनि ) = शनैश्चर नामक ग्रह। इस ग्रह का रंग काला माना जाता है, और वस्तुतः भी इस तारे का रंग देखने में श्याम प्रतीत होता है। **सनि-कज्जल** = जिसमें कज्जल शनि है ऐसी। यह समस्त पद 'चख-झख-लगन' का विशेषण है। इसमें बहुव्रीहि समास है। **चख** ( चक्षु ) = आँख। **झख** ( झष ) = मछली॥ **लगन** ( लग्न )—इस शब्द का धात्वर्थ लगा रहना, मिला रहना है। ज्योतिष की परिभाषा में क्रांतिवृत्त के क्षितिज में लगे रहने को लग्न कहते हैं। भारतीय ज्योतिषाचार्यों के अनुसार सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। उस परिक्रमा-पथ को क्रांतिवृत्त कहते हैं, जो स्वयं भी, प्रवह वायु-द्वारा चलायमान हो कर, पृथ्वी के चारों ओर घूमा करता है। यह क्रांतिवृत्त बारह सम भागों में विभक्त माना गया है। एक एक भाग एक एक राशि के नाम से ख्यात है। उन बारह राशियों के नाम ये हैं—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ और मीन। जो राशि जितने काल तक पूर्व क्षितिज से सम्मिलित रहती है, उतने काल तक उस राशि की लग्न मानी जाती है। जैसे यदि सूर्योदय के समय क्रांतिवृत्त की मीन राशि क्षितिज से सम्मिलित हो, तो उस समय मीन लग्न मानी जायगी, और जब तक, क्रांतिवृत्त के भ्रमण के कारण, वह राशि घूम कर क्षितिज-रेखा का उल्लंघन न कर जायगी, और मेष लग्न उस रेखा पर न पहुँच जायगी, तब तक मीन लग्न का मान रहेगा। उसके पश्चात् मेष लग्न का मान आरंभ होगा। जन्म-कुंडली के संबंध में लग्न उस लग्न को कहते हैं, जो किसी के जन्म के समय होती है। जैसे यदि किसी के जन्म-समय मीन लग्न हो, तो मीन लग्न कहने से उसके जन्म-काल की लग्न समझी जायगी। यदि उस मनुष्य के जन्म के समय मीन लग्न हो, और शनि ग्रह भी उस समय मीन राशि ही में हो, तो उस मनुष्य की लग्न में मीन राशि के शनि का होना कहा जायगा। ऐसा मनुष्य ज्योतिष शास्त्र के अनुसार राजा होता है, यथा—

तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति भूपतेर्जन्म वंशे च नृपतिर्भवेत्॥

( जातक-संग्रहः, राजयोग-प्रकरण, श्लोक १३ )

'लगन' शब्द इस दोहे में श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ तो वही है, जो ऊपर लिखा गया है, और दूसरा लगना, अथवा मिलना, है॥ **सुदिन** = अच्छा दिन अर्थात् ऐसा समय, जो कि ग्रहों की स्थिति के कारण राजयोग के अनुकूल हो। यद्यपि शनि का मीन लग्न में होना मनुष्य को राजा बनाता है, तथापि केवल एक यही योग इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है। और भी ग्रहों का यथेष्ट स्थानों में होना आवश्यक है, अर्थात् और प्रकार से भी वह समय सानुकूल होना चाहिए। यही सानुकूलता बिहारी ने 'सुदिन' कह कर व्यंजित की है। नेत्रों से देखने के विषय में सुदिनता का यह भाव है कि नायिका के नायक को कज्जल-कलित नेत्रों से देखने के समय ऐसा सुअवसर था कि वह आँखें भर कर उसकी ओर देख सकी॥ **सनेहु** ( स्नेह ) = स्नेह-रूपी बालक। इस दोहे में, 'उपज्यौ', 'लगन' इत्यादि शब्दों के पड़ने के कारण, अर्थ-बल से बालक शब्द का ग्रहण हो जाता है। **भोगवै** = भोगे, भोग करे॥ **सुदेसु** = सुंदर देश। देश का सौष्ठव उसका धनधान्य तथा सानुकूल प्रजा से संपन्न होना इत्यादि है, और देह का सौष्ठव सुंदर, युवा तथा स्निग्ध होना है॥

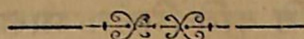
( अवतरण )—किसी सुअवसर पर नायिका के कज्जल-कलित नेत्रों से देखने से नायक के हृदय में स्नेह उत्पन्न हुआ, जिसने उसके सर्वांग पर अधिकार जमा लिया। उसकी इसी दशा का वर्णन सखी, बड़ी चातुरी से नायिका-प्रति कर के, उसको नायक से मिलाया चाहती है—

---

१. कज्जलु ( १ )।

( अर्थ )—जिसमें कज्जल-रूपी शनि [ स्थित ] है, ऐसी चख-रूपी मीन लग्न में ( १. पृथ्वी तथा सूर्य की विशेष स्थिति के समय। २. आँखों के आँखों से मिलने के समय ) शुभ दिन [ नायक के हृदय में ] उत्पन्न स्नेह-रूपी बालक सब देह-रूपी सुदेश ( देह-रूपी सुदेश का सार्वभौमिक राज्य ) पा कर, राजा बन कर क्यों न [ उस पर ] भोग करे ( पूर्ण अधिकार जमावे ) ॥

इस दोहे में सखी नायक के स्नेह की व्यवस्था का वर्णन करती हुई, वाक्यचातुरी-द्वारा, 'सुदेस' शब्द के प्रयोग से उसका सुंदर, युवा इत्यादि होना तथा 'सब' शब्द के प्रयोग से उसके सर्वांग पर स्नेह का आधिपत्य हो जाना व्यंजित कर के, नायिका के हृदय में रुचि उपजाया चाहती है ॥

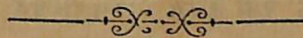


## सालति है नटसाल सी, क्यौँ हूँ निकसति नाँहि ।
## मनमथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जियँ माँहि ॥ ६ ॥

**सालति है**=चुभ कर पीड़ा देती है ॥ **नटसाल** ( नष्ट शल्य )=बर्छी, बाण इत्यादि की अथवा काँटे की नोक, जो टूट कर घाव के भीतर रह जाती है ॥ **मनमथ-नेजा-नोक**=कामदेव के भाले की नोक । कई एक टीकाकारों ने, यह कह कर कि कामदेव के आयुध बाण प्रसिद्ध हैं, अतः 'मनमथ-नेजा' का अर्थ कामदेव का भाला करने में प्रसिद्धि-विरुद्ध दूषण पड़ता है, 'मनमथ' का अर्थ मन को मथने वाला अर्थात् पीड़ा देने वाला किया है । पर शृंगार रस के दोहे में 'मनमथ-नेजा-नोक' का अर्थ कामदेव के भाले की नोक ही करना विशेष सरस है । यद्यपि कामदेव के मुख्य आयुध तो अवश्य बाण ही माने जाते हैं, पर उसके और आयुधों—खड्ग, कुंतादि—का भी वर्णन कवि करते हैं । अतः उसके भाले का वर्णन दूषित नहीं समझा जा सकता ॥ **खुभी**=कान में पहनने का एक भूषण, जो भाले के फल के आकार का होता है ॥ **खुभी**=चुभी हुई, धँसी हुई ॥

( अवतरण )—खुभी पर रीझे हुए नायक का, नायिका की किसी सखी अथवा दूती से, मिलनोत्कंठा-व्यंजक वचन—

( अर्थ )—[ उसकी ] कामदेव के भाले की नोक सी खुभी [ मेरे ] जी में धँसी हुई नटसाल सी सालती ( खटकती ) है, [ और ] किसी प्रकार निकलती नहीं ॥



## जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ ।
## सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥ ७ ॥

**जोन्ह** ( ज्योत्स्ना )=चाँदनी ॥ **लखाइ**=लक्षित ॥ **सौंधे**=सुगंध ॥ **डोरैं**=डोरे में । जिस प्रकार दीपक की किरणें तार की भाँति चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार सुगंधित वस्तु की सुगंध के तार वायु के बहाव की ओर प्रसरित होते हैं । इन्हीं तारों को डोरे कहते हैं ॥ **अली**=सखी । यदि यह शब्द यहाँ श्लिष्ट माना जाय, तो चमत्कार बढ़ जाता है । एक अर्थ सखी और दूसरा अर्थ भ्रमर करने से इसका अर्थ भ्रमर सी सखी हो जाता है ॥

१. मन ( २ ), हिय ( ४ ) । २. चली अली ( १ ) ।

(अवतरण)—शुक्लाभिसारिका नायिका की अंतरंगिनी सखियाँ उसके शरीर की गुराई तथा सुगंध का वर्णन करती हैं—

(अर्थ)—[देखो, यह] युवती [अपनी गौर द्युति के कारण] चाँदनी में [कैसी] मिल गई है [कि] किंचिन्मात्र भी लक्षित नहीं होती। [अतः उसको दृष्टि द्वारा लक्षित कर के उसके संग चलना असंभव है, पर] अली (भ्रमर सी सखी) [उसके शरीर की] सुगंध के डोरे से लगी हुई (डोरे के सहारे पर) [उसके] संग चली जा रही है॥

---

हौँ रीझी, लखि रीझिहौ छबिहिँ छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति-मिलत[1] मालती माल॥ ८॥

दुति-मिलत=द्युति अर्थात् आभा से मिलते ही। यह पद समस्त है॥

(अवतरण)—नायिका की सखी अथवा दूती नायिका के शरीर की सुनहरी आभा की प्रशंसा कर के नायक के हृदय में उसके देखने की उत्कंठा उत्पन्न किया चाहती है—

(अर्थ)—मैं [तो उस पर] रीझ गई, [और तुम भी,] हे [अपने को] छबीले [समझने वाले] लाल, [उसकी] छवि देख कर रीझ जाओगे। [उसकी गुराई ऐसे पीत वर्ण की है कि उसकी] आभा से मिलते ही [उसकी] माला में [लगी हुई] मालती सोनजुही सी [सुनहरी] हो जाती है॥

---

बहके[2], सब जिय[3] की कहत, ठौरु कुठौरु लखैँ न।
छिनैं[4] औरै, छिनैं और से, ए छबि छाके नैन॥ ९॥

बहके=अपने वश से बाहर हुए॥ छबि-छाके=छवि-रूपी मदिरा से छके हुए। छकना पीने को कहते हैं। पंजाब मैं अभी तक लोग 'जल छक लो' को जल पी लो के अर्थ मैं बोलते हैं। जैसे पियक्कड़ का अर्थ बहुत मदिरा पीने वाला होता है, वैसे ही 'छाके' का अर्थ मदिरा पी कर मतवाले होता है। अतः 'छबि-छाके' का अर्थ छवि-रूपी मदिरा पी कर मतवाले हुआ॥

(अवतरण)—सखी नायिका से कहती है कि तुझे अपना अनुराग छिपाए रखना चाहिए; इस तरह प्रेमोन्मत्त देख कर लोग तुझे क्या कहेंगे। उसकी यह शिक्षा सुन कर पूर्वानुरागिनी नायिका उससे कहती है—

(अर्थ)—[मैं क्या करूँ,] ये छवि-रूपी मदिरा पी कर मतवाले, बहके, [और इसी कारण] क्षण क्षण पर और ही और प्रकार के होने वाले नयन जी की सब [छिपी हुई बातें] कह देते हैं (प्रकाशित कर देते हैं), [और] ठौर कुठौर (अवसर अनवसर) नहीं देखते (समझते)॥

यह बात प्रसिद्ध ही है कि मदिरा पान करने पर मनुष्य अपने जी की सब बातैँ कह देता है। इसी लिए चोर से उसकी चोरी कहला लेने के लिए उसको प्रायः मदिरा पिला दी जाती है॥

---

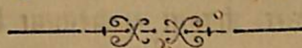
१. मिलिति (५)। २. बहकैँ (२)। ३. जी (४)। ४. छिनुं (१, ५)।

**फिरि फिरि चितु उत हीँ रहतु, टुटी लाज की लाव।**
**अंग-अंग-छबि-झौँर मैँ भयौ भौँर की नाव ॥ १० ॥**

**लाव**=रस्सी, नाव बाँधने की लहासी ॥ **लाज की लाव**=लज्जा-कृत लाव, लज्जा से बनी हुई लाव अर्थात् लज्जा-रूपी लाव ॥ **छबि**=छवि-रूपी नद। यहाँ आरोप्यमान नद का अर्थोपक्षेपण है ॥ **झौंर**—यह शब्द झूमर का रूपांतर है। किसी वस्तु के झूमते हुए गोलाकृति समूह को झूमर अथवा झौंर कहते हैं। हेमचंद्र की देशी नाम-माला में यही शब्द 'झौंटलिया' के रूप में मिलता है। उसका अर्थ रास के सदृश एक नाच है, जिसमें अनेक व्यक्ति मंडल बाँध कर नाचते हैं ॥

(अवतरण)—पूर्वानुरागिनी नायिका अंतरंगिनी सखी से अपनी स्नेह-दशा कहती है—

(अर्थ)—[नायक के] अंग अंग की छवि के झूमर में [फँस कर मेरा] चित्त, भँवर की (भँवर में पड़ी हुई) नाव बना हुआ, फिर फिर कर (घूम फिर कर), उसी ओर (नायक ही की ओर) रहता है, [और किसी ओर नहीं जाता, क्योंकि उसको नायक की ओर से खींचने वाली] लज्जा-रूपी रस्सी टूट गई है ॥

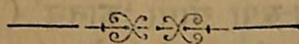


**नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।**
**तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि ॥ ११ ॥**

**अनाकनी**=अनसुनी। आनाकानी देना=बात को सुनकर भी न सुनना ॥ **फीकी**=प्रभाव-रहित ॥ **गुहारि**=पुकार ॥ **बिरदु**=प्रशंसा, प्रशस्ति। **तारन-बिरदु**=तारने वाले होने की विख्याति ॥ **बारक**=एक बार ही, सर्वथा ॥ **बारनु**=हाथी ॥

(अवतरण)—भक्त का उलाहना भगवान् से—

(अर्थ)—[हे नाथ! आपने तो] अच्छी आनाकानी दी, [हमारी] पुकार फीकी पड़ गई; मानो हाथी को तार कर [आपने] एक बार ही [अपना] तारन-विरद (तारने वाले कहलाना) छोड़ दिया ॥



**चितई ललचौहैँ चखनु डटि घूँघट-पट माँह।**
**छल सौँ चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह ॥ १२ ॥**

**चितई**—इस शब्द का प्रयोग बिहारी ने सब ठौर अकर्मक ही किया है। १४४, ३१६, ४१३ तथा ६२३ अंकों के दोहों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, और सबमें अकर्मक ही प्रयोग है ॥

(अवतरण)—नायक को देख कर नायिका ने जो अनुरागोत्पादक तथा अनुराग-व्यंजक चेष्टाएँ की हैं, उन पर रीझ कर नायक स्वगत, अथवा उसकी सखी से, कहता है—

(अर्थ)—घूँघट के पट में से [पहिले तो उसने] डट कर (स्थिरता-पूर्वक, आँखों से आँखें भली भाँति मिलाकर) [मुझे] ललचाते हुए चक्षुओं से देखा, [और फिर

१. टुटी (२, ५)। २. नीकै (२)। ३. दुरि (४)।

किसी ] व्याज से [ वह ] छबीली [ मुझको अपनी ] छाया क्षण मात्र छुआ कर ( छुआती हुई ) चली ॥

'छबीली' शब्द को 'छाँह' का विशेषण भी मान सकते हैं ॥

छाया पृथ्वी पर पड़ती है। 'छुवाइ' शब्द से छाया के अंतिम भाग मात्र का स्पर्श और उससे नायिका का अपने सिर की छाया से नायक के पावों का स्पर्श करना, अर्थात् नायक को प्रणाम करने का भाव, व्यंजित होता है। छाया छुआने से यह भी सूचित होता है कि नायक उसको ऐसा प्रिय लगा कि यद्यपि वह उसको अपना शरीर लज्जावश न छुआ सकी, तथापि अपनी छाया ही को उसके शरीर से छुआ कर उसने स्पर्शाभास का सुख प्राप्त किया ॥

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता कानतु सेवत नैन ॥ १३ ॥

**जोग-जुगति** ( योग-युक्ति )—योग शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ हैं—( १ ) नायक का मिलाप। ( २ ) चित्त-वृत्तियों के निरोध द्वारा जीवात्मा का परमात्मा में लीन करना। जुगति = उपाय। जोग-जुगति = ( १ ) प्रियतम-संयोग की प्राप्ति के उपाय। ( २ ) योग-क्रिया करने के विधान ॥ **पिय**—इस शब्द के भी यहाँ दो भावार्थ हैं—( १ ) प्रियतम, नायक। ( २ ) परमप्रेमास्पद परमात्मा ॥ **अद्वैतता** = अभिन्नता। नायक पक्ष में इसका अर्थ अपने सामने से अलग न होने देना है, और ब्रह्म पक्ष में ब्रह्म तथा जीव का ऐक्य-भाव ॥ **काननु**—इस शब्द के भी यहाँ दो अर्थ हैं—( १ ) कानों को। इस अर्थ में यह शब्द कान शब्द के संबंधकारक का बहुवचन रूप है, जो कि कर्मकारक-वत् प्रयुक्त हुआ है। ( २ ) वन। इस अर्थ में यह शब्द कानन शब्द के कर्मकारक का एकवचन रूप है ॥ **नैन** ( नयन )—यह शब्द भी यहाँ श्लिष्ट है। इसका पहिला अर्थ नेत्र है, और दूसरा उचित आचार तथा संयम रखने वाले अर्थात् योगी। इन दोनों अर्थों के संयोग से 'नैन' शब्द में श्लिष्टपद-मूलक रूपक हुआ ॥

( अवतरण )—नवयौवना मुग्धा के नेत्रों के सौंदर्य तथा बढ़ाव को देख कर सखियाँ, उनकी प्रशंसा करती हुई, उससे परिहासात्मक तथा उत्साह-वर्द्धक वाक्य कहती हैं—

( अर्थ )—[ अब तेरे ] नयन-रूपी योगी 'काननु' ( श्रवण-रूपी वन ) का सेवन करने लगे हैं, मानो मदन-रूपी महा योगी के द्वारा योग ( १. संयोग। २. योग-क्रियाओं ) की सब युक्तियाँ सिखाए हुए [ ये ] प्रिय-अद्वैतता ( १. प्रियतम से अलग न होना। २. परमात्मा से एकता ) चाहते हैं [ एवं इनकी शोभा पर रीझ कर नायक सदैव तेरे सामने उपस्थित रहेगा ] ॥

यह सखियों का परिहास उसी प्रकार का है, जैसा सम-वयस्क युवतियाँ आपस में किया करती हैं कि अब तो तेरे मन में और ही चाव चढ़ने लगे हैं, और तेरा प्रियतम तुझ पर मोहित हो रहा है ॥

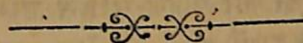
खरी पातरी कान की, कौनें बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै अली, अली, जिय जानि ॥ १४ ॥

१. सेवति काननि ( ४ ), सेवत कानन ( ५ )। २. कौनु ( १ ), कौनि ( २ )।

**खरी** = बहुत, बड़ी, अत्यंत ॥ **पातरी** = पतली, सुकुमार अर्थात् जिस पर किसी बात का प्रभाव शीघ्र पड़े। **'पातरी कान की'** = कान की पतली अर्थात् किसी बात को सुन कर, बिना विचारे, उस पर शीघ्र विश्वास कर लेने वाली। इस विशेषण से नायिका की अप्रौढ़ता व्यंजित होती है ॥ **बहाऊ** = बहा देने के योग्य, अथवा बहा देने वाली, अर्थात् नष्ट करने वाली ॥ **आक** ( अर्क ) = मदार ॥ **रली** = आनंद, विहार, सुख ॥

( अवतरण )—मध्या नायिका ने, नायक को अन्यस्त्री-रत सुन कर, मान किया है। सखी उसको समझाती है—

( अर्थ )—[ तू ] कान की बड़ी पतली है। [ यह तेरी ] कौन ( किस अर्थ की अर्थात् बहुत निकम्मी ) बहाऊ ( बहा देने के योग्य अथवा तुझको नष्ट करने वाली ) बान ( प्रकृति ) है [ कि तू बिना विचार किए सबकी बातों पर विश्वास कर लेती है ]। हे अली ( सखी ), [ तू अपने ] जी में [ यह बात ] जान ले ( निश्चित कर ले ) [ कि ] अली ( भ्रमर ) मदार की कली से रली ( विहार ) नहीं करता ॥

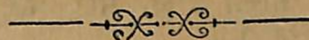


**पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरखु जात प्यौसार।**
**दुरजोधन[1] लौं देखियति[2] तजत[3] प्रान इहिं[4] बार ॥ १५ ॥**

**प्यौसार** ( पितृशाला ) = बाप के घर, नैहर ॥ **दुरजोधन** ( दुर्योधन ) = कौरवपति धृतराष्ट्र का पुत्र। उसको शाप था कि जब उसको हर्ष तथा शोक, दोनों एक साथ ही व्यापैंगे, तब उसकी मृत्यु होगी। एक ऐसे ही अवसर पर उसके प्राण छूटे थे ॥ **देखियति** = देखी जाती है ॥ **इहि बार** = इस बार अर्थात् अब की बार नैहर जाते समय ॥

( अवतरण )—पहिले तो नायिका मुग्धा थी, अतः उसे नैहर जाते समय नायक-वियोग का दुःख नहीं होता था। पर अब वह मध्यावस्था को प्राप्त हो रही है, अतएव इस बार उसको नैहर जाने के हर्ष के साथ ही साथ नायक के बिछोह का दुःख भी व्याप्त हो रहा है, अर्थात् उसको हर्ष तथा दुःख एक साथ ही हुए हैं, जिससे उसके प्राण बड़ संकट में पड़े हुए हैं। उसकी इसी दशा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—नैहर जाते [ समय एक तो इसको नैहर वालों की दर्शन-संभावना का ] हर्ष है, [ और दूसरे ] प्रियतम से बिछुड़ने का दुःसह दुःख है। [ अतः ] इस बार [ की जवाई में यह ] दुर्योधन की भाँति प्राण तजते समय की दशा में देखी जाती है ॥



**झीनैं पट मैं झुलमुली[5] झलकति[6] ओप अपार।**
**सुरतरु की मनु[7] सिंधु मैं लसति[8] सपल्लव डार ॥ १६ ॥**

**झुलमुली**—इस शब्द का अर्थ, कृष्ण कवि को छोड़ कर, सभी टीकाकारों ने कर्ण-भूषण विशेष, जिसको

१. दुर्जोधन ( २ ), दुर्जोधन ( ५ )। २. देखियत ( २ ), देखिए ( ५ )। ३. तजति ( ४, ५ )। ४. जिहि ( २ ), एहि ( ४ )। ५. झलमली ( ५ )। ६. झलकत ( ४ )। ७. जनु ( २ )। ८. लसी ( १, ४ ), लसैं ( ५ )।

झाला अथवा पीपलपत्ता कहते हैं, लिखा है, और इसी अर्थ के अनुसार दोहे का भी अर्थ किया है। कृष्ण कवि ने इसका अर्थ और कोई भूषण—कदाचित् उरबसी—माना है। ईसवी ख़ाँ ने इसका अर्थ उरबसी किया है, और यह भी लिखा है कि "जो नायिका को कहैं झीने पट मैं ऐसी झलमलै है, तो भी हो सकै है।" हमारी समझ मैं 'झुलमुली' का अर्थ झुलमुलाती हुई, अर्थात् झीने पट से ढँपे रहने के कारण कभी झलकती और कभी छिप जाती हुई कर के इसको 'ओप' शब्द का विशेषण मानना चाहिए। १८६ तथा ५३८ अंकों के दोहों मैं जो 'झलमलै' शब्द क्रिया रूप से पड़ा है, उसी शब्द से यह 'झुलमुली' शब्द विशेषण बना है। झलमलाना, झिलमिलाना तथा झुलमुलाना, ये तीनों शब्द वस्तुतः एक ही शब्द के रूपांतर मात्र हैं, और थोड़े थोड़े अर्थ-भेद से प्रयुक्त होते हैं॥ **लसति**=विलास करती है, अर्थात् मंद मंद हिलती हुई सुशोभित होती है॥

(अवतरण)—झीने पट मैं से फूट कर निकलती हुई नायिका के शरीर की झलक पर रीझ कर नायक स्वगत कहता है—

**(अर्थ)—[अहा! इसकी] झुलमुली (झुलमुलाती हुई) अपार ओप झीने पट मैं से [ऐसी] झलकती है, मानो कल्पवृक्ष की पल्लव-सहित डार समुद्र मैं विलास कर रही है॥**

'सपल्लव डार' इसलिए कहा है कि हाथों, पावों, ओठों तथा कानों की उपमा पल्लवों से दी जाती है॥

**डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही, मारि।**
**चिलक-चौंध मैं रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि॥ १७॥**

**ठोड़ी-गाड़**=ठुड्डी का गड्ढा॥ **बटोही**=बाट चलने वाले, पथिक॥ **चिलक**=चमक॥ **चौंध**—पथिकों को जो किसी किसी रात को, अधिक रात्रि रहने पर भी, तारों इत्यादि के प्रकाश के कारण, सबेरा होता सा प्रतीत होने लगता है, और जिससे चौंधिया कर, अर्थात् धोखा खा कर, वे उसी समय मार्ग चल पड़ते हैं, उस धोखा देने वाले प्रकाश को चौंधा अथवा चौंध, अर्थात् चमक से आँखों को अंध करने वाला, भ्रम मैं डालने वाला, कहते हैं। इसी का नाम फ़ारसी भाषा मैं 'सुब्हे काज़िब' है। ऐसे चौंध से धोखा खा कर जब पथिक अधिक रात्रि रहने पर भी चल पड़ते हैं, तो ठगों की बन आती है। वे उनको फाँसी डाल कर मार डालते और किसी गड्ढे मैं डाल देते हैं॥

(अवतरण)—नायक के नेत्र नायिका के शरीर की शोभा देखते देखते मोहित हो कर उसकी ठुड्डी के गड्ढे मैं पड़ गए हैं, और अब वहाँ से शोभाधिक्य के कारण नहीं टल पाते। अपने नयनों की यह व्यवस्था नायक, नायिका की शोभा का वर्णन करता हुआ, स्वगत कहता है—

**(अर्थ)—[उसके] सौंदर्य-रूपी ठग ने चिलक-रूपी चौंध मैं [मेरे] नयन-रूपी पथिकों को घेर कर, हँसी-रूपी फाँसी डाल, मार कर ठोड़ी के गड्ढे मैं डाल दिया [एवं वे बेचारे अब वहीं पड़े हुए हैं]॥**

इस दोहे के भाव से २६वें अंक के दोहे का भाव बहुत मिलता है॥

**कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।**
**भो मन मोहन-रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु॥ १८॥**

**मन**=मानस। यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसका पहिला अर्थ मन और दूसरा अर्थ मान-

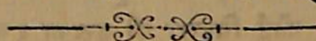
१. ऊ (४, ५)। २. रूप (१, २, ४, ५)।

सरोवर है। इस श्लेष के कारण 'मन' शब्द में श्लेष-मूलक रूपक है। अतः मन का अर्थ यहाँ मन-रूपी मान-सरोवर हुआ। १५० अंक के दोहे में भी 'मन' शब्द का ऐसा ही प्रयोग है॥

(अवतरण)—सखी की शिक्षा सुन कर नायिका कहती है कि अब मेरे मन से मोहन का लावण्यमय रूप किसी उपाय से निकल नहीं सकता। तेरा शिक्षा देना वृथा है—

(अर्थ)—मोहन का [लावण्यमय] रूप [मेरे] मन-रूपी मानसरोवर में मिल कर पानी में का (पानी में घुला हुआ) लवण हो गया है। अब [तू] कह (बतला) [तो सही कि] कोटिक यत्न करने पर भी [उसको उसमें से] कौन निकाले (निकाल सकता है)॥

प्रायः टीकाकारों ने 'मन' को कर्ता और मोहन-रूप को अधिकरण मान कर अर्थ किया है। वह भी बुरा नहीं है। इस अर्थ में 'मन' को उकारांत, तथा 'मोहन-रूपु' को अकारांत मानना होगा॥



**लग्यौ सुमनु ह्वैहै सफलु, आतप-रोसु निवारि।**
**बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि॥ १६॥**

**सुमनु**=(१) सो मन। (२) पुष्प॥ **सफलु**=(१) प्राप्ताभीष्ट, प्राप्तकामना। (२) फलयुत॥ **आतप-रोसु** (आतप-रोष)=(१) ताप देने वाला अर्थात् दुःख देने वाला रोष। (२) आतप अर्थात् घाम का रोष अर्थात् तीक्ष्णता, प्रचंडता। **बारी**=(१) बालिका अर्थात् अनुभव-रहित स्त्री। (२) माली, उद्यान का रक्षक। वाट का अर्थ उद्यान है। अतः वाटी का अर्थ उद्यान-संबंधी मनुष्य अर्थात् माली हुआ। इसी शब्द से, 'ट' को 'र' आदेश हो कर, बारी शब्द बना है, जो कि इस समय एक जाति विशेष का वाचक है। इस समय बारियों का मुख्य काम पत्तल, दोना बनाना है। यह काम पहिले उपवन-रक्षकों ही का था॥ **बारी**=(१) पारी अर्थात् अपने यहाँ नायक के आने की पारी। (२) वाटिका॥ **सुहृदता**=(१) मैत्री, प्रेम। (२) सात्म्य, उपयोगिता॥ **बारि** (वारि)=(१) वाक्, सरस्वती। यहाँ इसका अर्थ वचन लेना चाहिए। (२) जल॥ **सुहृदता-बारि**=(१) मित्रता के वचन। (२) सुहृदता का जल, सात्म अर्थात् सानुकूल जल अर्थात् ऐसा जल, जो बारी को यथेष्ट लाभदायी हो। जिस प्रकार सुहृदता के वारि (वचन) का अर्थ ऐसा वचन, जिसमें मित्रता की सरसता हो, होता है, उसी प्रकार सुहृदता के बारि (जल) का अर्थ ऐसा जल होता है, जिसमें सानुकूलता के गुण हों, अर्थात् स्वच्छ, शीतल तथा मधुर जल, जो बारी के निमित्त हितकारी होता है॥

कवि, इस पूरे दोहे में श्लेष-बल से दो अर्थ रख कर, नायिका से उसके इष्ट की गुप्त बात, सखी-द्वारा, माली तथा बहिरंगिनी सखियों के सामने ही, कहला देता है; पर उन लोगों का ध्यान, दूसरे ही अर्थ में उलझ कर, मुख्य अभिप्राय की ओर नहीं जाने पाता॥

(अवतरण)—आज इस नायिका के घर नायक के पधारने की पारी है, पर अभी तक वह आया नहीं है। नायिका का मन उसी में लगा हुआ है, और विलंब के कारण कुछ रुष्ट सी हो कर वह, जी बहलाने के निमित्त, वाटिका में भ्रमण कर रही है, जहाँ माली तथा कुछ बहिरंगिनी सखियाँ भी उपस्थित हैं। इतने में उसकी अंतरंगिनी सखी, जो नायक के पास गई थी, आ कर यह दोहा ऐसी चातुरी से पढ़ती है कि नायिका तो अपना इष्टार्थ समझ ले, पर माली तथा बहिरंगिनी सखियाँ समझें कि वह यह वाक्य माली से कह रही है। नायिका-प्रति तो वह यह कहती है—

---

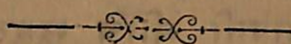
१. सुफल (४,५)। २. आतपु-रोस (१, २), आतप-रोस (४,५)।

(अर्थ १)—हे वारी (भोली स्त्री), [तेरा] मन [जो] लगा है, सो सफल (प्राप्ताभीष्ट) होगा। [तू इस] दुखदायी रोष को निवारित कर के अपनी वारी (प्यारी) सुहृदता (मैत्री) के वारि (वाक्य) से सींच (सरस कर)॥

पर अन्य व्यक्तियों की जान में वह माली से यह कहती है—

(अर्थ २)—हे वारी (माली), [तेरी वाटिका में] लगा हुआ सुमन (फूल) सफल (फलयुत) होगा। [तू] अपनी वारी (वाटिका) सुहृदता के वारि (सानुकूल जल) से सींच कर घाम के रोष (प्रचंड प्रभाव) को निवारित कर॥

हरिचरणदास ने लिखा है कि यह दोहा बिहारी का नहीं है। यह उनका शुद्ध भ्रम है। एक तो यह दोहा सब प्राचीन पुस्तकों में तथा हरिचरणदास के पूर्व की टीकाओं में मिलता है, और दूसरे ऐसी उच्च कोटि का है कि बिहारी के अतिरिक्त कोई विरला ही इसका रचयिता हो सकता है। इसमें उन्होंने जो क्रमभंग दोष बतलाया है, वह उनको अर्थ न समझने के कारण भासित हुआ है॥



**अंजौं[1] तरयौंना[2] हीं[3] रह्यौ श्रुति सेवत इँक-रंग[4]।**
**नाक-वास बेसरि[6] लह्यौ बसि मुकुतनु[7] कैं संग[5]॥ २०॥**

**अजौं** (अद्यापि)=आज तक भी, अब तक भी॥ **तरयौंना**—यह शब्द श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ अधोवर्ती है और दूसरा कर्ण-भूषण विशेष, जिसको तालपर्ण तथा ताटंक भी कहते हैं, और भाषा में उसी को तरकी कहते हैं॥ **श्रुति**=(१) वेद की श्रुति। (२) कान॥ **इकरंग**=एक रीति पर, अविच्छिन्न रूप से॥ **नाक-वास**=(१) स्वर्ग-निवास। (२) नासिका का निवास॥ **बेसरि**=(१) नासिका-भूषण विशेष। (२) वेसरी, खच्चरी, अर्थात् महा अधम प्राणी। वेसर संस्कृत में खच्चर को कहते हैं। उसी से वेसरी, स्त्रीलिंग रूप, बनता है। यहाँ यह रूप अत्यंत तिरस्कार तथा लघुता का व्यंजक है। लक्षणा शक्ति से 'बेसरि' का अर्थ यहाँ वेसरी-सदृश महा अधम प्राणी होता है॥ **मुकुतनु**=(१) जीवन-मुक्त सज्जनों। (२) मुक्ताओं॥

(अवतरण)—इस दोहे में कवि बेसर का वर्णन करता हुआ श्लेष-बल से सत्संग की प्रशंसा करता है। बेसर पक्ष में इस दोहे का अर्थ यह होता है—

(अर्थ १)—आज तक तरयौंना (कर्ण-भूषण) एक ढंग से (ज्यों का त्यों) कानों का सेवन करता हुआ (अधोवर्ती अर्थात् अमुख्यस्थान-स्थित) तरयौंना ही रहा, [और] बेसर ने मोतियों का संग पा कर नाक-वास (१. नासिका का वास। २. उच्च पद) प्राप्त किया॥

कान की स्थिति पार्श्व भाग में होने के कारण कवि ने उसे अमुख्य स्थान मान कर तरयौंने को अमुख्यस्थान-स्थित वर्णित किया है, और नाक शब्द का अर्थ लक्षणा शक्ति से प्रधान, मुख्य, श्रेष्ठ इत्यादि लिया है; जैसे ऐसे वाक्यों में होता है— यह देश सब देशों की नाक है॥'

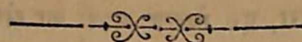
सत्संग पक्ष में इस दोहे का यह अर्थ होता है—

१. अज्यौं (१, ४)। २. तरौंना (५)। ३. ई (१, ५)। ४. एक (४)। ५. अंग (५)। ६. बेशर (५)। ७. मुक्तन (२), मुक्तनि (५)।

( अर्थ २ )—अविच्छिन्न रूप से श्रुति ( वेद ) का सेवन करता हुआ [ मनुष्य ] आज तक भी तखौना ( अधोवर्ती ) ही [ बना ] रहा, [ और ] बेसरी ( महा अधम प्राणी ) ने [ भी ] मुक्तों ( जीवन-मुक्त सज्जनों ) के संग बस कर नाक-वास ( स्वर्ग-निवास ) प्राप्त किया ॥

टीकाकारोँ ने, प्रायः सत्संगति-प्रशंसा के पक्ष मैँ, 'तर्यौनाहीँ' का अर्थ 'तरा नहीँ' किया है। यह अर्थ भी इस प्रकार लग सकता है—

एक रूप से श्रुति का सेवन करता हुआ [ मनुष्य ] आज तक भी बिना तरा ही रहा, [ और ] बेसरी ( महा अधम प्राणी ) ने मुक्तोँ ( जीवन-मुक्त सज्जनोँ ) के संग बस कर स्वर्ग-निवास प्राप्त किया ॥

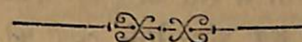


जम-करि-मुँह-तरहरि पर्यौ, इहिँ धरहरि चित लाउ।
बिषय-तृषा परिहरि अजौँ नरहरि के गुन गाउ ॥ २१ ॥

तरहरि=नीचे ॥ धरहरि=निश्चय ॥ नरहरि=( १ ) नरसिंह भगवान् । ( २ ) कवि के दीक्षा-गुरु नरहरिदास । इनके विषय मेँ विशेष जानने के लिये, भूमिका मेँ, बिहारी की जीवनी द्रष्टव्य है ॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति अपने मन से—

( अर्थ )—[ तू ] यम-रूपी हाथी के मुँह के नीचे पड़ा हुआ है, इस निश्चय पर चित्त लगा, [ और ] अब भी विषय-तृष्णा छोड़ कर नरहरि के गुणोँ का गान कर ॥



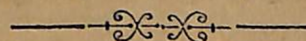
पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी; भले बने हौ लाल ॥ २२ ॥

महावरु—पहिली तथा दूसरी प्रतियोँ के अनुसार यह शब्द उकारांत ठहरता है, और चौथी तथा पाँचवीँ प्रतियोँ के अनुसार अकारांत। हमने पहिली तथा दूसरी प्रतियोँ का अनुसरण कर के इसको उकारांत रक्खा है ॥ 'आजु' ( अद्य )—अव्यय होने के कारण यद्यपि इस शब्द के उकारांत होने की कोई आवश्यकता नहीँ है, पर ब्रजभाषा के कवियोँ ने इसको प्रायः उकारांत ही लिखा है। सतसई मेँ यह शब्द छः दोहोँ मेँ आया है, और छवोँ स्थानोँ पर बिहारी ने इसको उकारांत ही लिखा है ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा-धीरा-खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—पलकोँ मेँ [ पान की ] पीक, अधर पर अंजन, [ तथा ] भाल पर महावर धारण किए हुए ( अर्थात् पलकोँ मेँ अधर रँगने वाली वस्तु, अधर पर पलकोँ में देने वाली वस्तु, एवं भाल पर पैरोँ मेँ लगाने वाली वस्तु धारण किए हुए ) आज [ जो तुम ] मिले हो, सो अच्छी बात की; [ वाहजी वाह ! ] अच्छे बने हो ॥

इस दोहे मैँ 'भली' तथा 'भले' शब्द व्यंग्यात्मक हैँ ॥



१. तरिहरि ( १ ) । २. लाव ( ४ ) । ३. गाव ( ४ ) । ४. पाज ( ५ ) ।

लाज-गरब-आलस-उमग-भरे नैन मुसकात[1]।
राति-रमी रति देति[2] कहि औरै प्रभा प्रभात ॥ २३ ॥

( अवतरण )—प्रातःकाल सखी, नायिका के नेत्रों की कुछ विलक्षण ही शोभा से रात्रि में रमी हुई रति के विधान को, अर्थात् विपरीत रति को, लक्षित कर के, कहती है—

( अर्थ )—लाज, गर्व, आलस्य और उमंग से भरे हुए [ तेरे ] नेत्र मुसकिराते हैं, [ जिससे तेरी कुछ ] और ही [ प्रकार की बनी हुई ] शोभा, रात्रि की रमी हुई रति [ के प्रकार को ] प्रातःकाल कहे देती है ( तेरा विपरीत रति का करना प्रकट किए देती है ) ॥

लज्जा, गर्व तथा आलस्य, उमंग, इन विरुद्ध भावों का संघट्टन, यही इस दोहे में विलक्षणता है। गर्व तथा उमंग से विपरीत रति लक्षित होती है, और लज्जा तथा आलस्य से प्रमाणित होता है कि उक्त गर्व तथा उमंग रति ही के कारण हैं ॥

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाइ[3]।
कै कै सबै टलाटलीं[4], अलीं[5] चलीं[6] सुखु पाइ ॥ २४ ॥

टलाटलीं = टालमटोल, व्याज, मिष ॥

( अवतरण )—नायक और नायिका रंगमहल में बैठे विनोद कर रहे थे। वहाँ सखियाँ भी उपस्थित थीं। उसी समय नायक ने बातों ही बातों में रति की इच्छा प्रकट की। नायिका ने यह सुन कर अपनी मुसकिराहट से प्रसन्नता लक्षित कराते हुए अंतरंगिनी सखी की ओर इस भाव से देखा कि अब उक्त कार्य का अवसर हो जाना चाहिए। यह लक्षित करके सब सखियाँ वहाँ से एक एक कर के, किसी न, किसी मिष से, टलने लगीं। सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—पति ने रति की बातें कहीं ( बातों में रति की इच्छा प्रकट की ), [ जिसको सुन कर नायिका ने ] मुसकिरा कर [ अपनी मुख्य ] सखी को देखा। [ यह देख ] सब सखियाँ सुख पा कर, टलाटली ( अनेक प्रकार के व्याज ) कर कर के, [ वहाँ से ] चलीं ( हटने लगीं ) ॥

सखी तथा अली ( आलि ) शब्द यद्यपि भाषा में प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, पर बिहारी ने इस दोहे में 'सखी' शब्द में 'अली' की अपेक्षा कुछ मुख्यता रक्खी है ॥

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी है उरबसी-समान ॥ २५ ॥

उरबसी = उर्वशी अप्सरा। उरबसी = हृदय पर पहनने का भूषण विशेष ॥

( अवतरण )—राधिकाजी ने श्रीकृष्णचंद्र को अन्य-रत सुन कर मान किया है। सखी मान छुड़ाने के निमित्त कहती है—

१. मुसिकात ( १, २ ), मुसुकात ( ५ ) । २. देत ( ४, ५ ) । ३. मुसुकाइ ( ४ ) । ४. टलाटली ( २, ४, ५ ) । ५. अली ( २, ४, ५ ) । ६. चली ( २, ४, ५ ) ।

( अर्थ )—हे प्रवीण राधे ! सुन, [ तू तो ऐसी सुंदर है कि और की कौन कहे, इंद्र की अप्सरा ] उर्वशी को [ भी ] मैं तुझ पर वार दूँ। तू [ तो ] मोहन के उर में उरवसी [ भूषण ] के समान हो कर बसी है [ फिर दूसरी उनके उर में कैसे बस सकती है ] ॥

कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि[1] मुँह[2]-चाड़।
फिरि न टरी, परियै[3] रही, गिरी[4] चिबुक की गाड़ ॥ २६ ॥

चाड़=लालच। यह शब्द चाट का रूपांतर है; जैसे शाटी का साड़ी, कीट का कीड़ा इत्यादि। चिबुक=अधर के नीचे का भाग ॥

( अवतरण )—नायिका की शोभा का निरीक्षण करता हुआ तथा चिबुक के गड्ढे पर अत्यंत रीझा हुआ नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ मेरी ] दृष्टि कुच-रूपी पहाड़ पर चढ़ कर, अति थकित ( शोभा से मुग्ध ) हो कर [ भी ], मुख की चाड़ ( चाट, लालच ) से [ उधर ] चली। [ पर ] चिबुक की गाड़ ( गर्त, गढ़े, खाड़ी ) में गिर गई, [ और ] फिर [ वहाँ से, अत्यंत थकित होने के कारण, ] टली नहीं, [ वहीं ] पड़ी ही रही ॥

बेधक अनियारे नयन, बेधत करि[5] न निषेधु।
बरबट बेधतु मो हियौ तो नासा कौ बेधु ॥ २७ ॥

अनियारे=अनी वाले, नुकीले ॥ निषेधु=वह कार्य जो अपने लिए वर्जित हो, अनुचित कार्य ॥ बरबट ( बलवत् )=बल-पूर्वक, बरबस ॥ बेधु=छिद्र ॥

( अवतरण )—नायिका के सर्वांग-सौंदर्य पर रीझा हुआ नायक कहता है—

( अर्थ )—[ तेरे ] नुकीले नयन [ तो ] बेधक [ हैं ही, अतः वे कोई ] निषेध ( अपने निमित्त निषिद्ध अर्थात् वर्जित काम ) कर के [ मेरे हृदय को ] नहीं बेधते ( अर्थात् वे मेरा हृदय बेधने में कोई अपने कर्तव्य के विरुद्ध काम नहीं करते )। तेरा [ तो ] नासा का बेध [ भी, जो कि स्वयं बेधा हुआ है, और जिसका काम बेधना नहीं है ] बरबट ( बरबस, अपने लिए अविहित काम कर के ) मेरे हृदय को बेधता है [ भावार्थ यह हुआ कि तेरे सब अंग की शोभा हृदय को बेधती है, यहाँ तक कि तेरी नासा का छिद्र भी ] ॥

लौनैं[6] मुहुँ दीठि[7] न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी[8], दियैं दिठौना, दीठि ॥ २८ ॥

दीठि=कुदृष्टि ॥ दीनौ—इस शब्द को कवि लोग प्रायः दीन्यो अथवा दीन्यौ बोलते और लिखते हैं। पर हमारी प्राचीन पुस्तकों के अनुसार 'दीनौ' ही पाठ ठीक ठहरता है। सतसई में और कहीं यह शब्द

१. दीठि ( १ ) । २. मुख ( २ ) । ३. अरीयै ( ५ ) । ४. परी ( १, ४, ५ ) । ५. कर ( ४, ५ ) ।
६. लौने ( १ ), लौंने ( २, ३, ५ ), लौने ( ४ ) । ७. डीठि ( २, ४, ५ ) । ८. लगौ ( १ ) ।

नहीँ आया है, अतः और दोहोँ से इसके यथार्थ रूप का पता नहीँ चलता। 'लीनौ' शब्द अवश्य ४४३वेँ दोहे मेँ आया है। उसका पाठ भी 'लीनौ' ही ठहरता है। इसलिए यहाँ 'दीनौ' ही पाठ रक्खा गया है॥ ईठि—इष्ट शब्द से ईठ बनता है, जिसका अर्थ मित्र है। उसी का स्त्रीलिंग-रूप 'ईठि' है। इसका अर्थ हितकारिणी, अर्थात् सखी, है॥ दिठौना=काजल इत्यादि की काली टीकी, जो मुख पर इस अभिप्राय से लगा दी जाती है कि कुदृष्टि न लगे॥

( अवतरण )—दिठौना के कारण नायिका के मुख पर अधिक शोभा हो जाने का वर्णन नायक, परिहासात्मक वाक्य मेँ, उससे करता है—

( अर्थ )—[ तेरी ] सखी ने [ तो तुझे दिठौना ] योँ कह कर ( यह विचार कर ) दिया [ कि तेरे ] सलोने ( लावण्यमय ) मुख पर दृष्टि ( कुदृष्टि ) न लगे, [ पर इस ] दिठौना देने से [ तो तेरे मुख की ऐसी शोभा बढ़ गई कि उस पर ] दृष्टि ( आँख ) दूनी हो कर ( और भी अधिक ) लगने लगी ( जमने लगी )॥

**चितवनि रूखे दृगनु की, हाँसी-बिनु मुसकानि[1]।**
**मानु जनायौ मानिनी, जानि लियौ पिय, जानि॥ २९॥**

हाँसी-बिनु=बिना किसी हँसी की बात की॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका की चेष्टा से उसके मान को समझ कर खिसियाए हुए नायक की व्यवस्था सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ नायिका की ] रूखे दृगोँ की चितवन, [ और नायक की ] बिना किसी हँसी की बात ही की मुसकिराहट ( अर्थात् खिसियानपने की मुसकिराहट ) से [ तू ] समझ ले कि मानिनी ने [ तो ] मान जनाया, [ और ] प्रियतम ने [ उसका यह मान जनाना ] जान लिया ( समझ लिया )॥

**सब ही त्यौँ समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।**
**वाही त्यौँ ठहराति यह, कविलनवी लौँ[2], दीठि[3]॥ ३०॥**

त्यौँ=ओर॥ समुहाति=सामने होती है॥ कविलनवी—पाँचो प्राचीन पुस्तकोँ के अनुसार इस शब्द का पाठ यही अर्थात् 'कविलनवी' ठीक ठहरता है। बिहारी के सबसे पहिले टीकाकार मानसिंह ने इसका अर्थ यह लिखा है—"कविलनवी, कठपुतरी श्रीसीताजी की मूर्ति श्रीराम चित्र-पट मैँ देखि पीठि फेरै।" कृष्ण कवि का पाठ तो निश्चित रूप से नहीँ ज्ञात होता, पर उन्होँने इस शब्द का अर्थ 'मंत्र की कटोरी' किया है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी जाती है, तो उसका पता लगाने के लिए वे लोग, जिन पर संदेह होता है, मंडल बाँध कर बैठा दिए जाते हैँ, और उनके बीच मेँ एक कटोरी जल भर कर रख दी जाती है। तांत्रिक के मंत्र पढ़ने पर वह कटोरी चलायमान होती है, और सबकी ओर जा जा कर लौट आती है। पर जो उनमेँ से चोर होता है, उसके सामने ठहर जाती है। यह क्रिया अब भी कोई कोई करते हैँ। इसको कटोरी चलाना कहते हैँ।

१. मुसुकानि ( १ )। २. सौँ ( २ )। ३. कतलनवी ( ४ ), कबेलनवी ( ५ )।

कृष्ण कवि का अभिप्राय इसी कटोरी से है। यह शब्द और कहीं देखने में नहीं आया, अतः इसके मूल रूप तथा अर्थ के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। परंतु यह अर्थ यहाँ लगता बहुत अच्छा है। यदि कृष्ण कवि का अर्थ ठीक माना जावे, तो इसका 'कौल' शब्द से, जो कि एक तांत्रिक संप्रदाय का वाचक है, अथवा 'कवल' शब्द से, जो कटोरा-वाचक है, किसी प्रकार बनना संभव है। प्रतीत होता है कि बिहारी के समय में भी यह शब्द, एक क्रिया विशेष से संबंध रखने के कारण, सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं था। अतः कृष्ण कवि को तो यद्यपि इसका ठीक अर्थ ज्ञात था; किंतु अनवर-चंद्रिकाकारों को इस शब्द के अर्थ में भ्रम हुआ, और उन्होंने इसका पाठ 'कविलनुमा' कर लिया। बाद को और टीकाकारों ने भी वैसा ही किया। फारसी भाषा में 'क़िब्लःनुमा' दिक्प्रदर्शक यंत्र को कहते हैं। यह 'कविलनुमा' उसी 'क़िब्लःनुमा' का अपभ्रंश है। यद्यपि 'कविलनुमा' पाठ से भी इस दोहे का अर्थ अच्छा लग जाता है, तथापि यहाँ मंत्र की कटोरी का भाव विशेष संगत ज्ञात होता है। अतः हमने, अपनी प्राचीन पुस्तकों के अनुसार, 'कविलनवी' ही पाठ रख कर उसका अर्थ मंत्र की कटोरी किया है॥

( अवतरण )—परकीया नायिका की दृष्टि इधर-उधर से घूम फिर कर उपपति ही की ओर जा ठहरती है, जिससे सखी उसका प्रेम लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ तेरी ] यह दृष्टि क्षण मात्र सभी की ओर समुहाती ( सामने जाती ) है, [ पर फिर ] सबको पीठ दे कर चलती है ( सबकी ओर से लौट पड़ती है ), [ एक ] उसी [ नायक ] की ओर [ जा कर ] कविलनवी ( मंत्र की कटोरी ) की भाँति ठहरती है [ जिससे लक्षित होता है कि तेरा चितचोर वही है ]॥

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी[1], मुरारि।
बीधे मोसौं आइ[2] कै गीधे गीधहिं तारि॥ ३१॥

**बिरदु**=प्रशस्ति, किसी उत्तम कार्य करने से प्रसिद्ध नाम॥ **देखिबी**=देखने के योग्य है, देखना है॥ **बीधे**=बिद्ध हुए, उलझे॥ **गीधे**=ललचाए हुए, परचे हुए॥ **गीधहिं**=गिद्ध को, संपाति गिद्ध को॥

( अवतरण )—कवि अथवा किसी भक्त का वचन भगवान् से—

( अर्थ )—हे मुरारि! अब देखना है [ कि आपका तारन-] बिरद किस प्रकार रहेगा; [ क्योंकि आप एक सामान्य पापी ] गिद्ध ( संपाति ) को तार कर परचे हुए मुझ [ महा पापी ] से आ उलझे हैं॥

कहत, नटत, रीझत, खिझत[3], मिलत, खिलत, लजियात[4]।
भरे भौन मैं करत[5] हैं नैननु हीं सब[6] बात॥ ३२॥

**मिलत**=मेल कर लेते हैं॥ **खिलत**=खिल उठते हैं, प्रसन्नता प्रकट करते हैं॥

( अवतरण )—नायक और नायिका के चातुरी से, आँखों की चेष्टा ही के द्वारा, हृदय के सब भावों को परस्पर प्रकट कर देने का वर्णन सखी सखी से करती है—

१. जानबी ( २ ), देखबी ( ४, ५ )। २. आनि ( १ )। ३. खिजत ( ४, ५ )। ४. लजि जात ( २ )। ५. कहत ( १ )। ६. सौं ( २ )।

( अर्थ )—[देखो, कैसी चातुरी से ये दोनों गुरुजन से] भरे हुए भवन में आँखों ही में सब [ अपने अभीष्ट की ] बातें कर लेते हैं ( अपने अभिप्राय परस्पर प्रकट कर देते हैं )। [ कभी कुछ ] कहते हैं, [ कभी ] नटते हैं ( निषेध करते हैं ), [ कभी ] रीझते हैं, [ कभी ] खीझते हैं, [ कभी फिर ] मेल कर लेते हैं, [ कभी ] खिलते हैं ( प्रफुल्लित होते हैं ), [ और कभी ] लजाते हैं ॥

अथवा पूर्वार्ध का अर्थ यों किया जाय—

[ नायक कुछ ] कहता है ( रति की प्रार्थना करता है ); [जिस पर नायिका "मन में भावै, मुड़ी हिलावै" न्याय से ] नटती है ( निषेध करती है )। [ नायक उसकी इस निषेध करने की चेष्टा पर ] रीझता है, [ तब नायिका उसकी रीझने की चेष्टा पर बनावट से ] खीझती है। [ फिर दोनों ] मेल कर लेते हैं, [ जिस पर नायक, नायिका के चटपट खीझ छोड़ देने पर, ] हँस देता है, [ और नायिका उसके हँस देने पर ] लज्जित हो जाती है ॥

वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाइ।
लपट बुझावत बिरह की कपट-भरेऊ आइ ॥ ३३ ॥

**चटपटी** = उत्कट अभिलाषा के कारण कोई काम करने में आतुरता ॥ **अटपटे** = कहीं के कहीं, लड़खड़ाते हुए ॥ **लपट** = ज्वाला ॥

( अवतरण )—उत्तमा खंडिता की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ जिसके यहाँ रात भर रहे हो, ] उसी [ से फिर मिलने ] की [ तुम्हारे ] चित्त में [ आतुरता है, [ इसी लिए तुम ] अटपटे पाँव रखते हो। [ पर तो भी मुझे कुछ दुःख नहीं है, क्योंकि तुम तो ] कपट-भरे भी आ कर [ मेरी ] विरह-ज्वाला बुझाते हो [ तात्पर्य यह है कि सपत्नी का दुःख मुझे तुम्हारे दर्शन-सुख के आगे भूल जाता है ] ॥

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ॥ ३४ ॥

( अवतरण )—नायक और नायिका की चेष्टा सखी सखी से कहती है—

( अर्थ १ )—[ नायिका को ] गुरुजनों के बीच में देख कर श्याम ने [ अपना ] सिर कमल से छुवाया ( पाँव पड़ने की चेष्टा कर के अपना अनुराग प्रकट किया )। बाम ( वामा अर्थात् नायिका ) ने [ वह भाव समझ कर अपनी ] आरसी, हरि ( नायक ) के सामने कर के, हृदय में लगा ली ( आरसी में नायक का प्रतिबिंब ले कर उसे हृदय में लगाने से यह सूचित किया कि मैं तुमको अपने हृदय में बसाती हूँ ) ॥

अथवा यों अर्थ किया जाय—

( अर्थ २ )—[नायिका को] गुरुजनों के बीच में देख कर श्याम ने [अपना] सिर कमल से छुवाया ( पाँव पड़ने की चेष्टा कर के मिलने की प्रार्थना सूचित की )। बाम ( वामा अर्थात्

१. भरे उर ( २ )। २. छिवायौ ( २ )।

नायिका ) ने [ वह भाव समझ कर अपनी ] आरसी, हरि ( सूर्य ) के सामने कर के, हृदय में लगा ली।( आरसी में सूर्य का प्रतिबिंब ले कर कुच-रूपी पहाड़ों के बीच में लगाने से यह सूचित किया कि सूर्य के अस्ताचल में छिपने पर, अर्थात् रात्रि को, मिलूँगी ) ॥

पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ैति जाइ ॥ ३५ ॥

महावरी—महावर के गाढ़े रंग में रुई को भली भाँति भिगो कर नाइनें गोली सी बना लेती हैं, और पाँव में महावर लगाते समय वे इसे ही मल मल कर रंग निचोड़ती और लगाती जाती हैं। इसी रुई की गोली को महावरी ( महावर-वटी ) कहते हैं॥ मीड़ति जाइ=मलती जाती है, मसलती जाती है ॥

( अवतरण )—सखियाँ नाइन का परिहास करती हुई नायिका की एड़ी की ललाई की आपस में प्रशंसा करती हैं—

( अर्थ )—पाँव में महावर देने को नाइन आ कर बैठी। [ पर नायिका की एड़ी का रंग ऐसा लाल है कि उसको उसमें तथा महावर की गोली में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता, अतः भ्रम के कारण वह ] एड़ी को फिर फिर, महावर की गोली समझ कर, मीड़ती जाती है ॥

तोहीं, निरमोही, लग्यौ मो ही इहैं सुभाउ।
अनआँएँ आवै नहीं, आएँ आवतु, आउ ॥ ३६ ॥

( अवतरण )—उपपति नायक को नायिका की उलाहने से भरी हुई पत्री—

( अर्थ )—हे निरमोही, मेरा हृदय तुझी से इस स्वभाव ( रीति ) से लगा है [ कि तेरे ] न आने से [ वह भी मेरे पास ] नहीं आता ( मेरा चित्त ठिकाने नहीं रहता ), [ और तेरे ] आने से आता है। [ अतः निवेदन है कि तू ] आ ( पधार ) ॥

नेहु न, नैननु कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥ ३७ ॥

नेहु ( स्नेह )—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ प्रेम तथा तेल हैं। अतएव इसमें श्लेष-मूलक रूपक है, जिससे इसका अर्थ यहाँ प्रेम-रूपी तेल हुआ ॥ बलाइ ( फ़ा० बला )=विपत्ति, आपत्ति ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका अपने नेत्रों की व्यवस्था अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ यह ] प्रेम-रूपी तेल नहीं है, [ प्रत्युत मेरे ] नयनों के निमित्त कोई बड़ी बलाय उपजी है। [ क्योंकि यद्यपि मेरे नयन ] नित्यप्रति नीर ( आँसू ) से भरे हुए रहते हैं, तथापि [ इनकी ] प्यास ( दर्शन की तृषा ) नहीं बुझती ॥

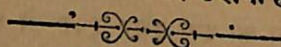
---

१. देन ( ४, ५ )। २. मीजत ( ४ )। ३. यहै ( १, २, ५ ), इहे ( ४ )। ४. अनआयौ ( १ )। ५. आवति ( १, २, ५ )।

(अर्थ)—[देखो, कैसी चातुरी से ये दोनों गुरुजन से] भरे हुए भवन में आँखों ही में सब [अपने अभीष्ट की] बातें कर लेते हैं (अपने अभिप्राय परस्पर प्रकट कर देते हैं)। [कभी कुछ] कहते हैं, [कभी] नटते हैं (निषेध करते हैं), [कभी] रीझते हैं, [कभी] खीझते हैं, [कभी फिर] मेल कर लेते हैं, [कभी] खिलते हैं (प्रफुल्लित होते हैं), [और कभी] लजाते हैं ॥

अथवा पूर्वार्ध का अर्थ यों किया जाय—

[नायक कुछ] कहता है (रति की प्रार्थना करता है); [जिस पर नायिका "मन में भावै, मुड़ी हिलावै" न्याय से] नटती है (निषेध करती है)। [नायक उसकी इस निषेध करने की चेष्टा पर] रीझता है, [तब नायिका उसकी रीझने की चेष्टा पर बनावट से] खीझती है। [फिर दोनों] मेल कर लेते हैं, [जिस पर नायक, नायिका के चटपट खीझ छोड़ देने पर,] हँस देता है, [और नायिका उसके हँस देने पर] लज्जित हो जाती है ॥

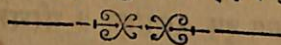


**वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाइ।**
**लपट बुझावत बिरह की कपट-भरेऊ आइ ॥ ३३ ॥**

**चटपटी** = उत्कट अभिलाषा के कारण कोई काम करने में आतुरता ॥ **अटपटे** = कहीं के कहीं, लड़खड़ाते हुए ॥ **लपट** = ज्वाला ॥

(अवतरण)—उत्तमा खंडिता की उक्ति नायक से—

(अर्थ)—[जिसके यहाँ रात भर रहे हो,] उसी [से फिर मिलने] की [तुम्हारे] चित्त में [आतुरता है, [इसी लिए तुम] अटपटे पाँव रखते हो। [पर तो भी मुझे कुछ दुःख नहीं है, क्योंकि तुम तो] कपट-भरे भी आ कर [मेरी] विरह-ज्वाला बुझाते हो [तात्पर्य यह है कि सपत्नी का दुःख मुझे तुम्हारे दर्शन-सुख के आगे भूल जाता है] ॥



**लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।**
**हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ॥ ३४ ॥**

(अवतरण)—नायक और नायिका की चेष्टा सखी सखी से कहती है—

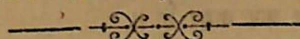
(अर्थ १)—[नायिका को] गुरुजनों के बीच में देख कर श्याम ने [अपना] सिर कमल से छुवाया (पाँव पड़ने की चेष्टा कर के अपना अनुराग प्रकट किया)। बाम (वामा अर्थात् नायिका) ने [वह भाव समझ कर अपनी] आरसी, हरि (नायक) के सामने कर के, हृदय में लगा ली (आरसी में नायक का प्रतिबिंब ले कर उसे हृदय में लगाने से यह सूचित किया कि मैं तुमको अपने हृदय में बसाती हूँ) ॥

अथवा यों अर्थ किया जाय—

(अर्थ २)—[नायिका को] गुरुजनों के बीच में देख कर श्याम ने [अपना] सिर कमल से छुवाया (पाँव पड़ने की चेष्टा कर के मिलने की प्रार्थना सूचित की)। बाम (वामा अर्थात्

१. भरे उर (२)। २. छिवायौ (२)।

नायिका ) ने [ वह भाव समझ कर अपनी ] आरसी, हरि ( सूर्य ) के सामने कर के, हृदय में लगा ली ( आरसी में सूर्य का प्रतिबिंब ले कर कुच-रूपी पहाड़ों के बीच में लगाने से यह सूचित किया कि सूर्य के अस्ताचल में छिपने पर, अर्थात् रात्रि को, मिलूँगी ) ॥

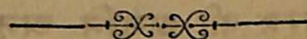


पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ॥ ३५ ॥

महावरी—महावर के गाढ़े रंग में रुई को भली भाँति भिगो कर नाइनें गोली सी बना लेती हैं, और पाँव में महावर लगाते समय वे इसे ही मल मल कर रंग निचोड़ती और लगाती जाती हैं। इसी रुई की गोली को महावरी ( महावर-वटी ) कहते हैं ॥ मीड़ति जाइ=मलती जाती है, मसलती जाती है ॥

( अवतरण )—सखियाँ नाइन का परिहास करती हुई नायिका की एड़ी की ललाई की आपस में प्रशंसा करती हैं—

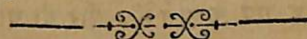
( अर्थ )—पाँव में महावर देने को नाइन आ कर बैठी। [ पर नायिका की एड़ी का रंग ऐसा लाल है कि उसको उसमें तथा महावर की गोली में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता, अतः भ्रम के कारण वह ] एड़ी को फिर फिर, महावर की गोली समझ कर, मीड़ती जाती है ॥



तोहीं, निरमोही, लग्यौ मो ही इहैं सुभाउ।
अनआऐं आवै नहीं, आऐं आवतु, आउ ॥ ३६ ॥

( अवतरण )—उपपति नायक को नायिका की उलाहने से भरी हुई पत्री—

( अर्थ )—हे निरमोही, मेरा हृदय तुझी से इस स्वभाव ( रीति ) से लगा है [ कि तेरे ] न आने से [ वह भी मेरे पास ] नहीं आता ( मेरा चित्त ठिकाने नहीं रहता ), [ और तेरे ] आने से आता है। [ अतः निवेदन है कि तू ] आ ( पधार ) ॥



नेहु न, नैननु कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥ ३७ ॥

नेहु ( स्नेह )—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ प्रेम तथा तेल हैं। अतएव इसमें श्लेष-मूलक रूपक है, जिससे इसका अर्थ यहाँ प्रेम-रूपी तेल हुआ ॥ बलाइ ( फ़ा० बला )=विपत्ति, आपत्ति ॥

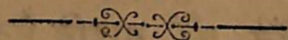
( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका अपने नेत्रों की व्यवस्था अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ यह ] प्रेम-रूपी तेल नहीं है, [ प्रत्युत मेरे ] नयनों के निमित्त कोई बड़ी बलाय उपजी है। [ क्योंकि यद्यपि मेरे नयन ] नित्यप्रति नीर ( आँसू ) से भरे हुए रहते हैं, तथापि [ इनकी ] प्यास ( दर्शन की तृषा ) नहीं बुझती ॥

---

१. देन ( ४, ५ ) । २. मीजत ( ४ ) । ३. यहै ( १, २, ५ ), इहै ( ४ ) । ४. अनआयौ ( १ ) । ५. आवति ( १, २, ५ ) ।

शरीर-शुद्धि के निमित्त वैद्यक मैं जो पंचकर्म बतलाए गए हैं, उनमैं एक स्नेहन भी है। इसमैं रोगी को तेल अथवा घृत इत्यादि पिलाया जाता है। यदि स्नेह-पान मैं कुछ व्यतिक्रम पड़ जाता है, तो रोगी को बहुत तृषा लगती है। पानी से उसका पेट भर जाता है, पर तृषा बनी ही रहती है। इसी बात को नायिका ने अपने नेत्रों पर घटा कर कहा है॥

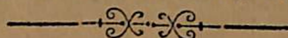


**नहिँ परागु, नहिँ मधुर मधु, नहिँ बिकासु इहिँ काल।**
**अली, कली ही सौँ बँध्यौ, आगैँ कौन हवाल॥ ३८॥**

**बिकासु**=खिलावट॥ **हवाल**=दशा। यह अरबी शब्द हाल के बहुवचन अहवाल का अपभ्रंश है॥

(अवतरण)—इस दोहे मैं, भ्रमर के ब्याज से, कोई किसी मुग्धासक्त को शिक्षा देता है—

(अर्थ)—न [तो इसमैं] अभी पराग (पुष्प-रज अर्थात् जवानी की रंगत), न मधुर मधु (मीठा मकरंद अर्थात् सरसता), [और] न विकास (खिलावट अर्थात् यौवन के कारण अंगों में प्रफुल्लता) [ही] है। हे भ्रमर, [तू ऐसी कंज की] कली ही से बँधा है (अपने सब कर्तव्य छोड़ कर उसी में लवलीन हो रहा है), [तो] आगे [चल कर जब उसमैं पराग, मकरंद तथा विकास का आगमन होगा, तो फिर तेरी] क्या दशा होगी॥



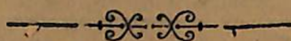
**लाल, तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप, अपार।**
**सरसै बरसैँ नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार॥ ३९॥**

**अगनि**=अग्नि॥ **अनूप**=जिसकी उपमा न हो, अद्भुत, विलक्षण॥ **अपार**=जिसका पार न पाया जाय, जो समाप्त न हो, बहुत॥ **सरसै**=बढ़ती है॥ **झर**—इस शब्द का अर्थ अन्य टीकाकारों ने मेघ का झड़ी बाँध कर लगातार बरसना किया है, पर यहाँ इसका यह अर्थ नहीँ है। यहाँ इसका अर्थ है ताप अर्थात् ग्रीष्म का प्रचंड ताप अथवा लूअ। बिहारी ने इस शब्द का प्रयोग इस दोहे के अतिरिक्त और पाँच दोहों में छः बार किया है, जिनमें से तीन बार (देखो दोहे ४०२, ५७०, ६४६) इसका प्रयोग पावक-लपट के अर्थ में हुआ है, एक बार (देखो दोहा ९८) विरह-ताप के अर्थ में, और दो बार (देखो दोहे ४०२, ४८४) मेह की झड़ी के अर्थ में॥ **झार**=जलन॥

(अवतरण)—सखी अथवा दूती नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

(अर्थ)—हे लाल, तुम्हारे विरह की अग्नि विलक्षण [तथा] अपार है। [इसकी] झार (जलन) नीर बरसने से भी बढ़ती है, [और] झर (ग्रीष्म के ताप) से भी नहीँ मिटती॥

पानी से उसकी जलन का बढ़ना तो विरहाग्नि की विलक्षणता है, और ताप से उसकी जलन का न मिटना उसकी अपारता। यदि कोई अंग थोड़ा बहुत जल जाता है, तो सेंक देने से उसकी जलन मिट जाती है; पर यदि बहुत जल जाता है, तो सेंकने से कोई लाभ नहीँ होता, प्रत्युत हानि ही होती है॥



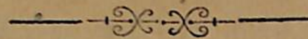
१. आगि (२), आगिनि (४)।

**देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन-जोति।**
**त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबैं बदन मलिन दुति होति॥ ४० ॥**

**सौत्यैं** = सौतों को। यह पद सौति शब्द के संप्रदानकारक का बहुवचन-रूप है॥

(अवतरण)—नवयौवना मुग्धा की सखियाँ आपस मैं सहर्ष कहती हैं—

(अर्थ)—[इस] दुलहिन की देह में ज्यों ज्यों यौवन की ज्योति बढ़ती है, त्यों त्यों [इसको] देख कर [इसकी] सब ही सौतों को वदन में द्युति मलिन होती है॥

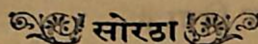


**जगतु जनायौ जिहिँ सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।**
**ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि॥ ४१ ॥**

**जिहिँ** = जिसके द्वारा॥ **देखियै** = देखा जाता है॥

(अवतरण)—किसी आत्मज्ञानी की उक्ति स्वगत अथवा शिष्य से—

(अर्थ)—जिस [चिन्मय परमात्मा] के द्वारा (जिसके हृदय में स्थित होने के कारण) सकल जगत् [तुझसे] जाना गया, वह हरि [तूने] नहीँ जाना। जैसे आँखों के द्वारा सब [कुछ] देखा जाता है, [पर] आँखें [स्वयं] नहीँ देखी जातीँ॥



सोरठा

**मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।**
**इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत॥ ४२ ॥**

**सुरंगु** = सुंदर रंग वाला। यहाँ इसका अर्थ लाल है॥ **आड़** = आड़ा तिलक॥ **नारी**—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है—(१) नारी, स्त्री। (२) चंडा, समीरा इत्यादि सात नाड़ियों में से कोई नाड़ी। वर्षाज्ञान के निमित्त ज्योतिष में सात नाड़ियाँ मानी जाती हैं। इनमें से प्रत्येक की गति चार चार नक्षत्रों में सर्पाकार होती है। जब चंद्रमा, मंगल तथा बृहस्पति ग्रहों की स्थिति ऐसी होती है कि वे एक ही नाड़ी के चारों नक्षत्रों में से किसी पर होते हैं—चाहे चारों नक्षत्रों में से किसी एक ही पर, अथवा भिन्न भिन्न पर—तो जगद्व्यापिनी वृष्टि होती है, यथा—

एकनाडीसमारूढौ चंद्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही॥

(नरपतिजयचर्या, अध्याय ३, श्लो० २१)

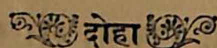
**रस**—यह शब्द भी श्लिष्ट है—(१) अनुराग, शृंगार-रस। (२) जल। इसमें भी श्लिष्टपद-मूलक रूपक है, और इसका अर्थ अनुराग-रूपी जल है॥ **किय**—यह रूप कियौ के स्थान पर बिहारी ने २१२ संख्यक दोहे में भी प्रयुक्त किया है। अन्य कवियों तथा गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस अर्थ में इस रूप का प्रयोग बहुत किया है॥ **लोचन-जगत** = लोचन-रूपी जगत्।

१. चढ़ै (१)। २. सोते (४), सोत्यौं (५)। ३. मलिन बदन, दुति (२)। ४. जगु (२)। ५. केसर (४, ५)।

( अवतरण )—नायिका के मुख पर लाल बिंदु तथा केसर की पीली आड़ देख कर नायक की आँखें अनुरागमय हो रही हैं। अपनी यही दशा वह स्वगत, अथवा नायिका की किसी अंतरंगिनी सखी से, कहता है—

( अर्थ )—लालबिंदु-रूपी मंगल, मुख-रूपी चंद्र, [ एवं ] केसर की [ पीली ] आड़-रूपी बृहस्पति [ इन तीनों ग्रहों ] को एक [ ही ] नारी ( स्त्री-रूपी नाड़ी ) ने साथ ही प्राप्त कर के, [ मेरे ] लोचन-रूपी जगत् को रसमय ( १. अनुरागमय। २. जलमय ) कर दिया ॥

मंगल ग्रह का रंग लाल तथा बृहस्पति का पीला माना जाता है, और मुख का उपमान चंद्र प्रसिद्ध ही है ॥


दोहा

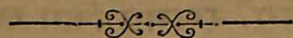
**पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ, लखैं दिठौना दीन[1]।**
**चंदमुखी, मुखचंदु तैं भलौ[2] चंद-समु कीन[3] ॥ ४३ ॥**

भलौ = पूर्ण रूप से, पूरा पूरा ॥

( अवतरण )—सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम ने नायिका से, [ यह ] देखने पर [ कि उसने ] दिठौना दिया है, हँस कर कहा [ कि ] हे चंद्रमुखी, तूने [ अपने ] मुखचंद्र को [ इस दिठौने के द्वारा ] भला ( पूरा पूरा ) चंद्र के समान कर दिया ॥

कई टीकाकारों ने अनेक शंका-समाधान कर के इस दोहे के अर्थ को बहुत घुमाया फिराया है। पर हमारी समझ में यह अर्थ सीधा और स्पष्ट है ॥

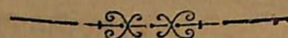


**कौँहर सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।**
**पाइ महावरु देई[4] को, आपु भई बे-पाइ ॥ ४४ ॥**

कौँहर ( कटुफल ) = इंद्रायन का फल ॥ बे-पाइ = बिना पाँव की अर्थात् मति-पंगु, स्तब्ध ॥

( अवतरण )—सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—इंद्रायन के फल सी एड़ियों की स्वाभाविक लाली देख कर [ नाइन ] स्वयं बेपाइ ( बिना हाथपैर की अर्थात् मति-पंगु ) हो गई। [ फिर भला ] पाँव में महावर [ दे, तो ] कौन दे ॥



**खेलन सिखए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।**
**कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥ ४५ ॥**

भलैं = भली भाँति। यहाँ इसका अर्थ बड़ी विलक्षणता से होता है ॥ अहेरी = शिकारी ॥ कानन-चारी—( १ ) कानों तक विचरने वाले अर्थात् दीर्घ। ( २ ) जंगल में विचरने वाले। प्राचीन परिपाटी तथा

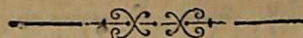
१. दीन्ह ( ४ )। २. भले ( ४ )। ३. कीन्ह ( ४ )। ४. देन कौं ( ५ )।

बिहारी की लेख-प्रणाली के अनुसार पहिले अर्थ के निमित्त 'कानन' शब्द को उकारांत, अर्थात् 'काननु', होना चाहिए। पर बिहारी के समय ही में ऐसे शब्दों को अकारांत लिखने की प्रथा प्रचलित हो चली थी, और यद्यपि बिहारी इस प्रथा का अनुकरण स्वतंत्रता-पूर्वक तो नहीं करते थे, पर इस दोहे में, श्लेष के निर्वाहार्थ, उन्होंने उक्त प्रचार से लाभ उठा कर, कान के बहुवचन काननु को भी अकारांत ही मान लिया, क्योंकि दूसरे अर्थ के निमित्त 'कानन-चारी' समस्त पद का 'कानन' (जंगल) शब्द उकारांत नहीं हो सकता। श्लेषालंकार में ऐसे प्रयोगों का निर्वाह माना भी जाता है॥

(अवतरण)—नायिका की अंतरंगिनी सखी उसके नेत्रों-द्वारा नायक के घायल होने का वृत्तांत उससे, परिहासात्मक वाक्य में, कहती है। वह चातुरी से नायक का नाम नहीं लेती, प्रत्युत घायल होने वाले के निमित्त बहुवचन 'नागर नरनु' पद प्रयुक्त कर के सामान्यतः कहती है कि तेरे नेत्रों से प्रवीण नरों का शिकार होता है। वह सोचती है कि यह सुन कर जब नायिका पूछेगी कि मेरे नेत्रों ने किसका शिकार किया है, तब नायक का नाम बतला दूँगी—

(अर्थ)—**हे अली! कामदेव-रूपी चतुर अहेरी ने [तेरे] कानन-चारी (कानों तक जाने वाले, वन-चारी) नयन-रूपी मृगों को भली भाँति (बड़ी विलक्षण रीति से) नगर-निवासी (सुघर) नरों का शिकार करना सिखलाया है॥**

**मृगों का आखेट करना तो नगर-निवासी नरों को सामान्यतः अहेरी सिखलाते ही हैं। पर कामदेव-रूपी अहेरी ने यह विलक्षण चातुरी की है कि कानन-चारी नयन-रूपी मृगों को नगर-निवासी (सुघर) नरों का आखेट करना सिखलाया है॥**

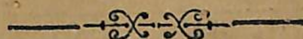


**रससिँगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।**
**अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन॥ ४६॥**

**रससिँगार-मंजनु किए**=शृंगार-रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि में निमग्न, अथवा उनको माँजे हुए अर्थात् उनमें दक्ष॥ **कंजनु**=कंजों को॥ **भंजनु**=मान-भंग, पराजय॥ **अंजनु रंजनु हूँ बिना**=अंजन रँगने (लगाने) के बिना भी॥ **खंजनु**—भाषा में खंजन तथा खंज, दोनों रूप खंजन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'खंजनु' पद यहाँ खंज शब्द का बहुवचन है। इसके पश्चात् के संप्रदानार्थक कौं का लोप है, अतः यह पद यहाँ संप्रदानकारक-वत् प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ यहाँ खंजों को होता है॥ **गंजनु**=तिरस्कार। यह पद यहाँ कर्मकारक-रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसके पश्चात् 'दैन' का अध्याहार होता है, और उसी "दैन" पद का यह कर्म है॥

(अवतरण)—नायिका के नेत्रों की प्रशंसा नायक अथवा सखी-द्वारा—

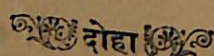
(अर्थ)—**शृंगार-रस में मज्जन किए हुए (शृंगार-रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि से परिष्कृत—पानी दिए हुए, अथवा उनमें निमग्न) [ये तेरे] नयन [अपनी स्वच्छता से] कंजों को [जो कि सदैव जल में मज्जित रहने के कारण स्वच्छ रहते हैं] भंजन (मान-मर्दन, पराजय) देने वाले हैं, [और अपनी स्वाभाविक श्यामता से] अंजन लगाने के बिना भी खंजों को तिरस्कार [देने वाले]॥**



( अवतरण )—नायिका के मुख पर लाल बिंदु तथा केसर की पीली आड़ देख कर नायक की आँखें अनुरागमय हो रही हैं। अपनी यही दशा वह स्वगत, अथवा नायिका की किसी अंतरंगिनी सखी से, कहता है—

( अर्थ )—लालबिंदु-रूपी मंगल, मुख-रूपी चंद्र, [ एवं ] केसर की [ पीली ] आड़-रूपी बृहस्पति [ इन तीनों ग्रहों ] को एक [ ही ] नारी ( स्त्री-रूपी नाड़ी ) ने साथ ही प्राप्त कर के, [ मेरे ] लोचन-रूपी जगत् को रसमय ( १. अनुरागमय। २. जलमय ) कर दिया ॥

मंगल ग्रह का रंग लाल तथा बृहस्पति का पीला माना जाता है, और मुख का उपमान चंद्र प्रसिद्ध ही है ॥



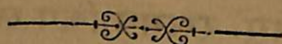

पिय तिय सौँ हँसि कै कह्यौ, लखैँ दिठौना दीनै[1]।
चंद्रमुखी, मुखचंदु तैँ भलौ[2] चंद-समु कीनै[3] ॥ ४३ ॥

भलौ = पूर्ण रूप से, पूरा पूरा ॥

( अवतरण )—सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम ने नायिका से, [ यह ] देखने पर [ कि उसने ] दिठौना दिया है, हँस कर कहा [ कि ] हे चंद्रमुखी, तूने [ अपने ] मुखचंद्र को [ इस दिठौने के द्वारा ] भला ( पूरा पूरा ) चंद्र के समान कर दिया ॥

कई टीकाकारों ने अनेक शंका-समाधान कर के इस दोहे के अर्थ को बहुत घुमाया फिराया है। पर हमारी समझ में यह अर्थ सीधा और स्पष्ट है ॥

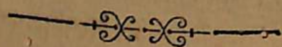


कौँहर सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइँ[4] को, आपु भई बे-पाइ ॥ ४४ ॥

कौँहर ( कटुफल ) = इंद्रायन का फल ॥ बे-पाइ = विना पाँव की अर्थात् मति-पंगु, स्तब्ध ॥

( अवतरण )—सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—इंद्रायन के फल सी एड़ियों की स्वाभाविक लाली देख कर [ नाइन ] स्वयं बेपाइ ( विना हाथपैर की अर्थात् मति-पंगु ) हो गई। [ फिर भला ] पाँव में महावर [ दे, तो ] कौन दे ॥



खेलन सिखए, अलि, भलैँ चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥ ४५ ॥

भलैँ = भली भाँति। यहाँ इसका अर्थ बड़ी विलक्षणता से होता है ॥ अहेरी = शिकारी ॥ कानन-चारी—( १ ) कानों तक विचरने वाले अर्थात् दीर्घ। ( २ ) जंगल में विचरने वाले। प्राचीन परिपाटी तथा

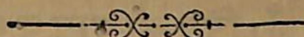
१. दीन्ह ( ४ )। २. भले ( ४ )। ३. कीन्ह ( ४ )। ४. देन कौँ ( ५ )।

बिहारी की लेख-प्रणाली के अनुसार पहिले अर्थ के निमित्त 'कानन' शब्द को उकारांत, अर्थात् 'काननु', होना चाहिए। पर बिहारी के समय ही में ऐसे शब्दों को अकारांत लिखने की प्रथा प्रचलित हो चली थी, और यद्यपि बिहारी इस प्रथा का अनुकरण स्वतंत्रता-पूर्वक तो नहीं करते थे, पर इस दोहे में, श्लेष के निर्वाहार्थ, उन्होंने उक्त प्रचार से लाभ उठा कर, कान के बहुवचन काननु को भी अकारांत ही मान लिया, क्योंकि दूसरे अर्थ के निमित्त 'कानन-चारी' समस्त पद का 'कानन' ( जंगल ) शब्द उकारांत नहीं हो सकता। श्लेषालंकार में ऐसे प्रयोगों का निर्वाह माना भी जाता है॥

( अवतरण )—नायिका की अंतरंगिनी सखी उसके नेत्रों-द्वारा नायक के घायल होने का वृत्तांत उससे, परिहासात्मक वाक्य में, कहती है। वह चातुरी से नायक का नाम नहीं लेती, प्रत्युत घायल होने वाले के निमित्त बहुवचन 'नागर नरनु' पद प्रयुक्त कर के सामान्यतः कहती है कि तेरे नेत्रों से प्रवीण नरों का शिकार होता है। वह सोचती है कि यह सुन कर जब नायिका पूछेगी कि मेरे नेत्रों ने किसका शिकार किया है, तब नायक का नाम बतला दूँगी—

( अर्थ )—**हे अली! कामदेव-रूपी चतुर अहेरी ने [ तेरे ] कानन-चारी ( कानों तक जाने वाले, वन-चारी ) नयन-रूपी मृगों को भली भाँति ( बड़ी विलक्षण रीति से ) नगर-निवासी ( सुघर ) नरों का शिकार करना सिखलाया है॥**

**मृगों का आखेट करना तो नगर-निवासी नरों को सामान्यतः अहेरी सिखलाते ही हैं। पर कामदेव-रूपी अहेरी ने यह विलक्षण चातुरी की है कि कानन-चारी नयन-रूपी मृगों को नगर-निवासी ( सुघर ) नरों का आखेट करना सिखलाया है॥**

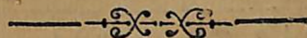


**रससिँगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।**
**अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन॥ ४६॥**

**रससिँगार-मंजनु किए**=शृंगार-रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि में निमग्न, अथवा उनको माँजे हुए अर्थात् उनमें दक्ष॥ **कंजनु**=कंजों को॥ **भंजनु**=मान-भंग, पराजय॥ **अंजनु रंजनु हूँ बिना**=अंजन रँगने ( लगाने ) के बिना भी॥ **खंजनु**—भाषा में खंजन तथा खंज, दोनों रूप खंजन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'खंजनु' पद यहाँ खंज शब्द का बहुवचन है। इसके पश्चात् के संप्रदानार्थक कौं का लोप है, अतः यह पद यहाँ संप्रदानकारक-वत् प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ यहाँ खंजों को होता है॥ **गंजनु**=तिरस्कार। यह पद यहाँ कर्मकारक-रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसके पश्चात् 'दैन' का अध्याहार होता है, और उसी "दैन" पद का यह कर्म है॥

( अवतरण )—नायिका के नेत्रों की प्रशंसा नायक अथवा सखी-द्वारा—

( अर्थ )—**शृंगार-रस में मज्जन किए हुए ( शृंगार-रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि से परिष्कृत—पानी दिए हुए, अथवा उनमें निमग्न ) [ ये तेरे ] नयन [ अपनी स्वच्छता से ] कंजों को [ जो कि सदैव जल में मज्जित रहने के कारण स्वच्छ रहते हैं ] भंजन ( मान-मर्दन, पराजय ) देने वाले हैं, [ और अपनी स्वाभाविक श्यामता से ] अंजन लगाने के विना भी खंजों को तिरस्कार [ देने वाले ]॥**



**साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।**
**कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन॥ ४७॥**

**साजे**=किसी कार्य विशेष के उपयुक्त बनाए॥ **कुचैन**=विकल॥ **टोने**=जादू। विशेषतः दृष्टि-द्वारा किसी पर प्रभाव डालने की क्रिया, अथवा उस डाले हुए प्रभाव, को टोना कहते हैं॥ **लोने**=लुनाए हुए, लवण दिए हुए, लवण-द्वारा तुष्ट किए हुए, नायक के लावण्य-द्वारा उसके पक्ष में किए हुए॥ जब किसी पर टोने अथवा कुदृष्टि का प्रभाव प्रतीत होता है, तो लवण और राई अथवा केवल लवण उस पर से वार कर टोने के निमित्त फेंक अथवा अग्नि में डाल दिया जाता है। इस क्रिया को स्त्रियाँ राई-नोन करना अथवा लोनाना कहती हैं। इस लोनाने से टोना लौट जाता है, और जो प्रभाव टोना करने वाला किसी पर डालना चाहता है, वही स्वयं करने वाले पर, उसकी ओर से, पड़ जाता है। यही टोने का उलटना कहलाता है॥

(अवतरण)—पूर्वानुरागिनी नायिका का वचन अंतरंगिनी सखी से—

(अर्थ)—[मैं ने तो अपने नयन] मोहन के मोहने को [उपयुक्त उपस्करणों, अंजन, तिलोंछ आदि, से] सुसज्जित किए, [पर ये तो मोहन को मोहने के पलटे] मुझी को [मोहन पर मोहित कर के] विकल किए डालते हैं। [अब मैं] क्या करूँ, [मोहन के लावण्य से] लोने हुए (लोनाए जा कर) [मेरे] नयन उलटे टोने [हो कर मुझी पर] पड़े॥

**याकैं उर औरै कछू लगी बिरह की लाइ।**
**पजरै नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ॥ ४८॥**

**औरै कछू**=कुछ विलक्षण प्रकार की॥ **लाइ**=लवर, अग्नि॥ **पजरै**=प्रज्वलित होती है॥ **बात**=(१) वार्ता। (२) वायु॥

(अवतरण)—विरहिनी नायिका की व्यवस्था सखियाँ आपस में कहती हैं—

(अर्थ)—इसके हृदय में विरह की कुछ विलक्षण आग लगी है, [जो] गुलाब-जल [छिड़कने] से [तो] प्रज्वलित होती है, [और] प्रियतम की बात (चर्चा-रूपी वायु) से बुझती है॥

विलक्षणता यह है कि सामान्य अग्नि तो जल से बुझती और वायु से प्रज्वलित होती है, पर यह अग्नि जल से प्रज्वलित होती एवं बात (वायु) से बुझती है॥

**कहा लेहुगे खेल पैं, तजौ अटपटी बात।**
**नैंक हँसौंहीं हैं भई भौंहैं, सौंहैं खात॥ ४९॥**

**खेल पैं**—'पैं' यहाँ करणकारकार्थक है। 'खेल पैं' का अर्थ खेल से होता है॥ **अटपटी**=कुढंगी॥

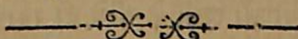
(अवतरण)—नायिका ने मान किया था। सखी बड़ी कठिनता से, शपथ खा खा कर, उसको कुछ ढंग पर ला रही थी। इतने में नायक ने उसी स्त्री का नाम ले लिया, जिसकी ईर्षा से मान हुआ था। सखी, यह सोच कर कि कहीं मान फिर न बढ़ जाय, बड़ी वाक्यचातुरी से, नायक के उस नाम

१. करौ (२)। २. टौने (२, ५)। ३. लौने (२, ५)।

लेने को उसका खिलवाड़ ठहरा कर, इधर तो नायिका के रोष को उभरने नहीं देती और उधर नायक को सचेत करती है—

(अर्थ)—[तुम] खेल से क्या लोगे (इस खेल में क्या पाओगे)! [यह] कुढंगी बात (अर्थात् खिलवाड़ के निमित्त अन्य स्त्री का नाम ले कर नायिका को चिढ़ाना) छोड़ दो! [देखो, बड़ी कठिनता से,] शपथ खाते खाते [नायिका की सरोष] भौंहें कुछ हँसौंहीं (हास्योन्मुखी) हुई हैं [ऐसा न हो कि वे कहीं फिर चढ़ जायँ]॥

इस दोहे की व्याख्या श्रीयुत पंडित पद्मसिंहजी शर्मा ने बहुत अच्छी की है। नायक के अन्य स्त्री का नाम लेने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उसे नायिका की मान-चेष्टा बहुत अच्छी लगी, अतः वह फिर वही चेष्टा देखने के निमित्त, खिलवाड़ में, अन्य स्त्री का नाम ले कर उसको रुष्ट करना चाहता है। इस प्रकार का भाव इस कवित्त में भी है—"घरी द्वैक परम सुजान पिय प्यारी रीझि मान न मनायौ, मानिनी कौ मान देखि रह्यौ॥"



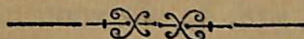
डारी सारी नील की ओट अचूक, चुकैं न।
मो मन-मृगु करबर गहैं अहे! अहेरी नैन॥ ५०॥

डारी=वृक्ष की पतली साखा, टहनी॥ नील की=नीली॥ करबर (कर्वर)=चीते। इस शब्द में सारोपा लक्षणा है। यहाँ वर्ण्यमान नयन की अप्रकृत कर्वर के साथ तादात्म्य प्रतीति है॥ अहे—इस शब्द का प्रयोग किसी को संबोधित करने में होता है, विशेषतः आश्चर्य से संबोधित करने में॥

(अवतरण)—नायक-वचन नायिका से—

(अर्थ)—हे [प्यारी, तेरे] कर्वर (चीते) [अर्थात्] अहेरी नयन नीली साड़ी-रूपी डारी (डाल-पत्तों) की अचूक (कभी व्यर्थ न होने वाली) ओट में मेरे मन-रूपी मृग को पकड़ लेते हैं, चूकते नहीं॥

चीता जब मृग को पकड़ना चाहता है, तो डाल-पत्तों तथा झाड़ियों की ओट में छिप छिप कर उसके अत्यंत समीप पहुँच जाता है, और फिर एकाएकी झपट कर उसको छोप लेता है॥

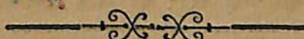


दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साँईंहिं न भूलि।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि॥ ५१॥

दीरघ साँस=लंबी साँस, जैसी दुःख में मनुष्य लेता है॥ साँईंहिं=स्वामी को॥ कबूलि=अंगीकृत कर॥

(अवतरण)—किसी विपत्ति-ग्रस्त को उसका गुरु अथवा कोई मित्र धैर्य देता है—

(अर्थ)—[तू इस विपत्ति में] दई दई (हा दैव! हा दैव!) क्यों कर रहा है, [जो विपत्ति] दैव ने दी है, उसको [धैर्य धर कर] अंगीकृत कर (अर्थात् सहन कर)। [तू] दुःख में लंबी साँस न ले, [और] सुख में स्वामी को न भूल॥



१. सारी-डारी (२, ४)। २. साईं नहिं (२, ४)। ३. करत (४)।

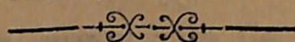
**बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह[2] ।**
**देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह[3] ॥ ५२ ॥**

**सदन-तन** = घर का पिंड ॥

( अवतरण )—स्वयंदूतिका नायिका का वचन नायक से—

( अर्थ )—[ ऐसी प्रचंड घाम के समय तुम कहाँ जा रहे हो? आओ, इस घर में घाम का निवारण कर लो। देखो, ] जेठ की दुपहरी देख कर छाया भी छाया (आच्छादन) [ के नीचे छिपना ] चाहती है। [ वह इस समय ] अति सघन वन में बैठ रही है ( विश्राम ले रही है ), [ अथवा ] घर के तन ( पिंड ) के भीतर पैठ रही है ( घुस रही है, अर्थात् वृक्षों के घेर की मिति के तथा घरों की भित्तियों के बाहर नहीं दिखलाई देती ) ॥

जेठ के दिनों में मध्याह्न के समय सूर्य ठीक सिर पर आ जाता है, अतः वृक्षों की छाया उनके घेरे के बाहर नहीं आती, और घरों की छाया भी छतों के नीचे ही रहती है, भित्तियों के बाहर नहीं पड़ती ॥



**हा हा ! बदनु उघारि, दृग सफल[4] करैं[5] सबु कोइ[6] ।**
**रोज सरोजनु कैं परै[7], हँसी ससी की होइ[8] ॥ ५३ ॥**

**हा हा !**—यह व्रजभाषा में किसी को सविनय संबोधन करने में प्रयुक्त होता है ॥ **बदनु** ( वदन )= मुख। यहाँ इसका अर्थ मुख-रूपी चंद्र है ॥ **रोज** ( फ़ारसी रोज़ ) = दिन। उर्दू में रोज़ पड़ना एवं भाषा में दिन पड़ना विपत्ति तथा काठिन्य पड़ने के अर्थ में बोला जाता है ॥ **सरोजनु कैं** = कमलों के निमित्त। सरोज शब्द का अर्थ यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा से नयन-रूपी सरोज होता है ॥ **ससी** ( शशि ) = चंद्रमा। 'ससी' का अर्थ भी यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा से मुख-रूपी शशि होता है ॥

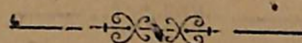
( अवतरण )—खंडिता नायिका ने नायक को देख कर, अपनी उदासीनता प्रकट करने के लिये, घूँघट काढ़ लिया है। सखी, यह सोच कर कि चार आँखें हों तो शील से मान छूट जाय, उससे घूँघट हटाने की प्रार्थना करती है। वह उसी प्रार्थना-वाक्य में, चातुरी से, नायिका के प्रभाव तथा सौंदर्य की प्रशंसा भी, उसकी प्रसन्नता के निमित्त, करती है, और अपनी प्रार्थना का निमित्त अपनी मंडली की सखियों के नेत्रों के सफल, नायक को लज्जित एवं सपत्नी को उपहास-पात्री बनाने की अभिलाषा ठहराती है—

( अर्थ )—हा हा ! [ सखी, घूँघट हटा कर अपना ] मुख खोल, [ जिसमें हम ] सब [ सखी ] जन [ अपने ] दृग सफल करें ( तेरे मुख का सौंदर्य, अपने पति पर तेरा प्रभाव एवं तेरी सपत्नी के सौंदर्य का उपहास देख कर हम सब आँखें पाने का फल पावें ), [ नायक के ] नेत्र-रूपी सरोजों पर काठिन्य पड़े ( वे तुझे सरोष देख कर झेंप जायँ ), [ और उसकी दृष्टि में तेरी सपत्नी के ] मुख-रूपी चंद्र की हँसी हो ( अर्थात् वह उपहास-पात्र जान पड़ने लगे ) ॥

कई एक टीकाकारों ने, इस दोहे का कुछ और ही अर्थ समझ कर, अनेक शंकाएँ तथा उनका समा-

१. मन ( २ ) । २. माँहि ( २, ५ ) । ३. छाँहि ( २, ५ ) । ४. सुफल ( ४ ) । ५. करौ ( १, ४ ) । ६. कोउ ( १ ) । ७. परौ ( १ ) । ८. होउ ( १ ) ।

धान करने के व्यर्थ प्रयत्न किए हैं। पर ऊपर जो अर्थ लिखा गया है, उसमें न किसी शंका का अवसर है, और न समाधान की आवश्यकता ॥



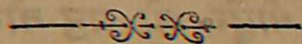
**होमति सुखु, करि कामना तुमहिँ मिलन की, लाल।**
**ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल ॥ ५४ ॥**

**होमति** = हवन करती है, आहुती देती है ॥ **ज्वालमुखी** = ज्वालामुखी ॥ **लगनि** = चित्त की लगावट, अनुराग ॥ **अगनि** = अग्नि ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की सखी अथवा दूती नायक से विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—**हे लाल, [यह] अनुराग-रूपी अग्नि की ज्वालामुखी सी ज्वाला को प्रज्वलित देख कर, तुमसे मिलने की कामना कर के, [ अपने ] सुख को [ उस ज्वाला में ] होमती है ॥**

ज्वालामुखी में लोग अनेक प्रकार की कामनाएँ कर के उत्तमोत्तम शाकल्य की आहुतियाँ देते हैं ॥



**सायक[1]-सम मायक[2] नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात।**
**झखौ बिलखि दुरि जात जल[3], लखि जलजात लजात ॥ ५५ ॥**

**सायक**—इस शब्द का अर्थ अन्य टीकाकारों ने बाण किया है। पर बाण से झष के छिपने तथा जलजात के संकुचित होने का वर्णन विशेष संगत नहीं है, और न बाण के तीन रंग ही प्रसिद्ध हैं। हमारी समझ में यहाँ सायक का अर्थ सायंकाल करना उचित है। 'साय' शब्द का अर्थ सायंकाल होता है। 'सायक' शब्द को उसी में स्वार्थिक 'क' लग कर बना हुआ समझना चाहिए। अथवा 'सायक' शब्द को शायक का अपभ्रंश-रूप मान कर उसका अर्थ सुलाने वाला समय, अर्थात् सायंकाल, करना चाहिए। कवि सायंकाल की लाली से नेत्रों की लाली की उपमा देते भी हैं। स्वयं बिहारी ने भी ४१० अंक के दोहे में ऐसा किया है ॥ **मायक** = माया करने वाले। नेत्रों के पक्ष में इसका अर्थ अनेक प्रकार के हावभावादि करने वाले, और सायंकाल के पक्ष में अनेक प्रकार के रंग बदलने में निपुण होता है। सायंकाल को 'मायक' इस कारण भी कहा जा सकता है कि उस समय मायावी जन माया विशेषतः फैलाते हैं, और वह समय सुहावना भी होता है ॥ **त्रिबिध रँग** = तीन प्रकार के रंग अर्थात् श्वेत, श्याम एवं अरुण। नेत्रों में यह तीनों रंग वर्णित होते हैं, और सायंकाल के समय भी ये तीनों रंग आकाश में दिखलाई देते हैं ॥ **झखौ** = झष भी ॥ **बिलखि** = दुखी हो कर ॥ **दुरि जात जल** = जल में छिप जाते हैं। मछलियाँ दिन को आहार की खोज में इधर उधर विचरती और जल-तल पर आती जाती रहती हैं, पर सायंकाल को जल के भीतर, पृथ्वी पर, आश्रय लेती हैं ॥ **लजात** = संकुचित होते हैं। संध्या-समय कमलों का संकुचित होना प्रसिद्ध ही है ॥

**( अवतरण )—दूती नायिका को किसी जलाशय के तट पर, संकेत-स्थल में, बैठा कर और नायक के पास जा कर, उससे नायिका के नेत्रों की प्रशंसा करती हुई, उसके उक्त स्थान में स्थित होने का वृत्तांत व्यंजित करती है—**

( अर्थ )—**सायंकाल के समान मायावी, [ तथा ] तीन रंगों से रँगे हुए गात्र वाले**

---

१. साइक ( १ )। २. पाइक ( १ ), नायक ( ५ )। ३. जल-जात दुरि ( २ )।

[ उसके ] नेत्र देख कर [ उस जलाशय के ] कमल लजाते हैं, [ और ] अब भी दुःखित हो कर जल में छिप जाते हैं ॥

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि ॥ ५६ ॥

कराहि कराहि = दुःखाधिक्य से हाय हाय कर के ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका की जड़ता-दशा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ हे सखी, तू यहाँ ] खड़ी क्या कर रही है, चल कर देख [ तो कि वह ] मरी पड़ी है अथवा [ उसकी ] व्यथा टल गई है । [ वह ] बहुत कराह कराह कर [ एकाएकी ] रह गई ( चुप हो गई ) । अब [ तो उसके ] मुँह में आह [ भी ] नहीं है ॥

कहा भयौ, जौ बीछुरे, मो मनु तो मन-साथ ।
उड़ी जाउ कितै हूँ, तऊ गुड़ी उड़ाइक-हाथ ॥ ५७ ॥

गुड़ी = गुड्डी, पतंग ॥ उड़ाइक = उड़ाने वाला ॥

( अवतरण )—गणिका नायिका गाने बजाने के लिए कहीं परदेश गई है । वहाँ से अपने प्रेमी वैशिक नायक को उसने पत्र में यह दोहा लिखा है—

( अर्थ )—यदि [ हम लोग इस समय ] बिछुड़े हैं, तो क्या हुआ ; [ कोई विशेष चिंता तथा घबराने की बात नहीं है, क्योंकि ] मेरा मन [ तो ] आपके मन के साथ [ बँधा हुआ ] है । [ जब आपका मन चाहे, मुझे आकर्षित कर सकता है, जैसे ] गुड्डी ( पतंग ) किसी ओर ( चाहे कहीं ) उड़ती हुई चली जाय, तो भी [ वह ] उड़ाने वाले के हाथ में है ( वश में रहती है ) ॥

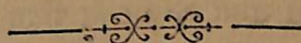
लखि, लौने लोइननु कैं कोइनु, होइ न आजु ।
कौनु गरीबु निवाजिबौ, कित तूठ्यौ रतिराजु ॥ ५८ ॥

लौने = लावण्य-युत ॥ लोइननु = लोचनों ॥ कोइनु = कोनों से । आँख की श्याम पुतली के दोनों ओर जो श्वेत भाग होते हैं, वे आँख के कोए कहलाते हैं ॥ गरीबु ( गरीब )—यह शब्द अरबी भाषा का है । इसका अर्थ नया, अज्ञात इत्यादि है । फ़ारसी तथा उर्दू में यह शब्द निर्धन तथा वश-हीन के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसी अर्थ में बिहारी ने भी इसको, इस दोहे में, लिखा है ॥ निवाजिबौ—निवाज़ शब्द फ़ारसी का है, जिसका अर्थ कृपा करना, पालना है । उसी से निवाजिबौ बना लिया गया है ॥ तूठ्यौ = तुष्ट हुआ है ॥ रतिराजु = कामदेव ॥ होइ—'लखि' का अन्वय 'होइ' से है । 'लखि होइ' का अर्थ है लक्षित होता है, देख पड़ता है ॥

१. खरी कहा ( २ ) । २. मुख ( २, ४ ) । ३. जाहु ( २ ), जात ( ४ ) । ४. कितऊ ( ५ ) । ५. गुड़ी तहूँ ( २ ) । ६. उड़ायक ( ५ ) । ७. लोयन ( ४ ) ।

( अवतरण )—कुलटा नायिका के कोयों मैं कामदेव की झलक तथा उपपति से मिलने का चाव लक्षित कर के सखी परिहास-पूर्वक कहती है—

( अर्थ )—आज [ तेरे ] लोने लोचनों के कोयों से [ यद्यपि नायक से मिलने का चाव तो प्रकट होता है, पर यह ] नहीं लक्षित होता कि किस बेचारे ( दया-पात्र ) पर तुझे कृपा करनी है, [ और ] किस पर कामदेव प्रसन्न हुआ है ॥

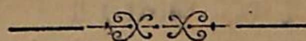


**सीतलताऽरु सुबास कौ[1] घटै न महिमा-मूरु।**
**पीनस वारैं ज्यौं[2] तज्यौ सोरा जानि कपूरु ॥ ५९ ॥**

मूरु ( मूल )=जड़, मूलधन ॥ पीनस वारैं =पीनस रोग वाले ने । पीनस एक नासा-रोग विशेष है, जिससे रोगी को गंध का अनुभव होना रुक जाता है ॥ सोरा ( शोरा )=मट्टी में से निकाला हुआ एक खारा पदार्थ ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि गुण के न जानने वाले के निरादर से गुणी के गुण की महिमा नहीं घटती—

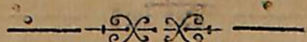
( अर्थ )—यदि पीनस रोग वाले ने कपूर को शोरा समझ कर तज दिया है ( ग्रहण नहीं किया है ), [ तो उसकी ] सीतलता और सुगंध की महिमा का मूल नहीं घटता ॥



**कागद[3] पर लिखत न बनत[4], कहत सँदेसु लजात।**
**कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात ॥ ६० ॥**

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका ने पत्री मैं अपने विरह का कुछ वृत्तांत निवेदित कर के, यह बात जताने के लिए कि जो कुछ लिखा गया है, उससे विरह-व्यथा की पूर्ण व्यवस्था विदित नहीं हो सकती, अंत मैं यह दोहा लिख दिया—

( अर्थ )—[ कंप, स्वेद, अश्रु इत्यादि के कारण ] कागज़ पर [ तो विरह-वृत्तांत ] लिखते नहीं बनता, [ और ] संदेश [ रूप से उस वृत्तांत को ] कहते ( अर्थात् किसी को दूत-रूप से तेरे पास भेजने के निमित्त उससे अपनी मार्मिक दशा कहते ) [ हृदय ] लजाता है। [ अतः मैं यही लिख कर संतोष करती हूँ कि यदि तू विचार करेगा, तो ] तेरा हृदय मेरे हृदय की सब बातें [ तुझसे ] कह देगा ( अर्थात् अपने हृदय की व्यथा से तुझको मेरे हृदय की सच्ची दशा का अनुमान हो जायगा ) ॥



**बंधु भए का दीन के, को तारयौ, रघुराइ।**
**तूठे तूठे[5] फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ[6] ॥ ६१ ॥**

( अवतरण )—भक्त का वक्र वचन भगवान् से—

१. कौ ( ५ ) । २. ज्यौं ( २ ) । ३. कागर ( १ ) । ४. बनै ( ४, ५ ) । ५. जूठे ( २ ) । ६. बुलाइ ( २ ) ।

( अर्थ )—हे रघुराइ ( रघुकुल-तिलक रामचंद्र ), [ तुम ] किस दीन के बंधु हुए, [ और तुमने ] किस [ पतित ] को तारा। [ दीन-बंधु तथा पतित-तारण, ये ] झूठे विरद कहला कर [ तुम ] तूठे तूठे ( प्रसन्न हुए ) फिरते हो॥

अभिप्राय यह है कि जिनके आप बंधु हुए, वे वास्तव में दीन और दुखी नहीं थे, पूरा दीन-दुखी तो मैं हूँ, तथा जिनको आपने तारा, वे पूर्ण पतित नहीं थे, सच्चा पतित तो मैं हूँ। अतः ऐसे लोगों के बंधु हो कर दीन-बंधु तथा ऐसे लोगों को तार कर पतित-तारण कहलाना, और ऐसे कामों पर इन विरदों से तुष्ट होना तो झूठी प्रशंसा से फूल उठने के समान है। सच तो यह है कि ये विरद आप पर तब फबैं, जब आप मुझ महा दीन के बंधु बनें और मुझ घोर पापी को तारें॥

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाँहि॥ ६२॥

वै=वे नायक॥ सुधि कीजियै=स्मरण किए जाते हैं॥ सुधि=चेतनाएँ॥

( अवतरण )—वियोगिनी नायिका अपनी दशा सखी से कहती है—

( अर्थ )—जब जब वे [ नायक ] स्मरण किए जाते हैं, तब तब सब चेतनाएँ जाती रहती हैं। [ उनकी ] आँखों [ के ध्यान ] में [ मेरे हृदय की ] आँखें लगी रह जाती हैं, [ और ] आँखें नहीं लगतीं ( नींद नहीं आती )॥

यह विरही नायक का वचन स्वगत अथवा अपने अंतरंग सखा से भी हो सकता है॥

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौ लेत हैं ऐ बदरा बदराह॥ ६३॥

बदाबदी=कह बद कर, खुल्लमखुल्ला॥ बदराह—यह फ़ारसी का समस्त पद है। इसका अर्थ कुमार्गगामी, दुर्वृत्त, बदमआश है। यहाँ इसका अर्थ डाकू है॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, ] नाह ( नाथ, प्राणनाथ ) ने [ तो अपनी थाती अर्थात् मेरे प्राण ] की सुरति ( स्मृति ) विस्मृत कर दी, [ और ] ये बदराह बादल बदाबदी [ वह ] प्राण [ लूटे ] लेते हैं। [ ऐसी दशा में उस थाती को बचाने के लिए मैं ] किसे पुकारूँ, [ और उसका स्वामी तो यहाँ है ही नहीं, अतएव मेरी पुकार ] कौन सुने॥

मैं हो जान्यौ, लोइननु जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु, दीठि कौं दीठि किरकिटी होति॥ ६४॥

किरकिटी=किरकरी, जो आँखों में पड़ कर पीड़ा देती है॥

१. तबै सबै ( २ )। २. रहै ( १ )। ३. ज्यौ ( ४ ), ज्यो ( ५ )। ४. दीठि ( २ )। ६. करकटी ( ५ )।

( अवतरण )—पूर्वानुराग में नायक अथवा नायिका का वचन स्वगत अथवा सखा या सखी से—

( अर्थ )—मैंने [ तो ] जाना था कि आँखों के मिलने से ( दो और दो चार हो जाने से ) ज्योति बढ़ेगी ( प्रसन्नता होगी ) । [ यह ] कौन जानता था [ कि ] दृष्टि के निमित्त दृष्टि किरकिटी हो जाती है ( अर्थात् मैंने तो समझा था कि उसके देखने से आनंद होगा, पर आँख से आँख लग जाने से अब तो दुःख से आँसू बहा करता है, जैसे किरकिटी पड़ जाने से आँखों से पानी बहता है ) ॥

---

**गहकि, गाँसु औरै गहे, रहे अधकहे बैन ।**
**देखि खिसौंहैं पिय-नयन किए रिसौंहैं नैन ॥ ६५ ॥**

**गहकि**=उमग कर ॥ **गाँसु** ( ग्रास )=पकड़ । किसी की ओर से, उसके अपराध के कारण, चित्त में पड़ी हुई आँट ॥ **खिसौंहैं**=अपराध से संकुचित ॥ **रिसौंहैं** ( रोषोन्मुख )=रिसाए हुए से ॥

( अवतरण )—नायक प्रातःकाल नायिका के घर आया । नायिका पहिले तो उमंग के साथ अपनी प्रेम-कहानी कहने लगी, किंतु शीघ्र ही नायक के नेत्र खिसियाए हुए देख कर, और उनसे उसका रात को अन्य स्त्री के यहाँ रहना निश्चित कर के, उसने आँखें चढ़ा लीं । इसी लिए दूसरा ही भाव उदय हो जाने के कारण उसके वचन अधकहे ही रह गए । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ नायिका के ] वचन उमग कर, और ही गाँस से गहे हुए, अधकहे [ ही ] रह गए । [ उसने ] प्रियतम के नयन खिसौंहैं देख कर [ अपने ] नयन रिसौंहैं कर लिए ॥

---

**मैं तोसौं कैवा कह्यौ, तू जिन इन्हैं पत्याइ ।**
**लगालगी करि लोइननु उर मैं लाई लाइ ॥ ६६ ॥**

**कैवा**=के बार ॥ **जिन**=मत ॥ **पत्याइ**=विश्वास कर ॥ **लगालगी**=लगाव-बझाव, मेलजोल ॥ **लाइ**=लाग, घर में चोरों के पहुँचने की घात । और टीकाकारों ने इसका अर्थ अग्नि किया है । पर यहाँ, 'पत्याइ' तथा 'लगालगी' शब्दों पर ध्यान देने से, इसका अर्थ लाग ही करना उचित प्रतीत होता है ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग में विकल नायिका से सखी कहती है—

( अर्थ )—मैंने तुझसे कै बार कहा [ कि ] तू इन [ लोचनों ] का विश्वास मत कर ( यह विश्वास मत कर कि ये नयन मेरे अंग हैं, किसी से मिल कर मुझे हानि न पहुँचावेंगे ) ; [ पर तूने नहीं माना, और इनको नायक से मिलने जुलने दिया, जिसका परिणाम अंत को यह हुआ कि ] लोचनों ने [ उस चितचोर से ] लगालगी ( मिलाप ) कर के [ तेरे ] उर में [ उसके पैठने के लिए ] लाइ ( लाग ) लगा दी [ जिससे तेरे चित्त की चोरी हो गई ] ॥

---

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैँ न।
हरिनी के नैनानु तैँ, हरि, नीके ऐं नैन ॥ ६७ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका के नेत्रोँ की प्रशंसा करती है—

( अर्थ )—हे हरि, ये नयन ( इस नायिका के नयन ) [ तो ] हरिणी के नयनों से [ भी ] अच्छे हैं। [ इन्होंने तो ] मदन के बाणोँ को [ भी ] बरबस जीत लिया है। मैंने [ तो ] ऐसे [ नयन कभी ] नहीँ देखे ॥

थोरैँ ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि ॥ ६८ ॥

( अवतरण )—कवि, इस दोहे मैँ, श्रीकृष्णचंद्र को अपने पर न रीझने का उलाहना देता हुआ, बड़ी चातुरी से, अपने समय के दानियोँ की अगुणग्राहकता तथा अपना गुणाधिक्य व्यंजित करता है—

( अर्थ )—हे श्रीकृष्ण, [ पहिले तो तुम ] थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे, [ पर अब तुमने ] वह बान ( प्रकृति ) बिसरा दी ( भुला दी ); मानो तुम [ परम उदार हो कर ] भी आजकल के [ कृपण ] दानी हो गए हो ॥

'थोरे ही गुन रीझते' तथा 'भए आजकाल्हि के दानि', इन खंड-वाक्योँ से व्यंजित होता है कि पहिले तो तुम थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे, पर अब यद्यपि मुझमैँ बहुत गुण है, तथापि उस पर तुम नहीँ रीझते, जैसे कि आजकल के दानी कितना ही गुण हो पर उसका आदर नहीँ करते ॥

अंग-अंग-नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह ॥ ६९ ॥

बढ़ाएँ=बुझाने पर। दीपक बढ़ाना दीपक बुझाने के अर्थ मैँ शिष्ट प्रयोग है ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की छवि की प्रशंसा करती है—

( अर्थ )—[ उसके ] अंग अंग के [ आभूषणोँ के ] नग [ उसकी ] दीपसिखा सी देह से जगमगाते हैं। [ अतः ] दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला ( प्रकाश ) रहता है ॥

जिस घर मैँ बहुत से दर्पण लगे रहते हैँ, उसमैँ एक ही दीपक रखने से, सब दर्पणोँ मैँ उसका प्रतिबिंब पड़ने के कारण, बहुत प्रकाश हो जाता है ॥

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता-रंग ॥ ७० ॥

दीपति (दीप्ति)=चमक, झलक। यह पद 'दिपति' क्रिया का कर्ता है ॥ देह=देह मैँ ॥ दुहूनु=दोनोँ

१. यै ( २ ), ये ( ४ )। २. सँग जगति ( १ )। ३. उजारौ ( २, ५ )। ४. की ( ५ )। ५. होत ( ५ )।

से ॥ **ताफता-रंग** = ताफ़ते के रंग वाली, अथवा ताफ़ता की भाँति । ताफ़ता एक प्रकार का रेशमी कपड़ा होता है, जिसका ताना और रंग का तथा बाना और रंग का होता है । दोनों रंगों के मेल से उसमें दोनों रंगों की झलक लहराती है । यह शब्द फ़ारसी भाषा का है । भारती भाषा में इसको धूपछाँह कहते हैं ॥

( अवतरण )—नायिका की वयःसंधि का वर्णन सखी-द्वारा नायक से, अथवा नायक-द्वारा स्वगत—

( अर्थ )—[ अभी उसके शरीर में से ] शिशुता ( लड़कपन ) की झलक नहीं छूटी है ( लड़कपन तो चला गया है, पर उसकी आभा रह गई है ), [ और ] जोबन अंग में झलक आया है ( जोबन आया तो नहीं है, पर आभा देने लगा है ) । दोनों [ झलकों ] से मिल कर [ उसकी ] देह में ताफ़ते के रंग की दीप्ति दीपती ( चमकती ) है ॥

**कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ ।**
**तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ॥ ७१ ॥**

**जग-बाइ**—संसार की वायु, अर्थात् संसार का बुरा प्रभाव ॥

( अवतरण )—इस दोहे में भी बिहारी ने श्रीकृष्णचंद्र को उलाहना देते हुए जगत् के रंग-ढंग पर कटाक्ष किया है—

( अर्थ )—हे श्याम, [ मैं ] कब का ( बहुत समय से ) दीन रट ( दीनता से भरी हुई रट ) से [ तुमको ] टेर ( पुकार ) रहा हूँ, [ पर तुम ] सहाय नहीं होते । [ ज्ञात होता है कि ] तुमको भी, हे जगद्गुरु ! जगन्नायक ! जगत् की हवा ( प्रभाव ) लग गई है [ अर्थात् निर्दय संसार-निवासियों का प्रभाव तुम पर भी पड़ गया है, यद्यपि यह बात न होनी चाहिए थी । क्योंकि गुरु तथा नायक का प्रभाव शिष्यों तथा सामान्य जनों पर पड़ना चाहिए, पर यह उलटी बात हुई कि उनका प्रभाव तुम, जगद्गुरु तथा जगन्नायक, पर पड़ा ] ॥

**सकुचि न रहियै, स्याम, सुनि ए सतरौंहैं बैन ।**
**देत रचौंहौं चित कहे नेह-नचौंहैं नैन ॥ ७२ ॥**

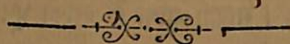
**सतरौंहैं** = तनेने, कड़े, रोष-भरे ॥ **रचौंहौं** = रचने पर आया हुआ, अनुराग की ओर ढला हुआ ॥ **नेह-नचौंहैं** = स्नेह से चंचल हुए, स्नेह-भाव उदय होने के कारण एकटक पृथ्वी की ओर देखना छोड़ कर चंचलता से, बीच बीच में, नायक की ओर जाते हुए ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका को मनाते मनाते नायक कुछ दुखी सा हो गया है । सखी, यह सोच कर कि वह कहीं विशेष दुखी हो कर चला न जाय, उसका उत्साह बढ़ाने तथा नायिका को हँसा देने के निमित्त यह दोहा कहती है । जैसे, रूस कर मुँह फुलाए हुए बैठे मनुष्य से, उसे हँसा देने के लिए, लोग प्रायः कहते हैं कि "यह देखो, अब नाक पर हँसी आई", और ऐसे वाक्यों से वह बहुधा हँस भी देता है—

( अर्थ )—हे घनश्याम, [ आप इसके ] ये सतरौंहैं वचन सुन कर संकुचित न हो रहिए ( निराश हो कर मनाना छोड़ न बैठिए ) । [ देखिए, अब उसके ] नेह से नचौंहैं

१. रत ( ४ ) । २. नायक ( ४, ५ ) । ३. रिसरौंहैं ( २ ) ।

[ हुए ] नयन [ उसके ] चित्त का रचौंहाँ होना कहे ( प्रकाशित किए ) देते हैं। [ तात्पर्य यह है कि कुछ देर और मनाइए, तो यह अवश्य मान जायगी ] ॥

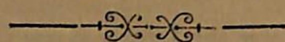


पत्रा हीँ तिथि पाइयै[1] वा[2] घँर कैँ चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौँई[3] रहै[4] आनन-ओप-उजास ॥ ७३ ॥

पत्रा = तिथि-पत्र ॥ चहुँ पास = चारों ओर ॥ पून्यौँ = पूर्णिमा ॥

( अवतरण )—नायिका के मुख की प्रशंसा सखी नायक से करती है, अथवा नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ तिथि के जानने के दो साधन हैं—एक तो तिथि-पत्र, और दूसरा चंद्रमा के उजास होने का समय। पर ] उस [ नायिका ] के घँर के आसपास [ केवल ] पत्रे ही से तिथि पाई ( जानी ) जाती है, [ क्योंकि वहाँ तो ] मुख की चमक के उजाले से नित्यप्रति पूर्णिमा ही रहती है ( रात भर चाँदनी का सा प्रकाश रहता है, ) [ जिससे किस समय चाँदनी का उजाला आरंभ हुआ, यह लक्षित नहीँ होता ] ॥

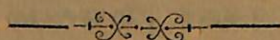


बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सियलौँ[5] सोधति तिय तनहिँ लगनि-अगनि की ज्वाल ॥ ७४ ॥

सकोच ( संकोच ) = लज्जा, कुलकानि का विचार ॥ दसबदन ( दशवदन ) = दस मुँह वाला, अर्थात् रावण। यहाँ रावण का और नाम न रख कर 'दसबदन' इसलिए रक्खा गया है कि संकोच दसों दिशाओं से, अर्थात् दस मुख वाला हो कर, नायिका को अपने वश में किए हुए है। उसको नायक से मिलने नहीँ देता ॥ सिय = सीता ॥ सोधति = तपा कर शुद्ध प्रमाणित करती है ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की दशा सखी नायक से कहती है कि अब तक तो वह संकोच के वश मेँ पड़े रहने के कारण आपसे मिल न सकी और अपने अनुराग को छिपाए रही, पर अब शनैः शनैः प्रेम के बढ़ जाने के कारण संकोच उसको दबा नहीँ सकता, और उसका विरहाग्नि से संतप्त होना प्रकट हो गया है, जिससे प्रमाणित होता है कि आप पर उसका प्रेम पूर्ण तथा सच्चा है—

( अर्थ )—[ इतने दिनों तक ] संकोच-रूपी दशवदन के वश में बस कर, [ और आपसे मिलने में तथा अपना प्रेम-परिचय देने में असमर्थ रह कर, अब वह ] बाला [ अपने प्रेम का ] सच्चापन दिखलाती है, [ क्योंकि अब वह ] स्त्री [ संकोच के वश के बाहर हो कर अपने ] शरीर को विरहाग्नि की ज्वाला से, सीताजी की भाँति, सोधती है ( तपाती है, अर्थात् संकोच के वश में रहने का प्रायश्चित्त करती है ) ॥



---

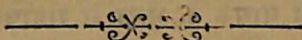
१. पाइयतु ( ५ ) । २. या ( २ ) । ३. ग्रह ( ४ ) । ४. रहैँ ( १ ), रहति ( २ ) । ५. ज्यौँ ( २ ) ।

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन ।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक हूँ की न ॥ ७५ ॥

**जुगति** ( युक्ति ) = उपाय ॥ **सजन** ( सज्जन अथवा स्वजन ) = अपना प्यारा ॥ **धरक** = डर ॥

( अवतरण )—उद्धवजी से गोपियों का वचन—

( अर्थ )—यदि [ मुक्ति ] प्रियतम-प्राप्ति की युक्ति नहीं है ( अर्थात् प्रियतम-प्राप्ति की युक्ति के अतिरिक्त कोई और वस्तु है ), [ तो हमने ऐसी ] मुक्ति के मुँह में धूल झोंकी ( अर्थात् ऐसी मुक्ति से हम बाज़ आईं ); [ और ] यदि प्रियतम संग में प्राप्त हो, तो [ हमको ] नरक की भी धड़क नहीं है ॥

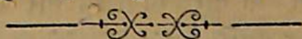


चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि ।
ए जिहिँ रति, सो रति मुकति; और मुकति अति हानि ॥ ७६ ॥

**चमक** = चौंक, अंगों को एकाएकी, शीघ्रता से, चंचल करना ॥ **तमक** = उत्तेजित होना ॥ **ससक** = सिसकी ॥ **मसक** = अंगों को दबाना, मर्दन करना ॥

( अवतरण )—कोई कामी रति की प्रशंसा करता है—

( अर्थ )—जिस रति में चमक, तमक इत्यादि [ भाव ] हों, वह रति [ ही ] मुक्ति ( परमानंददायिनी ) है । अपर मुक्ति [ तो ] अति हानि ( पूर्ण विनाश ) [ मात्र ] है ॥



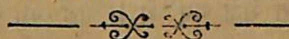
मोहूँ सौँ तजि मोहु, दृग चले लागि उहिँ गैल ।
छिनकु छ्वाइ छबि-गुर-डरी छले छबीलैँ छैल ॥ ७७ ॥

**गैल** = मार्ग । इसका प्रयोग साथ के अर्थ में भी होता है ॥ **गुर-डरी** = गुड़ की डली ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—क्षण मात्र छवि-रूपी गुड़ की डली छुआ कर [ उस ] छबीले छैल के द्वारा छले ( ठगे ) गए [ मेरे ] दृग, मुझसे भी मोह छोड़, उसी की गैल ( साथ ) लग कर चले ॥

एक वशीकरण-प्रयोग में गुड़ की डली अभिमंत्रित कर के काम में लाई जाती है । यह जिसको खिला अथवा छुआ दी जाती है, वह खिलाने अथवा छुआने वाले के वशीभूत हो कर उसके संग हो लेता है । यह प्रयोग प्रायः ठग लोग करते हैं ॥



कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार ।
कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितँवति नंदकुमार ॥ ७८ ॥

**मंजनु** = स्नान ॥ **ब्यौरति** = सुलझाती है ॥ **कच** = बाल ॥

---

१. जुगति ( ४ ) । २. मुकुति ( ४ ) । ३. रति ( ४ ) । ४. गरुड़ की ( ५ ) । ५. छरे ( २ ) । ६. मंजनु करि खंजन-नयनि ( २ ) । ७. चितवत ( २, ४, ५ ) ।

( अवतरण )—नायिका की क्रिया-विदग्धता का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ देखो, यह ] कंज-नयनी स्नान किए, बैठी [ अपने ] बाल सुलझा रही है, [ और इसी व्याज से अपने ] बालों तथा उँगलियों के बीच से दृष्टि दे ( डाल ) कर नंदकुमार को देख रही है ॥

---

पावक सो नयनँनु[1] लगै[2] जावकु[3] लाग्यौ भाल।
मुकुरु[4] होहुगे नैंक मैं, मुकुरु बिलोकौ[5], लाल ॥ ७९ ॥

पावक = अग्नि ॥ जावक = महावर ॥ मुकुरु = मुकरने वाले ॥ मुकुरु = दर्पण ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका नायक के भाल मैं महावर लगा देख कर कहती है—

( अर्थ )—हे लाल, [ तुम्हारे ] भाल में लगा हुआ महावर [ मेरे ] नयनों में पावक सा लगता है। [ तुम अभी ] दर्पण देख लो, [ नहीं तो ] नैंक मैं ( थोड़ी देर में, जब यह मिट जाएगा तो ) मुकर जाओगे ( कहने लगोगे कि मेरे भाल में महावर लगा ही नहीं था ) ॥

---

रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि, लाखँनु[6] की फौज।
जाँचि निराखरऊँ[7] चलै लै लाखनु की मौज ॥ ८० ॥

**लाखनु**—यह शब्द इस दोहे में दो बार आया है, और दोनों ही स्थानों पर टीकाकारों ने इसे संख्या-वाचक लाख का बहुवचन माना है। हमारी समझ में, दोहे के पूर्वार्द्ध में, यह किसी का नाम है, जिसकी सेना जयशाह की सेना देख कर भागी थी, और उत्तरार्द्ध में यह संख्या-वाचक लाख का बहुवचन है। दोनों स्थानों में इसे संख्या-वाचक मानने से दोहे में एक प्रकार का पुनरुक्ति दोष आ जाता है। अब रह गई यह बात कि 'लाखनु' कौन व्यक्ति था, इसका संतोषजनक पता नहीं मिलता। संभवतः वह कोई सामान्य राजा, अथवा किसी राजा का सेनापति, था। इसी लिए उसके नाम का पता इतिहास से नहीं चलता। 'मआसिरुलउमरा' से एक लक्खी जादो का पता लगता है, जो दक्खिन में दौलताबाद सरकार के सँदखेर का देशमुख, और निज़ामुशाही राज्य का एक बड़ा मंसबदार था। यही लक्खी जादो छत्रपति महाराज शिवाजी का नाना था। शाहजहाँ के राज्यकाल के आरंभ में मिर्ज़ा राजा जयशाह खानजहाँ लोदी के साथ दक्खिन में थे। संभव है, उस समय उनसे और लक्खी जादो से सामना हुआ हो। इसके अतिरिक्त उन्हीं दिनों, आगरे के निकट, महावन के जाटों ने बहुत सिर उठाया था और मिर्ज़ा राजा जयशाह, दक्खिन से लौटने पर, क़ासिम ख़ाँ के साथ उनका दमन करने के निमित्त भेजे गए थे। यह भी बहुत संभव है कि उन जाटों के किसी सरदार का नाम लाखनुसिंह रहा हो ॥ **निराखर** ( निरक्षर ) = विना पढ़ा-लिखा अर्थात् मूर्ख ॥ **मौज**—मौज अरबी भाषा में तरंग तथा लहर को कहते हैं। भाषा में इसका प्रयोग उमंग अथवा उत्साह के अर्थ में होता है। और, उमंग से दिए हुए दान के अर्थ में भी कवि इसका प्रयोग करते हैं। इस दोहे में यह इस पिछले ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥

---

१. से ( ४ ), सम ( ५ )। २. लोचन ( ४ )। ३. लसे ( ४ )। ४. मुकरु ( १ ), मुकर ( २ )। ५. बिलोकहु ( ४ )। ६. लाखुन ( ५ )। ७. हू ( ४ )।

( अवतरण )—इस दोहे में कवि राजा जयशाह की युद्धवीरता तथा दानवीरता दोनों की प्रशंसा करता है—

( अर्थ )—जयशाह का मुख देख कर लाखनु की सेना रणभूमि में नहीं रहती ( नहीं ठहरती, अर्थात् भाग जाती है ), [ और जयशाह से ] जाँच कर ( माँग कर ) [ पंडितों और गुणियों की कौन कहे, ] मूर्ख भी लाखों [ रुपयों ] का दान ले कर चलता है ( घर लौटता है ) ॥

दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अएरि ।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥ ८१ ॥

आछी भाँति = अच्छी रीति से, प्रसन्नता-पूर्वक ॥ अएरि = अंगीकार कर के ॥

( अवतरण )—किसी विपत्ति-ग्रस्त को दुखी देख कर कोई समझाता है—

( अर्थ )—[ ईश्वर ने जो दुःख अथवा सुख तुझको ] दिया है, उसे, अच्छी भाँति अंगीकार कर के, सीस चढ़ा ले ( सिर माथों पर धर ) । जिससे [ तू ] सुख लेना चाहता है, उसके [ दिए हुए ] दुःख को फेर मत ( अस्वीकृत मत कर ) ॥

तरिवन-कनकु कपोल-दुति बिच बीच हीं बिकान ।
लाल लाल चमकतिं चुनीं चौका-चीन्ह-समान ॥ ८२ ॥

तरिवन = तरौना, ताटंक, तालपर्ण ॥ चौका—आगे के चार दाँतों को चौका कहते हैं ॥ चीन्ह ( चिह्न ) = निशान ॥

( अवतरण )—अन्यसंभोगदुःखिता नायिका, नायक के पास से लौट कर आई हुई दूती के कपोलों पर दाँतों का चिह्न देख कर, चातुरी से, व्यंग्य-वचन-द्वारा, कहती है कि ये तरौनों की चुन्नियाँ दाँतों के चिह्न के समान चमक रही हैं, वास्तव में ये दाँतों के चिह्न नहीं हैं। जो कहो कि तरौने तो हैं ही नहीं, फिर ये चुन्नियाँ कहाँ से आईं, तो इसका समाधान यह है कि तरौनों का सोना तो बीच बीच में से सुनहले कपोलों की चमक में समा गया है, अतः केवल चुन्नियाँ ही देख पड़ती हैं। यह दोहा लक्षिता नायिका से सखी का व्यंग्य-वचन भी हो सकता है—

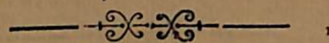
( अर्थ )—[ तेरे ] तरौने का सोना [ तो सुनहले ] कपोल की द्युति में बीच बीच ही से बिक गया ( लुप्त हो गया है ) । [ पर तरौने में जड़ी हुई ] चुन्नियाँ दाँतों के चिह्न के समान लाल लाल चमक रही हैं ॥

मोहि दयौ, मेरौ भयौ, रहतु जु मिलि जिय साथ ।
सो मनु बाँधि न सौंपियै, पिय, सौतिनि कैं हाथ ॥ ८३ ॥

१. जापै चाहत सुख लहे ( ४ ) । २. चाहे ( २ ) । ३. लयो ( ५ ) । ४. बिच बिच हीर ( ५ ) । ५. चिन्ह ( २, ५ ) ।

( अवतरण )—सपत्नी पर नायक की प्रीति होते देख कर नायिका विनय करती है—

( अर्थ )—मुझको दिया हुआ [ तथा ] मेरा हो चुका हुआ [ मन ] जो [ मेरे ] जी के साथ मिल कर रहता है, अथवा जो मिल कर ( जिसके मिलने के कारण ) [ मेरा ] जी [ मेरे ] साथ रहता है, उस मन को बाँध कर ( बरबस ), हे प्रियतम, सपत्नी के हाथ में मत सौंपिए [ क्योंकि मेरा जी उससे ऐसा मिल गया है कि उसके साथ वह भी चला जायगा ] ॥

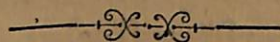


**कुंज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर ।**
**फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर ॥ ८४ ॥**

( अवतरण )—उपपति ने परकीया के साथ रात भर कुंज-भवन में विहार किया है, और सवेरा होने पर भी वह प्रेमाधिक्य के कारण उसको अंक में भरे हुए है । नायिका कुलकानि के भय से नायक का ध्यान प्रातःकाल होने पर दिला कर घर चलने का प्रस्ताव करती है—

( अर्थ )—हे नंदकिशोर, [ अब ] कुंज-भवन को छोड़ कर भवन को चलिए । [ देखिए, ] गुलाब की कली फूल रही है, [ और उसकी ] चारों ओर चटकाहट [ हो रही है ] ॥

गुलाब प्रातःकाल फूलता है, और फूलने के समय कलियों के चटकने से चटचट शब्द होता है । इस चटकाहट का वर्णन बहुत से कवियों ने किया है ॥

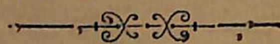


**कहति न देवर की कुबत कुल-तिय कलह डराति ।**
**पंजर-गत मंजार-ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति ॥ ८५ ॥**

कुबत = बुरी बात, खुटाई ॥ पंजर-गत = पिंजड़े में पड़े हुए ॥ मंजार-ढिग = बिल्ले के समीप स्थित ॥

( अवतरण )—देवर अपनी भौजाई से अनुचित प्रेम करना चाहता है । पर भौजाई पतिव्रता तथा सुशीला है, अतः बड़ी चिंतित है । यदि वह देवर की खुटाई नहीं कहती, तो उसे भय है कि कहीं, अवसर पा कर, वह उसको आलिंगन इत्यादि न कर ले, और यदि कहती है, तो भाई भाई में तथा देवर देवरानी में कलह होता है । इसी अड़चल में पड़ी हुई वह सूखती जाती है । उसकी इस दशा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ वह ] कुलवधू ( सुशीला, पतिव्रता ) कलह से डरती हुई देवर की खोटी बात नहीं कहती ( विदित नहीं करती ), [ और ] बिल्ले के पास स्थित पिंजरे में बंद सुग्गे की भाँति [ दिन दिन ] सूखी जाती है ॥



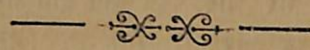
**औरै भाँति भएँ ऽब ए चौसरु, चंदनु, चंदु ।**
**पति-बिनु अति पारतु बिपति मारतु मारुतु मंदु ॥ ८६ ॥**

१. कुमति ( ४ ) । २. कुलाहि ( २, ४ ) । ३. लजाइ ( ४ ) । ४. लौं ( ५ ) । ५. जाइ ( ४ ) । ६. नए ( २ ) ।

अब = अब ॥ चौसर = मोतियों अथवा फूलों का चौलड़ा हार ॥ पारतु = डालता है ॥

( अवतरण )—विरह-ताप से पीड़ित नायिका का ताप सखी फूलों के गजरे, चंदन, चाँदनी एवं मंद पवन से छुड़ाया चाहती है, क्योंकि इन पदार्थों से उसको संयोगावस्था में परम सुख मिलता था। उससे नायिका कहती है—

( अर्थ )—[ हे सखी, ] अब [ तो ] ये चौसर, चंदन, [ तथा ] चंद और ही भाँति के हो गए हैं ( सुखदायी न रह कर दुःखदायी हो गए हैं ), [ और ] पति के विना ( विरह में ) अति विपत्ति डालता हुआ ( अति उद्दीपन करता हुआ ) मंद मारुत [ तो ] मारे [ ही ] डालता है ॥

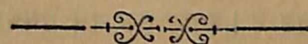


**चलन न पावतु निगम-मगु[1] जगु, उपज्यौ अति त्रासु ।**
**कुच-उतंग-गिरिबर गह्यौ[2] मैना मैनु मवासु ॥ ८७ ॥**

**निगम-मगु** = ( १ ) वेद-मग अर्थात् धर्म-पथ । ( २ ) वणिक्-पथ ॥ **त्रासु** = भय, डर ॥ **मैना** = राजपूताने के जंगलों में एक जाति के मनुष्य रहते हैं, जो कि मैना अथवा मीना कहलाते हैं । उनका काम प्रायः डाका डालना और लूटना है ॥ **मवासु** = दृढ़ निवास ॥

( अवतरण )—नायिका के कुचों की अति कामोद्दीपिनी शोभा का वर्णन नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—कुच-रूपी उतंग ( ऊँचे ) गिरिवर ( पहाड़ ) पर मदन-रूपी मैना ने [ अपना ] दृढ़ स्थान जमाया है । [ अतः ] बड़ा भय उत्पन्न हो रहा है, [ और ] जगत् धर्मपथ-रूपी वणिक्-पथ नहीं चलने पाता ॥



**त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर[3] सिर ढकि, सकुचि, समाहि ।**
**गली, अली की ओट कै[5], चली भली बिधि चाहि ॥ ८८ ॥**

**सकुचि**—यहाँ इसका अर्थ संकोच का मिष कर के होता है ॥ **कर सिर ढकि** = हाथ को सिर ढाँकने के निमित्त उठा कर ॥ **समाहि** = सामना कर के । इसका अर्थ टीकाकारों ने प्रायः 'समा कर' किया है, जो ठीक नहीं है ॥ **अली की ओट कै** = सखी की आँखों की ओट, अर्थात् बचाव, कर के ॥

( अवतरण )—नायक को देख कर नायिका ने जो मनोहारिणी तथा अपना अनुराग प्रकट करने वाली चेष्टा की, उसका स्मरण अथवा वर्णन नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ वह मेरा ] सामना कर, संकुचित हो ( संकुचित होने का व्याज कर ), हाथ से सिर ढाँक ( सिर ढाँकने के निमित्त हाथ उठा ), [ और इस क्रिया से अपनी ] त्रिबली, [ तथा ] नाभी दिखला, सखी की ओट कर के ( सखी की आँखें बचा कर ) [ मुझे ] भली भाँति ( आँखें भर के ) देख कर गली में चली ॥

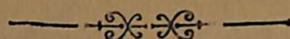
इस दोहे का अन्वय कुछ कठिन है । इसका भावार्थ यह है कि मेरा सामना होने पर उसने,

---

१. मनु ( १ ) । २. गहे ( ४ ), गहैं ( ५ ) । ३. करि ( २, ४ ) । ४. अली गली ( ५ ) । ५. है ( ४, ५ ) ।

संकोच के कारण घूँघट करने के मिष से, हाथ उठा अपनी मनोहर त्रिवली तथा नाभी मुझे दिखलाई, और फिर सखी की आँखें बचा, मेरी ओर आँखें भर के देख कर गली में चली गई ॥

इस दोहे के भाव से ४२४ अंक के दोहे, का भाव मिलता है ॥

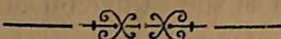


**देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन, लाल ।**
**छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ॥ ८९ ॥**

**बुरै**=उरा कर । किसी वस्तु के धीरे धीरे व्यय होते होते समाप्त हो जाने को बुराना, उराना अथवा ओराना कहते हैं । यह शब्द संस्कृत शब्द 'वर', से बना है, जिसका अर्थ, रोक, ठहराव इत्यादि है । लेखकों तथा टीकाकारों ने इस शब्द के, न समझने के कारण, अनेक पाठांतर कर लिए हैं, पर दो प्राचीन पुस्तकों में इसका यही शुद्ध पाठ मिला है ॥ **उपै जाइ**=उड़ जाय, लुप्त हो जाय ॥ **बाल**=बाला ॥

( अवतरण )—सखी नायिका के विरह में क्षीण होने का वर्णन नायक से करती है—

( अर्थ )—हे लाल, [ वह ] छबीली बाला क्षण क्षण में अत्यंत क्षीण ( दुबली ) होती जाती है । [ इसलिए डर है कि कहीं ] देखते देखते कपूर की भाँति उरा कर उड़ न जाय ( सर्वथा लुप्त न हो जाय ) ॥



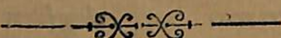
**हँसि, उतारि हियै तैं, दई तुम जु तिहिँ दिनाँ, लाल ।**
**राखति प्रान कपूर ज्यौं वहै चुहुँटिनी-माल ॥ ९० ॥**

**चुहुटिनी**—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है । इसका एक अर्थ घुँघची और दूसरा अर्थ पकड़ने वाली है । दूसरा अर्थ पहिले अर्थ का विशेषण हो कर इस शब्द को साभिप्राय बना देता है, अर्थात् इसका अर्थ पकड़ रखने वाली घुँघची कर देता है । इसी प्रकार का प्रयोग बिहारी ने ६६० अंक के दोहे में भी किया है ॥

( अवतरण )—सखी वचन नायक से—

( अर्थ )—हे लाल, तुमने जो उस दिन हँस कर, [ और अपने ] उर से उतार कर दी थी, वही चुहुटिनी ( पकड़ रखने वाली घुँघची ) की माला [ उसके ] प्राणों को कपूर की भाँति रखती है ( रक्षित किए रहती है, अर्थात् उड़ने नहीं देती ) ॥

कपूर के डब्बे में बहुधा लोग घुँघची, काली मिर्च अथवा लवंग रख देते हैं, क्योंकि इन वस्तुओं के रख देने से कपूर शीघ्र नहीं उड़ता ॥



**कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।**
**मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ॥ ९१ ॥**

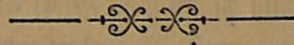
**कोरिक** ( कोटिक ) = करोड़ के अनुमान ॥ **संग्रहौ** = बटोरो, जोड़ो ॥ **लाख हजार** = दस करोड़ ॥

---

१. दुरै ( २ ), चूर ( ४ ) । २. लौ ( ५ ) । ३. उर ( ४ ) । ४. जो ( ४ ) । ५. ता ( ४ ) । ६. दिन ( ४ ) । ७. लौं ( ५ ) । ८. चुहटनी ( २ ), गुंजा की ( ४ ), चिहुटनी ( ५ ) ।

अवतरण )—किसी संतोषी भक्त का वचन स्वगत अथवा किसी मित्र से—

( अर्थ )—[ चाहे ] कोई करोड़ [ की संपत्ति ] संग्रह करै, [ चाहे ] कोई दस करोड़ [ की ], मेरी संपत्ति [ तो ] सदा विपत्ति के विदारण करने वाले यदुपति ( श्रीकृष्ण भगवान् ) हैं [ मुझे और किसी संपत्ति की कुछ आकांक्षा नहीं है ] ॥



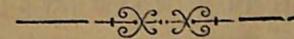
द्वैज-सुधादीधिति-कला वह लखि, दीठि[1] लगाइ।
मनौ अकास-अगस्तिया[2] एकै कली लखाइ ॥ ६२ ॥

**सुधा-दीधिति**=चंद्रमा ॥ **दीठि लगाइ**=दृष्टि लगा कर अर्थात् ध्यान दे कर ॥ **अगस्तिया** ( अगस्तिका )=अगस्ति वृक्ष, जो कि शरदागम में कलियाना आरंभ करता है ॥

( अवतरण )—नायक और नायिका ने शरदागम के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को, चंद्रास्त के समय, किसी अगस्त्य के वृक्ष के पास मिलने का संकेत बद रक्खा है। आज वही दिन है। चंद्रमा दर्शन दे कर अस्ताचल को जा रहा है। नायक की दूती नायिका के पास आ, और उसको गुरुजनों में बैठी देख, द्वैज का चंद्रमा दिखलाने के व्याज से, उसको नियत दिन का ध्यान दिलाती है, और चंद्रमा की उपमा अगस्त्य की कली से दे कर संकेत-स्थल का स्मरण कराती है—

( अर्थ )—दृष्टि लगा कर [ तू ] वह द्वैज के चंद्रमा की कला देख, [ जो ऐसी शोभित है ] मानो आकाश-रूपी अगस्त्य के वृक्ष में एक ही कली दिखलाई देती है ॥

अगस्त्य शरदागम के आरंभ में फूलता है। वह समय बड़ा सुखद माना जाता है। "अगस्त्य में मानो एक ही कली दिखलाई देती है," यह कह कर दूती व्यंजित करती है कि यह अवसर तेरे लिए वैसा ही सुखद है, जैसा अगस्त्य में कली आना आरंभ होने का समय होता है। इसी उत्प्रेक्षा से वह शरद् ऋतु के प्रथम शुक्ल पक्ष का होना भी दिखलाती है ॥

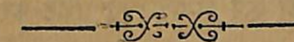


गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार[3] ॥ ६३ ॥

**गदराने**=पकने पर आए हुए, जवानी पर आए हुए ॥ **गोरटी**=गोरे शरीर वाली ॥ **ऐपन**= चावल और हलदी को पानी में पीस कर बनाया हुआ एक प्रकार का अवलेपन ॥ **हूठ्यौ**—गँवार स्त्रियाँ जब इठलाती अथवा किसी को बिराती हैं, तो दोनों हाथों को मुट्ठी बाँध कर कटि-स्थल पर रख लेती हैं। इस क्रिया को हूठा देना कहते हैं ॥ **वार**=चोट, आक्रमण ॥

( अवतरण )—किसी गँवार स्त्री को इठलाते देख कर नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ यह ] गदराए हुए तन वाली गोरी गँवारी, जिसके ललाट पर ऐपन का आड़ा तिलक लगा हुआ है, हूँठा दे, इठला कर दृगों से [ कैसी ] सु( सच्ची, अचूक ) वार करती है ॥



१. डीठि ( २, ४ ) । २. अगास ( ५ ) । ३. मार ( २, ४ ) ।

**तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ।**
**अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥ ९४ ॥**

**तंत्री-नाद**=वीणा इत्यादि का मधुर स्वर ॥ **कबित्त-रस**=काव्य का स्वाद ॥ **सरस राग**=रसीला स्नेह अथवा रसीला गाना ॥ **रति-रंग**=प्रीति का अथवा स्त्री-संग का आनंद ॥ **अनबूड़े**—इस शब्द का अर्थ यहाँ अधबूड़े है । 'बूड़े सब अंग' पद के विरोध से 'अनबूड़े' में 'अन' का प्रयोग ईषद् अर्थ में मानना चाहिए । विरोधाभास अलंकार के निमित्त बिहारी ने 'अधबूड़े बूड़े' न रख कर 'अनबूड़े बूड़े' रक्खा है । 'अनबूड़े' का अर्थ होता है ऐसे लोग, जो कि तंत्री-नाद इत्यादि में हाथ तो डालते हैं, पर उसमें डूबे नहीं हैं ॥ **बूड़े**=डूबे, नष्ट हुए ॥ **तरे**=बन गए, श्रेष्ठ हो गए ॥ **बूड़े**=निमग्न हो गए, लिप्त हो गए ॥ **सब अंग**=सर्वांग, पूर्ण रीति से ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग तथा रति-रंग में [ जो ] अधबूड़े [ हैं, वे तो ] बूड़े ( नष्ट हो गए ), [ पर ] जो पूर्ण रीति से बूड़े ( प्रविष्ट हुए ), [ वे ] तरे ( प्राप्ताभीष्ट हुए, सुधर गए ) [ कवि का तात्पर्य यह है कि तंत्री-नाद इत्यादि पदार्थ ऐसे हैं, जिनमें बिना पूर्ण रीति से प्रविष्ट हुए कोई आनंद नहीं मिलता । यदि इनमें पड़ना हो, तो पूर्णतया पड़ो, नहीं तो इनसे दूर ही रहो ] ॥

---

**सहज सचिक्कन, स्याम-रुचि, सुचि, सुगंध, सुकुमार ।**
**गनतु न मनु पथु अपथु, लखि बिथुरे, सुथरे बार ॥ ९५ ॥**

**सहज सचिक्कन**=स्वभाव ही से चिकने, बिना फुलेल इत्यादि लगाए ही चिकने ॥ **स्याम-रुचि**=श्याम रंग वाले ॥ **सुचि** ( शुचि )=अमल ॥ **सुकुमार**=कोमल ॥ **गनतु न**=नहीं गिनता, नहीं विचारता ॥ **पथु**=अच्छा रास्ता ॥ **अपथु**=बुरा पथ ॥ **बिथुरे**=फैले हुए, छिटके हुए ॥ **सुथरे**=सुंदर ॥

( अवतरण )—नायिका के बालों पर रीझा हुआ नायक अपना नित्य-कर्तव्य भूल कर उन्हीं के ध्यान में तथा नायिका से मिलने की चिंता में निमग्न रहता है । यह वृत्तांत जान कर उसका कोई अंतरंग मित्र उसे समझाता है कि यह मार्ग तुम्हारे लिए अच्छा नहीं है, तुम्हें अपनी कुल-रीति पर चलना चाहिए । नायक उसे उत्तर देता है—

( अर्थ )—[ उसके ] स्वभाव ही से चिकने, काले, अमल, मनोहर गंध वाले, कोमल, बिथुरे, [ और ] सुथरे बालों को देख कर [ मेरा ] मन [ ऐसा मोहित हो गया है कि ] पथ, [ और ] अपथ कुछ नहीं गिनता ॥

---

**छुटै न[1] दुराई[2] कुराति[3] नाहिँ, प्रगट करति रति-रूप ।**
**छुटैँ पीक, औरै उठी लाली ओठ अनूप ॥ ९६ ॥**

**प्रगट करति रति-रूप**=रति का रूप अर्थात् चिह्न प्रकट करती हुई । यह खंड-वाक्य 'लाली' का विशेषण है ॥

१. तिरे ( ४, ५ ) । २. सुरति ( २, ४ ) । ३. दुराए ( ४ ) । ४. ना दुरति ( ४ ) । ५. होत ( ४ ) ।

( अवतरण )—नायक ने नायिका का अधर-पान किया था, जिससे उसमेँ लाली आ गई। नायिका ने वह लाली पान के रंग से छिपा रक्खी थी। पर पीक के छूट जाने पर वह लाली प्रकट हो गई। इससे सखी उसकी रति लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—सुंदर द्युति छिपाए नहीँ छिपती ( यद्यपि तूने पान के रंग से अधर की चुंबन-कृत लाली छिपा रक्खी थी, पर भला वह कहीँ छिप सकती है )। [ देख, अब ] पीक छूटने पर [ तेरे ] अधर मैँ, रति का चिह्न प्रकट करती हुई, और ही प्रकार की ( अधर की स्वाभाविक लाली से भिन्न प्रकार की ) अनूप लाली उठी है ( निकल आई है ) ॥

यह दोहा अन्यसंभोगदुःखिता नायिका का वचन दूती से भी हो सकता है। ऐसी अवस्था मैँ 'सुदुति' का प्रयोग व्यंग्यात्मक होगा ॥

वेई गड़ि गाड़ैँ परीँ, उपट्यौ हारु हियैँ न।
आन्यौ मोरि मतंगु मनु मारि गुरेरनु मैन ॥ ६७ ॥

गाड़ैँ = गड़हे ॥ उपट्यौ—किसी कोमल वस्तु पर किसी कड़ी वस्तु के दबने या लगने के कारण चिह्न पड़ जाने को उपटना कहते हैँ ॥ गुरेरनु = गुल्लोँ से। गुल्ले अथवा गुलेल ( गुरेर ) उन छोटी छोटी गोलियोँ को कहते हैँ, जो एक प्रकार के धनुष के द्वारा चलाई जाती हैँ। उस धनुष विशेष को भी गुलेला अथवा गुलेल कहते हैँ ॥

( अवतरण )—नायक के हृदय पर मोतियोँ के हार का चिह्न उपटा हुआ देख कर खंडिता नायिका कहती है—

( अर्थ )—[ आप संकुचित क्योँ होते हैँ, यह जो आपके हृदय पर चिह्न है, वह ] हृदय पर हार नहीँ उपटा हुआ है, [ प्रत्युत आप ऐसे ] मतंग ( मातंग, बड़े हाथी ) को मानो मदन गुलेलोँ से मार कर फेर लाया है, [ सो ] वे ही [ गुल्ले ] गड़ कर [ ये ] गाड़ैँ पड़ गई हैँ ( अर्थात् आप इस समय मदन से पीड़ित हो कर यहाँ आए हैँ, क्योँकि दिन मैँ परकीया की प्राप्ति कठिन है। नहीँ तो भला आपके दर्शन कहाँ मिलते, आप तो निरंकुश हाथी के समान इधर उधर घूमा करते हैँ ) ॥

नैँक न झुरसी बिरह-झर नेह-लता कुम्हिलाति।
नितैँ नित होति हरीहरी, खरी झालरति जाति ॥ ६८ ॥

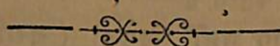
झुरसी = जली ॥ झर = लपट, ताप, ज्वाला ॥ झालरति जाति = नए नए डाल और पत्तोँ से संपन्न होती जाती है ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका के, अथवा नायिका से नायक के, प्रेम के प्रति दिन बढ़ने का वर्णन करती है—

---

१. मन ( ४, ५ )। २. झरसी ( ४ )। ३. कुम्हिलाइ ( २ )। ४. खिन खिन ( ४ ), छिन छिन ( ५ )। ५. जाइ ( २ )।

( अर्थ )—विरह की ज्वाला से झुलसी हुई [ उसकी ] स्नेह-लता किंचिन्मात्र भी कुम्हिलाती नहीं; [ प्रत्युत ] नित्यप्रति हरी [ ही ] हरी होती [ और ] भली भाँति झलराती जाती है ॥

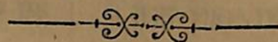


हेरि हिँडोरैँ गगन तैँ, परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीँ, करी खरी रस लूटि ॥ ९९ ॥

हिँडोरैँ गगन तैं = हिँडोले-रूपी आकाश से ॥ परी सी = अप्सरा सी ॥ करी खरी = खड़ी कर दी ॥

( अवतरण )—नवोढ़ा नायिका सखियों के साथ हिँडोला झूल रही थी। इतने ही मैँ नायक भी वहाँ आ पहुँचा। उसको देख कर नायिका हिँडोले पर से भागने के निमित्त कूद पड़ी। प्रियतम ने फुर्ती से उसे बीच ही मैँ लोक लिया, पृथ्वी पर गिरने नहीँ दिया, और आलिंगन का रस लूट कर खड़ी कर दिया। सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ प्रियतम को ] देख कर [ वह ] हिँडोले-रूपी आकाश से [ मारे शीघ्रता के ] परी सी टूट पड़ी ( भागने के निमित्त कूद पड़ी )। [ यह देख ] प्रियतम ने दौड़ कर बीच ( अधर ) ही मैँ [ उसे ] लोक लिया, [ गिरने नहीँ दिया, और ] रस लूट कर ( आलिंगनादि का सुख ले कर ) [ उसको पृथ्वी पर ] खड़ी कर दिया ॥

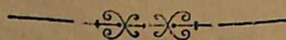


नैँक हँसौँहीँ बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि।
चौका-चमकनि-चौँध मैँ परति चौँधि सी डीठि[1] ॥ १०० ॥

चौका = आगे के चार दाँत ॥ चौँध = आँखोँ मैँ अँधेरी छा देने वाली तड़प ॥ परति चौँधि सी = चौँधिया सी जाती है, अर्थात् तड़प के कारण अँधेरी छाई हुई सी हो जाती है ॥

( अवतरण )—नायक पर अपराधी होने की शंका कर के नायिका मुसकिराहट-द्वारा कुछ मान सूचित करती है, जिससे नायक की आँखेँ संकुचित हो जाती हैँ। यह देख कर सखी, बड़ी चातुरी से, इस दोहे के द्वारा, नायक पर तो यह प्रकट कर के कि नायिका का स्वभाव ही मुसकिराते रहने का है, उसका संकोच छुड़ाया चाहती है, जिसमैँ उसके संकोच से उसके सिर अपराध सिद्ध न हो जाय, और नायिका से नायक के सामने न देख सकने का कारण उसके दाँतोँ की चमक बतलाती है, जिसमैँ वह उसको संकोच के कारण अपराधी न निर्धारित कर ले—

( अर्थ )—[ हे सखी, तू अपनी ] हँसौँहीँ ( हँसते रहने की ) बान ( प्रकृति ) नैँक छोड़ दे। [ इस प्रकृति के कारण तेरा ] मुख नीठि ( कठिनता से ) दिखलाई देता है; [ क्योँकि तेरे ] चौके की चमक की चकाचौँध मैँ आँखेँ चौँधिया सी जाती हैँ ॥



प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव[2] केसवराइ ॥ १०१ ॥

१. दीठि ( १ )। २. केसौ ( १, २ )।

**द्विजराज**=( १ ) चंद्रमा । ( २ ) ब्राह्मण ॥ **द्विजराज-कुल**=( १ ) चंद्रवंश, यदुवंश । श्रीकृष्णचंद्र का अवतार यदुवंश में, जो कि चंद्रवंश की एक शाखा है, हुआ था । ( २ ) ब्राह्मण-वंश । कवि का जन्म ब्राह्मण-वंश में हुआ था ॥ **सुबस** ( स्ववश )= अपने वश से, अपनी इच्छा से ॥ **केसव** ( केशव )= भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ॥ **केसवराइ** ( केशवराय )=बिहारी कवि के पिता ॥

( अवतरण )—कवि, श्रीकेशव भगवान् का रूपक अपने पिता केशवराय से कर के, उनसे अपने क्लेशों को दूर करने की प्रार्थना करता है । पिता से रूपक इसलिए किया है कि पिता संतान का दुःख स्वभाव ही से हरता है—

( अर्थ )—हे द्विजराज ( १. चंद्रमा । २. ब्राह्मण ) के कुल में प्रगटे हुए, [ और ] अपनी इच्छा से व्रज में आ कर बसे हुए केशवराय-रूपी केशव ( मेरे लिए पिता के तुल्य केशव भगवान् ), मेरे सब क्लेश हरो ॥

**केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपकु कितकु अनूपु ।**
**गात-रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु ॥ १०२ ॥**

**केसरि**=कुंकुम ॥ **सरि**=सादृश्य, बराबरी ॥ **कितकु**=कितना ॥ **अनूपु**=जलप्राय, जल वाला अर्थात् पानी वाला, आबदार । संस्कृत में इस शब्द का अर्थ जलप्राय है । बिहारी ने इसी से इसको यहाँ पानी वाला, अर्थात् सुंदर, के अर्थ में प्रयुक्त किया है । भाषा में इसका प्रयोग सामान्यतः अनुपम के स्थान पर होता है ॥ **जातरूप**=सुवर्ण । जातरूप का धात्वर्थ जन्म से सुंदर होता है । यह शब्द यहाँ साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है । इसका भाव यह है कि सुवर्ण भी, जो कि सहज ही सुंदर है, उसके रूप के आगे फीका पड़ जाता है, तो फिर और की क्या बात है ॥

( अवतरण )—नायिका की गुराई की प्रशंसा सखी नायक से करती है, अथवा नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ उसके रूप की ] बराबरी केसर क्योंकर कर सकती है, [ और ] चंपक कितना आबदार है, [ जो उसकी बराबरी कर सके ] । [ उसके ] शरीर का सौंदर्य देख कर [ तो ] जातरूप ( स्वर्ण, जो कि स्वभाव ही से सुंदर है ) का रूप [ भी ] छिप जाता ( फीका पड़ जाता ) है ॥

**मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान ।**
**धर्यौ[2] मनौ हिय-धर समरु, ड्यौढ़ी[3] लसत निसान ॥ १०३ ॥**

**मकराकृति**=मकर की आकृति के । एक प्रकार का कुंडल मकर अथवा मछली के आकार का होता है ॥ **कुंडल**=कानों में पहनने का भूषण विशेष । उसके मकराकृति होने के कारण कवि ने उसकी उत्प्रेक्षा कामदेव के निशान से की है ॥ **धर्यौ**=पकड़ा, अपने अधिकार में किया ॥ **हिय-धर**=हृदय-रूपी धरा अर्थात् देश ॥ **समर** ( स्मर )=कामदेव ॥ **ड्यौढ़ी**=राजों तथा अन्य धनिकों के द्वारों पर, भीतर की ओर, दो भीतें इस प्रकार ड्योढ़ कर के बनाई जाती हैं कि बाहर से भीतर का सामना नहीं पड़ता । इन्हीं ड्योढ़ी भीतों के कारण

१. कितिकु ( १ ) । २. मनौ धरयौ ( २ ), धर्यौ ( ५ ) । ३. द्वारे ( ४ ) ।

वे द्वार भी ड्योढ़ी कहलाते हैं। कान की बनावट भी वैसी ही घुमाव-फिराव की होती है, अतः कवि ने कान को ड्योढ़ी माना है ॥ लसत=विलास करता है, लहराता है, फहराता है ॥ **निसान** ( फ़ा० निशान )= निशान उस ध्वजा को कहते हैं, जिस पर उसके धारण करने वाले का कोई चिह्न बना रहता है। कामदेव की ध्वजा पर मछली अथवा मकर बना हुआ माना जाता है, और इसी से उसका नाम मीनकेतु, मकरध्वज इत्यादि है ॥

( अवतरण )—सखी नायक के पास हो कर आई है, और नायिका का वर्णन सुन कर नायक पर कामदेव का जो प्रभाव पड़ा है, उसका वर्णन करती है कि उसके हृदय को कामदेव ने वशीभूत कर लिया है, जिसका प्रमाण यह है कि कंप सात्त्विक के कारण उसके कुंडल थहरा रहे हैं ॥

( अर्थ )—**[ हे सखी, ] गोपाल के कानों में मकराकृति कुंडल [ ऐसे ] शोभित हैं, मानो हृदय-रूपी देश को कामदेव ने विजय कर लिया है, [ सो उसके ] निशान ड्योढ़ी पर फहरा रहे हैं ॥**

कान की उत्प्रेक्षा ड्योढ़ी से करने से यह व्यंजित होता है कि कामदेव के हृदय-देश में प्रवेश करने के मार्ग कान ही हैं, अर्थात् नायक पर कामदेव का प्रभाव गुण-श्रवण ही द्वारा हुआ है ॥

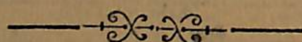
जिन पाँच पुस्तकों के आधार पर दोहों के पाठ शुद्ध किए गए हैं, उनके अनुसार तो इस दोहे का यही पाठ शुद्ध ठहरता है। अतः यही पाठ इस संस्करण में रक्खा गया है। पर अनवरचंद्रिका, कृष्ण कवि की टीका, अमर-चंद्रिका, लाल-चंद्रिका तथा शृंगार-सप्तशती के अनुसार इसका पाठ एकाध शब्द के हेरफेर से यह ठहरता है—

मकराकृति गोपाल के सोहत कुंडल कान।
धस्यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्योढ़ी लसत निसान ॥

हरिप्रकाश-टीका तथा रसचंद्रिका में 'घर' के स्थान पर 'गढ़' पाठ है। इन पुस्तकों के पाठों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि बिहारी ने यही पाठ लिखा होगा, और प्राचीन पुस्तकों में 'धस्यौ' तथा 'घर' के स्थानों पर 'धर्यौ' तथा 'धर', लेखकों के प्रमाद से, लिख गया होगा; क्योंकि 'धस्यौ' तथा 'धर्यौ' एवं 'घर' तथा 'धर' के लिखने तथा पढ़ने, दोनों ही में धोखा हो सकता है। इस पाठ के अनुसार यह अर्थ होता है—

गोपाल के कानों में मकराकृति कुंडल [ ऐसे ] शोभित हैं, मानो कामदेव [ उनके ] हृदय-मंदिर में पैठ गया है, [और उसका] निशान ड्योढ़ी पर फहराता है ॥

इस पाठ में भी भावार्थ वही रहता है ॥



**खौरि-पनिच भृकुटी-धनुषु बधिकु समरु, तजि कानि।**
**हनतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि ॥ १०४ ॥**

खौरि—खौरि अथवा खौर उस आड़े तिलक को कहते हैं, जो बीच में से खुरचा हुआ होता है। **पनिच** ( पतंचिका )=धनुष की ज्या। **खौरि-पनिच**—इस समस्त पद में बहुव्रीहि समास है। इसका अर्थ 'खौरि है पनिच जिसमें ऐसा' होता है। यह पद भृकुटी-धनुषु का विशेषण है ॥ **बधिक**=व्याध, शिकारी ॥ **कानि**=रुकावट, रोक-टोक ॥ **सुरक**—सुरक नाक पर के उस तिलक को कहते हैं, जो भाल की आकृति

१. मृगु ( १ )। २. भालि ( १, ५ )।

का होता है ॥ भाल ( भल्ल ) = बान अथवा भाले का फल ॥ सुरक-भाल—यह भी खौरि-पनिच की भाँति समस्त पद है। इसका अर्थ 'सुरक है भाल जिसमें ऐसा' होता है । यह पद 'तिलक-सर' का विशेषण है ॥ भरि तानि = भरपूर तान कर ॥

( अवतरण )—नायिका के तेवर चढ़ाने पर नायक रीझ कर स्वगत कहता है—

( अर्थ )—खौर-रूपी पनिच वाले भृकुटी-धनुष को भरपूर तान कर कामदेव-रूपी बधिक, बिना किसी रोक टोक के माने, सुरक-रूपी भाल वाले तिलक-रूपी बाण से तरुण-जन-रूपी मृगों का शिकार करता है ॥

नीकौ लसतु लिलार पर टीकौ जरितु जराइ ।
छबिहिँ बढ़ावतु रबि मनौ ससि-मंडल मैँ आइ ॥ १०५ ॥

लिलार = ललाट ॥ टीकौ = एक प्रकार का जड़ाऊ, गोल आभूषण, जिसे स्त्रियाँ ललाट पर धारण करती हैं ॥ जरितु जराइ = जड़ाऊ काम से जड़ा हुआ ॥

( अवतरण )—नायिका के जड़ाऊटीका-युक्त ललाट की शोभा पर रीझ कर नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ उसके ] ललाट पर जड़ाऊ काम से जड़ा हुआ टीका [ कैसा ] अच्छा शोभित है, मानो चंद्र-मंडल में आ कर सूर्य [ उसकी ] छवि बढ़ा रहा है ॥

सूर्य के आगे चंद्रमा की छवि क्षीण पड़ जाती है । अतएव यहाँ यह आश्चर्य की बात है कि उसके मुख-रूपी चंद्र के मंडल में आ कर जड़ाऊटीका-रूपी सूर्य उसकी कांति को और भी बढ़ा देता है ॥

लसतु सेतसारी-ढप्यौ, तरल तर्‍यौना कान ।
पर्‍यौ मनौ सुरसरि-सलिल रबि-प्रतिबिंबु बिहान ॥ १०६ ॥

तरल = चंचल, हिलता हुआ ॥ बिहान = प्रातःकाल ॥

( अवतरण )—नायिका के ताटंक की शोभा लक्षित कराने के व्याज से सखी नायक से, उसका कंप सात्त्विक प्रकट कर के, उसका अनुराग व्यंजित करती है—

( अर्थ )—[ उसके ] कान में तर्‍यौना [ कंप होने के कारण ] हिलता हुआ [ और ] श्वेत सारी से ढपा हुआ [ ऐसा ] लसता ( शोभित होता ) है, मानो प्रातःकाल सूर्य का प्रतिबिंब गंगाजी के [ किंचित् हिलते हुए ] जल में पड़ा है ॥

हम हारीँ कै कै हहा, पाइनु पार्‍यौ प्यौरु ।
लेहु कहा अजहूँ किए तेह-तरेर्‍यौ त्यौरु ॥ १०७ ॥

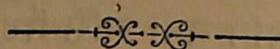
हहा—व्रज में जब कोई अत्यंत दीनता से बिनती करता है, तो जिससे बिनती करता है, उसको 'हहा'

१. लिलाट ( २, ४, ५ ) । २. जटित ( २, ५ ) । ३. सारौं ( १ ) । ४. सुरसलिल-बिच ( ५ ) । ५. तेरौ ( १, ४ ) ।

अथवा हाहा कह कर संबोधित करता है, जैसे "हाहा सखी, मैं तेरैं पायनि परूँ हूँ, तैं मानि जाइ।" अतः 'हाहा करना' अथवा 'हाहा खाना' बड़ी नम्रता-पूर्वक बिनती करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है॥ प्यौरु=प्रियतम॥ तेह-तरेरयौ=रोष के कारण तरेरते हुए, अर्थात् तर्जन करते हुए॥ त्यौरु=तेवर॥

( अवतरण )—सखी मान छुड़ाने के निमित्त नायिका से कहती है—

( अर्थ )—हम [ सखियाँ तो ] हाहा करते करते हार गईं ( थक गईं ), [ और ] प्यारे को [ तुम्हारे ] पैरों पर पारा ( गिराया ) [ भी ]। [ पर तुम नहीं मानती हो, तो ] अब भी ( इस पर भी ) रोष से कड़े तेवर करने से क्या ले रही ( लाभ उठा रही ) हो [ अर्थात् बिनती करने और पाँव पड़ने से अधिक तो कोई बात है ही नहीं, जिससे तुम्हारे मान जाने की आशा की जाय। अब तुम क्या यही चाहती हो कि प्रियतम निराश हो कर यहाँ से चला जाय ]॥

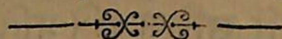


सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि॥ १०८॥

सतर=तर्जन-युत, कड़ी॥ नीठि=बड़ी कठिनता से॥

( अवतरण )—सखी ने नायिका को मान करना सिखलाया है। पर नायक को देख कर नायिका को कुछ हँसी आ जाती है, और वह मान ठान नहीं सकती। अपनी इसी विवशता का वृत्तांत वह सखी से कहती है—

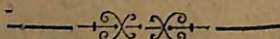
( अर्थ )—[ हे सखी, मैं ] नीठि ( किसी न किसी प्रकार से ) भृकुटियों को सतर ( धमकाने के भाव से भरी ), वचनों को रूखा, [ तथा ] मन को कठिन ( कठोर ) करती हूँ ( बनाती हूँ ); [ पर ] क्या करूँ, हरि ( श्रीकृष्णचंद्र ) को देख कर [ मेरी ] दृष्टि [ प्रेमाधिक्य से ] हसौंहीं हो जाती है [ जिससे सब खेल खंडित हो जाता है ]॥



वाहि लखैं लोइन लगै कौन जुवति की जोति।
जाकैं तन की छाँह-ढिग जोन्ह छाँह सी होति॥ १०९॥

( अवतरण )—सखी नायिका की तन-द्युति की प्रशंसा नायक से करती है—

( अर्थ )—जिसके तन की परछाहीं के ढिग ( निकट ) चाँदनी परछाहीं सी लगती है [ अर्थात् जिसके शरीर में ऐसी कांति है कि उसकी छाया में भी प्रकाश है, और उस प्रकाश के आगे उसके समीप की चाँदनी छाया ऐसी प्रतीत होने लगती है ], उसे देखने पर किस युवती की ज्योति ( कांति ) लोचन में लग सकती है ( सुहा सकती है, अच्छी लग सकती है )॥



कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्रानन के ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबो लखैं मरिबौ भई असीस॥ ११०॥

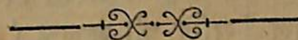
१. जाइ ( २ )। २. छाँह जोन्ह ( ४ )। ३. पिय ( १ )। ४. करे ( ४ )। ५. भयो ( ४ )।

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—हे प्राणों के ईश हरि ! [ मैं ] उसकी दशा क्या कहूँ [ वह कहने के योग्य नहीँ है ]। विरह-ज्वाला में [ उसका ] जलना देख कर [ उसका ] मरना [ मनाना, जो कि समस्त प्राणियों के निमित्त परम शाप है ] आशीर्वाद हो गया है [ क्योंकि मर जाने से वह इस महान् कष्ट से तो छूट जायगी ] ॥

जब किसी रोगी की अंतिम दशा आ जाती है, और उसके प्राणोँ को घोर यंत्रणा होने लगती है, तो उसके परम प्रेमी भी कहने लगते हैँ कि अब तो ईश्वर इसे उठा ले, तो ही अच्छा है। उसी यंत्रणा की दशा का वर्णन सखी करती है ॥

'प्राननु के ईस', यह साभिप्राय विशेषण है। इससे सखी व्यंजित करती है कि आप उसके प्राणोँ के स्वामी हैँ, अतः मैँ आपको जताए देती हूँ कि अब वे प्राण जाया ही चाहते हैँ। यदि आपको अपनी थाती की रक्षा करनी हो, तो शीघ्र यथोचित उपाय कीजिए ॥

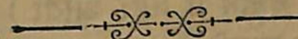


**जेती संपति कृपन कैँ[1] तेती सूमति जोर।**
**बढ़त जात ज्यौँ ज्यौँ उरज, त्यौँ त्यौँ होत कठोर ॥ १११ ॥**

**सूमति**=कृपणता ॥ **जोर**=ज़ोर पर होती है ॥ **कठोर**=( १ ) कड़े। ( २ ) निर्दय, किसी याचक पर न पसीजने वाले ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—कृपण के [ पास ] जितनी संपत्ति [ होती है ], उतनी [ ही उसकी ] सूमता ज़ोर पर [ होती है ]। [ देखो, ] ज्यौँ ज्यौँ उरोज बढ़ते जाते हैँ, त्यौँ त्यौँ कठोर होते जाते हैँ ॥



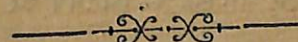
**ज्यौँ ज्यौँ जोबन-जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति[2]।**
**त्यौँ त्यौँ छिन छिन कटि-छपा[3] छीन परति नित जाति[4] ॥ ११२ ॥**

**मिति**=प्रमाण ॥ **छपा** ( क्षपा )=रात्रि ॥

( अवतरण )—नायिका के शरीर के यौवनागमन की शोभा सखी नायक से कहती है, अथवा नायक उस पर रीझ कर स्वगत कहता है—

( अर्थ )—ज्यौँ ज्यौँ यौवन-रूपी ज्येष्ठ [ मास ] के कुच-रूपी दिन की मिति ( सीमा ) बहुत बढ़ती जाती है, त्यौँ त्यौँ कटि-रूपी रात्रि क्षण क्षण ( १. क्षण क्षण में। २. क्षण क्षण कर के ) नित्यप्रति क्षीण पड़ती जाती है ॥

यौवनागमन मैँ कटि का घटना कवि लोग इसलिये कहते हैँ कि वह कुचौँ के उभार से पतली प्रतीत होने लगती है ॥



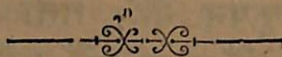
१. की ( ४, ५ ) । २. अधिकाइ ( २ ) । ३. छिपा ( ५ ) । ४. जाइ ( २ ) ।

**तेह-तरेरौ[1] त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।**
**लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल॥ ११३॥**

तेह=रोष॥ तरेरौ=तर्जन-युत हुए॥ त्यौरु (त्रिकूट)=तेवर॥ श्रुति-मनि=कान में पहनने की मणि॥

(अवतरण)—प्रातःकाल नायक नायिका के यहाँ आया है। उसके कपोलों पर पीक की लीक लगी हुई है, जिसे देख कर नायिका रोष करती है। सखी बड़ी चातुरी से, उसका रोष मिटाने के निमित्त, यह दोहा पढ़ती है। इसी एक दोहे से उधर तो वह नायक को चैतन्य करती है कि उसके कपोलों पर पीक की लीक लगी हुई है, जिसमें वह उसे किसी ब्याज से पोंछ डाले, और इधर नायिका से कहती है कि यह पान की पीक की लाली नहीं है, प्रत्युत कान की लाल मणि की आभा है—

(अर्थ)—[हे सखी,] रोष से तरजता हुआ तेवर कर के आँखें क्यों लोल (चंचल) की जाती हैं। [नायक के] कपोल पर यह [जो लाली दिखाई देती है, वह] पीक की लीक नहीं है, [प्रत्युत] कान की [लाल] मणि की झलक (आभा) है [अतः रोष करने का कोई कारण नहीं है]॥



**नैंकु[2] न जानी परति, यौं[3] पर्‌यौ बिरह तनु छामु।**
**उठति दियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ[4] नामु॥ ११४॥**

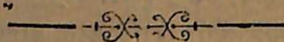
छामु (क्षाम)=क्षीण॥ नाँदि—जब दिए में तेल इत्यादि कम हो जाता है, और वह बुझने को होता है, तो पहिले दो-एक बार भभक कर बल उठता है। इसको दिए का नाँदना कहते हैं॥

(अवतरण)—सखी अथवा दूती नायक से नायिका का विरह निवेदित करती है—

(अर्थ)—विरह से [उसका] तन ऐसा क्षीण पड़ गया है [कि वह] नैंक (किंचिन्मात्र) [भी] जान नहीं पड़ती (देखने में नहीं आती)। [किंतु] हे हरि! तुम्हारा नाम लेने से [वह] दिए की भाँति नाँद उठती है॥

कभी कभी, तेल इत्यादि रहने पर भी, दिए की लौ मंद पड़ने लगती है। उस समय लोग कहते हैं कि दीपक किसी पाहुने का आगमन सूचित करता है, और यदि वे दो-चार ऐसे मनुष्यों के नाम लेते हैं, जिनके आने की संभावना होती है, तो उस व्यक्ति का नाम लेने पर, जो कि आने वाला होता है, दीपक भभक कर बल उठता है। इसको भी नाँदना कहते हैं॥

जब मनुष्य मरने लगता है, तो बहुधा मरने के पूर्व एकाएक कुछ चैतन्य हो जाता है। इसको मरते समय का सँभाला कहते हैं। सखी दीपक का नाँदना कह कर सँभाले का ध्यान दिलाती है॥



**नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।**
**रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न॥ ११५॥**

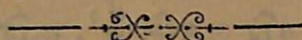
चाली=चाल डाली अर्थात् रात्रि के अंधकार को छिद्रमय कर दिया॥ चटकाली (चटक-आलि)=गौरैयों की पंक्ति॥

---

१. तरेरयो (५)। २. नैन (२)। ३. अति (४)। ४. दिया (४)।

( अवतरण )—उत्कंठिता नायिका सखी से कहती है—

( अर्थ )—नभ की लाली ने रात्रि चाल डाली ( रात्रि की कालिमा में अरुणोदय का प्रकाश मिश्रित हो गया, अर्थात् भ्रुकफलाह होने लगा ), [ और ] चटकाली ( चटक की पंक्ति ) ने ध्वनि की ( चिड़ियाँ बोलने लगीं ); [ पर ] वनमाली ( श्रीकृष्णचंद्र ) [ अभी तक ] नहीं आए। हे अली ( सखी ), [ ज्ञात होता है कि उन्होंने कहीं ] अनत ( अन्यत्र ) रति पाली ( प्रेम का पालन किया ) ॥

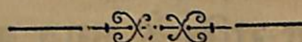


**सोवत सपनैं[1] स्यामघनु मिलिहिलि[2] हरत[3] बियोगु।**
**तब हीं टरि कित हूँ गई, नींदौ[4] नींदनु जोगु ॥ ११६ ॥**

**मिलिहिलि** = आलिंगनादि कर के ॥ **नींदनु** = निंदा करना ॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक को स्वप्न में देखा, पर उसी समय उसकी नींद खुल गई। अतः वह नींद को निंदा करने के योग्य कहती है—

( अर्थ )—[ हे सखी, ] सोते हुए ( सोते समय ) स्वप्न में घनश्याम हिलमिल कर [ मेरा ] वियोग ( वियोग-दुःख ) हर रहे थे। [ पर ] उसी समय [ नींद ] टल कर कहीं चली गई। [ अतः अब ] नींद को भी बुरा कहना (अहितकर समझना) उचित है। [ निद्रा की चाह तो केवल इसी निमित्त थी कि स्वप्न में प्रियतम का संयोग प्राप्त हो। पर जब ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, तो निद्रा भी टल गई। अतः अब वह भी खान-पानादि की भाँति दुःखद ही है ]॥

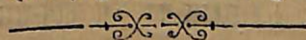


**संपति केस, सुदेस नर नवत[5], दुहुनि इक बानि।**
**बिभव सतर कुच, नीच नर, नरम बिभव की हानि ॥ ११७ ॥**

**संपति** ( संपत्ति ) = भरापुरा होना। केश के पक्ष में इसका अर्थ बाढ़, तथा नर के पक्ष में धन, होता है ॥ **सुदेस** ( सुदेश ) = श्रेष्ठ स्थान वाले, उच्च पद वाले ॥ **नवत** = केश के पक्ष में इसका अर्थ नीचे की ओर चलते हैं, और नर के पक्ष में नम्र होते हैं, है ॥ **बानि** = प्रकृति ॥ **बिभव** = वैभव। केश के पक्ष में इसका अर्थ बाढ़, तथा नर के पक्ष में ऐश्वर्य, है ॥

( अवतरण )—यह कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—केश, [ तथा ] श्रेष्ठ पद वाले नर संपत्ति में नवते हैं; दोनों की [ यह ] एक [ ही ] प्रकृति है। [ पर ] कुच, [ तथा ] नीच नर विभव में तनेने [ और ] विभव की हानि में नरम ( १. लुजलुजे। २. दीन ) [ हो जाते हैं ]॥



**कहत सबै कबि कमल से, मो मत नैन पखानु।**
**नतरुक कत इन बिय लगत उपजतु बिरह-कृसानु ॥ ११८ ॥**

---

१. सुपनै ( २, ४ )। २. हिलिमिलि ( ५ )। ३. रहत ( २ )। ४. नींदहु ( ४ )। ५. नमत ( ५ )।

**नतरुक** = नहीँ तो, अन्यथा ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग मैँ नायिका अथवा नायक का वचन सखी से—

( अर्थ )—सभी कवि [ इनको ] कमल के समान कहते हैँ, [ पर ] मेरे मत से नयन पाषाण हैँ, नहीँ तो इनमैँ दूसरे [ नयनोँ ] के लगने से ( १. मिलने से। २. टक्कर खाने से ) विरह की अग्नि क्योँ उत्पन्न होती है ॥

**हरि हरि ! बरि बरि उठति हैँ[1], करि करि थकी उपाइ।**
**वाकौ जुरु[2], बलि बैद, जौ[3] तौ रस जाइ, तु[4] जाइ ॥ ११९ ॥**

**हरि हरि !**—हरि हरि, शिव शिव इत्यादि पद किसी बात के खेद-पूर्वक कहने मैँ प्रयुक्त होते हैँ॥ **जुरु**= ज्वर ॥ **बैद**—वैद्य का मुख्यार्थ पंडित, सुजान है। सामान्यतः इसका प्रयोग चिकित्सक के अर्थ मैँ होता है। इस दोहे मैँ इसके दोनोँ ही अर्थोँ का ग्रहण है। **रस**—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। नायक-पक्ष मैँ इसका अर्थ प्यार अथवा मिलन-सुख है, और वैद्य-पक्ष मैँ मृत्युंजयादि रस ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—हरि हरि ( हाय हाय ) ! [ वह क्षण क्षण पर ] बल बल उठती है, [ मैँ तो ] उपाय कर कर के थक गई [ पर कुछ लाभ नहीँ होता ]। हे वैद्यजी, मैँ आपकी बलि गई, [ अब तो कोई और उपाय चलता दिखाई नहीँ देता, हाँ ] यदि तुम्हारे रस से उसका ज्वर ( विरह-ताप ) जाय तो जाय ॥

**यह[5] बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु[6] लेहु।**
**जरी बिषम जुर ज्याइयै[7] आइ सुदरसनु[8] देहु ॥ १२० ॥**

**नगु**=रत्न, स्त्री-रत्न ॥ **सुदरसन** ( सुदर्शन )=( १ ) सुंदर दर्शन। ( २ ) एक प्रकार का चूर्ण विशेष, जो विषम ज्वर मैँ दिया जाता है ॥

( अवतरण )—विरहिणी नायिका की दशा सखी नायक से पत्र-द्वारा निवेदित करती है—

( अर्थ )—इस नाश होते हुए स्त्री-रत्न को रख कर ( नष्ट होने से बचा कर ) जगत मैँ बड़ा यश प्राप्त करो। इस विषम ज्वर से जली जाती हुई को आ कर सुदर्शन दो ॥

**या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिँ कोइ।**
**ज्यौँ ज्यौँ बूड़ै[9] स्याम रँग, त्यौँ त्यौँ उज्जलु होइ ॥ १२१ ॥**

**अनुरागी**=प्रेमी, अनुराग-युक्त। अनुराग का रंग कवि-समय के अनुसार लाल माना जाता है, अतः 'अनुरागी' का अर्थ लाल रंग वाला भी होता है ॥ **गति**=चाल। यहाँ इसका अर्थ रीति, व्यवस्था है ॥

---

१. कहि ( २ ), अति ( ५ )। २. ज्वर ( ४ )। ३. लौँ ( २ ), लोँ ( ४ ), ज्यौँ ( ५ )। ४. तो ( २, ४, ५ )। ५. इह ( ५ )। ६. सुख ( ५ )। ७. ज्याइयै ( १ ), जाइयोँ ( २ ), ज्याइए ( ४ ), जाइये ( ५ )। ८. सुदर्शन ( ५ )। ९. बूड़तु ( १ ), भीजै ( ४ )।

**स्याम रँग** ( श्याम रँग )—यह पद यहाँ श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ 'श्रीकृष्णचंद्र के अनुराग में' होता है, और दूसरा अर्थ 'काले रंग में' ॥ **उज्जलु** ( उज्ज्वल )—इस शब्द के भी यहाँ दो अर्थ हैं—( १ ) निर्मल, पवित्र। ( २ ) श्वेत ॥

( अवतरण )—किसी भक्ति की उक्ति है—

( अर्थ )—**इस अनुरागी ( १. प्रेमी। २. लाल रंग वाले ) चित्त की [ विलक्षण ] व्यवस्था कोई समझ नहीं सकता। ज्यों ज्यों यह श्याम रंग में डूबता है, त्यों त्यों उज्ज्वल होता है ॥**

विलक्षणता यह है कि काले रंग मैं डूबने से वस्तु काली होती है, पर चित्त श्याम रंग मैं ज्याँ ज्याँ डूबता है, त्याँ त्याँ उज्ज्वल होता है ॥

**बियं सौतिनु देखत दई अपने हिय तैं, लाल।**
**फिरति सबंनु मैं डहडही उँहैं मरगजी माल ॥ १२२ ॥**

**बिय**=अन्य, और ॥ **डहडही**=प्रफुल्ल-वदन ॥ **मरगजी**=मसली हुई, मुरझाई हुई ॥

( अवतरण )—प्रेमगर्विता नायिका की दशा सखी नायक से निवेदित करती है—

( अर्थ )—**हे लाल! अन्य सौतों के देखते हुए [ आपने जो ] अपने हृदय से [ उतार कर ] दी, उसी मसली हुई माला [ के पाने के गर्व से वह ] सबों में प्रफुल्ल-वदन घूमती है ॥**

**छला छबीले लाल कौ नवल नेह लहिं नारि।**
**चूँबति, चाहति, लाइ उर पहिरति, धरति उतारि ॥ १२३ ॥**

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की प्रेम-दशा का वर्णन सखियाँ आपस मैं करती हैं—

( अर्थ )—**नए नए स्नेह [ की लगन ] में छबीले ( सुंदर ) लाल का छल्ला पा कर [ यह ] स्त्री [ उसको ] चूमती है, [ बड़े प्रेम से ] देखती है, हृदय में लगा कर पहन लेती है, [ और अंत को इस भय से कि कोई देख न ले ] उतार कर [ यत्न से ] धर लेती है ॥**

**नित संसौ हंसौ बचतुं, मनौ सु इहिँ अनुँमानु।**
**बिरह-अगिनि-लपटनु सकंतु झपटि न मीचु-सचानुं ॥ १२४ ॥**

**संसौ**=श्वासा, प्राण ॥ **हंसौ**=हंस पक्षी ॥ **अनुमानु**=अनुमान किया हुआ कारण ॥ **मीचु**=मृत्यु ॥ **सचानु** ( संचान )=एक प्रकार का बाज़ की जाति का पक्षी ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—**[ विरह-दुःख से उसकी ऐसी दशा हो रही है कि अब मरी और तब मरी,**

१. पिय, तिय ( २ ), पिय ( ४, ५ )। २. की ( ४ )। ३. डहडही सबनु मैं ( २ )। ४. बहै ( २ ), बहे ( ४ )। ५. लै ( ४ )। ६. चूमति ( २ )। ७. रहतु ( २ )। ८. उनमान ( २ )। ९. सकै ( २ )। १०. सिचान ( १, २, ५ )।

पर ] नित्यप्रति [ जो उसका ] श्वासा-रूपी हंस बच जाता है, सो इसमें ( इस बच जाने में ) [ यह ] अनुमान मानो ( ठीक समझो ) [ कि ] विरहाग्नि की लपटों ( ज्वालाओं ) के कारण मृत्यु-रूपी संचान [ उस पर ] झपट नहीं सकता ( अर्थात् उसकी विरह-ज्वाला ऐसी कराल है कि उससे डर कर मृत्यु भी पास नहीं आती ) ॥

थाकी जतन अनेक करि, नैंक न छाड़ति गैल ।
करी खरी दुबरी सु लगि तेरी चाह-चुरैल ॥ १२५ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—तेरी चाह-रूपी चुड़ैल ने लग कर उसको भली भाँति दुबली कर दिया है । [ मैं ] अनेक यत्न कर के थक गई ; [ पर वह ] किंचिन्मात्र [ भी ] गैल ( पैंड़ा, पीछा ) नहीं छोड़ती ॥

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि[1] रहे, घर जाँहि ।
गोरसु चाहत फिरत[2] हौ, गोरसु चाहत[3] नाँहि ॥ १२६ ॥

गोरसु—पहिला 'गोरसु' शब्द श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ हैं—( १ ) वाक्य-विनोद, बतरस । ( २ ) इंद्रिय-रस, काम-क्रीड़ा । दूसरे 'गोरसु' शब्द का अर्थ दूध, दही इत्यादि है ॥

( अवतरण )—यह दोहा स्वयंदूतिका नायिका का वचन नायक से है । इसमें वह श्लेष-द्वारा नायक को अपना अभिप्राय समझा देती है, और संग वालियों की समझ में नायक को रोकने से वर्जित करती है । यही नहीं, नायक से भी वह ऊपर से वर्जन ही करती है । सामान्यतः तो वह यह कहती है—

( अर्थ १ )—[ दूध, दही इत्यादि का दान तो हम दे चुकीं, अब तुम हमें ] वृथा क्यों घेरे हुए हो, लज्जा धारण करो ( वृथा रोकने से विरत हो ) । [ अब ] हम लोग घर जायँ ( हम लोगों को घर जाने दो ) । [ तुम तो ] गोरस ( वाक्य-विनोद, व्यर्थ के झगड़े का स्वाद ) चाहते फिरते हो, [ वास्तव में ] गोरस ( दूध, दही इत्यादि ) नहीं चाहते [ जिसके दे देने से पीछा छूटे । दूध, दही इत्यादि का माँगना तो छेड़ के निमित्त एक व्याज मात्र है ] ॥

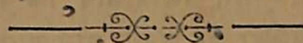
पर वह अपना आंतरिक अभिप्राय नायक को यह समझाती है—

( अर्थ २ )—[ हम समझ गईं, तुम ] गोरस ( दूध, दही इत्यादि ) नहीं चाहते, [ प्रत्युत ] गोरस ( इंद्रिय-रस ) चाहते फिरते हो । [ तो फिर इस रास्ते में ] वृथा क्यों घेर रहे हो । लज्जा धारण करो ( अर्थात् इस बात को प्रकट न होने दो ) । [ अब हम ] घर जायँ ( अब हमको घर जाने दो ) [ यदि तुम्हारा यही अभिप्राय है, तो तुम गुप्त रीति से वहाँ आना ] ॥

नायिका बड़ी चातुरी से, तर्जन करते हुए वचन-द्वारा, नायक को यह समझा देती है कि मैं तुम्हारा अभिप्राय समझ और स्वयं तुम पर अनुरक्त हो गई हूँ, पर मुझसे तुम्हें गुप्त रीति से मिलना चाहिए । इस प्रकार मार्ग में छेड़छाड़ करना अनुचित है । इधर तो वह और सुनने वालों की जान में नायक

१. घरि ( ५ ) । २. फिराति ( ५ ) । ३. चोहति ( ५ ) ।

को फटकार बतलाती है, और उधर नायक से भी कोई ऐसी बात नहीं कहती कि, यदि वह उस पर अनुरक्त न हो तो, उसे यह कह बैठने का अवसर मिले कि मैं तो यह नहीं चाहता। इन दोनों ही बातों पर ध्यान रखती हुई वह अपना अभीष्ट श्लेष-द्वारा व्यंजित करती है ॥



घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज ॥ १२७ ॥

( अवतरण )—स्वयंदूतिका नायिका वचन-चातुरी से अपना अभिप्राय नायक पर व्यंजित करती हुई, उसको रमणोपयुक्त स्थान बतलाती है, और यह व्यंजित करती है कि आप वहाँ चल कर ठहरिए, मैं आती हूँ—

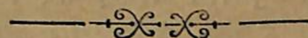
( अर्थ )—यमुना के तीर पर तमाल-तरु से मिले हुए, [ और ] ललित ( सुंदर ) अलि-पुंज ( भ्रमरों के समूह ) से कलित ( मढ़े हुए ) मालती-कुंज में [ विश्राम कर के आप इस दुपहरी की कड़ी ] घाम का घड़ी भर निवारण कीजिए ॥

'यमुना-तीर' कह कर वह यह व्यंजित करती है कि मैं वहाँ जल भरने आऊँगी ॥

'कलित ललित अलि-पुंज' कह कर वह यह सूचित करती है कि वह स्थान निर्जन है, क्योंकि यदि उस ओर मनुष्यों का आना जाना होता, तो भौंरों का समूह का समूह उस कुंज पर कलित ( जड़ा हुआ सा ) न रहता ॥

'तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज' कह कर वह यह व्यंजित करती है कि वह स्थान स्त्री और पुरुष के मिलने के निमित्त परमोपयुक्त है, क्योंकि वहाँ, मनुष्यों की कौन कहे, 'तमाल-तरु' तथा मालती भी आपस में लिपटे हुए हैं। इसी खंड-वाक्य से वह नायक का ध्यान स्त्री-पुरुष-सम्मेलन की ओर आकर्षित कर के उसके चित्त में अपने से मिलने की अभिलाषा भी उद्दीपित करती है ॥

'घाम घरीक निवारियै', इस खंड-वाक्य से वह जल लेने जाने का समय व्यंजित करती है ॥



उन हरकी हँसि[1] कै, इतै[2] इन सौंपी[3] मुसकाइ[4]।
नैन मिलैं मन मिलि गए दोऊ, मिलवत गाइ ॥ १२८ ॥

( अवतरण )—नायक सबेरे अपनी गाएँ ले कर चराने चला। नायिका भी अपनी गाय उसी के समूह में मिलाने लगी। उसी समय दोनों के नयन मिले, और नयन मिलते ही मन भी मिल गए। इसी अवसर का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ उधर ] उन्होंने ( नायक ने ) [ तो ] हँस कर हरकी ( नायिका की गाय को अपनी गायों के समूह में मिलने से रोका ), [ और ] इधर इन्होंने ( नायिका ने ) मुसकिरा कर [ अपनी गाय उनको ] सौंपी। गायों के [ इस प्रकार ] मिलाते समय आँखों के मिलने से दोनों मन मिल गए ॥

१. सहि ( ५ )। २. उतै उन ( ४ )। ३. सौंपिय ( ४ )। ४. मुसिकाइ ( १ ), मुसुकाइ ( ४ ), मुसक्याइ ( ५ )।

नायिका पहिले तो अपनी गाय नायक की गायोँ मैँ, बिना कुछ कहे ही, मिला देना चाहती थी। पर नायक ने चाहा कि वह मेरी ओर देखे, और कुछ बोले। अतः उसने हँस कर उसकी गाय को रोका। हँसा वह इसलिए कि नायिका यह बात समझ जाय, कि यह रोकना केवल हँसी से छेड़छाड़ करने के निमित्त है। तब नायिका ने मुसकिरा कर अपनी गाय नायक को, चरा लाने को कह कर, सौँपी। इस हँसी और मुसकिराहट मैँ दोनोँ की आँखैँ चार हुईँ, और मन मिल गए॥

परयौ जोरु, बिपरीत-रति रुपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यौ मौनु मंजीर॥ १२९॥

**परयौ जोरु**—परयौ का अर्थ यहाँ पड़ गया, गिर गया, नीचे आ गया, है, और 'जोरु' का अर्थ जोड़ अर्थात् प्रतिद्वंद्वी है। कुश्ती लड़ने के निमित्त जो दो पहलवान अखाड़े मैँ उतरते हैँ, उनमैँ से प्रत्येक दूसरे का जोड़ कहलाता है। कुश्ती लड़ते लड़ते जब एक गिर कर भूमि थाम लेता है, तो दूसरे के पक्ष वाले कहते हैँ कि जोड़ पड़ गया अथवा गिर गया। इस दोहे मैँ 'परयौ जोरु' का अर्थ जोड़ अर्थात् नायक पड़ गया, अर्थात् नीचे आ गया, है॥ **रुपी**=दृढ़ता-पूर्वक स्थिर हुई, डट गई॥ **सुरत-रन-धीर**=सुरत-संग्राम मैँ अविचल रहने वाली नायिका॥ **किंकिनी**=कटि मैँ पहनने का एक भूषण, जिसमैँ छोटी छोटी घंटियाँ लगी रहती हैँ, जो कटि के हिलने से बजती हैँ। इसको क्षुद्रघंटिका भी कहते हैँ। यह शब्द स्त्रीलिंग है॥ **मंजीर**=नूपुर। पैरोँ मैँ पहनने का भूषण विशेष, जिसमैँ घुँघुरू लगे रहते हैँ, और पैर के हिलने से बोलते हैँ। यह शब्द पुल्लिंग है॥

(अवतरण)—रंगमहल की सखियाँ किंकिणी के बजने से प्रौढ़ा नायिका की विपरीत रति का अनुमान कर के आपस मैँ कहती हैँ—

(अर्थ)—मंजीरोँ ने [ जो कि पुंल्लिग होने के कारण नायक के पक्ष के हैँ, और जो कि अब तक नायक के तथा अपने ऊर्ध्ववर्ती होने के कारण बोल रहे थे, अर्थात् अपने पक्ष का उत्कर्ष विघोषित कर रहे थे, अब ] मौन धारण कर लिया है, [ और ] किंकिणी [ जो कि स्त्रीलिंग होने के कारण नायिका के पक्ष की है, और जो कि अब तक नायिका के तथा अपने दबे रहने के कारण दबी अर्थात् चुप थी, अब ] कोलाहल कर रही है। [ इन बातोँ से जान पड़ता है कि अब ] जोड़ (नायिका का जोड़ अर्थात् प्रतिद्वंद्वी, नायक) पड़ गया (नीचे आ गया) है, [ और ] सुरत-रण-धीर [ नायिका ] विपरीत मैँ दृढ़ता-पूर्वक स्थिर हो रही है (अर्थात् डटी हुई है)॥

बिनती रति बिपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हँसि, अनबोलैँ हीँ दियौ ऊतरु, दियौ बताइ॥ १३०॥

**अनबोलैँ हीँ**=बिना बोले ही॥ **ऊतरु**=उत्तर॥ **दियौ बताइ**=दीपक की ओर इंगित कर के, अथवा दीपक बुझा कर॥

(अवतरण)—सखी का वचन सखी से—

(अर्थ)—प्रियतम ने [ प्रिया से उसके ] चरण छू कर विपरीत रति की (विपरीत रति करने के निमित्त) बिनती की। [ प्रिया ने ] हँस कर, दीपक को बता कर (दीपक

की ओर इंगित कर के अथवा दीपक को बुझा कर ), विना बोले ही उत्तर दे दिया ( अपनी स्वीकृति विदित कर दी ) ॥

नायिका मध्या है, अतः दीपक के उजाले में विपरीत रति नहीं करना चाहती। सो उसने दीपक की ओर इंगित कर के यह व्यंजित किया कि यदि यह बुझा दिया जाय, तो ऐसा किया जा सकता है, अथवा दीपक बुझा कर उक्त रति के लिये अपना तैयार होना सूचित किया ॥

दीपक बुझाने से दीपक की ओर इंगित करने में विशेष लज्जा तथा सरसता है ॥

कैसैं छोटे नरनु तैं सरत बड़नु के काम।
मढ़यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे कैं चाम ॥ १३१ ॥

दमामौ = बड़ा नगाड़ा, जो ऊँट अथवा हाथी पर लाद कर ले जाया जाता है ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—छोटे मनुष्यों से बड़ों के ( बड़ों के करने के अथवा बड़ों के लाभ के ) काम कैसे चल सकते हैं ( अर्थात् नहीं चल सकते )। [ भला ] कहो [ तो सही कि ] चूहे के चमड़े से दमामा क्योंकर मढ़ा जा सकता है ॥

सकत न तुव ताते बचन मो रस कौ रसु खोइ।
खिन खिन औटे खीर लौं खरौ सवादिलु होइ ॥ १३२ ॥

ताते ( तप्त ) = गरम, रोषान्वित ॥ मो रस = मेरे प्रेमानंद ॥ रसु = स्वाद ॥ खिन खिन = क्षण क्षण में ॥ खीर ( क्षीर ) = दूध ॥ सवादिलु = स्वादु ॥

( अवतरण )—प्रातःकाल नायक को सापराध देख कर अधीरा नायिका परुष वचन कहती है। शठ नायक मीठी बातें बना कर उसका क्रोध शांत किया चाहता है—

( अर्थ )—तेरे गरम ( रोषान्वित ) वचन मेरे प्रेमानंद के स्वाद को नष्ट नहीं कर सकते, [ प्रत्युत मेरा वह प्रेमानंद तेरे गरम वचनों से तप कर ] प्रति क्षण औटे हुए दूध की भाँति अधिक स्वादिष्ट होता है ॥

कहि, लहि कौनु सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुबास बन देती जौ न बताइ ॥ १३३ ॥

सौनजाइ = पीत चमेली ॥

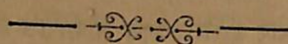
( अवतरण )—सखी नायिका की गुराई तथा शरीर की सुगंधि की प्रशंसा करती हुई नायक को उसे लक्षित कराती है, अथवा अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ उस ] पीत चमेली में जा कर छिपी हुई [ नायिका ] को [ भला ] कह

१. होत ( २, ४ )। २. बड़े ( १ )। ३. दमामा ( ५ )। ४. चूहा ( १ )। ५. कोन ( ४, ५ )। ६. सोनजुही ( ४ ), सोनजाइ ( ५ )। ७. ता ( ४ )।

[ तो सही ], कौन लह ( लक्षित कर अथवा पा ) सकता था, यदि [ उसके ] शरीर की स्वाभाविक सुगंधि [ फैल कर ] वन में [ उसे ] बता न देती ॥

अभिप्राय यह है कि उसका रंग ऐसा सुनहरा है कि फूली हुई पीत चमेली के वन में बैठ जाने पर उसका लक्षित होना कठिन था, पर उसके अंग की स्वाभाविक सुगंधि ने, जो पीली चमेली की गंध से श्रेष्ठ है, उसको लक्षित करा दिया ॥

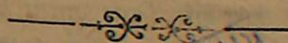


चाले की बातैं चलीं; सुनत सखिनु कैं टोल।
गोऐँ[1] हूँ लोइन हँसत, बिहँसत जात कपोल ॥ १३४ ॥

**टोल**=गोल, मंडल ॥

( अवतरण )—नायिका अनूढ़ा परकीया मुदिता है। जिस नायक से इससे प्रेम था, उसी से इसका ब्याह हो गया है, और अब गौने की बात हो रही है। अथवा जिस नायक से इससे प्रेम है, वह इसके ससुराल के समीप का रहने वाला है, वा और किसी कारण इसको आशा यह है कि उपपति से मिलने का अवसर ससुराल में अधिक प्राप्त होगा। अतः उसको गौने की बात चलने से प्रसन्नता हुई। पर सामान्यतः नवेलियों को, गौने के समय, नैहर छुटने का दुःख ही होता है। इसलिए यह अपने प्रसन्न नेत्रों को छिपा रही है। पर उसकी प्रसन्नता इतनी अधिक है कि उसके कपोल भी विकसित हो रहे हैं। अतः आँखों के छिपाने पर भी उसके विशेष ढंग से हँसते हुए कपोलों से उसका मोद प्रकट होता है। यह लक्षित कर के कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—चाले ( गौने ) की बातें चली हैं, [ यह समाचार ] सखियों के टोल में सुन कर, हँसते हुए लोचनों को छिपाने पर भी [ उसके ] कपोल विहँसते ( विशेष रूप से हँसते ) जाते हैं ( अर्थात् उसको ऐसा मोद हुआ है कि वह छिपाए नहीं छिपता )॥

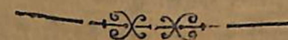


सनु सूक्यौ[3], बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय[5], नारि ॥ १३५ ॥

**बनौ**=कपास भी ॥ **धरहरि**=धैर्य ॥

( अवतरण )—अनुशयाना नायिका को सखी धैर्य देती है—

( अर्थ )—[ यद्यपि ] सन सूख गया, कपास [ का दिन ] भी बीत गया, [ और ] ऊख भी उखाड़ ली गई, [ अर्थात् यद्यपि इन खेतों वाले तेरे संकेतस्थल नष्ट हो गए हैं, तथापि ] अरहर अब भी हरी भरी है, [ अतः ] हे नारी, हृदय में धैर्य धर ( चिंता मत कर ) [ क्योंकि तेरे लिए उसके खेत में सहेट बना हुआ है ]॥



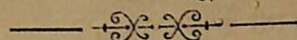
१. ऐरी लोचन हँसत ए, बिगसत जात कपोल ( ४ ) । २. साहित ( २ ) । ३. सूष्यो ( ४ ) । ४. हरि उर धरि जिहि नारि ( ५ ) । ५. हिय ( १ ) ।

**आए आपु, भली करी, मेटन मान-मरोर।**
**दूरि करौ यह,[1] देखिहै छला छिगुनिया-छोर॥ १३६॥**

**मान-मरोर**=मान की ऐंठ॥ **छिगुनिया**=छोटी अँगुली, कानी अँगुली॥

(अवतरण)—नायिका ने नायक को अपराधी समझ कर मान किया है। नायक उसको मनाने आया है, पर शीघ्रता में अन्य स्त्री का छल्ला, जो छोटा होने के कारण उसकी कानी अँगुली के ऊपर ही अटका है, पहने चला आया है। सखी उससे कहती है कि इसे उतार डालिए, नहीं तो वह इसे देख कर तुम्हारा अपराध निश्चित कर लेगी—

(अर्थ)—मान-मरोड़ मिटाने [के निमित्त जो] आप आए, [सो आपने] अच्छा किया। [पर] इसको (इस छल्ले को) दूर कर दीजिए, [नहीं तो वह यह] छल्ला छिगुनिया के छोर (अग्र-भाग) पर देख लेगी [और इससे यह अनुमान कर लेगी कि तुम सचमुच अपराधी हो। फिर मानना तो दूर रहा, और भी ऐंठ जायगी]॥

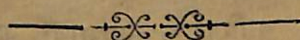


**मेरे बूझत बात तू कत बहरावति, बाल।**
**जग जानी बिपरीत[2] रति लखि बिँदुली पिय-भाल॥ १३७॥**

**बहरावति**=टालती है॥ **बिँदुली**=टिकुली॥

(अवतरण)—दंपति ने अपने रूप का परिवर्तन कर के, अर्थात् नायक ने नायिका का और नायिका ने नायक का रूप धारण कर के, विपरीत रति की थी। नायक ने अपना सब आरोपित शृंगार तो उतार डाला है, पर टिकुली भूल से भाल पर लगी रह गई है, जिससे सखी रूप-परिवर्तन तथा विपरीत रति का अनुमान कर के मध्या नायिका से परिहास करती है—

(अर्थ)—हे बाला, मेरे पूछते समय तू बात को क्यों बहलाती है। प्रियतम के भाल में बिँदुली देख कर [मैंने ही नहीं, वरन्] संसार ने (सब देखने वालों ने) [तेरी] विपरीत रति जान ली है॥



**फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति[4] उसासु[5]।**
**साइँ! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति[6] कपासु[7]॥ १३८॥**

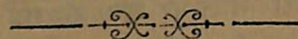
**बिलखी**=दुखी॥ **उसासु** (उत्+श्वास)=लंबी साँस, जो कि मनुष्य दुःख अथवा सोच में लेता है। भाषा के कवियों ने इस शब्द को पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों रूपों में प्रयुक्त किया है। बिहारी ने भी इसका दोनों प्रकार से प्रयोग किया है। इस दोहे के अतिरिक्त 'सतसई के' और आठ दोहों में यह शब्द आया है। २६२, ३३४, ४४६, ४८७, ५०७, ५३४, ५५३, तथा ६६० अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं। इनमें से कई दोहों में इसका स्त्रीलिंग-प्रयोग हुआ है, और कई में पुल्लिंग-प्रयोग। इस दोहे में इसका पुल्लिंग-प्रयोग है॥ **साइँ** (स्वामी)=प्रभु। यहाँ यह शब्द 'राम राम', 'हरि हरि', 'शिव शिव', 'दई' इत्यादि की भाँति खेदसूचक

१. छिगुनियनि (२)। २. बिपरीति (२, ४)। ३. लखै (२)। ४. लेतु (१), लेत (४, ५)। ५. उसास (२, ४, ५)। ६. चुनत (२, ४, ५)। ७. कपास (२, ४, ५)।

अव्यय मात्र है। किसी किसी टीकाकार ने 'साईं-सिर-कच' को एक समस्त पद मान कर उसका अर्थ पति के सिर के बाल किया है। वह भी अर्थ हो सकता है। पर हमारी समझ में यहाँ साईं को खेदोद्गार-बोधक अव्यय मानना अच्छा है॥ बीत्यौ=बीता हुआ, समाप्ति पर आया हुआ। यह शब्द 'कपासु' शब्द का विशेषण है। 'बीत्यौ कपासु' का अर्थ समाप्ति पर आया हुआ कपास होता है। कपास की रुई तीन बार चुनी जाती है—पहिली बार क्वार में, दूसरी बार अगहन में और तीसरी बार चैत्र में। तीसरी बार रुई चुनने के पश्चात् खेत काट डाला जाता है। अतः बीत्यौ कपास का अर्थ तीसरी बार की रुई होता है। इसी अंतिम बार की रुई का बिनना अनुशयाना नायिका के विषाद का कारण हो सकता है, क्योंकि इसके पश्चात् खेत कट जाने से उसका संकेत नष्ट हो जायगा॥ कपासु=एक प्रकार की रुई का वृक्ष। यह प्रचलित भाषा में स्त्रीलिंग माना जाता है। पर ज्ञात होता है कि बिहारी के समय में यह शब्द संस्कृत 'कर्पास' की भाँति भाषा में भी पुल्लिंग ही माना जाता था॥

( अवतरण )—इस दोहे की नायिका अनुशयाना है। इसका संकेतस्थल कपास के खेत में है। अतः कपास की अंतिम उपज बीनने के समय, यह विचार कर कि अब कपास का खेत काट डाला जायगा, उसको बड़ा दुःख होता है। उसके इसी दुःख का वर्णन उसकी कोई अंतरंगिनी सखी किसी अन्य अंतरंगिनी सखी से खेद-पूर्वक करती है—

( अर्थ )—[ देखो, यह बेचारी ] फिर फिर दुखी हो कर देखती है, [ और ] फिर फिर लंबी साँस भरती है। हे भगवान्! [ यह ] समाप्ति पर आया हुआ कपास सिर के श्वेत बालों की भाँति [ अत्यंत कष्ट पा कर ] चुनती है ( जिस प्रकार लोगों को श्वेत बाल चुनते समय यह समझ कर दुःख होता है कि अब काम-क्रीड़ा के दिन समाप्त हो रहे हैं, उसी प्रकार इसको, कपास की अंतिम उपज चुनने के समय, यह सोच कर विषाद होता है कि अब शीघ्र ही उपपति से विहार करने का संकेत नष्ट हो जायगा )॥

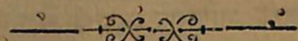


डगकु डगति सी चलि, ठठुकि[1] चितई, चली निहारि।
लिए जाति चितु चोरटी वहै[2] गोरटी नारि॥ १३९॥

डगकु=एक आध डग अर्थात् पग॥

( अवतरण )—नायक सखी से नायिका के हावभावों का वर्णन करता हुआ अपना अनुराग प्रकट करता है—

( अर्थ )—दो एक डग डगमगाती सी ( सात्त्विक के कारण उलझती सी ) चाल चल कर, [ और फिर ] ठिठक कर [ जिसने इधर उधर ] देख लिया [ कि कोई देखता तो नहीं है, और फिर मुझे ] देख कर चली, वही चोरटी ( चित्त को चुराने वाली ) गोरी नारी [ मेरा ] चित्त लिए जा रही है॥



करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं[3] हूँ[4] चसमा चखनु चाहै लहै[5] न मीचु॥ १४०॥

मीचु=मृत्यु॥

१. ठिठुकि (१)। २. यहै (१, ५)। ३. दियैं (२), दीए (५)। ४. ऊँ (४, ५)। ५. लहत (४)।

( अवतरण )—सखी नायिका की विरह-दशा नायक से निवेदित करती है—

( अर्थ )—विरह ने [ उसको यद्यपि ] ऐसा [ दुबला ] कर दिया है [ कि ] मृत्यु [ उसको ] चाहती ( खोजती ) है, [ किंतु ] आँखों पर चश्मा लगाने पर भी नहीं पाती, तऊ (तथापि) [ वह ] नीच [ विरह उसकी ] गैल ( पैंड़ ) नहीं छोड़ता [ अर्थात् इस पर भी उसका विरह दूर नहीं होता। तुमको दया नहीं आती कि जा कर उसका विरह-दुःख मिटा दो ] ॥

**जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।**
**मन[2]-काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु[3] ॥ १४१ ॥**

**जपमाला** = जपने की माला ॥ **छापैं** = छापे से, तप्त मुद्रा इत्यादि से ॥ **मन काँचै** = कच्चे मन वाला ही, बिना सच्ची भक्ति वाला ही ॥ **साँचै** = सच्चे ही से, सच्ची भक्ति वाले ही से ॥ **राँचै** = रंजित होता है, प्रसन्न होता है ॥

( अवतरण )—बनावटी भक्ति पर कवि की उक्ति है—

( अर्थ )—जपमाला, तप्त मुद्रादि, [ तथा ] तिलक से एक भी ( कुछ भी ) काम नहीं सरता ( निकलता ) [ क्योंकि ये सब तो ऊपरी दिखाव मात्र हैं ]। कच्चे मन वाला ही बृथा ( बिना कुछ लाभ के ) नाचा करता है, राम [तो] सच्चे ही से रचता है ( प्रसन्न होता है ) ॥

**जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु[1]।**
**तौ बलि, नैंक बिलोकियै चलि अचकाँ[4], चुपचापु ॥ १४२ ॥**

**अचकाँ** = एकाएक, ऐसे समय जब आपके वहाँ पहुँचने की संभावना न हो ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका की दूती ने नायक से नायिका की विरह-दशा कुछ इस प्रकार वर्णन की कि वह विस्मित सा हो गया। उसके विस्मय से लाभ उठा कर चतुर दूती उसको चटपट नायिका के पास ले चलने का डौल डालती है। उसकी अकथनीय दारुण दशा का प्रभाव नायक के हृदय पर जमाती हुई वह यह व्यंजित करती है कि उसकी दशा आपके चलने के समाचार मात्र से परिवर्तित हो जायगी, और अपने कथन को सत्य प्रमाणित करने के ब्याज से नायिका का प्रेमाधिक्य भी जताती है—

( अर्थ )—यदि [ आपको मेरे कहने का विश्वास नहीं है, और ] आप [ स्वयं ] उसके तन की [ सच्ची ] दशा ( दयनीय अवस्था, जिसे सुन कर आप विस्मित हो रहे हैं ) देखा चाहते हैं, तो मैं बलिहारी जाती हूँ, [ आप ] नैंक अचकाँ [तथा] चुपचाप ( अपना चलना किसी पर प्रकट किए बिना, जिसमें कि कोई आपके चलने का समाचार उसको न दे सके ) चल कर [ गुप्त रीति से ] देख लीजिए, [ जिसमें आपको मेरे झूठ सच का ज्ञान हो जाय; क्योंकि यदि उसको आपके आगमन की सुनगुनी लग जायगी, तो हर्ष से उसका शरीर प्रफुल्लित हो जायगा, और वह दशा न रहेगी, जिसका वर्णन मैंने किया है। और, यदि आपको मेरे कहने का विश्वास है, तो आपका तुरंत चलना नितांत उचित ही है ] ॥

१. आपा ( ४, ५ )। २. काचैं मन ( १ )। ३. स्याम ( २ )। ४. औचक ( २, ४ )।

जटित नीलमनि जगमगति सीँक सुहाई नाँक।
मनौ अली चंपक-कली बसि रसु लेतु निसाँक॥ १४३॥

सीँक = एक पतला सा, सीँक की आकृति का नासिका-भूषण विशेष॥

( अवतरण )—नायिका की नासिका तथा सीँक की अपूर्व शोभा का वर्णन नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ आहा! ] उसकी सुहाई ( चित्त को आकर्षित करने वाली ) नाँक में नीलम जड़ी हुई सीँक [ कैसी ] जगमगा रही है, मानो भ्रमर चंपे की कली पर बैठ कर निःशंक ( इस बात की शंका छोड़ कर कि चंपे की कली पर मेरा बैठना अनुचित है ) रस ले रहा है॥

भ्रमर चंपे पर नहीँ बैठता, परंतु नासा-रूपी चंपे की कली ऐसी मनोहर है कि उस पर मुग्ध हो कर वह विचार-शून्य हो उसका रस ले रहा है। इस कथन से यह व्यंजित होता है कि नासिका की शोभा विलक्षण तथा सामान्य नियम को भुलवा देने वाली है॥

फेरु कछुक करि पौरि तैँ, फिरि, चितई मुसकाइ।
आई जावनु लैन, जियैँ नेहैँ चली जमाइ॥ १४४॥

पौरि—घर में घुसने के पहिले द्वार के बाहर अथवा भीतर जो आच्छादित स्थान पड़ता है, उसको पौरी कहते हैँ। पर इसका प्रयोग द्वार के अर्थ में भी होता है। इस दोहे मेँ दोनोँ अर्थ घट सकते हैँ॥ जावनु = जामन, जमाने वाली वस्तु, खट्टा दही, जो दूध में उसे जमाने के लिये थोड़ा सा डाल दिया जाता है॥

( अवतरण )—नायक किसी पड़ोसिन की मनमोहिनी चेष्टा पर अनुरक्त हो कर स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ उसने लौट कर जाते समय ] पौरी पर से कुछ फेर ( व्याज, बहाना ) कर के, फिर कर ( घूम कर ), [ मेरी ओर ] मुसकिरा कर [ ऐसे भाव से ] देखा [ कि ] आई [ तो वह ] थी जामन लेने के लिये, [ पर मेरे ] हृदय मेँ [ अपना ] स्नेह ( १. प्रेम। २. घी ) जमा कर चली॥

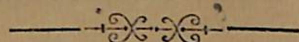
जदपि तेजरौहाल-बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैँड़ौ घर कौ भयौ पैँड़ौ कोस हजार॥ १४५॥

तेज ( तेज़ )—यह फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ तीक्ष्ण है। इसका प्रयोग शीघ्रगामी के अर्थ में भी होता है॥ रौहाल—यह फ़ारसी शब्द 'रहवार' का विकृत रूप है। इसका अर्थ चलने वाला है, पर घोड़े के अर्थ में इसकी योगरूढ़ि है॥ ग्वैँड़ौ = घर के आसपास की भूमि की सीमा॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आया है। ग्राम की सीमा पर पहुँच कर उसको, नायिका से मिलने की उत्सुकता के कारण, वहाँ से घर तक का मार्ग सहस्र कोस का प्रतीत हुआ। उसी का वर्णन वह नायिका से कर के अपना प्रेमाधिक्य जताता है—

१. जगमगे ( ४ )। २. मुसुकाइ ( ४ ), मुसक्याय ( ५ )। ३. जावन लेन जो ही चली ( ४ )। ४. हिय ( २ )। ५. नेहहिँ ( २, ५ )। ६. गई ( २ )।

( अर्थ )—[ हे प्यारी, ] यद्यपि शीघ्रगामी घोड़े के बल ( पराक्रम के कारण ) [ मुझे पहुँचने में ] पल मात्र भी बार ( विलंब ) नहीँ लगी, तथापि [ तुझसे मिलने की उत्सुकता के कारण ] घर का ग्वँड़ा [ ही मुझे ] हज़ार कोस का पैंड़ा ( मार्ग ) हो गया ( प्रतीत हुआ ) ॥

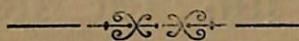


**पूस-मास सुनि सखिनु पैँ साईँ चलत सवारु।**
**गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ रागु मलारु ॥ १४६ ॥**

**सवारु**=प्रातःकाल ॥ **राग्यौ**=अलापा ॥ **मलारु** ( मल्लार )=राग विशेष । इस राग के विषय मेँ प्रसिद्ध यह है कि इसके यथार्थ रीति से गाने अथवा बजाने से पानी बरसने लगता है ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी नायिका नायक के परदेश-गमन को रोकने का प्रयत्न करती है। सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—पूस के महीने में सखियोँ से [ यह ] सुन कर [ कि ] प्रातःकाल पति [ परदेश ] चलता है ( जाने वाला है ), प्रवीण ( संगीत-विद्या में निपुण ) स्त्री ने हाथ मेँ बीन ले कर मल्लार राग रागा ( अलापा ) [ जिसमें पानी बरसने लगे, और प्रियतम का जाना रुक जाय; क्योंकि अकाल वृष्टि मेँ यात्रा निषिद्ध है ] ॥



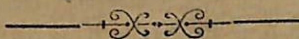
**बन[2]-तन कौँ, निकसत, लसत हँसत हँसत, इत आइ।**
**दृग-खंजन गहि लै चल्यौ[3] चितवनि-चैँपु[4] लगाइ ॥ १४७ ॥**

**बन-तन**=वन की ओर ॥ **लसत**=क्रीड़ा करता हुआ ॥ **चैँपु**=लासा ॥

( अवतरण )—नायिका अपने द्वार पर निकल आई थी। इतने ही मैँ नायक उसकी ओर मुसकिराता हुआ आ कर और उसको प्यार की दृष्टि से देख कर वन की ओर चला। नायिका उसकी उस लगावट की चितवन से ऐसी मोहित हो गई कि उसके नेत्र नायक के पीछे लग लिए, जिससे आकर्षित हो कर वह स्वयं भी उधर ही चल पड़ी। अपनी अंतरंगिनी सखी के यह कहने पर कि तू कहाँ चल रही है, वह उत्तर देती है कि मैँ क्या करूँ, मेरी आँखोँ को वह फँसाए लिए जाता है—

( अर्थ )—[ हे सखी ! मैँ क्या करूँ, मेरे घर से ] निकलते ही [ वह ] हँसता हँसता क्रीड़ा करता हुआ इधर आ कर, [ मेरे ] दृग-रूपी खंजोँ को [ अपनी ] चितवन-रूपी चैँप लगा कर वन की ओर पकड़ ले चला [ अतः मैँ उसी के पीछे चल रही हूँ ] ॥

खंजोँ को बहेलिए जंगल से पकड़ कर नगर मैँ लाते हैँ, पर इस दोहे मैँ यह विलक्षणता है कि नागर नायक का नायिका के दृग-रूपी खंजोँ को नगर से पकड़ कर वन की ओर ले चलना कहा गया है ॥



**मरनु भलौ बरु बिरह तैँ, यह निहचय[5] करि जोइ।**
**मरन मिटै दुखु एक कौ, बिरह दुहूँ दुखु होइ ॥ १४८ ॥**

१. लैँ ( ५ ) । २. बनठन ( २ ) । ३. गए ( २, ४ ) । ४. चोप ( ४ ) । ५. बिचार ( २ ) ।

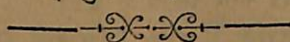
**जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।**
**मनौ अली चंपक-कली बसि रसु लेतु निसाँक ॥ १४३ ॥**

**सींक**=एक पतला सा, सींक की आकृति का नासिका-भूषण विशेष ॥

( अवतरण )—नायिका की नासिका तथा सींक की अपूर्व शोभा का वर्णन नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ आहा ! ] उसकी सुहाई ( चित्त को आकर्षित करने वाली ) नाँक में नीलम जड़ी हुई सींक [ कैसी ] जगमगा रही है, मानो भ्रमर चंपे की कली पर बैठ कर निःशंक ( इस बात की शंका छोड़ कर कि चंपे की कली पर मेरा बैठना अनुचित है ) रस ले रहा है ॥

भ्रमर चंपे पर नहीं बैठता, परंतु नासा-रूपी चंपे की कली ऐसी मनोहर है कि उस पर मुग्ध हो कर वह विचार-शून्य हो उसका रस ले रहा है। इस कथन से यह व्यंजित होता है कि नासिका की शोभा विलक्षण तथा सामान्य नियम को भुलवा देने वाली है ॥

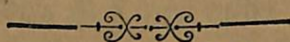


**फेरु कछुक करि पौरि तैं, फिरि, चितई मुसकाइ।**
**आई जावनु लैन, जियैं नेहैं चली जमाइ ॥ १४४ ॥**

**पौरि**—घर में घुसने के पहिले द्वार के बाहर अथवा भीतर जो आच्छादित स्थान पड़ता है, उसको पौरी कहते हैं। पर इसका प्रयोग द्वार के अर्थ में भी होता है। इस दोहे में दोनों अर्थ घट सकते हैं ॥ **जावनु**=जामन, जमाने वाली वस्तु, खट्टा दही, जो दूध में उसे जमाने के लिये थोड़ा सा डाल दिया जाता है ॥

( अवतरण )—नायक किसी पड़ोसिन की मनमोहिनी चेष्टा पर अनुरक्त हो कर स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ उसने लौट कर जाते समय ] पौरी पर से कुछ फेर ( व्याज, बहाना ) कर के, फिर कर ( घूम कर ), [ मेरी ओर ] मुसकिरा कर [ ऐसे भाव से ] देखा [ कि ] आई [ तो वह ] थी जामन लेने के लिये, [ पर मेरे ] हृदय में [ अपना ] स्नेह ( १. प्रेम । २. घी ) जमा कर चली ॥



**जदपि तेजरौहाल-बल पलकौ लगी न बार।**
**तौ ग्वैंड़ौ घर कौ भयौ पैंड़ौ कोस हजार ॥ १४५ ॥**

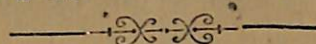
**तेज** ( तेज़ )—यह फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ तीक्ष्ण है। इसका प्रयोग शीघ्रगामी के अर्थ में भी होता है ॥ **रौहाल**—यह फ़ारसी शब्द 'रहवार' का विकृत रूप है। इसका अर्थ चलने वाला है, पर घोड़े के अर्थ में इसकी योगरूढ़ि है ॥ **ग्वैंड़ौ**=घर के आसपास की भूमि की सीमा ॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आया है। ग्राम की सीमा पर पहुँच कर उसको, नायिका से मिलने की उत्सुकता के कारण, वहाँ से घर तक का मार्ग सहस्र कोस का प्रतीत हुआ। उसी का वर्णन वह नायिका से कर के अपना प्रेमाधिक्य जताता है—

---

१. जगमगे ( ४ )। २. मुसुकाइ ( ४ ), मुसक्याय ( ५ )। ३. जावन लेन जो ही चली ( ४ )। ४. हिय ( २ )। ५. नेहहिँ ( २, ५ )। ६. गई ( २ )।

( अर्थ )—[ हे प्यारी, ] यद्यपि शीघ्रगामी घोड़े के बल ( पराक्रम के कारण ) [ मुझे पहुँचने में ] पल मात्र भी वार ( विलंब ) नहीं लगी, तथापि [ तुझसे मिलने की उत्सुकता के कारण ] घर का ग्वैंड़ा [ ही मुझे ] हज़ार कोस का पैंड़ा ( मार्ग ) हो गया ( प्रतीत हुआ ) ॥

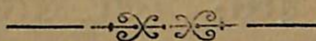


पूस-मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारु ।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ रागु मलारु ॥ १४६ ॥

**सवारु**=प्रातःकाल ॥ **राग्यौ**=अलापा ॥ **मलारु** ( मल्लार )=राग विशेष । इस राग के विषय में प्रसिद्ध यह है कि इसके यथार्थ रीति से गाने अथवा बजाने से पानी बरसने लगता है ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी नायिका नायक के परदेश-गमन को रोकने का प्रयत्न करती है । सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—पूस के महीने में सखियों से [ यह ] सुन कर [ कि ] प्रातःकाल पति [ परदेश ] चलता है ( जाने वाला है ), प्रवीण ( संगीत-विद्या में निपुण ) स्त्री ने हाथ में बीन ले कर मल्लार राग रागा ( अलापा ) [ जिसमें पानी बरसने लगे, और प्रियतम का जाना रुक जाय; क्योंकि अकाल वृष्टि में यात्रा निषिद्ध है ] ॥



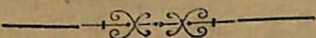
बन[2]-तन कौं, निकसत, लसत हँसत हँसत, इत आइ ।
दृग-खंजन गहि लै चल्यौ[3] चितवनि-चैंपु[4] लगाइ ॥ १४७ ॥

**बन-तन**=वन की ओर ॥ **लसत**=क्रीड़ा करता हुआ ॥ **चैंपु**=लासा ॥

( अवतरण )—नायिका अपने द्वार पर निकल आई थी । इतने ही में नायक उसकी ओर मुसकिराता हुआ आ कर और उसको प्यार की दृष्टि से देख कर वन की ओर चला । नायिका उसकी उस लगावट की चितवन से ऐसी मोहित हो गई कि उसके नेत्र नायक के पीछे लग लिए, जिससे आकर्षित हो कर वह स्वयं भी उधर ही चल पड़ी । अपनी अंतरंगिनी सखी के यह कहने पर कि तू कहाँ चल रही है, वह उत्तर देती है कि मैं क्या करूँ, मेरी आँखों को वह फँसाए लिए जाता है—

( अर्थ )—[ हे सखी ! मैं क्या करूँ, मेरे घर से ] निकलते ही [ वह ] हँसता हँसता क्रीड़ा करता हुआ इधर आ कर, [ मेरे ] दृग-रूपी खंजों को [ अपनी ] चितवन-रूपी चैंप लगा कर वन की ओर पकड़ ले चला [ अतः मैं उसी के पीछे चल रही हूँ ] ॥

खंजों को बहेलिए जंगल से पकड़ कर नगर में लाते हैं, पर इस दोहे में यह विलक्षणता है कि नागर नायक का नायिका के दृग-रूपी खंजों को नगर से पकड़ कर वन की ओर ले चलना कहा गया है ॥



मरनु भलौ बरु बिरह तैं, यह निहचय[5] करि जोइ ।
मरन मिटै दुखु एक कौ, बिरह दुहूँ दुखु होइ ॥ १४८ ॥

१. लैं ( ५ ) । २. बनठन ( २ ) । ३. गए ( २, ४ ) । ४. चोप ( ४ ) । ५. बिचार ( २ ) ।

( अवतरण )—परस्परानुरक्त नायक नायिका कुछ ऐसे झंडस में पड़े थे कि यद्यपि विरह से व्याकुल रहते थे, तथापि मिल नहीं सकते थे। अंत को नायिका के प्राण प्रयाण कर गए। नायक अत्यंत अधीर हो कर बिलख रहा है। उसके अंतरंग मित्र तथा सखियाँ इत्यादि उसको धैर्यावलंबन करने के लिए समझाते हैं—

( अर्थ )—विरह [ के दुःख भोगने ] से [ तो उसके लिये ] प्रत्युत मरना [ ही ] अच्छा था, यह [ तुम ] निश्चय कर के समझ लो, [ क्योंकि ] मरने से एक का दुःख [ तो ] मिट जाता है, [ पर ] विरह से दोनों को दुःख होता है, [ अतः तुमको उसके मरने पर दुःख न करना चाहिए, प्रत्युत यह समझ कर धैर्य धरना चाहिए कि चलो, वह बेचारी तो दारुण दुःख से छूट गई। हम तो पुरुष-शरीर हैं, किसी न किसी प्रकार झेल ही लेंगे, पर उस कोमलांगी, प्राण से भी अधिक प्रिय अबला के निमित्त विरह-दुःख सहना बड़ा ही कठिन था। इसके अतिरिक्त यह विरह-दुःख तो अनिवार्य ही था, इसलिये यदि दोनों में से एक उससे मुक्त हो गया, तो अच्छा ही हुआ ] ॥

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु सँग[1] साथु।
आँखिनु[2] हीँ मैँ हँसि, धर्यौ सीस हियैँ[3] धरि हाथु ॥ १४९ ॥

**अमिलु**=बेमेल, जिससे अपना मन नहीं मिला है ॥

( अवतरण )—सखी सखी से क्रियाविदग्धा नायिका के भाव का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ नायिका अपने अथवा नायक के ] संग में अमिल ( बिना मन मिले हुए लोगों का ) साथ देख कर, नायक को लक्षित कर के, हर्ष-पूर्वक कुछ बोली नहीं ( बोल न सकी )। [ पर उसने ] आँखों ही में हँस कर, हाथ को छाती पर रख सिर पर रक्खा ॥

आँखों ही में हँसने से उसने नायक के दर्शन से प्रसन्नता प्रकट की, और हृदय पर हाथ रखने से यह सूचित किया कि मैं तुमको अपने हृदय में स्थापित करती हूँ। फिर सिर पर हाथ रखने से यह व्यंजित किया कि तुमने जो चेष्टा-द्वारा मिलने की प्रार्थना की, वह शिरोधार्य है; पर इस सुख की प्राप्ति भाग्य के हाथ है ॥

को जानै, ह्वैहै कहा; ब्रज उपजी अति आगि।
मन[4] लागै[5] नैननु लगैं[6], चलै[7] न मग लगि[8] लागि ॥ १५० ॥

**अति आगि**=बड़ी भारी आग। बड़ी विलक्षण, अर्थात् बहुत शीघ्र तथा बहुत सहज में सुलगने वाली और न लगने योग्य वस्तु में भी लग जाने वाली, आग ॥ **मन**=( १ ) हृदय। ( २ ) मानस, मानसरोवर। मानसरोवर से यहाँ अभिप्राय ताल मात्र से है। मन शब्द में श्लिष्टपद-मूलक रूपक है। अतः इसका अर्थ मन-रूपी ताल होता है। इस शब्द का ऐसा ही प्रयोग बिहारी ने १८वें दोहे में भी किया है ॥ **नैननु**—इस शब्द के भी यहाँ दो अर्थ हैं—( १ ) आँखों। ( २ ) नमित होने वाले, अर्थात् कोमल, पदार्थों ॥ **लगैं**—इस

१. सब ( २, ४ )। २. अँखियनि ( २ )। ३. पै ( २ )। ४. मनु ( २ )। ५. लागैं ( १, २ )। ६. लगो ( ४ )। ७. चलौ ( १ ), चलो ( ४ )। ८. सँग ( ४ )।

शब्द के भी यहाँ दो भावार्थ हैं—( १ ) नयन-पक्ष में—मिलने से, आसक्त होने से। ( २ ) कोमल पदार्थ के पक्ष में—टकराने से, घिसने से। ११८वें अंक के दोहे में भी 'लगत' शब्द का ऐसा ही प्रयोग है॥ **लगि**=तक॥ **लागि**=लग कर, पास हो कर॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका विरह से संतप्त हो कर स्वगत अथवा अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—**कौन जाने, [ यहाँ ] क्या होगा ( होने वाला है )। व्रज में बड़ी विलक्षण अग्नि उत्पन्न हुई है, [ जो ] नयन-रूपी कोमल पदार्थों के [ परस्पर ] लगने से मन-रूपी सरोवर में लग जाती है। [ यह व्रज तो अब ऐसा हो रहा है कि कोई इसके ] मार्ग तक के पास हो कर न चले॥**

इस दोहे का भाव ११८-संख्यक दोहे से मिलाने के योग्य है॥

---

**घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।**
**दियैं लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ॥ १५१॥**

**चसमा** ( चश्मा )=ऐनक। यह शब्द फ़ारसी भाषा का है। चश्मे कई प्रकार के होते हैं। एक प्रकार का चश्मा ऐसा होता है, जिसके लगा लेने से छोटी वस्तु बड़ी दिखलाई देने लगती है॥

( अवतरण )—लोभ की निंदा पर कवि की उक्ति—

( अर्थ )—**[ लोभी मनुष्य ] घर घर दीन हो कर ( गिड़गिड़ाता हुआ ) फिरता है, [ और ] जन जन ( प्रत्येक सामान्य व्यक्ति ) से जा कर याचना करता है ( माँगता है )। [ इस बात का विचार नहीं करता कि जिस मनुष्य से वह याचना करता है, वह याचना करने के योग्य महान् पुरुष है, अथवा पास भी खड़े रहने के अयोग्य लघ्वात्मा व्यक्ति; क्योंकि उसको तो ] लोभ-रूपी चश्मा आँखों पर दिए रहने के कारण लघु [ प्राणी ] भी बड़ा लक्षित होता ( जान पड़ता ) है॥**

---

**लै चुभकी चलि जाति जित जित जल-केलि-अधीर।**
**कीजत केसरि-नीर से तित[1] तित के सरि-नीर॥ १५२॥**

**केसरि** ( केशर )=कुंकुम॥ **सरि-नीर**=सरिता का पानी॥

( अवतरण )—जल-केलि करती हुई नायिका को दिखला कर सखी नायक का ध्यान उसकी गुराई पर दिलाती है—

( अर्थ )—**[ देखो, वह ] जल-केलि में अधीर ( चंचलता से जल-केलि करती हुई ) [ नायिका ] जिस जिस ओर चुभकी ( डुबकी ) ले कर चली जाती है, उस उस ओर के नदी के जल [ उसकी पीत द्युति की आभा से ] केसर के जल [ केसर घोले हुए जल ) के सदृश कर दिए जाते हैं ( बना दिए जाते हैं )॥**

---

१. जित तित ( २ )।

छिरकै नाह नवोढ़-दृग कर-पिचकी-जल-जोर ।
रोचन-रँग-लाली भई बियतिय-लोचन-कोर ॥ १५३ ॥

**नवोढ़** ( नवोढ़ा )=नई ब्याही हुई ॥ **कर-पिचकी**=हाथ की पिचकारी, हाथों को मिला कर बनाई हुई पिचकारी ॥ **जल-जोर**=जल-वेग अर्थात् जल की धारा ॥ **रोचन**=गोरोचन ॥ **बिय**=दूसरी ॥

( अवतरण )—सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ जल-क्रीड़ा के समय ] नाह ( नाथ अर्थात् नायक ) ने हाथ की पिचकारी की जल-धारा से दृग [ तो ] नई ब्याही हुई [ नायिका ] के छिड़के, [ और ] गोरोचन के रंग की लाली हुई अन्य स्त्री की आँखों की कोरों में ॥

अन्य स्त्री की आँखोँ मैँ लाली ईर्षा तथा रोष से हुई । विलक्षणता यह है कि पानी और की आँखोँ मैँ पड़ा, और लाली और की आँखोँ मैँ हुई ॥

---

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुटु, बनमाल ॥ १५४ ॥

**लड़ैते**=लाड़ले ॥ **बेहाल**=विह्वल, देहाध्यास-रहित ॥

( अवतरण )—नायक नायिका के कटाक्षोँ से घायल हो कर तड़प रहा है । उसकी दशा सखी नायिका से कहती है—

( अर्थ )—[ तूने अपने ] दृग [ ऐसे ] लड़ैते क्या कर रक्खे हैँ [ कि उनके मारे ] लाल बेहाल ( बेसुध ) पड़े हैँ । मुरली कहीं, पीत पट कहीँ [ तथा ] मुकुट [ और ] वन-माला कहीँ [ पड़े लुटक रहे हैँ ] ॥

---

राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत ।
दंपति रति-बिपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ लेत ॥ १५५ ॥

**संकेत**=पहिले से स्थिर किया हुआ स्थान ॥ **सहज**=प्राकृत, स्वाभाविक ॥

( अवतरण )—दंपति के लीला हाव मैँ विपरीत रति का सुख प्राप्त करने का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—श्रीराधिकाजी श्रीकृष्णचंद्र का रूप धारण कर के [ और ] श्रीकृष्णचंद्र श्री-राधिकाजी का वेष बना कर संकेत-स्थल में आए हैं, [ और ] दंपति स्वाभाविक रति में भी विपरीत रति का सुख ले रहे हैं ॥

---

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल ।
भैंट होत जयसाहि सौँ भागु चाहियतु भाल ॥ १५६ ॥

---

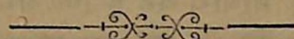
१. करि ( २, ४, ५ ) । २. कहूँ मुरलिका पीत पट ( १ ) । ३. लकुट ( २ ), मुकुट ( ४ ) । ४. मुक्ता ( ४ ) । ५. लाल ( १, ४ ) । ६. भएँ ( २ ) । ७. साह ( १ ) ।

**निगुनी** ( निर्गुणी )=गुणहीन ॥ **धनु**=रुपया, अशरफ़ी इत्यादि ॥ **मनि-मुत्तिय-माल**=मणि तथा मोतियों की माला ॥ **भेंट होत**=भेंट होते समय ॥ **भागु**=सौभाग्य ॥ **चाहियतु**=चाहिए होता है, आवश्यक होता है ॥ **भाल**=ललाट में ॥

( अवतरण )—कवि राजा जयशाह की उदारता की प्रशंसा करता है—

( अर्थ )—राजा जयशाह से [ केवल ] भेंट होने के समय ( भेंट होने के निमित्त ) [ याचकों को अपने ] भाल में भाग्य की आवश्यकता पड़ती है। [ भेंट हो जाने पर, चाहे उनके भाल में सौभाग्य लिखा हो अथवा नहीं, और चाहे वे गुणहीन हों अथवा गुणी, सभी संपत्तिशाली हो जाते हैं ] निर्गुणी धन पा कर चलता है ( लौटता है ), [ और ] गुणी मणिमुक्ताओं की मालाएँ पा कर। [ भावार्थ यह है कि भाग्यवान् तथा गुणी को तो सब ही देते हैं, पर जयशाह अभागी एवं गुणहीन को भी संपत्तिवान् बना देता है ] ॥

पुराने राजों में प्रथा यह थी कि वे गुणहीन याचकों को धन एवं गुणियों को, उनके प्रतिष्ठार्थ, मणिमुक्तादि की मालाएँ देते थे, अतः कवि ने गुणहीनों तथा गुणवानों के निमित्त यथासंख्य धन तथा मणिमुक्तादि की मालाओं का पाना कहा है ॥

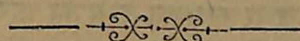


**जसु अपजसु देखत नहीं देखत साँवल-गात।**
**कहा करौं, लालच-भरे चपल नैन चलि जात ॥ १५७ ॥**

**साँवल-गात**=साँवले गात वाले अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र ॥ **लालच-भरे चपल**=सौंदर्य-अवलोकन की लालसा से पूरित होने के कारण चंचल ॥

( अवतरण )—श्रीकृष्णचंद्र को देख कर नायिका के नयन उन्हीं की ओर जाते हैं। सखी उसे शिक्षा देती है कि परपुरुष को इस प्रकार बेधड़क देखना कुल-वधुओं को उचित नहीं है, इससे तुझे कलंक लगेगा। उत्तर में नायिका कहती है—

( अर्थ )—क्या करूँ ( मेरा कुछ वश नहीं चलता ), [ मेरे ये ] लालच-भरे चपल नयन श्यामसुंदर को देखते [ ही ] यश अपयश नहीं देखते ( विचारते ), [ उसी ओर ] चले जाते हैं ॥



**नख-सिख-रूप भरे खरे, तौ[2] माँगत मुसँकानि[3]।**
**तजत न लोचन लालची[1] ए ललचौहीं बानि ॥ १५८ ॥**

( अवतरण )—नायिका खड़ी नायक को देख रही है। सखी उससे कहती है कि अब तो तू भली भाँति देख चुकी, चलती क्यों नहीं। नायिका कहती है कि वह नेंक मेरी ओर देख कर मुसकिरा दें, तो चलूँ—

( अर्थ )—[ यद्यपि मेरे नेत्र नायक के ] नख-सिख-सौंदर्य से भली भाँति भर गए हैं,

१. लालिच ( १, २ ) । २. तउ ( ५ ) । ३. मुसिकानि ( १ ), मुसुकानि ( ४ ) ।

तथापि [ उसकी ] मुसकिराहट की चाहना कर रहे हैं। ये लालची लोचन ललचाने ( अधिक अधिक लालसा करने ) की बान[1] ( प्रकृति ) नहीं छोड़ते ॥

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि[3], तुम्हैं[4] पत्याइ॥ १५६॥

छिगुनी=कानी अँगुली॥ गिलत=निगल लेते हो॥ बलि=राजा बलि॥ बावन=वामनावतार-धारी भगवान्॥

( अवतरण )—नायक किसी नायिका के रूप, गुण इत्यादि का वर्णन सुन कर, अथवा कहीं उसकी झलक देख कर, रीझ गया है, और उसकी सखी से प्रार्थना करता है कि और नहीं तो नैंक उसका दर्शन तो करा दे। इस पर सखी नायक से परिहास करती है—

( अर्थ )—[ तुम्हारी तो यह रीति है कि ] बड़ी दीनता दिखला कर अँगुली छू ( छूते ही ) [ चट ] प्रहुँचा निगल ( पकड़ ) लेते हो। मैं तुम्हारी बलि गई, राजा बलि [ तथा ] वामन भगवान् का ब्यौंत ( डौल, वृत्तांत ) सुनने के पश्चात् तुमको कौन पतियाय ( तुम्हारा कौन विश्वास करे )। [ भावार्थ यह है कि अभी तो तुम मुझसे उसके दर्शन करा देने मात्र के निमित्त गिड़गिड़ा रहे हो, पर चार आँखें होते ही तुम उसका हृदय तक हरण कर लोगे, और फिर किसी की सुनोगे भी नहीं ]॥

इस परिहास से वह चतुर सखी नायक से यह वचन ले लिया चाहती है कि मैं सदा उस पर एकरस प्रेम रक्खूँगा॥

नैना नैंक न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ।
तनु मनु हारैं हूँ हँसैं, तिन सौं कहा बसाइ॥ १६०॥

बसाइ=बस चले॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका नायक को देख कर मुसकिराती है। सखी शिक्षा देती है कि परपुरुष को देख इस प्रकार मुसकिराना उचित नहीं है। नायिका अपनी अनुराग-विवशता प्रकट करती हुई उत्तर देती है—

( अर्थ )—[ मैंने इनसे ] कितना समझा समझा कर कहा, [ पर ] नैना ( १. दृग। २. जिसमें नीति नहीं है अर्थात् अनीतिज्ञ ) नैंक ( १. किंचिन्मात्र भी। २. नीति ) नहीं मानते। [ भला जो ] तन मन हारने पर भी हँसते रहते हैं ( कुछ चिंता नहीं करते ), उन [ नासमझ जुवारियों ] से क्या वश चल सकता है॥

यदि कोई कच्चा जुवारी होता है, तो हारने पर उसके चित्त में खेद तथा ग्लानि उत्पन्न होती है, और वह इष्ट मित्रों के समझाने से जुवा खेलना छोड़ देता है। पर जो पक्के जुवारी हैं, वे सर्वस्व हार जाने पर भी ग्लानि नहीं मानते, प्रत्युत हँसते ही रहते हैं। ऐसे अनीतिज्ञ जुवारियों से कुछ समझाना बुझाना नहीं चलता॥

---

१. छिगुरी ( २ )। २. गहत ( २ )। ३. हँरि ( २ )। ४. तुमहि ( १ )।

**मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।**
**बसतु सु चित-अंतर, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ॥ १६१॥**

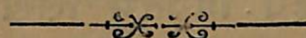
**मोहन-मूरति** = मोहने वाली मूर्ति है जिसकी ऐसे। यह समस्त पद 'स्याम' शब्द का विशेषण है॥

(अवतरण)—कोई भक्त, जिसके हृदय मैं श्यामसुंदर बस गए हैं, और जिसको समस्त जगत् मैं सब पदार्थ श्याममय ही दिखलाई देते हैं, अपने मन से कहता है—

(अर्थ)—[हे मन,] मोहिनी मूर्ति वाले श्याम की [यह] अति अद्भुत गति (रीति, व्यवस्था) देख [कि यद्यपि] वह बसते [तो] चित्त के भीतर हैं, तथापि प्रतिबिंबित जगत् में होते हैं (अपना रूप जगत् के सब पदार्थों में दिखलाते हैं, अर्थात् श्यामसुंदर के हृदय में बसने से सर्व जगत् तन्मय दिखाई देने लगता है)॥

अद्भुतता यह है कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के भीतर रहती है, उसका प्रतिबिंब बाहर नहीं पड़ता; पर श्याम यद्यपि चित्त के भीतर बसते हैं, तथापि जगत् भर मैं उन्हीं का प्रतिबिंब भक्त को दिखलाई देता है॥

'मोहन-मूरति', यह विशेषण कवि ने यही सूचित करने के लिये रक्खा है कि श्यामसुंदर की मूर्ति मैं ऐसी मोहिनी शक्ति है कि उनके हृदय मैं बसते ही चित्त मोहित हो कर सब जगत् को तन्मय देखने लगता है॥



**लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकट[1] की छाँह।**
**चटक-भर्यौ नटु मिलि गयौ अटकभटक-बट[2] माँह॥ १६२॥**

**डटतु** = सजधज से शोभा देता हुआ॥ **अटकभटक-बट** = भूलभुलैयाँ का रास्ता। 'अटकभटक' भूलभुलैयाँ को कहते हैं। उसमैं कुछ ऐसे घुमावफिराव के मार्ग बने रहते हैं, जिनमैं पड़ कर मनुष्य ठीक मार्ग बड़ी कठिनता से पाता है। 'बट' बाट का विकृत रूप है। बहुत से शब्दों के दीर्घ स्वरों को, समास होने पर, लघुता प्राप्त हो जाती है, जैसे 'पनिघट', बटपरा, नवठट इत्यादि मैं। अथवा 'अटकभटक-बट' का अर्थ भूलभुलैयाँ वाला वट वृक्ष करना चाहिए। भांडीर वन मैं अभी तक कुछ ऐसे वट के पुराने वृक्ष हैं, जिनकी बरोहैं लटक लटक कर इस प्रकार जम गई हैं कि उनके नीचे भूलभुलैयाँ सी बन गई हैं॥

(अवतरण)—नायिका को श्रीकृष्णचंद्र के साथ भांडीर वन से निकलते कुछ सखियों ने देख लिया है, एवं उसको प्रेम-क्रीड़ा मैं लगे रहने के कारण घर आने मैं विलंब भी हो गया है। अतः वह अपनी वास्तविक बात छिपाने के लिये सखियों से कहती है—

(अर्थ)—[दैवयोग से आज मुझे] अटकभटक-बट मैं [जहाँ मैं भूल कर बड़ी देर से भटक रही थी] लटक लटक कर (झूम झूम कर) लटकता (झुकता हुआ) चलता, [तथा] मुकुट की छाया (झलक) से डटता (शोभित होता हुआ) [एक] चटक-भरा (चटकीली छवि से भरा हुआ अथवा फुर्तीला) नट मिल गया [जिसने मुझे वन के बाहर पहुँचा दिया]॥

१. मुकुट (४, ५)। २. बन (४)।

तथापि [ उसकी ] मुसकिराहट की चाहना कर रहे हैं। ये लालची लोचन ललचाने ( अधिक अधिक लालसा करने ) की बान ( प्रकृति ) नहीं छोड़ते ॥

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि[3], तुम्हैं[4] पत्याइ॥ १५९॥

छिगुनी=कानी अँगुली ॥ गिलत=निगल लेते हो ॥ बलि=राजा बलि ॥ बावन=वामनावतार-धारी भगवान् ॥

( अवतरण )—नायक किसी नायिका के रूप, गुण इत्यादि का वर्णन सुन कर, अथवा कहीं उसकी झलक देख कर, रीझ गया है, और उसकी सखी से प्रार्थना करता है कि और नहीं तो नैंक उसका दर्शन तो करा दे। इस पर सखी नायक से परिहास करती है—

( अर्थ )—[ तुम्हारी तो यह रीति है कि ] बड़ी दीनता दिखला कर अँगुली छू ( छूते ही ) [ चट ] पहुँचा निगल ( पकड़ ) लेते हो। मैं तुम्हारी बलि गई, राजा बलि [ तथा ] वामन भगवान् का ब्यौंत ( डौल, वृत्तांत ) सुनने के पश्चात् तुमको कौन पतियाय ( तुम्हारा कौन विश्वास करे )। [ भावार्थ यह है कि अभी तो तुम मुझसे उसके दर्शन करा देने मात्र के निमित्त गिड़गिड़ा रहे हो, पर चार आँखें होते ही तुम उसका हृदय तक हरण कर लोगे, और फिर किसी की सुनोगे भी नहीं ]॥

इस परिहास से वह चतुर सखी नायक से यह वचन ले लिया चाहती है कि मैं सदा उस पर एकरस प्रेम रक्खूँगा ॥

नैना नैंक न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ।
तनु मनु हारैं हूँ हँसैं, तिन सौं कहा बसाइ॥ १६०॥

बसाइ=बस चले ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका नायक को देख कर मुसकिराती है। सखी शिक्षा देती है कि परपुरुष को देख इस प्रकार मुसकिराना उचित नहीं है। नायिका अपनी अनुराग-विवशता प्रकट करती हुई उत्तर देती है—

( अर्थ )—[ मैंने इनसे ] कितना समझा समझा कर कहा, [ पर ] नैना ( १. दृग। २. जिसमें नीति नहीं है अर्थात् अनीतिज्ञ ) नैंक ( १. किंचिन्मात्र भी। २. नीति ) नहीं मानते। [ भला जो ] तन मन हारने पर भी हँसते रहते हैं ( कुछ चिंता नहीं करते ), उन [ नासमझ जुवारियों ] से क्या वश चल सकता है॥

यदि कोई कच्चा जुवारी होता है, तो हारने पर उसके चित्त में खेद तथा ग्लानि उत्पन्न होती है, और वह इष्ट मित्रों के समझाने से जुवा खेलना छोड़ देता है। पर जो पक्के जुवारी हैं, वे सर्वस्व हार जाने पर भी ग्लानि नहीं मानते, प्रत्युत हँसते ही रहते हैं। ऐसे अनीतिज्ञ जुवारियों से कुछ समझाना बुझाना नहीं चलता॥

---

१. छिगुरी ( २ )। २. गहत ( २ )। ३. हरि ( २ )। ४. तुमहि ( १ )।

**मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।**
**बसतु सु चित-अंतर, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ॥ १६१॥**

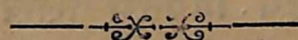
**मोहन-मूरति** = मोहने वाली मूर्ति है जिसकी ऐसे। यह समस्त पद 'स्याम' शब्द का विशेषण है॥

(अवतरण)—कोई भक्त, जिसके हृदय में श्यामसुंदर बस गए हैं, और जिसको समस्त जगत् में सब पदार्थ श्याममय ही दिखलाई देते हैं, अपने मन से कहता है—

(अर्थ)—[हे मन,] मोहिनी मूर्ति वाले श्याम की [यह] अति अद्भुत गति (रीति, व्यवस्था) देख [कि यद्यपि] वह बसते [तो] चित्त के भीतर हैं, तथापि प्रतिबिंबित जगत् में होते हैं (अपना रूप जगत् के सब पदार्थों में दिखलाते हैं, अर्थात् श्यामसुंदर के हृदय में बसने से सबै जगत् तन्मय दिखाई देने लगता है)॥

अद्भुतता यह है कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के भीतर रहती है, उसका प्रतिबिंब बाहर नहीं पड़ता; पर श्याम यद्यपि चित्त के भीतर बसते हैं, तथापि जगत् भर में उन्हीं का प्रतिबिंब भक्त को दिखलाई देता है॥

'मोहन-मूरति', यह विशेषण कवि ने यही सूचित करने के लिये रक्खा है कि श्यामसुंदर की मूर्ति में ऐसी मोहिनी शक्ति है कि उनके हृदय में बसते ही चित्त मोहित हो कर सब जगत् को तन्मय देखने लगता है॥



**लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट[1] की छाँह।**
**चटक-भर्यौ नटु मिलि गयौ अटकभटक-बट[2] माँह॥ १६२॥**

**डटतु** = सजधज से शोभा देता हुआ॥ **अटकभटक-बट** = भूलभुलैयाँ का रास्ता। 'अटकभटक' भूलभुलैयाँ को कहते हैं। उसमें कुछ ऐसे घुमावफिराव के मार्ग बने रहते हैं, जिनमें पड़ कर मनुष्य ठीक मार्ग बड़ी कठिनता से पाता है। 'बट' बाट का विकृत रूप है। बहुत से शब्दों के दीर्घ स्वरों को, समास होने पर, लघुता प्राप्त हो जाती है, जैसे 'पनिघट', बटपरा, नवठट इत्यादि में। अथवा 'अटकभटक-बट' का अर्थ भूलभुलैयाँ वाला वट वृक्ष करना चाहिए। भांडीर वन में अभी तक कुछ ऐसे वट के पुराने वृक्ष हैं, जिनकी बरोहैं लटक लटक कर इस प्रकार जम गई हैं कि उनके नीचे भूलभुलैयाँ सी बन गई हैं॥

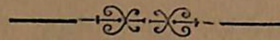
(अवतरण)—नायिका को श्रीकृष्णचंद्र के साथ भांडीर वन से निकलते कुछ सखियों ने देख लिया है, एवं उसको प्रेम-क्रीड़ा में लगे रहने के कारण घर आने में विलंब भी हो गया है। अतः वह अपनी वास्तविक बात छिपाने के लिये सखियों से कहती है—

(अर्थ)—[दैवयोग से आज मुझे] अटकभटक-बट में [जहाँ मैं भूल कर बड़ी देर से भटक रही थी] लटक लटक कर (झूम झूम कर) लटकता (झुकता हुआ) चलता, [तथा] मुकुट की छाया (झलक) से डटता (शोभित होता हुआ) [एक] चटक-भरा (चटकीली छवि से भरा हुआ अथवा छबीला) नट मिल गया [जिसने मुझे वन के बाहर पहुँचा दिया]॥

---

१. मुकुट (४, ५)। २. बन (४)।

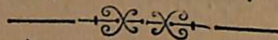
यह गुप्ता नायिका ऐसी चतुर है कि श्रीकृष्णचंद्र का नाम नहीं लेती, प्रत्युत उनके रूप, चेष्टा इत्यादि से उनका वर्णन करती है, जिससे यह जान पड़े कि वह उनसे पहिले से परिचित नहीं थी तथा वन में भी वह उनके साथ देर तक नहीं रही कि उनसे नाम इत्यादि पूछने का अवसर उसे प्राप्त होता॥



मलिन देह, वेई बसन, मलिन बिरह कैं रूप।
पिय-आगम और चढ़ी आनन ओप अनूप॥ १६३॥

( अवतरण )—आगमिष्यत्पतिका नायिका का वर्णन सखी सखी से करती है कि यद्यपि उसने प्रियतम की अवाई का समाचार न मिलने के कारण कोई शृंगार इत्यादि नहीं किया है, तथापि, सच्चे प्रेम के कारण, उसके हृदय में उस परम शुभ अवसर के निकट होने का भान हो गया है, जिससे रक्त की गति तीव्र हो जाने के कारण उसके आनन की द्युति दीप्त हो गई है—

( अर्थ )—मलिन शरीर, उन्हीं वस्त्र ( बिना बदले हुए वस्त्र ), [ तथा ] विरह के मलिन रूप ( अवस्था ) में [ स्थित रहने पर भी ] प्रियतम की अवाई [ होने के कारण उसके ] आनन ( मुख ) पर कुछ और ही अनूप ओप ( चमक ) चढ़ गई है॥

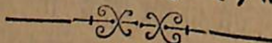


रँगराती रातैं हियैं प्रियतम लिखी बनाइ।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाइ॥ १६४॥

रँगराती=अनुराग से रँगी अर्थात् अनुरागमयी॥ रातैं हियैं=अनुरक्त हृदय से॥ काती=कतरनी॥

( अवतरण )—नायक ने अपने परदेश से शीघ्र ही लौटने का समाचार बड़े धैर्य देने वाले शब्दों में बना कर लिखा है। उस पत्रिका को नायिका कलेजे से लगा कर दुःख का निवारण करती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम-द्वारा अनुरक्त हृदय से [ धैर्य देने वाले शब्दों में ] बना कर लिखी गई अनुरागमयी पत्रिका [ को, जो कि ] विरह की [ काटने वाली ] कतरनी [ है, नायिका ] छाती से लगा कर रखी है ( स्थित हुई है )॥



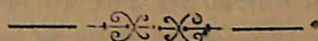
लाल, अलौलिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाँति।
आजकाल्हि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति॥ १६५॥

अलौलिक=अल्हड़। अलोल अथवा अल्हड़ ऐसी अवस्था को कहते हैं, जिसमें खेलकूद की उमंग भरी रहती है, और दूसरी बातों पर ध्यान नहीं जाता॥ सिहाँति=सिहाती हैं। किसी व्यक्ति को उत्तम देख कर मन में उसकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भी वैसे ही होने की अभिलाषा करने को सिहाना कहते हैं। यह शब्द शत्रु तथा मित्र दोनों के विषय में प्रयुक्त होता है। शत्रु के संबंध से इसका अर्थ ईर्षा करना, और मित्र के संबंध से संतुष्ट होना, है॥

२. औरै (४)। २. चढ़ी (४, ५)।

( अवतरण )—अंकुरितयौवना नायिका के शरीर में यौवनागमन का वर्णन सखी नायक से करती है—

( अर्थ )—हे लाल, [ उसका ] अलौलिक लड़कपन देख देख कर [ और की कौन कहे, उसकी ] सखियाँ [ भी ] सिहाती हैं। आज ही काल में ( दो ही एक दिन से ) [ उसका ] उर ( वक्षस्थल ) [ कुछ ] उकलौंहीं भाँति ( उभरने पर आया हुआ सा ) देखा जाता है॥

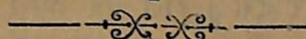


**बिलखी डभकौंहैं चखनु तिय लखि, गवनु बराइ।**
**पिय गहबरि आएँ गरैं राखी गरैं लगाइ॥ १६६॥**

**बराइ**=बचा कर, टाल कर॥ **गहबरि आएँ**=भर आने से, रुँध जाने से॥ **राखी गरैं लगाइ**=गले से लिपटा कर उसकी रक्षा की, अथवा गले से कुछ देर लिपटी रक्खी॥

( अवतरण )—प्रवत्स्यत्प्रेयसी नायिका की आँखों में आँसू भरा देख कर नायक का गला भर आया, और उसने गमन रोक कर उसे अपने गले से लिपटा लिया। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ उस ] स्त्री को डभकौंहें ( आँसू-भरे ) दृगों से बिलखी ( दुखी ) देख कर प्रियतम ने [ अपना विदेश ] जाना टाल गले के भर आने से [ उसे समझाने बुझाने में असमर्थ हो कर उसको ] गले से लगा कर रख लिया [ उसके प्राणों की रक्षा की, अथवा उसको कुछ देर गले से लगा रक्खा ]॥

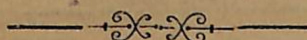


**प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति[1] दीपति दरपन-धाम।**
**सबु जगु जीतन कौं कर्यौ[2] काय-ब्यूहु मनु काम॥ १६७॥**

**दरपन-धाम**=शीशमहल॥ **काय-ब्यूहु**=युद्ध के निमित्त सैनिकों के किसी विशेष शृंखला-बद्ध स्थिति से स्थित होने को व्यूह कहते हैं। इसी का नाम मोरचा भी है। 'काय-ब्यूहु' का अर्थ शरीरों का मोरचा होता है॥

( अवतरण )—आमेरगढ़ में राजा जयशाह ने एक शीशमहल बनवाया था, जो अब भी विद्यमान है। उसमें छोटे छोटे शीशे इस प्रकार जड़े हैं कि उनमें बिंब प्रतिबिंब पड़ कर चारों ओर एक मनुष्य के अगणित श्रेणी-बद्ध रूप दिखलाई देते हैं। उसी का वर्णन तथा राजा जयशाह के सौंदर्य की प्रशंसा कवि इस दोहे में करता है—

( अर्थ )—जयशाह की प्रतिबिंबित द्युति दर्पणधाम में [ ऐसी ] दीपती है, मानो सब जगत् जीतने के निमित्त कामदेव ने [ माया से अनंत रूप धारण कर के उनका ] काय-व्यूह बनाया है॥



**बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु माँह।**
**लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह॥ १६८॥**

---

१. सिंघ ( ४ ), सिंह ( ५ )। २. सब जगती जीतन रच्यौ ( ५ )।

**लोइन-कोइनु**=लोचनों के कोयों में ॥ **छाँह**=छाया, आभा ॥

( अवतरण )—प्रातःकाल नायक नायिका के घर आया है। उसकी आँखों में, रात को अन्य स्त्री के साथ जागने के कारण, लाली छाई हुई है, और इधर नायिका की आँखें भी रोष से लाल हो रही हैं। शठ नायक नायिका की आँखों की लाली का कारण ऐसी भोली बातों से पूछता है, मानो उसका कुछ अपराध ही नहीं है, और खंडिता नायिका उसे उत्तर देती है—

( अर्थ )—हे बाला, [ तेरी ] आँखों के कोयों में लाली क्यों हो आई है। हे लाल, [ यह मेरी आँखों में लाली नहीं हो आई है, प्रत्युत ] तुम्हारी आँखों की आभा [ मेरी ] आँखों में पड़ी है [ अर्थात् तुम अपनी आँखें तो देखो कि रात भर जागने से कैसी लाल हो रही हैं ] ॥

**तरुनकोकनद-बरनबर भए अरुन निसि जागि।**
**वाही कैं अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि॥ १६९॥**

**तरुन** ( तरुण )=यौवनावस्था को प्राप्त। यहाँ इसका अर्थ खिले हुए है ॥ **कोकनद**=लाल कमल ॥ **अनुरागि**=अनुरक्त हो कर, रँग कर ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा खंडिता अधीरा नायिका का वचन नायक से—

( अर्थ )—हे लाल, [ तुम्हारे दृग ] रात भर जाग कर तरुण कोकनद के सुंदर रंग के लाल हो गए हैं, मानो [ जिस स्त्री के साथ तुम जागे हो, ] उसी के अनुराग से [ जो तुम्हारे हृदय में है, तुम्हारे ] दृग रँग रहे हैं [ अर्थात् तुम्हारे दृगों की लाली से तद्विषयक अनुराग प्रकट होता है ] ॥

**तजतु अठान न, हठ पर्यौ सठमति, आठौ जाम।**
**भयौ बामु वा बाम कौं रहै कामु बेकाम॥ १७०॥**

**अठान**=बुरी ठान, दुराग्रह ॥ **सठमति**=दुष्ट ॥ **बामु**=टेढ़ा, प्रतिकूल, दुःखदायी ॥ **बाम** ( वामा )=स्त्री ॥ **बेकाम**=बिना काम ही के, व्यर्थ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—कामदेव उस स्त्री को आठों याम व्यर्थ ( बिना किसी अपराध के ) दुःखदायी हुआ रहता है। [ उस ] दुष्ट ने [ ऐसा ] हठ पकड़ लिया है [ कि अपनी ] बुरी ठान नहीं छोड़ता ॥

**आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।**
**घरहँ[2] जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस[3]-दिन-मानु॥ १७१॥**

**सियरानु**=शीतल हो गया, ठंढा पड़ गया ॥ **घरहँ जँवाई**=घर का जमाई, अर्थात् वह जामाता,

१. सत्रु ( ४ )। २. घर हू जब लो घर खरो पूस मास दिन-मान ( ४ )। ३. पोस ( ५ )।

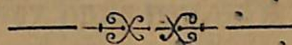
जो ससुराल मैं रहता हो। 'घरहँ' में 'हँ' अपभ्रंश के संबंधकारक की विभक्ति ज्ञात होता है। कदाचित् बिहारी के समय में इसका प्रयोग होता रहा होगा। अब इस अर्थ में 'घर-जमाई' प्रयुक्त होता है॥

( अवतरण )—पौष मास के दिनों के छोटे होने का वर्णन कवि, ससुराल मैं रहने वाले जामाता का परिहास करता हुआ, करता है—

( अर्थ १ )—पूस के दिन का मान ( १. प्रमाण । २. प्रतिष्ठा ) घर-जमाई की भाँति भले प्रकार [ ऐसा ] घट गया है [ कि अब वह ] आता जाता जाना नहीं जाता, [ और ] तेज ( १. उष्णता । २. स्वभाव की उग्रता ) को छोड़ कर ठंढा ( १. शीतल । २. नम्र ) हो गया है॥

किसी किसी ने इस दोहे मैं मान-संबंधी अर्थ भी निकाला है। वह अर्थ भी इस प्रकार हो सकता है—

( अर्थ २ )—घर-जमाई की भाँति पूस के दिन का भली भाँति घटा हुआ मान [ अपनी ] उग्रता छोड़ कर ठंढा पड़ गया है, [ और ] आते जाते जाना नहीं जाता॥

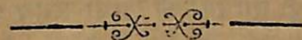


चलत चलत लौं लै चलैं सब सुख संग लगाइ।
ग्रीषम-बासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाइ॥ १७२॥

**ग्रीषम-बासर**=ग्रीष्म ऋतु का सा दिन, अर्थात् बड़ा दुःखद तथा कठिनता से व्यतीत होने वाला दिन॥ **सिसिर-निसि**=शिशिर ऋतु की सी रात, अर्थात् बड़ा कष्ट देने वाली तथा कठिनता से व्यतीत होने वाली रात॥

( अवतरण )—नायक परदेश जाने वाला है। सखियाँ नायिका को धैर्य दे कर समझाती हैं कि तू घबरा मत, वह शीघ्र ही लौट आवैंगे। नायिका कहती है कि तुम मुझे धैर्य क्या देती हो। मैं वियोग-दुःख का अनुभव पहिले भी कर चुकी हूँ। शीघ्र तथा विलंब की बात नहीं है। सब सुख तो उनके चलते ही उनके साथ चले जाते हैं, और मेरे लिये एक एक दिन और रात काटना कठिन हो जाता है—

( अर्थ )—प्रियतम चलते चलते तक ( अर्थात् जाने की कौन कहे, चलते चलते ही ) ग्रीष्म का दिन [ तथा ] शिशिर की रात्रि मेरे पास बसा कर सब सुखों को [ अपने ] साथ लगा ले चलते हैं ( ले जाते हैं ) [ अर्थात् उनके चलने के समय ही मेरे सब सुख पयान कर जाते हैं, और एक एक दिन तथा रात्रि का काटना कठिन हो जाता है ]॥



बेसरि-मोती-दुति-झलक परी ओठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय, क्यौं पट-पौंछ्यौ जाइ॥ १७३॥

( अवतरण )—नायिका के शरीर मैं नवयौवनागमन से ऐसी कांति तथा अमलता बढ़ गई है कि उसके ओठ पर बेसर के मोती का प्रतिबिंब पड़ा है, जिसको वह, दर्पण मैं देख कर, अज्ञात होने के कारण, चूना लगा समझ कर पौंछना चाहती है। सखी उससे परिहास करती हुई कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे ] ओठ पर [ यह ] बेसर के मोती की चमक की झलक आ कर पड़ी

है। हे चतुर ( भोली ) स्त्री, [ यह ] चूना नहीँ है, [ अतएव ] वस्त्र से पोंछने से क्योंकर जा सकता है ॥

'चतुर' शब्द का अर्थ यहाँ लक्षणा से भोली होता है ॥

चितु बितु बचतु न, हरत हठि लालन-दृग बरजोर ।
सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर ॥ १७४ ॥

बितु = धन ॥ बरजोर = बलवान् ॥ बटपरा = बाट में पड़ने वाले अर्थात् आक्रमण करने वाले, डाकू ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—चित्त-रूपी धन बचने नहीँ पाता। लालन के प्रबल दृग [ उसको ] हठात् हर लेते हैं। ये ( लालन के दृग ) सावधान ( सचेत रहने वाले ) के डाकू, [ तथा ] जागते हुए के चोर हैं [ अर्थात् डाकू और चोर तो मनुष्य को असावधान तथा सोया पा कर उसका वित्त हरते हैं, पर ये सचेत तथा जागते रहने पर भी बल-पूर्वक चित्त को हर लेते हैं ] ॥

बिकसित-नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाइ ।
परसि पंजारति बिरहि-हिय बरसि रहे की बाइ ॥ १७५ ॥

( अवतरण )—वर्षा ऋतु के सुगंधित पवन की उद्दीपकता का वर्णन नायिका सखी से करती है—

( अर्थ )—खिलते हुए नवमल्लिका के फूलों से निकलता हुआ परिमल ( सुगंध ) पा कर बरसते हुए [ समय ] का वायु विरही के हृदय को स्पर्श कर के जलाता है ॥

गोप अथाइनु तैं उठे, गोरज छाई गैल ।
चलि, बलि, अलि, अभिसार की भली सँझौखैं सैल ॥ १७६ ॥

अथाइनु = चौपालों, द्वार पर की बैठकों ॥ अभिसार = काव्य में यह एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है, नायिका का नायक के पास जाना ॥ सँझौखैं = संध्या के समय में ॥ सैल ( अरबी सैर ) = जी बहलाने के लिए घूमना फिरना ॥

( अवतरण )—दूती अथवा सखी नायिका को संध्या-समय अभिसार करने की उत्तेजना देती है—

( अर्थ )—गोप अथाइयों से उठ गए हैं, और मार्ग में गोरज छा गई है [ अतः इस समय तुमको कोई देख न सकेगा ]। हे अली, मैं बलि जाती हूँ, [ तू शीघ्र ] चल। अभिसार के निमित्त संध्या-समय सैल ( सैर ) अच्छी होती है ॥

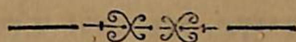
पहुँचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाँहि ।
लाखनु हूँ की भीर मैं आँखि उहीँ चलि जाँहि ॥ १७७ ॥

१. अभिसारिका ( ४ ), अभिसारिके ( ५ )। २. खरी ( ५ )। ३. हरि ( १ )।

( अवतरण )—लक्षिता नायिका की चितवन से उसका लक्ष्य लक्षित कर के सखी कहती है—

( अर्थ )—[ तेरी आँखें ] रणक्षेत्र के सुभट की भाँति डट कर ( निर्भय रूप से ) [ अपने प्रतिद्वंद्वी नायक पर ] पहुँच जाती हैं। सब ( सर्वसाधारण ) [ उनको ] रोक नहीं सकते ( अटका नहीं सकते )। लाखों [ मनुष्यों ] की भीर में भी [ तेरी ] आँखें वहीं [ जहाँ तेरा लक्ष्य नायक है ] चली जाती हैं ॥

युद्ध में जब कोई सुभट लड़ने को आता था, तब वह विपक्ष की सेना के अध्यक्ष ही से भिड़ना चाहता था, और यद्यपि वह अध्यक्ष लाखों सैनिकों की भीड़ से घिरा रहता था, तथापि वह सुभट उस भीड़ को काटता छाँटता उस तक पहुँचने की चेष्टा करता था। यदि वह सुभट बड़ा प्रबल तथा पराक्रमी होता था, तो उसको सामान्य सैनिक रोक नहीं सकते थे, और वह विपक्षी सेना के अध्यक्ष तक पहुँच जाता था ॥

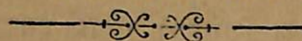


**सरस सुमिल चित-तुरँग की करि करि अमित उठान।**
**गोइ निबाहैं जीतियै खेलि प्रेम-चौगान ॥ १७८ ॥**

**सरस**=( १ ) रसीले। ( २ ) सधे हुए तथा पुष्ट ॥ **सुमिल**=( १ ) अनुरागी। ( २ ) गोल में मिल कर चलने वाले ॥ **उठान**=( १ ) उमंगें। ( २ ) कावे ॥ **गोइ निबाहैं**=( १ ) छिपा कर निर्वाह करने से। ( २ ) गोइ ( गेंद ) को निर्दिष्ट सीमा तक वहन करने से ॥ **चौगान**—फ़ारसी भाषा में एक प्रकार के गेंद के खेल को चौगान कहते हैं, जो अँगरेज़ी खेल पोलो के सदृश घोड़ों पर चढ़ कर खेला जाता है ॥

( अवतरण )—सखी नायिका को शिक्षा देती है कि प्रेम को छिपा कर निर्वाह करने से जीत होती है—

( अर्थ )—चित्त-रूपी सरस [ तथा ] सुमिल घोड़े की अमित ( अनंत ) उठानें कर कर के, गोइ निबाह कर ( १. छिपा कर निर्वाह करने से। २. गोइ ( गेंद ) को निर्दिष्ट सीमा तक वहन करने से ), खेल कर प्रेम-रूपी चौगान जीता जाता है ॥

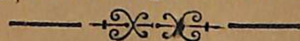


**हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।**
**बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ॥ १७९ ॥**

**मद**=मदिरा ॥ **मद**=नशे से ॥ **उमदाति**=उन्मत्त होती हुई, झूमती हुई ॥ **बलकि बलकि**=बहक बहक कर ॥ **ललकि ललकि**=उमंग से, लज्जा तथा भय छोड़ छोड़ कर ॥

( अवतरण )—सखियों ने नवोढ़ा नायिका को मदिरा से मतवाला कर के नायक को उसके पास बुला दिया है। अब जो चेष्टाएँ नायिका नशे में करती है, उनका वर्णन कोई सखी किसी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ देख, यह ] नवीन स्त्री, मदिरा के नशे से झूमती हुई, हँस हँस कर [ चारों ओर ] देखती है, बहक बहक कर वचन बोलती है, [ और नशे की तरंग में ] उमंग से लज्जा तथा भय छोड़ छोड़ कर [ नायक से ] लिपटती है ॥



मिलि चंदन-बेँदी रही गोरैँ मुँह, न लखाइ ।
ज्यौँ ज्यौँ मद-लाली चढ़ै, त्यौँ त्यौँ उघरति जाइ ॥ १८० ॥

( अवतरण )—नायिका के मुख की गुराई का तथा मद्य-पान से उसमेँ लाली आ जाने का वर्णन सखी नायक से करती है, और उसी वर्णन से यह भी व्यंजित कर देती है कि अब उसको नशा हो रहा है, अतः आपके चलने का यही उपयुक्त समय है—

( अर्थ )—[ उसके ] गोरे मुख में चंदन की बेंदी [ ऐसी ] मिल रही है [ कि ] लक्षित नहीँ होती। ज्यों ज्यों मदिरा-पान की लाली [ उसके मुख पर ] चढ़ती जाती है, त्यों त्यों [ वह बेंदी ] उघरती ( प्रत्यक्ष होती ) जाती है ॥

सोरठा

मैँ समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥ १८१ ॥

निरधार = निश्चय ॥ अपार = अनंत ॥

( अवतरण )—यह किसी ब्रह्मज्ञानी अद्वैतवादी का वाक्य स्वगत अथवा किसी सतसंगी से है—

( अर्थ )—मैंने [ तो यह ] निर्धार ( सिद्धांत ) समझा है [ कि ] यह कच्चा ( असत्य ) जगत् काच के समान है, जहाँ एक ही रूप ( एक ही ईश्वर का रूप ) अपार ( अनंत रूप से ) प्रतिबिंबित भासित होता है [ अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ दिखलाई देते हैं, वे सब एक ही ईश्वर के अनंत रूप की आभा मात्र हैं ] ॥

दोहा

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ[2] लख्यौ[3] स्यामु सुभग-सिरमौरु ।
बिनँ हूँ उन[4] छिनु गहि रहतु दृगनु अजौँ वह ठौरु ॥ १८२ ॥

सुभग-सिरमौरु = भाग्यवानोँ का शिरोमणि । यहाँ इसका अर्थ स्वरूपवानोँ का शिरोमणि है ॥ अजौँ = अब भी; अर्थात् उनके बहुत दिनोँ से यहाँ न रहने पर भी ॥ ठौरु = स्थान । यह शब्द भाषा में प्रायः स्त्रीलिंग-वत् प्रयुक्त होता है । पर इस दोहे से विदित होता है कि बिहारी इसको पुंलिंग मानते थे । सतसई भर में यह शब्द ४ जगह और आया है । पर उन चारोँ जगह इसका प्रयोग ऐसी रीति से हुआ है कि इसका लिंग प्रतीत नहीँ होता ॥

( अवतरण )—श्रीकृष्णचंद्र के मथुरा चले जाने पर व्रज-वधूटियाँ आपस मेँ कहती हैँ कि जिन स्थानोँ पर श्यामसुंदर को खड़ा देखा था, उन स्थानोँ मेँ उनके संसर्ग से कुछ ऐसी रमणीयता आ गई है, और उन्हेँ देख कर उनका कुछ ऐसा स्मरण हो आता है कि अब तक वे स्थान, कृष्णचंद्र के वहाँ उपस्थित न रहने पर भी, आँखोँ को ऐसे प्रिय लगते हैँ कि क्षण भर हम सब श्यामसुंदर के ध्यान मेँ मग्न हो कर उनमेँ लगी रह जाती हैँ—

---

१. मुख ( ४ ) । २. ठाढ़ैं ( २ ), ठाढ़्यौ ( ४ ), ठाढ़े ( ५ ) । ३. लखे ( ५ ) । ४. बिन उन हूँ ( २ ), बिन हूँ पिय ( ४ ) ।

( अर्थ )—जहाँ जहाँ सुंदर पुरुषों के शिरोमणि श्याम ( श्रीकृष्णचंद्र ) को खड़ा देखा था, वह ठौर अब तक उनकी अनुपस्थिति में भी दृगों को क्षण मात्र पकड़ रखता है॥

रँगी सुरत-रँग, पिय-हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठठुकि कै, ऐंड़-भरी ऐंड़ाति॥ १८३॥

**पैंड़ पैंड़**=पग पग॥ **ऐंड़-भरी**=गर्व से भरी हुई॥ **ऐंड़ाति**=ऐंठती है, शरीर की ऐंठ से गर्व प्रकट करती है॥

( अवतरण )—सुरतांत मैं प्रेमगर्विता नायिका की चेष्टा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—प्रियतम के हृदय से लगी रात भर जगी हुई [ यह नायिका ], सुरति-रंग ( संभोग-सुख ) में रँगी ( निमग्न ), पग पग पर ठमक कर, गर्व से भरी हुई, ऐंड़ाती है॥

गर्व उसको इस बात का है कि जो सुख मैंने आज पाया है, वह मेरी सौतों को न मिला होगा। वह संभवतः यह भी सोचती होगी कि आज के समागम मैं मैंने प्रियतम को वशीभूत कर लिया है॥

लालन, लहि पाऍं दुरै चोरी सौंह करैं न।
सीस-चढ़े पनिहा प्रगट कहैं पुकारैं नैन॥ १८४॥

**सौंह**=शपथ॥ **पनिहा** ( प्रणिधाः )=गुप्त चर, जो चोरी का पता लगाता है॥

( अवतरण )—नायक अन्य स्त्री के यहाँ से सबेरे आया है, और झूठी शपथ खा कर अपना अपराध छिपाया चाहता है। पर उसकी आँखें झँपती हुई तथा लाल देख कर प्रौढ़ा अधीरा खंडिता नायिका कहती है—

( अर्थ )—हे लालन, लख पाने पर ( लक्षित कर लेने पर ) चोरी शपथ खाने से नहीं छिपती। [ ये तुम्हारे ] सिर-चढ़े ( ढीठ ) नयन-रूपी पनिहा [ तुम्हारी चोरी ] पुकार पुकार कर प्रकट ( स्पष्ट ) कह रहे हैं॥

तुरत सुरत कैसैं दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंड़ी दै गुन रावरे कहति कनौड़ी डीठि॥ १८५॥

**डौंड़ी**=डुग्गी, ढिंढोरा॥ **कनौड़ी**=अपराध से लज्जित॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा अधीरा खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—तुरत की की हुई सुरति कैसे छिप सकती है! [ तुम्हारे ] नयन [ प्रथम तो मेरे नयनों के सामने होते ही नहीं, और यदि होते भी हैं, तो ] बड़ी कठिनता से जुड़ कर ( मेरी आँखों से मिल कर ) [ और फिर संकुचित हो कर अपराधियों के नेत्रों की भाँति ] मुड़ जाते हैं ( अन्यत्र देखने लगते हैं )। [ तुम्हारी ] कनौड़ी दृष्टि तुम्हारे गुण ( अवगुण ) ढिंढोरा दे कर कह रही है॥

---

१. पाई ( २ )।

मरकत-भाजन-सलिल-गत इंदुकला कैँ बेख ।
झीँन झगा मैँ झलमलै स्यामगात-नखरेख ॥ १८६ ॥

मरकत ( मर्कत ) = नीलमणि ॥ झगा = अँगरखे की भाँति का एक पहिरावा, जिसकी कक्षा मैँ घुन्नट रहती है ॥

( अवतरण )—अन्य स्त्री से रति करने मैँ नायक को नख-क्षत लगा है । उसी को देख कर खंडिता नायिका कहती है—

( अर्थ )—[ आपके ] झीने झगा में श्याम शरीर की ( श्याम शरीर में लगी हुई ) नख-रेखा, नीलम की थाली में भरे हुए जल में पड़ी हुई ( प्रतिबिंबित ) चंद्रकला के वेष से ( की भाँति ) झलमलाती है [ जिसे देख कर मुझे बड़ा दुःख होता है, क्योंकि किसी पात्र के जल में चंद्र का प्रतिबिंब देखना अशुभ है ] ॥

बालमु बारैँ सौति कैँ सुनि परनारि-बिहार ।
भो रसु अनरसु, रिस रली, रीझ खीझ इक बार ॥ १८७ ॥

बारैँ = पारी मैँ ॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक को सौत की पारी मैँ परस्त्री-विहार करते सुना, जिससे उसको अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न हुए । उसी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—सौत की पारी में बालम ( वल्लभ ) को परस्त्री-विहार में [ लगा हुआ ] सुन कर [ उसको ] रस ( सुख ) [ तथा ] अनरस ( दुःख ), रिस ( रोष ) [ तथा ] रली ( उपहास करने की वृत्ति ), रीझ ( प्रसन्नता ) [ तथा ] खीझ ( चिढ़ ), [ ये सब विरोधी भावों के जोड़े ] एक बार [ ही ] उत्पन्न हुए ॥

इन सब भावों के उत्पन्न होने का कारण श्रीलाला भगवानदीनजी ने बड़ी स्पष्टता से लिखा है । अतः हम यहाँ उनका वह लेख ( बिहारी-बोधिनी, पृष्ठ २२२ ) उद्धृत किए देते हैँ—

"सुख ईर्ष्या-जन्य, कि अच्छा हुआ सौति को दुःख हुआ । दुःख इस बात का कि एक सौत तो थी ही अब एक और हुई । रिस इस बात की कि नायक मेरे ही यहाँ क्योँ न चला आया । रली ( क्रीड़ा या मजाक ) इस बात पर कि सौत ऐसी गुणवती नहीँ है कि प्रीतम को अपने वश मैँ कर के अपने पास रख सके । रीझ इस बात की कि नायक मेरे ऊपर अधिक अनुरक्त है क्योँकि मेरी पारी मेँ कहीँ नहीँ जाता । खीझ इस बात की कि बुरी आदत पड़ी, संभव है कभी मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाय ॥"

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत ।
कबि-आँकनु के अरथ लौँ प्रगटि दिखाई देत ॥ १८८ ॥

चुपरी = चोवा इत्यादि से चुपड़ी हुई ॥ आँकनु = अक्षरोँ ॥

---

१. दुरति ( २ ) । २. सादी ( १ ) । ३. प्रगट ( २, ४ ) ।

(अवतरण)—अंकुरितयौवना नायिका के कुचों के कुछ कुछ लक्षित होने लगने का वर्णन सखी नायक से करती है—

(अर्थ)—[चोवा इत्यादि से] चुपड़ी हुई आँगिया [तथा] श्वेत साड़ी में [अब उसके] कुच नहीं छिपते। [ध्यान-पूर्वक देखने से ये] कवि के अक्षर के अर्थ की भाँति प्रकट हो कर दिखाई देते हैं [भाव यह कि यद्यपि उसके उरोज अभी ऐसे छोटे हैं कि सामान्यतः तो कंचुकी तथा सारी में छिपे रहते हैं, तथापि ध्यान-पूर्वक देखने से लक्षित होने लगे हैं; जैसे कवि के अक्षर का सूक्ष्म अर्थ एकाएकी तो नहीं भासित होता, पर विचार करने पर उसी अक्षर में से प्रकट हो कर व्यंजित होता है]॥

इस दोहे के अर्थ में अन्य टीकाकारों ने बड़ा झमेला किया है। पर जो अर्थ ऊपर लिखा गया है, वह बहुत स्पष्ट है। 'प्रगटि' के स्थान पर 'प्रगट' पाठ रखने से ये सब झमेले हुए हैं। 'प्रगटि' पाठ से यह अर्थ स्पष्ट निकलता है कि यद्यपि वे प्रकट तो नहीं हैं, पर विचार-पूर्वक देखने से प्रकट हो कर दिखलाई देते हैं॥

'चुपरी' शब्द से कवि कंचुकी का चोवा इत्यादि के द्वारा कुछ रंग-युत हो जाना कह कर उसका साम्य कवि के अक्षरों से करता है, क्योंकि अक्षर काले, पीले, लाल इत्यादि लिखे जाते हैं, और साड़ी को श्वेत कह कर उसका साम्य काग़ज़ से दिखलाता है, जो कि प्रायः श्वेत ही होता है॥

भई[1] जु छबि[2] तन बसन मिलि, बरनि सकैं सु न बैन।
आँग[3]-ओप आँगी[4] दुरी, आँगी आँग[5] दुरै न॥ १८९॥

आँग=अंग॥

(अवतरण)—नायिका संदली आँगिया पहने हुए है। उसके शरीर के रंग में कपड़े का रंग ऐसा मिल गया है कि कपड़ा लक्षित नहीं होता। उसी का वर्णन सखी नायक से कर के उसे नायिका को दिखलाने के ब्याज से वहाँ लाया चाहती है—

(अर्थ)—जो शोभा [उसके] तन में कपड़े के मिल जाने से (अलक्षित हो जाने से) हुई है, उसे वचन वर्णन नहीं कर सकते (वह कहने से नहीं ज्ञात हो सकती, अतः आप स्वयं चल कर देख लीजिए)। [उसके] अंग की चमक में आँगिया छिप गई है, [किंतु] आँगिया से अंग नहीं छिपता [अर्थात् ऐसा ज्ञात होता है, मानो वह आँगिया पहने ही नहीं है, अतः इस समय आपको विना आँगिया के कुचों के देखने का आनंद मिलेगा]॥

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जोबन-जोति।
सुरँग, कसूँभी[6] कंचुकी[7] दुरँग देह-दुति होति॥ १९०॥

सोनजुही=पीले रंग की जुही॥ सुरँग=सुंदर रंग वाली, लाल॥ कसूँभी=कुसुंभ के फूल के रंग से रँगी हुई॥ दुरँग=दो रंग वाली॥

---

१. रही (२)। २. तन-छवि बसन मिलि (४), छवि मिलि तन बसन (५)। ३. अंग (४, ५)। ४. अँगिया (४)। ५. अंग (२, ४, ५)। ६. कुसूँभी (४)। ७. चूँदरी (२)।

( अवतरण )—सखी नायिका की यौवनावस्था की शोभा नायक से कहती है—

( अर्थ )—[ उसके ] अंग अंग में यौवन की चमक सोनजुही सी, जगमगा रही है। [ अतः ] कुसुंभ के रंग से रँगी हुई लाल कंचुकी [ इसके ] शरीर की [ सुनहरी ] आभा से दुरंगी ( रक्त और पीत आभाओं से मिश्रित ) हो जाती है ॥

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़यौ न जाइ ॥ १९१ ॥

बिरद ( विरुद ) = प्रशंसात्मक नाम ॥ कनकु = ( १ ) सोना । ( २ ) धतूरा ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—[ अपने में ] विना गुणों के [ हुए केवल ] प्रशंसासूचक नाम की बड़ाई पा कर [ वस्तुतः ] बड़ा नहीं हुआ जाता। [ देखो, लोग यद्यपि ] धतूरे को कनक [ जो नाम सोने का भी होने के कारण बड़ा प्रशंसात्मक है ] कहते हैं, [ पर केवल इस नाम के पा लेने ही से धतूरे से, उसमें स्वर्ण के गुण न होने के कारण, ] गहना नहीं गढ़ा जाता ॥

कनकु कनक तै सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिँ खाएँ बौराइ, इहिँ पाएँ हीँ बौराइ ॥ १९२ ॥

मादकता = उन्मत्त करने की शक्ति ॥ अधिकाइ = बढ़ जाता है ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि स्वर्ण, अर्थात् धन, धतूरे से सौगुना अधिक उन्मत्त करने वाला है—

( अर्थ )—मादकता में कनक ( सुवर्ण ) कनक ( धतूरे ) से सौगुना बढ़ जाता है; [ क्योंकि ] उसको [ तो ] खाने से [ मनुष्य ] बौराता है, [ पर ] इसके पाने ही ( पाने मात्र ) से बौरा जाता है ॥

डीठि-बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहिँ उतहिँ चित दुहुनु के नट लौँ आवत जात ॥ १९३ ॥

बरत ( वर्त ) = रस्सा ॥

( अवतरण )—नायक नायिका अपनी अपनी अटारियों पर खड़े एक दूसरे को देख रहे हैं, और दोनों के मन दोनों की ओर दृष्टि-द्वारा जाते हैं। इसी का वर्णन इस दोहे में, रस्सी पर दौड़ते हुए नट का रूपक बाँध कर, किया गया है। सखी-वचन सखी से—

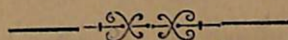
( अर्थ )—[ दोनों ने अपनी अपनी ] अटारी से [ दूसरे की अटारी तक ] दृष्टि-

१. हूजतु ( १ )। २. खा ( २ ), खै ( ४ )। ३. बौरातु है ( २ ), बौराइ जग ( ४ ), बौराइये ( ५ )। ४. दीठि ( १ ), दीठ ( ५ )। ५. आवत ( ४ )। ६. इत उत तै ( २ ), इत उत चित ( ४ ), इत उत ही ( ५ )।

रूपी रस्सी बाँध रक्खी है। [ उस पर ] चढ़ कर दोनों के मन दौड़ने में डरते नहीं, [ और ] नट की भाँति इधर उधर आते जाते हैं ॥

रस्सी पर चलने वाले नट दो बाँस गाड़ कर उनमें रस्सी बाँध देते हैं, और उस पर चढ़ कर बेखटके उधर से इधर और इधर से उधर आते जाते हैं ॥

नायक नायिका के मन के पक्ष में 'न डरात' का अर्थ होगा, किसी के देख लेने की शंका नहीं करते ॥



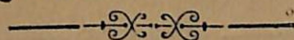
**झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंकु न थाकति देह।**
**भई रहति नट कौ बटा अटकी नागर-नेह ॥ १९४ ॥**

**झटकि**=झटके से, झपट कर, फुर्ती से ॥ **बटा**=गोला, गेंद, चकई। चकई डोरी में बाँध कर फिराई जाती है। वह दो प्रकार की होती है—एक तो हलकी और चिपटी और दूसरी कुछ भारी, मोटी और गोलाकृति, जिसे बट्टा भी कहते हैं ॥ **अटकी**=फँसी हुई, बँधी हुई ॥ **नेह**=स्नेह। यहाँ इसका अर्थ प्रेम-रूपी डोरी करना चाहिए ॥

( अवतरण )—नायक कहीं खड़ा है। नायिका बार बार उसको देखने के लिए अटारी पर चढ़ती है। उसी का वर्णन, नट की चकई के सादृश्य से, सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ वह ] झटक कर ( झपट कर, झटके से ) अटारी पर चढ़ती उतरती है। [ उसकी ] देह किंचिन्मात्र भी थकती नहीं ( थाकित नहीं होती, ठहरती नहीं )। नागर ( चतुर नायक ) के स्नेह-रूपी डोरे में अटकी हुई [वह] नट की चकई हुई (बनी) रहती है॥

'बटा' का अर्थ अन्य टीकाकारों ने गेंद किया है, और वस्तुतः बटा का अर्थ गेंद है भी। पर 'झटकि', 'चढ़ति', 'उतरति', 'अटा', 'थाकति', तथा 'अटकी', इन शब्दों के प्रयोग पर ध्यान देने से यहाँ 'बटा' का अर्थ चकई ही करना विशेष संगत है। 'बटा' शब्द 'वृत्त' शब्द का अपभ्रंश है। इस दोहे का भाव २०६-संख्यक दोहे के भाव से बहुत मिलता है ॥



**लोभ-लगे हरि-रूप के, करी साँटि जुरि, जाइ।**
**हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ ॥ १९५ ॥**

**रूप**=( १ ) सौंदर्य। ( २ ) रूपा अर्थात् रुपया ॥ **साँटि**=( १ ) हेल-मेल। ( २ ) क्रय-विक्रय की बातचीत ॥ **जुरि**=( १ ) साक्षात् कर के। ( २ ) मिल कर ॥ **बीच हीं**=विना मुझसे बातचीत किए ही, विना मुझसे पूछे ही, विना मेरी अनुमति ही के ॥ **बलाइ**=विपत्ति ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, ये मेरे ] लोचन-रूपी दल्लाल बड़ी बला हैं। इन्होंने हरि के रूप-रूपी रुपए के लोभ में लगे हुए ( लग कर ), [ उनके पास ] जा कर, [ और उनसे ] मिल कर सट्टा कर लिया, [ और ] मुझे बीच ही में ( विना मेरे जाने ही ) बेच डाला ॥

---

१. झमकि ( २ )। २. भरे ( २ )। ३. साट ( ४ )।

यहाँ लोचन का रूपक अर्थाक्षिप्त दृष्टान्त से है ॥

चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति[1]-सटक[2] लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ॥ १९६ ॥

**चिलक**=चमक ॥ **चटक**=चटकीलापन, चटकमटक अथवा चंचलता ॥ **लफति**=लचकती हुई ॥ **सटक**=पतली तथा लचकीली छड़ी ॥

( अवतरण )—नायक किसी साँवली स्त्री की सलोनी मूर्ति पर मोहित हुआ है, और किसी दूती को उसे दिखला कर कहता है—

( अर्थ )—चमक, चिकनाई [ तथा ] चटकीलेपन से सटक की भाँति लचकती हुई [ इस ओर ] आ कर [ वह ] सलोनी साँवली स्त्री नागिन सी डस कर जा रही है ॥

तोरस-राँच्यौ आन-बस कहौ[3] कुटिल-मति, कूर।
जीभ निबौरी क्यौं लगै, बौरी, चाखि अँगूर ॥ १९७ ॥

**तोरस-राँच्यौ**=तेरे सुख के स्वाद से रचा हुआ अर्थात् परचा हुआ ॥ **कुटिल-मति**=टेढ़ी बुद्धि वाले अर्थात् खोटे लोग, जो तुझमें तथा नायक में बिगाड़ कराना चाहते हैं ॥ **कूर** ( क्रूर )=निर्दय ॥ **निबौरी**=निंब वृक्ष का फल, निमकौड़ी ॥

( अवतरण )—नायिका नायक को अन्य स्त्री पर अनुरक्त सुन कर रुष्ट है। सखी उसको, उसकी प्रशंसा करती हुई, समझाती है—

( अर्थ )—तेरे रस से परिचित को खोटे [ तथा ] निर्दय [ लोग ] दूसरी के वश में [ भले ही ] कहो ( कहा करें, पर तू उनका विश्वास मत कर )। अरी बावली, [ तू यह तो समझ कि ] अंगूर चख कर [ फिर ] निमकौड़ी जीभ कैसे लग सकती है ( जीभ को अच्छी कैसे लग सकती है ) ॥

जुरे दुहुनु के दृग झमकि, रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परै[4] गोल पर भीर ॥ १९८ ॥

**जुरे**=मिल गए, भिड़ गए ॥ **झमकि**=शीघ्रता से ॥ **हरौल** ( तुर्की हरावल )=सेना का वह छोटा भाग, जो मुख्य सेना के आगे रहता है, जिसमें शत्रु एकाएक मुख्य सेना पर आक्रमण न कर सके ॥ **गोल** ( तुर्की गोल )=झुंड। यहाँ इसका अर्थ मुख्य सेना है ॥

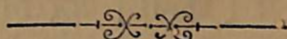
( अवतरण )—नायक को देख कर नायिका ने घूँघट डाल लिया है। पर पट के झीने होने के कारण नायक के नेत्र उसको बेध कर नायिका के नेत्रों से जा मिले हैं, और दोनों के नेत्रों में परस्पर हाव-भाव, कटाक्ष होने लगे हैं। उसी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—दोनों ( नायक नायिका ) के नेत्र झमाझम भिड़ गए, झीने पट से रुके

१. लफत ( २ ) । २. लकुट ( २ ) । ३. कहै ( २ ), कहे ( ५ ) । ४. परति ( २ ), परत ( ५ ) ।

नहीं ; जिस प्रकार हरावल की फ़ौज हलकी [ होने से ] गोल ( मुख्य सेना ) पर भीड़ ( लड़ाई का भार ) पड़ती है ॥

नायिका के नयन मुख्य सेना हैं, और घूँघट हरावल । नायक की मुख्य सेना नेत्रों ने धावा किया । हरावल के हलके होने के कारण नायक की सेना रुक न सकी, अतः दोनों सेनाएँ भमाभम भिड़ गईं ॥

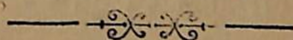


केसर केसरि-कुसुम के रहे अंग लपटाइ ।
लगे जानि नख अनखुली कत बोलति अनखाइ ॥ १९९ ॥

केसर = किंजल्क ॥ अनखुली = अपने हृदय के भाव को गुप्त किए हुए ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका से सखी का वचन—

( अर्थ )—[ नायक के ] अंग में [ तो ] केसर के फूल के किंजल्क लगे हुए हैं । [ तू उनको अन्य स्त्री के ] नख लगे हुए जान कर अनखुली ( विना प्रकट रूप से कारण जनाए ) क्यों अनखा कर ( रोष-युत, उत्साह-रहित, हो कर ) बोलती है ॥



दृग मिहचत मृग-लोचनी भर्यौ, उलटि भुज, बाथ ।
जानि गई तिय नाथ के हाथ परस हीं-हाथ ॥ २०० ॥

बाथ—इस शब्द का अर्थ मानसिंह की टीका में हाथ तथा कृष्ण कवि की टीका, रसचंद्रिका, हरिप्रकाश, लालचंद्रिका और प्रभूदयाल की टीका में अँकवार लिखा है, एवं देवकीनंदन की टीका में इसका अर्थ पहुँचा बतलाया गया है । इस दोहे के अतिरिक्त सतसई में और कहीं इसका प्रयोग नहीं हुआ है, और न और कहीं इसका देखना हमें स्मरण ही आता है । इस दोहे में इसका अर्थ अंक अच्छा प्रतीत होता है । अतः हमने यही अर्थ माना है ॥

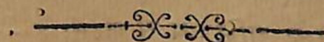
( अवतरण )--नायक ने पीछे से आ कर कौतुकवश नायिका की आँखें अपने हाथों से बंद कर ली हैं । नायिका ने नायक को उसके हाथों के स्पर्श ही से पहचान कर, अपनी भुजाओं को उलट, उसे अंक भर लिया है । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ नायक के पीछे से आ कर ] दृग मीचते ही मृगलोचनी [ नायिका ] ने भुजाओं को उलट कर [ नायक को ] बाथ ( अंक ) में भर लिया । [ वह ] स्त्री हाथ के स्पर्श ही से [ अपने ] नाथ के हाथ पहचान गई ॥

इस दोहे में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

( १ ) नायिका को नायक से ऐसा प्रेम था कि यद्यपि उसने उसे देखा नहीं, तथापि स्पर्श ही से उसके हाथ उसने पहचान लिए ॥

( २ ) नायिका में ऐसा स्वकीयत्व था कि जब उसने स्पर्श से अपने नाथ को पहचान लिया, तभी अंक भरा ॥

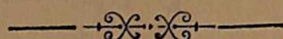


तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिँ ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु॥ २०१॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति अपने मन से, अथवा किसी व्रजवासी भक्त की उक्ति शिष्य से—

( अर्थ )—[ तू ] तीर्थों को छोड़ [ और ] श्रीकृष्णचंद्र [ तथा ] श्रीराधिकाजी की तन-द्युति ( शरीर की कांति ) में [ अपना ] अनुराग कर ( लगा ), जिससे ( जिस अनुराग के लगाने से ) व्रज के विहार-निकुंजों के मार्ग में पग पग पर प्रयाग ( तीर्थराज ) हो जाता है ( प्रकट हो जाता है )॥

भाव यह है कि श्रीकृष्णचंद्र तथा श्रीराधिकाजी की श्याम तथा गौर छवियों से यमुना तथा गंगा तो वहाँ उपस्थित हैं ही, उनमें अनुराग के लगने से सरस्वती भी मिल जाती हैं। अतः वहाँ गंगा, यमुना तथा सरस्वती, तीनों का संगम हो जाता है, और फिर इस संगम के कारण कुंजों के प्रति पग पर प्रयाग प्रकट होता है। तात्पर्य यह कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण के ध्यान में अनुराग करने से व्रज के कुंजों के प्रति पग पर प्रयागराज का फल प्राप्त होता है, अतः तीर्थाटन का श्रम उठाना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त किसी तीर्थ में जाने से उस एक ही तीर्थ का फल मिल सकता है; पर उक्त विधि से, एक सामान्य तीर्थ की कौन कहे, अनंत तीर्थराजों के फल सुलभ हैं॥



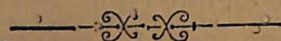
खिन खिन मैं खटकति सु हिय, खरी भीर मैं जात।
कहि जु चली, अनहीँचितैं, ओठनु हीँ बिच बात॥ २०२॥

खटकति=कसकती है, पीड़ा देती है॥ अनहीँचितैं=विना देखे ही॥

( अवतरण )—नायिका ने बड़ी भीड़ में जाते हुए, नायक की ओर विना देखे ही, ओठों के बीच ही में, कुछ कहा। नायक पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसे वह सखी अथवा दूती से कहता है—

( अर्थ )—बड़ी भीड़ में जाते समय [ लोगों द्वारा लक्षित किए जाने के भय से ] विना [ मेरी ओर ] देखे ही [ वह ] ओठों के बीच ही में जो बात [ इस विचार से कि मैं उसके ओठों के चलने की विशेषता से उसका अभिप्राय समझ लूँगा ] कह कर चली गई, वह क्षण क्षण में [ मेरे ] हृदय में खटक उठती है॥

खटकने के दो कारण संभावित हैं। एक तो यह कि नायक उसका अभिप्राय भली भाँति नहीं समझा, अतः उसके हृदय में रह रह कर यह खटक होती है कि उसने क्या कहा, और दूसरे यह कि उसने कदाचित् कोई ऐसी बात कही अर्थात् उराहना इत्यादि दिया, जो रह रह कर उसको दुःख देता है॥



अजौं न आए सहज रँग बिरह-दूबरैं गात।
अब हीँ कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात॥ २०३॥

( अवतरण )—नायक अभी थोड़े ही दिन हुए विदेश से आया है, और अब फिर जाना चाहता है। सखी उसका चलना रोकने के अभिप्राय से कहती है—

( अर्थ )—अभी तक [ तो पहिले के ] वियोग से कुपित [ तुम दोनों के ] अंगों में सहज ( स्वाभाविक ) रंग [ तक ] नहीं आए हैं। [ फिर भला ] हे ललन, अभी चलने की बात क्या चलाई जाती है॥

अपनैं कर गुहि, आपु हठि हिय पहिराई लाल।
नौल सिरी औरै चढ़ी बौलसिरी की माल॥ २०४॥

नौल ( नवल ) = नई॥ सिरी ( श्री ) = शोभा॥ बौलसिरी ( बकुलश्री ) = बकुल वृक्ष की शोभा अर्थात् फूल, मौलसिरी॥

( अवतरण )—वन-विहार मैं नायक ने नायिका को मौलसिरी की माला, अपने हाथ से गूँथ कर, पहनाई है। नायिका के शरीर मैं इसी गर्व से विलक्षण शोभा आ गई है। उसी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—अपने हाथ से गूँथ कर हठ-पूर्वक स्वयं ( अपने ही हाथ से ) लाल ने [ नायिका के ] हृदय पर [ यह माला ] पहनाई। [ अतः इस ] मौलसिरी की माला से [ उसके शरीर पर कुछ ] और ही नई शोभा चढ़ गई ( आ गई )॥

नायक को हठ इसलिये करना पड़ा कि नायिका उर खुलने की लज्जा से उसके हाथ से माला पहनना स्वीकृत नहीं करती थी॥

नई लगनि, कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाइ॥ २०५॥

बिकल = बेचैन, अस्थिर॥ अकुलाइ = उद्विग्न होती है॥ फिरकी—किसी काठ अथवा मोटे कागज़ के गोल टुकड़े में दो छेद कर के उनमें डोरा पिरो देते हैं। डोरे को कभी इधर और कभी उधर खींचने से वह टुकड़ा भन भन शब्द करता हुआ घूमता है। इसी को फिरकी कहते हैं॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की दशा सखी सखी से अथवा नायक से कहती है—

( अर्थ )—[ नायिका ] नई लगन ( नवीन अनुराग ) [ तथा ] कुल की लज्जा [ इन दोनों ] से विकल हुई अकुलाती ( उद्विग्न, अस्थिर ) है, [ और ] दोनों ओर खिंची हुई फिरती है। [ उसका ] दिन फिरकी की भाँति जाता ( व्यतीत होता ) है॥

'नई लगनि' तथा 'कुल की सकुच' का साम्य फिरकी की दोनों ओर की डोरी से किया गया है॥

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥ २०६॥

जक = कल, स्थिरता॥ चकरी = चकई। काठ का एक छोटा, चक्राकृति खिलौना, जो डोरा बाँध कर

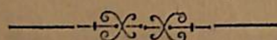
१. फिरे ( ४ )। २. ठहराइ ( १ )। ३. जाइ ( १ )।

फिराया जाता है ॥ फिरि—इस शब्द का प्रयोग कवि ने बड़ी चातुरी से किया है । 'फिरि आवति, फिरि जाति' का अर्थ होता है, नायिका के पक्ष में पुनः पुनः आती जाती है, और चकई के संबंध में घूम घूम कर आती जाती है, क्योंकि चकई घूमती हुई चलती है ॥

( अवतरण )– पूर्वानुरागिनी नायिका की दशा सखियाँ आपस में कहती हैं—

( अर्थ )—[ वह नायक के दर्शनार्थ ऐसी उत्सुक हो रही है कि उसको ] जक (कल) नहीं पड़ती । चकई बनी हुई इधर से उधर [ और ] उधर से इधर, घूम घूम कर, आती जाती है, क्षण मात्र [ भी ] कहीं ठहरती नहीं ॥

इस दोहे का भाव १६४-संख्यक दोहे के भाव से बहुत मिलता है ॥

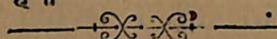


**निसि अँधियारी, नील पटु पहिरि, चली पिय-गेह ।**
**कहौ, दुराई क्यौं दुरै दीप-सिखा सी देह ॥ २०७ ॥**

दीप-सिखा = दीपक की लौ ॥

( अवतरण )—नायिका ने अँधेरी रात में, सखी से भी छिप कर, अभिसार किया है । पर सखी उसको मार्ग में पहचान कर कहती है—

( अर्थ )—[ तुम अपना अभिसार छिपाने के लिये ] अँधेरी रात में, नीला वस्त्र पहन कर [ तो ]; प्रियतम के घर चली हो । [ पर यह तो ] कहो [ कि यह ] दीपक की शिखा सी देह छिपाई कैसे छिप सकती है ॥

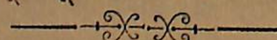


**रह्यौ ढीठु ढारसु गहैं[1], ससहरि[2] गयौ न सूरु ।**
**मुर्‌यौ न मनु मुरवानु चभिं[3], भौ चूरनु चपि चूरु ॥ २०८ ॥**

ससहरि गयौ = डर गया ॥ चभि = दरेरे खा कर, कुचल कर ॥ चूरनु = पैर के चूड़ों से ॥

( अवतरण )—नायक नायिका के पैरों के गट्टों तथा उन पर भनकार करते हुए चूड़ों के सौंदर्य पर मोहित हो कर सखी अथवा दूती से कहता है—

( अर्थ )—[ मेरा ] मन गट्टों पर [ चूड़ों का ] देरेरा खा कर लौटा नहीं, [ प्रत्युत वह ] ढीठ सूर धैर्य धरे रहा, [ और ] डर नहीं गया, [ यहाँ तक कि उन ] चूड़ों से चप कर (दब कर अर्थात् दबते दबते ) चूर चूर हो गया ॥



**सोहँत[4] अँगुठा पाइ कै अनवटु जर्‌यौ[5] जराइ ।**
**जीत्यौ तरिवन-दुति, सु ढरि पर्‌यौ तरनि[6] मनु पाइ ॥ २०९ ॥**

अनवटु = पैर के अँगूठे में पहनने का एक भूषण, जो गोल आकृति का होता है ॥ जर्‌यौ जराइ = नगों के जड़ाव से जड़ा हुआ ॥ तरिवन[7] = ताटंक ॥ ढरि = झुक कर, दीन हो कर ॥ तरनि = सूर्य ॥

---

१. गहे ( ४, ५ ) । २. ससिहरि ( ४ ), ससिहर ( ५ ) । ३. चुभि ( ४, ५ ), चढ़ि ( ५ ) । ४. सोभित ( ४ ) । ५. जरे ( ४ ) । ६. तरुनी ( ५ ) । ७. तरुन ( ५ ) ।

( अवतरण )—नायिका के अनवट की शोभा का वर्णन नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ इसके पैर का ] अँगूठा पा कर जड़ाव से जड़ा हुआ अनवट [ ऐसा ] शोभित हो रहा है, मानो [ इसके ] ताटंक की द्युति ने [ सूर्य को ] जीत लिया है, इसलिए ढल कर ( नीचा हो कर ) [ वह ] सूर्य [ इसके ] पैर पर पड़ा है ॥

जंघ जुगल लोइन निरे करे मनौ बिधि मैन ।
केलि-तरुनु दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदैन ॥ २१० ॥

जुगल = दोनों ॥ निरे = निराले, बिना किसी अन्य वस्तु के मेल के ॥ केलि-तरुनु = केले के वृक्षों अर्थात् खंभों का ॥ तरुन ( तरुण ) = युवावस्था का मनुष्य ॥

( अवतरण )—नायिका की मनोहर जाँघों की प्रशंसा नायक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ इसके ] दोनों जंघ [ ऐसे सुंदर हैं ] मानो मदन-रूपी ब्रह्मा ने निरे लावण्य [ ही ] किए ( बनाए ) हैं । ये कदली के वृक्षों को दुःख देने वाले, [ एवं ] केलि ( काम-क्रीड़ा ) में तरुण [ पुरुष ] को सुख देने वाले हैं ॥

कदली के वृक्षों का दुःख देने वाले इसलिये कहा है कि उनकी गुलाई तथा चिकनाई देख कर कदली के खंभों को अपने वैसे न होने का दुःख होता है ॥

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह, चितु, नैन ।
लखि सपनैं तियआन-रत, जगतहु लगत हियैं न ॥ २११ ॥

तियआन-रत = अन्य स्त्री से अनुरक्त ॥

( अवतरण )—नायिका ने स्वप्न में अपने पति को अन्य स्त्री से अनुरक्त देख कर रोष किया है। उसी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—वह [ स्त्री ] सपने में [ पति को ] अन्य स्त्री से अनुरक्त देख कर, जागते हुए भी [ उसके ] हृदय से न लगते हुए ( न लग कर ), भौंहों, चित्त [ तथा ] नयनों को रिस से भरे हुए [ पर्यंक की एक ओर की ] पाटी पकड़ कर [ नायक की ओर पीठ कर के ] रही है ( स्थित है ) ॥

किय हाइलु चित-चाइ लगि, बजि पाइल तुव पाइ ।
पुनि सुनि सुनि मुहँ-मधुरधुनि क्यौं न लालु ललचाइ ॥ २१२ ॥

किय = किया । 'किय' का प्रयोग 'कियो' के अर्थ में ४२-संख्यक दोहे में भी हुआ है ॥ हाइलु = किसी वस्तु की प्राप्ति के निमित्त बड़ी लालसा रखने वाला ॥ चित-चाइ लगि = चित्त की उमंग पर अपना प्रभाव डाल कर ॥ बजि पाइल तुव पाइ = पायल ने तेरे पैर में बज कर, अर्थात् तेरे पैर की पायल ने अपने बजने से ॥

१. को ( ५ ) । २. कलौ ( १ ), कला ( ४ ) । ३. सो रिस ( ४ ), सरस ( ५ ) । ४. भरैं ( १ ) ।

( अवतरण )—नायक ने कहीं नायिका की पायल की ध्वनि सुनी है, जिससे चित्त में उमंग उत्पन्न होने के कारण वह बड़ा लालसायुत हो रहा है। सखी उसका यह वृत्तांत बतला कर नायिका से कहती है कि केवल पायल की ध्वनि पर मोहित होने वाला नायक वास्तव में बड़ा गुणग्राही है, अतः वह तेरे मुख की मधुर वाणी सुन कर कैसे न ललचायगा, और तुझसे क्यों न प्रेम करेगा! अतः तुझको अब उससे बातचीत करनी चाहिए—

( अर्थ )—तेरे पैर की पायल [ ही ] ने बज कर, [ और नायक के ] चित्त के चाव (उत्साह) पर लग कर (प्रभाव डाल कर), [ अब उसको ] घायल ( लालसायुत ) कर दिया है, [ तो ] फिर [ तेरे ] मुख की मधुर ध्वनि सुन सुन कर लाल क्यों न ललचायगा ( अर्थात् अवश्य ललचायगा और तुझसे बड़ा प्रेम करेगा ) ॥

लीनैं हूँ साहस सहसु, कीनैं जतन हज़ारु।
लोइन लोइन-सिंधु तन पैरि न पावत पारु ॥ २१३ ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—हज़ार साहस धारण करने पर भी, [ तथा ] हज़ार यत्न करने पर [ भी मेरे ] लोचन [ नायक के ] तन-रूपी लावण्य-समुद्र में पैर कर पार नहीं पाते ॥

यहाँ लोचनों को पैराक बनाया है। साहस धारण करना इसलिए कहा है कि जिस प्रकार समुद्र में पैरने वालों के लिए, अनेक जल-जंतुओं के कारण, बड़ा साहस आवश्यक होता है, उसी प्रकार चवाइनों इत्यादि की शंका से नायिका भी बहुत साहस कर के नायक की ओर देखती है। यत्न करना इस कारण कहा है कि जैसे जल-जंतुओं तथा डूबने से बचने के निमित्त समुद्र में पैरने वालों को बड़े-बड़े यत्न करने पड़ते हैं, वैसे ही नायिका को भी चवाइनों की दृष्टि तथा लोकापवाद से बचने के लिये, नायक को देखने के निमित्त, अनेक उपयुक्त उपाय करने पड़ रहे हैं। 'लोइन-सिंधु' का प्रयोग बड़ा समीचीन है, क्योंकि समुद्र का जल भी लवणमय होता है, और शरीर की शोभा भी लावण्य कहलाती है। नायिका का अभिप्राय यह है कि यद्यपि मैं बड़ा साहस कर के और अनेक यत्नों से, इधर उधर से झाँक ताक लगा कर नायक की शोभा देखती हूँ, तथापि भली भाँति देख कर तृप्त नहीं हो पाती ॥

पट की ढिग कत ढाँपियति, सोभित सुभग सुबेष।
हद रदछद-छबि देति[1] यह सद रद-छद की रेख ॥ २१४ ॥

ढिग = किनारा, छोर। इस शब्द का प्रयोग अब पास के अर्थ में होता है, और इसी अर्थ में बिहारी ने भी प्रायः इसका प्रयोग किया है। पर यहाँ इसका अर्थ छोर ही है॥ हद—यह अरबी शब्द 'हद्द' का विकृत रूप है। इसका अर्थ सीमा है। 'हद छबि देति' का अर्थ है, हद की छबि, अर्थात् परम छबि देती हुई॥ रदछद = ओठ॥ रद-छद = दाँतों का क्षत अर्थात् घाव॥

१. देखियत ( ४ ), देत इह ( ५ )।

( अवतरण )—नायिका के ओठ पर नायक के दाँतों का चिह्न लगा हुआ है। उसे वह, अंचल को किसी ब्याज से ओठ पर ला कर, छिपाती है; पर सखी उस चिह्न को लक्षित कर के, परिहास करती हुई, कहती है—

( अर्थ )—रदच्छद ( ओठ ) पर हद की ( परम ) छवि देती हुई यह 'सद' ( सद्यः, टटकी ) दाँतों के घाव की रेखा पट की ढिग ( छोर, किनारे ) से क्यों छिपाई जाती है। [ यह तो ] सुभग [ तथा ] सुंदर रूप से शोभित है॥

---

नाह गरजि नाहर-गरज, बोलु सुनायौ टेरि।
फँसी फौज मैं बंदि-बिच हँसी सबनु तनु हेरि॥ २१५॥

नाहर-गरज = सिंह के गर्जन॥ बोलु = शब्द, बोली॥ टेरि = ललकार कर॥

( अवतरण )—यह दोहा रुक्मिणी-हरण के समय का है। रुक्मिणीजी सेना के बीच में भली भाँति रक्षित हैं। इतने ही में श्रीकृष्णचंद्र ने आ कर और सिंह की भाँति गरज कर अपना बोल सुनाया। उसे सुन कर रुक्मिणीजी ने सब की ओर देख कर उपहास किया कि देखैं, अब ये लोग मुझे क्योंकर बचाते हैं—

( अर्थ )—नाह ( नाथ, स्वामी अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र ) ने सिंह की ( सिंह की सी ) गरज गरज कर [ अपना ] बोल टेर ( ललकार ) कर सुनाया। [ उसे सुन कर श्रीकृष्णचंद्र का पहुँच जाना जान ] सेना में बंदि ( क़ैद, घेरे ) के बीच फँसी हुई ( विवश ) [ रुक्मिणीजी ] सब की ओर देख कर [ व्यंग्य से ] हँस पड़ीं॥

---

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिँ रूखीरुख-घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि, घनस्याम॥ २१६॥

रुख = चेष्टा। इस शब्द के लिंग इत्यादि के विषय में २४३ अंक के दोहे की टीका द्रष्टव्य है॥

( अवतरण )—कलहांतरिता नायिका की सखी की उक्ति मानी नायक से—

( अर्थ )—[ आपकी ] इस रूखी चेष्टा-रूपी घाम से [ वह ] बाला-रूपी सुखद बेल सूख गई है ( १. क्षीण तथा हतप्रभ हो गई है। २. शुष्क हो गई है )। [ अतः ] हे घनश्याम, ( १. श्रीकृष्णचंद्र। २. काले बादल ) [ उसे ] सुरस ( १. सुंदर प्रीति अथवा अपनी प्रीति। २. सुंदर जल अथवा अपने जल ) से सींच कर फिर डहडही ( १. प्रसन्न। २. हरीभरी ) कीजिए॥

---

औँधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि[3] बिललात।
बिचैं[4] हीँ सूखि गुलाबु गौ, छीँटौ[5] छुई[6] न गात॥ २१७॥

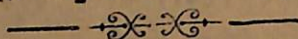
---

१. तिनु ( १ )। २. कीजिये ( २ ), कीजेयतु ( ४ )। ३. विमल ( ४ ), बनन ( ५ )। ४. बिचि ही ( ५ )। ५. छींटा ( ५ )। ६. छ्वाय ( ५ )।

बरनि = जलन, तपन ॥ बिललात = विकलता से दीन स्वर में बोलते ॥ गुलाबु = गुलाब-जल ॥

( अवतरण )—नायिका के विरह-ताप का वर्णन सखी नायक से करती है—

( अर्थ )—उसको विरह की जलन से बिललाते देख कर [ हम लोगों ने ठंढक पहुँचाने के निमित्त गुलाब-जल की भरी ] शीशी [ उस पर ] औंधा दी ( ढाली नहीं, प्रत्युत एकाएक उलट दी, जिसमें सब गुलाब-जल एक साथ ही उस पर पड़ जाय, और उसकी ज्वाला बुझे ) । [ पर ज्वाला क्या बुझनी । वहाँ तो उस गुलाब-जल की एक ] छींट भी [ उसके ] गात्र में नहीं छुई ( एक छींट भी उसके गात्र तक न पहुँची ), [ सब का सब ] गुलाब-जल [ उसकी विरह-ज्वाला से ] बीच ही में सूख गया ॥

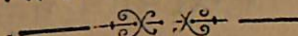


तजी संक, सकुचति न चित बोलत बाकु कुबाकु ।
दिनछिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि-छाकु ॥ २१८ ॥

बोलत = बोलते हुए, बोलते समय ॥ बाकु कुबाकु = अकबक, अंडबंड, अर्थात् कुछ का कुछ वचन ॥ छिनदा ( क्षणदा ) = रात्रि ॥ छाकी = पिए हुई । छकना वास्तव में पीने को कहते हैं ; जैसे 'उसने जल छक लिया' । पर छकना तथा पीना, दोनों मद्य पीने के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं ॥ छाक = पिलाई अर्थात् मद्य-पान । यहाँ इसका अर्थ मद्य-पान का प्रभाव अर्थात् नशा है ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग में नायिका की जो दशा हो रही है, उसका वर्णन सखियाँ आपस में करती हैं—

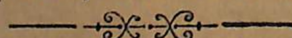
( अर्थ )—[ देखो, इसने अब गुरुजनों की ] शंका [ भी ] छोड़ दी है, [ और ] बाक कुबाक ( अंडबंड वचन ) बोलते चित्त में सकुचाती नहीं । दिनरात छकी ( नशे में चूर ) रहती है, क्षण मात्र [ भी इसका ] छबि-छाक ( सौंदर्य का नशा अर्थात् नायक का सौंदर्य देख कर जो प्रेम का नशा चढ़ गया है, वह ) छुटता नहीं ॥



फिरि फिरि बूझति, कहि कहा कह्यौ साँवरे गात ।
कहा करत देखे, कहाँ; अली, चली क्यौं बात ॥ २१९ ॥

( अवतरण )—नायिका नायक का वृत्तांत दूती से बड़ा उत्सुकता-पूर्वक पूछती है । उसके वाक्य से उसकी अत्यंत अभिलाषा लक्षित कर के कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ वह ] फिर फिर ( बारंबार ) [ दूती से ] पूछती है कि कह, श्यामगात ( श्रीकृष्णचंद्र ) ने [ तुझसे ] क्या कहा, [ तूने उनको ] क्या करते [ तथा ] कहाँ देखा, [ और ] हे सखी, [ मेरी ] बात ( चर्चा ) किस प्रकार चली ( निकली ) ॥



नव नागरितन-मुलुकु लहि जोबन-आमिर-जौर ।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करीं और की और ॥ २२० ॥

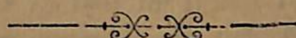
१. बोलति ( ४ ) । २. छनदा ( ४ ) । ३. छटतु ( १ ), खरां विषम ( ५ ) ।

**आमिर** ( अरबी शब्द ) = हुक्म चलाने वाला, हाकिम ॥ **जौर** ( फ़ारसी शब्द ) = अत्याचार ॥ **घटि बाढ़** = घटी बढ़ी, छोटी बड़ी ॥ **रकम** ( अरबी रक़म ) = अंक ॥

( अवतरण )—नवयौवनाभूषिता नायिका के शरीर में जिन वस्तुओं अर्थात् उर, नितंब इत्यादि में घटी अर्थात् लघुता थी, उनमें यौवनागम के कारण बढ़ी अर्थात् गुरुता, और जिन वस्तुओं अर्थात् कटि, चंचलता इत्यादि में बढ़ी अर्थात् अधिकता थी, उनमें घटी अर्थात् न्यूनता आ गई है। इसी विषय को सखी नायक से, नायिका के शरीर को देश, यौवन को नया आया हुआ हाकिम, और उक्त परिवर्तन का हाकिम के अत्याचार-द्वारा होना कह कर, वर्णित करती है—

( अर्थ )—[ उस ] नागरी का तन-रूपी नया मुल्क पा कर यौवन-रूपी हाकिम के अत्याचार ने [ उसमें की ] रक़में छोटी से बड़ी [ और ] बड़ी से छोटी, [ अर्थात् ] और की और ( अदलबदल ), कर डाली है ॥

जब कोई राजा किसी नए देश पर अधिकार कर लेता है, तो उस देश के पुराने कर्मचारियों से उसकी जमाबंदी ले कर वहाँ किसी अपने हाकिम को बंदोबस्त करने के निमित्त, भेजता है। वह हाकिम बहुधा घूस ले कर यह अत्याचार करता है कि जिनके नाम पर जो कर लिखा रहता है, उसका परिमाण घटा देता है, और जिन लोगों से घूस नहीं पाता, उनके कर का परिमाण, जमाबंदी की पूरी जमा को कम न होने देने के अभिप्राय से, बढ़ा देता है ॥

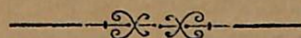


**कीजै चित सोई, तरे जिहिँ[1] पतितनु के साथ।**
**मेरे गुन-औगुन-गननु गनौ न, गोपीनाथ ॥ २२१ ॥**

**साथ** = संघ, समूह ॥

( अवतरण )—कोई भक्त भगवान् से कहता है—

( अर्थ )—हे गोपीनाथ, मेरे गुणअवगुणों के गणों ( समूहों ) को मत गिनिए ( यह हिसाब मत लगाइए कि मेरे गुण अधिक हैं अथवा अवगुण ) [ क्योंकि यदि आपने ऐसा किया, तब तो मैं तर चुका ] । [ बस अपने ] चित्त में [ आप ] सोई ( वही वस्तु अर्थात् दया ) कीजिए ( धारण कीजिए ), जिससे ( जिस दया से ) पतितों के साथ ( समूह ) तरे हैं ॥



**मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल।**
**बिन हीँ पिय-आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल ॥ २२२ ॥**

**फूल** = उभार ॥ **आगम** = आगमन ॥ **दुकूल** = साड़ी इत्यादि ॥

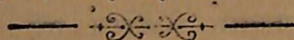
( अवतरण )—आगमिष्यत्पतिका नायिका ने प्रियतम की अवाई का शुभ शकुन अनुमान कर के अपने भूषण, वसन का बदलना आरंभ कर दिया है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देखो, यह ] मृगनयनी ( मृगों के से नयनों से चारों ओर देखती हुई )

---

१. जिन ( ५ ) ।

अपने [ बाएँ ] दृग की फड़क, उर के [ अकारण ] उत्साह, [ तथा ] तन के [ अचानक ] उभार से [ प्रियतम की अवाई का अनुमान कर के ] बिना प्रियतम के आए ही उमग कर [ उनसे मिलने के चाव से ] साड़ी इत्यादि बदलने लगी है ॥



रहे बरोठे मैं मिलत पिउ प्राननु के ईसु ।
आवत आवत की भई बिधि की घरी घरी सु ॥ २२३ ॥

बरोठा ( प्रकोष्ठ ) = द्वार पर का दालान ॥ बिधि = ब्रह्मा ॥ घरी सु = सो घड़ी अर्थात् उतना समय, जितना प्रियतम को अपने गुरुजनों तथा इष्टमित्रों से मिलने में लगा ॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आ कर द्वार पर के दालान में गुरुजनों तथा इष्टमित्रों से मिल रहा है। इस कारण नायिका के पास पहुँचने में उसको कुछ विलंब हुआ। नायिका को मिलनोत्सुकता के कारण उतना विलंब भी बहुत ज्ञात हो रहा है। सखियाँ आपस में उसकी इस तीव्र उत्सुकता का वर्णन करती हैं—

( अर्थ )—[ इसके ] प्राणों का ईश प्रियतम बरोठे में [ गुरुजनों तथा इष्टमित्रों से ] मिलता हुआ रह गया है ( किंचित् ठहर गया है ), [ सो इसके निमित्त ] वह आते आते की घड़ी ( आने की प्रतीक्षा की घड़ी ) ब्रह्मा की घड़ी हो रही है ॥

इस दोहे के पूर्वार्ध के अंत में जो 'ईसु' शब्द है, उसका उकारांत होना आवश्यक है ; क्योंकि उत्तरार्ध के अंत में 'घरी सु' आया है, जिसमें 'सु' सो का लघु रूप मात्र है। पर उकारांत 'ईसु' ईश शब्द के कर्ता अथवा कर्मकारक का एकवचनांत रूप होता है, और यहाँ 'ईसु' की क्रिया तथा विशेषण अर्थात् 'रहे मिलत' तथा 'प्राननु के', ये दोनों ही बहुवचन हैं। अतः इस पाठ में एकवचन कर्ता की क्रिया तथा संबंधकारक-रूप विशेषण, दोनों बहुवचन हैं, जो व्याकरण के नियम के विरुद्ध है। यद्यपि एक व्यक्ति के निमित्त भी प्रतिष्ठार्थ बहुवचन का प्रयोग होता है, पर ऐसी दशा में कर्ता, क्रिया इत्यादि सब बहुवचनांत प्रयुक्त होते हैं। एकवचन कर्ता के निमित्त प्रतिष्ठार्थ बहुवचन क्रिया का प्रयोग कदाचित् कोई कोई कर भी लेते हैं, पर सतसई में इस दोहे के अतिरिक्त और कहीं ऐसा प्रयोग देखने में नहीं आया कि कर्ता तो एकवचनांत हो, और क्रिया तथा विशेषण दोनों बहुवचनांत। अतः इस दोहे के पूर्वार्ध के पाठ में कुछ गड़बड़ अवश्य है। अनवर-चंद्रिका तथा श्रीप्रभुदयालु पाँडे की टीका में इस दोहे के पूर्वार्ध के पाठ यों मिलते हैं—

( अनवर-चंद्रिका ) —"रह्यौ बरोठे में मिलत पिय प्राननि को ईसु ।"

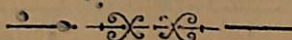
( प्रभुदयालु पाँडे-कृत टीका )—"रह्यौ बरोठे में मिलत पिय प्रानन को ईसु ।"

इन पाठों के अनुसार तथा जो परिपाटी सतसई के इस संस्करण में रक्खी गई है, उस पर विचार कर के शुद्ध पाठ यह ठहरता है—

"रह्यौ बरोठे मैं मिलतु पिउ प्राननु कौ ईसु ।"

और, यह पाठ उचित भी ज्ञात होता है, क्योंकि इसमें कर्ता, क्रिया तथा संबंधकारक-रूप विशेषण सब एकवचनांत हैं, पर जिन पाँच प्राचीन पुस्तकों के आधार पर इस ग्रंथ में पाठ शुद्ध किए गए हैं, उनमें से तीन पुस्तकों अर्थात् पहिली, चौथी तथा पाँचवीं के मिलान से वही पाठ ठीक ठहरता है, जो मूल दोहे में रक्खा गया है, और दूसरी तथा तीसरी पुस्तकों के खंडित होने के कारण यह दोहा उनमें

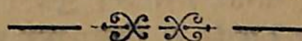
मिलता ही नहीं। अतः मूल में तो वही पाठ रक्खा गया है, पर अर्थ करने में अनवर-चंद्रिकादि के अनुसार जो पाठ ठहरता है, वह ग्रहण किया गया है ॥



**रवि बंदौ कर जोरि, ए सुनत स्याम के बैन।**
**भए हँसौंहैं सबनु के अति अनखौंहैं नैन ॥ २२४ ॥**

( अवतरण )—यह दोहा चीर-हरण के प्रसंग का है। एक समय गोपियाँ नंगी हो कर यमुना में नहाती थीं। श्रीकृष्णचंद्र उनके वस्त्र ले कर एक कदंब के वृक्ष पर जा बैठे। उनके बहुत बिनती करने तथा क्रोध दिखाने पर, श्रीकृष्णचंद्र ने कहा कि अच्छा तुम लोग हाथ जोड़ कर सूर्य भगवान् की वंदना करो, तो हम तुम्हारे वस्त्र दे दें। इस बात से उनका यह नटखटपन समझ कर कि यह हमको नग्न देखना चाहते हैं, वे सब मुसुकिरा पड़ीं। इसी का वर्णन कवि करता है—

( अर्थ )—श्रीकृष्णचंद्र के ये वचन सुनते [ ही कि तुम ] हाथ जोड़ कर सूर्य की वंदना करो [ जिसमें उनके हाथ कुचों पर से हट जायँ ], सभों के ( सब गोपियों के ) अति अनखौंहैं ( रोष से बहुत भरे हुए ) नयन हसौंहैं ( हास्योन्मुख ) हो गए ॥

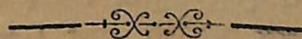


**हौं हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ।**
**कहा जानि ए कहत हैं ससिहिं सीतकर-नाउँ ॥ २२५ ॥**

सीतकर ( शीतकर ) = शीतल किरणों वाला ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग में नायिका को चंद्र की किरणें ताप देती हैं, अतः वह अपने मन में सोचती है कि लोगों ने चंद्रमा का नाम शीतकर क्या समझ कर रक्खा है—

( अर्थ )—मैं ही विरह-वश ( विरह के कारण ) बौरी ( बावली ) हो रही हूँ [ जिससे मुझे चंद्रमा की शीतल किरणें तप्त ज्ञात होती हैं ], अथवा सब ग्राम ही ( ग्राम-निवासी समूह ही ) बौरा गया है, [ जिससे उनको ताप देने वाले चंद्रमा की किरणें शीतल लगती हैं। ज्ञात नहीं होता कि ] ये [ लोग ] शशि को [ जो कि संतापित करता है ] क्या जान कर ( किस निमित्त ) शीतकर नाम वाला कहते हैं ॥



**अनी बड़ी उमड़ी लखैं असिबाहक, भट भूप।**
**मंगलु करि मान्यौ हियैं, भो मुँहु मंगलु रूप ॥ २२६ ॥**

असिबाहक = कृपाण धारण करने वाला, तलवरिया ॥ भट = योद्धा ॥ मंगलु = शुभ ॥ मंगलु = मंगल तारा, जिसका रंग हलका लाल माना जाता है ॥

( अवतरण )—कवि मिर्ज़ा राजा जयशाह की शूरता का वर्णन करता है—

( अर्थ )—असिबाहक, वीर राजा ने [ शत्रु की ] बड़ी अनी ( सेना ) उमड़ी ( चढ़ आई ) देख कर [ अपने ] हृदय में [ इस घटना को, यह सोच कर कि तलवार चलाने का

अच्छा अवसर मिला, ] मंगल ( शुभ ) कर के माना, [ और उसका ] मुख [ उत्साह से ] रूप में मंगल [ सा गुलाबी ] हो गया ॥

सोवत, जागत, सुपन-बस, रस, रिस, चैन, कुचैन ।
सुरति स्यामघन की, सु रति बिसरैँ हूँ बिसरै न ॥ २२७ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका अपनी स्मृति-दशा सखी से कहती है—

( अर्थ )—सोते, जागते, स्वप्न देखते, रस में ( सरसता से कोई काम करते ), रिस में ( रोष से कुछ कहते या करते ), चैन करते, विकल होते [ इन सब दशाओं में से किसी में भी ] घनश्याम की [ जो ] स्मृति [ है ], सो भूलने से भी ( भुलाने से भी ) रत्ती भर नहीँ भूलती ॥

संगति सुमति न पावहीँ परे कुमति कैँ धंध ।
राखौ मेलि कपूर मैँ, हींग न होइ सुगंध ॥ २२८ ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—कुमति के धंधे ( झंझट ) में पड़े हुए [ लोग अच्छी ] संगति से सुमति नहीँ पाते । हींग को [ कितना ही ] कपूर में मिला कर रक्खो, [ पर वह ] सुगंध ( अच्छी गंध वाली ) नहीँ होती ॥

बड़े कहावत आप सौँ, गरुवे गोपीनाथ ।
तौ बदिहौँ, जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ ॥ २२९ ॥

गरुवे = भारीभरकम, गंभीर, धैर्यवान् ॥ गोपीनाथ = गोपियों के स्वामी । इस शब्द से दूती यह व्यंजित करती है कि यद्यपि तुम अनेक गोपियों के स्वामी हो, तथापि मैं जिस नायिका का वर्णन करती हूँ, वह कुछ और ही वस्तु है । उसे देख कर तुमको ये सब गोपियाँ भूल जायँगी, और मन अपने वश से निकल जायगा ॥ बदिहौँ = सही समझूँगी, तुम्हारा बड़ापन ठीक मानूँगी ॥

( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायिका के हाथों का सौंदर्य कह कर नायक के चित्त में रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—हे गरुवे गोपीनाथ, [ तुम ] आपसे ( अपने मन से ) बड़े कहलाते हो । [ पर मैं तो तुम्हारी बड़ाई ] तब मानूँगी, जब [ तुम उसके ] हाथों को देख कर [ अपना ] मन [ अपने ] हाथ में ( वश में ) रक्खोगे [ अर्थात् उसके हाथ ऐसे सुंदर हैं कि उनको देख कर तुम्हारा मन तुम्हारे हाथ से निकल कर उनमें चला जायगा ] ॥

सोरठा

कौड़ा आँसू-बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल ।
कीने बदन निमूँद, दृग-मलिंग डारे रहत ॥ २३० ॥

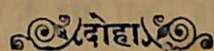
---

१. मैं ( ४ ) । २. वासर करि अति चैन ( ४ ) । ३. कबहुँ चित बिसरै न ( ४ ) । ४. होत ( ५ ) । ५. गरुए ( ५ ) । ६. मनु लखि ( १ ) । ७. कौरा ( १, २ ) । ८. मलंग ( ४ ) ।

**कौड़ा** ( कपर्द )=बड़ी बड़ी कौड़ियाँ ॥ **कसि**=जकड़ कर ॥ **निमूँद**=मुद्रित, बंद । इसका अर्थ अन्य टीकाकारों ने बिना मुँदे हुए, अर्थात् खुले हुए, किया है । यद्यपि यह अर्थ भी यहाँ हो सकता है, क्योंकि कोई कोई मलंग मौन धारण न कर के 'हक़ हक़' की रट लगाए रहते हैं, जिससे उनके मुँह खुले रहते हैं, पर हमारी समझ में इस दोहे में 'निमूँद' का अर्थ बंद ही करना समीचीन है, क्योंकि 'बरुनी' के विषय में जो 'कसि' शब्द का प्रयोग कवि ने किया है, उससे आँखों का बंद कहना ही उसका इष्टार्थ प्रतीत होता है ॥ **मलिंग**—एक संप्रदाय के मुसलमान फ़क़ीर मलिंग अथवा मलंग कहलाते हैं । ये हिंदुओं के औघड़ों तथा अलखियों की भाँति कौड़ों की लड़ों तथा लोहे की साँकड़ों से अपने शरीर कसे रहते हैं, और किसी एकांत स्थल में मौनावलंबन किए, ईश्वर के ध्यान में निमग्न, पड़े रहते हैं ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका आँख बंद किए हुए नायक के ध्यान में निमग्न है, और उसकी आँखों की कोरों में आँसू भरे हुए हैं । सखी नायक से उसकी यह दशा कह कर और उसकी आँखों को मलंग ठहरा कर व्यंग्य से उससे दर्शन-भिक्षा देने की प्रार्थना करती है—

**( अर्थ )—[ उसके ] दृग-रूपी मलिंग, अश्रुबिंदु-रूपी कौड़ों [ तथा ] सजल बरुनी-रूपी साँकड़ों को [ अपने शरीर पर ] कस कर, मुँह बंद किए, [ अपने को ] डाले रहते हैं ( पड़ा रखते हैं ) ॥**

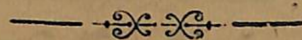


**उयौ सरद-राका-ससी, करति क्यौं न चित चेतु ।**
**मनौ मदन छितिपाल कौ छाँहगीरु छबि देतु ॥ २३१ ॥**

**उयौ**=उदय हुआ ॥ **राका**=पूर्णिमा ॥ **चेतु**=ज्ञान, विचार, स्मृति ॥ **छितिपाल** ( क्षितिपाल )=राजा ॥ **छाँहगीरु**—फ़ारसी में सायःगीर उस छोटे चँदवे को कहते हैं, जो राजों की गद्दी पर लगाया जाता है । सायः शब्द का हिंदी-भाषांतर छाँह कर के छाँहगीर शब्द बना लिया गया है । यहाँ इसका अर्थ छत्र है ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका का मान छुड़ाने के लिये सखी उससे कहती है—

**( अर्थ )—[ वह देख, ] शरद-पूर्णिमा का चंद्रमा उग आया । [ इस पर भी तू ] चित्त में विचार क्यों नहीं करती । [ यह ] मानो मदन महाराज का छत्र छबि दे रहा है [ अतः तुझे विचारना चाहिए कि उक्त महाराज के दरबार की अब तैयारी हो रही है, और वे शीघ्र ही चित्त-मंडल पर अपना अधिकार किया चाहते हैं, तो फिर मानिनियों की क्या दशा होगी ] ॥**



**ढरे ढार, तेहीं ढरत; दूजैं ढार ढरैं न ।**
**क्यौंहूँ आनन आन सौं नैना लागत नै न ॥ २३२ ॥**

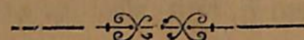
**ढरे**=झुके, ढलके, रीझे ॥ **ढार**=ढुलकाव, ढुलकने की दिशा ॥ **नै**=झुक कर ॥

( अवतरण )—नायक किसी नायिका पर रीझा हुआ है । उसके अंतरंग सखा उसे समझाते हैं कि उसका प्राप्त होना बड़ा कठिन है, अतः तू किसी अन्य ओर चित्त लगा । नायक उनको उत्तर देता है—

---

१. करत ( ४, ५ ) ।

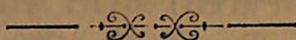
(अर्थ)—[ मेरे नयन जिस ] ढार पर ( जिस ढुलकाव की ओर, अर्थात् जिस ओर ) ढरे हैं ( रीझे हैं ), उसी पर ढरते हैं ; दूसरे ढार पर ( दूसरी ओर ) नहीं ढरते ( रीझते )। किसी प्रकार भी अन्य आनन ( मुख ) से [ मेरे ] नयन 'नै' कर ( झुक कर, रीझ कर ) नहीं लगते ॥



सोवत लखि मन मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन[1] की मिलनि मिलि, तिय[2] हिय सौं लपटाइ ॥ २३३ ॥

(अवतरण)—नायक यह देख कर कि नायिका मान ठान कर सो गई है, स्वयं भी उसके पास सो रहा। उद्दीपन होने के कारण नायिका नायक से लिपट गई। पर अपनी बात रखने के निमित्त वह इस भाँति लिपटी कि नायक उसे, नींद में लिपटते हुए जान, जगा कर मना ले। सखी-वचन सखी से—

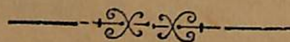
(अर्थ)—[ उसको ] मन में मान धारण कर के सोते देख प्रियतम आ कर [ उसके ] पास सो रहा। [ तब वह ] स्त्री नींद के मिलन की भाँति मिल कर [ प्रियतम के ] हृदय से लिपट रही ॥



जोन्ह नहीं यह, तमु वहै, किए जु जगत निकेतु।
होत उदै[3] ससि के भयौ, मानहु ससहरि[4] सेतु ॥ २३४ ॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका को वियोग में जगत् अंधकारमय दिखलाई देता है। चाँदनी भी उसको अंधकार ही का रूपांतर प्रतीत होती है। अतः वह सखी से कहती है—

(अर्थ)—यह चाँदनी नहीं है, [प्रत्युत] वही अंधकार है, जिसने जगत् में [अपना] निकेतन ( घर ) कर रक्खा है। [ यह जो श्वेत जान पड़ता है, सो ] मानो चंद्रमा के उदित होते [ ही वह अंधकार ] डर कर श्वेत हो गया है [ यह श्वेतता कुछ चंद्रिका की नहीं है, क्योंकि यदि चंद्रिका होती, तो मेरा ताप हरती ] ॥



जात जात बितु होतु है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ, तौ होइ घरी मैं[5] मोषु ॥ २३५ ॥

(अवतरण)—धन-लोभी मनुष्यों से कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

(अर्थ)—जिस प्रकार बित्त ( धन ) जाते जाते ( नष्ट होते होते ) चित्त में संतोष होता जाता है [ कि ईश्वर की जो इच्छा है, वही होता है, हमारा क्या वश है ], [ उसी प्रकार ] जो [ उसके ] होते होते ( संचित होने के समय ) [ संतोष ] हो [ कि

१. सपन ( १, २, ४ )। २. पिय ( १, २, ४ )। ३. उदो ( १, २ )। ४. ससिहर ( ५ )। ५. माँहि ( १, २ )।

जो ईश्वर की इच्छा होगी, वही मिलेगा, हम वृथा क्यों सुमार्ग तथा कुमार्ग से धन संचित करने का उद्योग करें ], तो घड़ी भर में ( अति शीघ्र ) मोक्ष हो जाय ॥

तन भूषन, अंजन[1] दृगनु, पगनु[2] महावर[3]-रंग[4]।
नहिँ सोभा कौं[5] साजियतु[6], कहिबैँ[7] हीँ कौं अंग[8]॥ २३६ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की स्वाभाविक शोभा का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ वह स्वभावतः ऐसी सुंदर है कि उसके ] तन को भूषण से, आँखों को अंजन से, [ तथा ] पाँवों को महावर के रंग से शोभा के निमित्त नहीँ साजा जाता, [ प्रत्युत ये सब, अर्थात् भूषण, अंजन, तथा महावर का रंग, ] कहने मात्र को [ उसके ] अंग में हैं । [ भावार्थ यह है कि ये सब उसके शरीर में ऐसे मिल जाते हैं कि उसकी शोभा बढ़ाने में कुछ उपकारी नहीँ होते, केवल कहने से उनकी उपस्थिति जानी जाती है, क्योंकि उसका तन तो भूषणों के विना ही सुशोभित, तथा कंचन-वर्ण, आँखें अंजन के विना ही आँजी हुई सी एवं पावँ महावर के विना ही लाल हैं ] ॥

पाइ तरुनिकुच-उचपदु चिरम ठग्यौ सबु गाउँ।
छुटैँ ठौरु रहिहै वहै, जु हो मोलु, छबि, नाउँ ॥ २३७ ॥

**चिरम**=गुंजा, घुँघुची ॥

( अवतरण )—किसी कुपात्र मनुष्य को किसी राजा ने उच्च पद दे रक्खा है, अतः वह बहुत वेतन पाता है, लोग उसको उत्तम व्यक्ति समझते हैं, एवं बड़ी बड़ी उपाधियों के साथ उसका नाम लिया जाता है । उसी की व्यवस्था कवि घुँघुची पर अन्योक्ति कर के कहता है—

( अर्थ )—[ देखो, ] तरुणी-कुच-रूपी उच्च पद को पा कर चिरम ने सब गाँव ( ग्राम-निवासियों ) को ठग लिया है ( अपने किसी बहुमूल्य, अत्यंत शोभा से संपन्न एवं शुभनामधारी रत्न होने का धोखा दे रक्खा है ) । [ पर इस ] ठौर के छुटने पर ( इस पद से च्युत होने पर ) [ उसका ] मोल, शोभा, [ तथा ] नाम वही रह जायगा, जो [ उसके इस पद पर आने के पूर्व ] था ॥

नितप्रति एकत हीँ रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल अनेक ॥ २३८ ॥

**नितप्रति एकत ही रहत**=नित्यप्रति एकत्र ही रहते हुए अर्थात् सदा एकत्र रहने वाले । यह खंड-वाक्य 'जुगलकिसोर' पद का विशेषण है ॥ **बैस-बरन-मन-एक**=जो बैस ( वयक्रम ), बरन ( वर्ण,

---

१. अंजनु ( १, ५ ) । २. पगनि ( ४ ), पगन ( ५ ) । ३. महावरु ( १ ) । ४. रंगु ( १, २, ४ ) । ५. को ( ४ ), कौँ ( ५ ) । ६. साजिये ( ५ ) । ७. एगौँ कौँ ( १ ), वे ही को ( ४ ), ए ही को ( ५ ) । ८. अंगु ( १, ४ ) । ९. तन ( १, २ ) ।

रुख ( रुख )—यह फ़ारसी भाषा का शब्द है । इसका अर्थ मुख है । उर्दू में इसका अर्थ चेष्टा, दिशा इत्यादि भी होता है । उक्त भाषा में इसका प्रयोग पुल्लिंग-रूप से होता है, पर भाषा में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग, दोनों रूपों में दिखाई देता है । बिहारी ने इसका प्रयोग चार दोहों में किया है, और चारों में इसको स्त्रीलिंग ही माना है । देखो दोहे २१६, ३६४, ४१५ ॥ बूढ़ = बीरबहूटी । व्रज में बीरबहूटी को सावन की बूढ़ी अथवा डोकरी अब भी कहते हैं ॥

( अवतरण )—खंडिता धीरा नायिका से नायक-वचन—

( अर्थ )—हे शशिमुखी, रस की सी रुख ( प्रेम की चेष्टा की सी चेष्टा ) से हँस हँस कर वचन बोलते ( बोलने से ) मन में [ तेरा ] मान गूढ़ ( छिपा हुआ ) कैसे रह सकता है, [ क्योंकि ] तेरे नयन बीरबहूटी के रंग के हो गए हैं ॥

जिहिँ निदाघ-दुपहर रहै भई माघ की राति[1] ।
तिहिँ[2] उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥ २४४ ॥

( अवतरण )—दूती नायक से नायिका के विरह-ताप का वर्णन करती है—

( अर्थ )—जिस [ उशीर की रावटी अर्थात् ख़स की बनी हुई रावटी ] में [ ऐसी ठंढक है कि उसमें बैठने वाले को ] ग्रीष्म की दुपहर माघ की रात हुई रहती है ( जान पड़ती है ), उस उशीर की रावटी में [ भी वह विरह-ताप के कारण ] खरी ( अत्यंत ) उबली जाती है ॥

रही दहेँड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि ।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवँनहारि[3] ॥ २४५ ॥

मथनिया = मथने का पात्र, वह बड़ी हाँड़ी जिसमें दही तथा जल मिला कर मथा जाता है ॥

( अवतरण )—नायिका दही मथने के लिए बैठी है । इतने ही में नायक वहाँ आ गया । उस-को देख कर नायिका मोह से उलटी पुलटी क्रिया करने लगी । कोई सखी दूसरी सखी से उसकी दशा कहती है—

( अर्थ )—दहेँड़ी ( दही की हाँड़ी ) [ तो इसके ] पास [ ज्यों की त्यों ] रक्खी [ ही ] रह गई, [ केवल ] जल से भरी हुई मथनिया में [ बिना दही डाले ही ] यह नई ( अनोखी ) बिलोने वाली ( मथने वाली ) रई ( दही मथने का काठ का यंत्र ) उलटी कर के फेर रही है ( घुमा रही है ) ॥

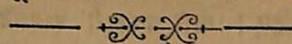
देवर-फूल-हने जु, सु[4] सु उठे हरषि अँग फूलि ।
हँसी करति औषधि[5] सखिनु देह-ददोरनु भूलि ॥ २४६ ॥

१. माह ( ४, ५ ) । २. सो ( ५ ) । ३. बिलोवनि ( १, ४ ) । ४. रिसु ( ४ ) । ५. औखदि ( १ ), ओषदि ( ४ ), औषद ( ५

**ददोरनु**=ददोरों की। मच्छड़ इत्यादि के काटने से अथवा और किसी कारण जो फूलन शरीर में, स्थान स्थान पर, हो आती है, उसी को ददोरा कहते हैं॥

(अवतरण)—नायिका का अपने देवर के साथ गुप्त प्रेम है। देवर ने नायिका पर फूल फेंके। जिन अंगों पर वे फूल लगे, वे सब हर्ष से फूल आए। सखियाँ उन फूलनों को ददोरे समझ कर कुछ औषधि करने लगीं। इस पर नायिका उनके भ्रम पर हँस पड़ी। कोई चतुर सखी ये सब बातें समझ कर किसी दूसरी सखी से कहती है—

(अर्थ)—देवर द्वारा फूल से मारे हुए जो जो अंग हैं, सो सो [तो] हर्षित हो कर फूल उठे हैं [किसी व्याधि से नहीं फूले हैं, जो उनमें औषधि की आवश्यकता हो]। [अतः वह] देह के ददोरों की भूल कर औषधि करती हुई सखियों पर हँसी॥



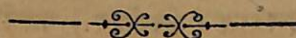
**फूले फदकत लै फरी पल, कटाच्छ-करवार[1]।**
**करत बचावत बिय-नयन-पाइक[2] घाइ हजार॥ २४७॥**

**फूले**=(१) प्रसन्नता से उमंगे हुए। (२) प्रतिद्वंद्वी को देख कर शरीर फुलाए हुए॥ **फदकत**=(१) चपलता के साथ इधर उधर देखते हुए। (२) कूद कूद कर पैंतरा बदलते हुए॥ **करवार** (करपाल)=तलवार॥ **बिय**=दोनों। इस शब्द को बिहारी ने द्वितीय अर्थात् अन्य के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। देखो दोहा नं० १२२॥ **घाइ** (घात)=घाव, चोट॥

(अवतरण)—गुरुजनों में उपस्थित नायिका और नायक आपस में, नयनों के द्वारा, अनेक प्रकार के हावभाव कर रहे हैं। कोई सखी यह लक्षित कर और उनके नयनों का रूपक प्यादों से कर के दूसरी सखी से कहती है—

(अर्थ)—दोनों के नयन-रूपी पायक (पैदल सिपाही), पलक-रूपी ढाल [तथा] कटाक्ष-रूपी तलवार ले कर, फूले हुए फदकते, हज़ारों [प्रकारों की] चोटें करते [और] बचाते हैं॥

चोटें करने तथा बचाने का यह भाव है कि जब नायक, नयन कोई प्रार्थनात्मक इंगित करते हैं, तो नायिका के नयन उसको अनदेखा कर के टाल जाते हैं। तब नायक के नयन नायिका के नयनों के उस अनदेखे का अनदेखा कर के फिर वही घात लगाते हैं॥



**पहुँला[3]-हारु हियैं लसै[4], सन की बेंदी भाल।**
**राखति खेत खरे[5] खरे[6] खरे-उरोजनु बाल॥ २४८॥**

**पहुला**—इस शब्द का अर्थ हरिप्रकाश-टीका में फूल विशेष लिख कर छोड़ दिया गया है। लालचंद्रिका में इसका अर्थ 'कुब्ज पुष्प' लिखा है। पंडित हरिप्रसाद ने इसका पाठ 'प्रफुला' कर के अपनी आर्या में इसका अर्थ कुमुदिनी रक्खा है, और कदाचित् उन्हीं की देखादेखी श्रीदेवकीनंदन की एवं पंडित परमानंद की टीकाओं में भी इसका पाठ 'प्रफुला' रक्खा गया है। पं० प्रभुदयालु पांडे ने इसका अर्थ रुई की माला समझा है। हमारी एक

---

१. कारिवार (१, ४)। २. पायक (१)। ३. पहुला (१), प्रफुलित (४)। ४. लसत (४)। ५. खरी (१, २)। ६. खरी (५)।

रुख ( रुख )—यह फ़ारसी भाषा का शब्द है । इसका अर्थ मुख है । उर्दू में इसका अर्थ चेष्टा, दिशा इत्यादि भी होता है । उक्त भाषा में इसका प्रयोग पुल्लिंग-रूप से होता है, पर भाषा में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग, दोनों रूपों में दिखाई देता है । बिहारी ने इसका प्रयोग चार दोहों में किया है, और चारों में इसको स्त्रीलिंग ही माना है । देखो दोहे २१६, ३६४, ४१५ ॥ बूढ़ = बीरबहूटी । ब्रज में बीरबहूटी को सावन की बूढ़ी अथवा डोकरी अब भी कहते हैं ॥

( अवतरण )—खंडिता धीरा नायिका से नायक-वचन—

( अर्थ )—हे शशिमुखी, रस की सी रुख ( प्रेम की चेष्टा की सी चेष्टा ) से हँस हँस कर वचन बोलते ( बोलने से ) मन में [ तेरा ] मान गूढ़ ( छिपा हुआ ) कैसे रह सकता है, [ क्योंकि ] तेरे नयन बीरबहूटी के रंग के हो गए हैं ॥

जिहिँ निदाघ-दुपहर रहै भई माँघ[1] की राति ।
तिहिँ[2] उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥ २४४ ॥

( अवतरण )—दूती नायक से नायिका के विरह-ताप का वर्णन करती है—

( अर्थ )—जिस [ उशीर की रावटी अर्थात् ख़स की बनी हुई रावटी ] में [ ऐसी ठंढक है कि उसमें बैठने वाले को ] ग्रीष्म की दुपहर माघ की रात हुई रहती है ( जान पड़ती है ), उस उशीर की रावटी में [ भी वह विरह-ताप के कारण ] खरी ( अत्यंत ) उबली जाती है ॥

रही दहेँड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि ।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवँनहारि[3] ॥ २४५ ॥

मथनिया = मथने का पात्र, वह बड़ी हाँड़ी जिसमें दही तथा जल मिला कर मथा जाता है ॥

( अवतरण )—नायिका दही मथने के लिए बैठी है । इतने ही में नायक वहाँ आ गया । उस-को देख कर नायिका मोह से उलटी पुलटी क्रिया करने लगी । कोई सखी दूसरी सखी से उसकी दशा कहती है—

( अर्थ )—दहेँड़ी ( दही की हाँड़ी ) [ तो इसके ] पास [ ज्यों की त्यों ] रक्खी [ ही ] रह गई, [ केवल ] जल से भरी हुई मथनिया में [ बिना दही डाले ही ] यह नई ( अनोखी ) बिलोने वाली ( मथने वाली ) रई ( दही मथने का काट का यंत्र ) उलटी कर के फेर रही है ( घुमा रही है ) ॥

देवर-फूल-हने जु, सु[4] सु उठे हरषि अँग फूलि ।
हँसी करति औषधि[5] सखिनु देह-ददोरनु भूलि ॥ २४६ ॥

१. माह ( ४, ५ ) । २. सो ( ५ ) । ३. बिलोवनि ( १, ४ ) । ४. रिसु ( ४ ) । ५. औखदि ( १ ), ओषदि ( ४ ), औषद ( ५

ददोरनु=ददोरों की। मच्छड़ इत्यादि के काटने से अथवा और किसी कारण जो फूलन शरीर में, स्थान स्थान पर, हो आती है, उसी को ददोरा कहते हैं॥

(अवतरण)—नायिका का अपने देवर के साथ गुप्त प्रेम है। देवर ने नायिका पर फूल फेंके। जिन अंगों पर वे फूल लगे, वे सब हर्ष से फूल आए। सखियाँ उन फूलनों को ददोरे समझ कर कुछ औषधि करने लगीं। इस पर नायिका उनके भ्रम पर हँस पड़ी। कोई चतुर सखी ये सब बातें समझ कर किसी दूसरी सखी से कहती है—

(अर्थ)—देवर द्वारा फूल से मारे हुए जो जो अंग हैं, सो सो [तो] हर्षित हो कर फूल उठे हैं [किसी व्याधि से नहीं फूले हैं, जो उनमें औषधि की आवश्यकता हो]। [अतः वह] देह के ददोरों की भूल कर औषधि करती हुई सखियों पर हँसी॥

फूले फदकत लै फरी पल, कटाच्छ-करवार[1]।
करत बचावत बिय-नयन-पाइक[2] घाइ हजार॥ २४७॥

फूले=(१) प्रसन्नता से उमगे हुए। (२) प्रतिद्वंद्वी को देख कर शरीर फुलाए हुए॥ फदकत=(१) चपलता के साथ इधर उधर देखते हुए। (२) कूद कूद कर पैंतरा बदलते हुए॥ करवार (करपाल)=तलवार॥ बिय=दोनों। इस शब्द को बिहारी ने द्वितीय अर्थात् अन्य के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। देखो दोहा नं० १२२॥ घाइ (घात)=घाव, चोट॥

(अवतरण)—गुरुजनों में उपस्थित नायिका और नायक आपस में, नयनों के द्वारा, अनेक प्रकार के हावभाव कर रहे हैं। कोई सखी यह लक्षित कर और उनके नयनों का रूपक प्यादों से कर के दूसरी सखी से कहती है—

(अर्थ)—दोनों के नयन-रूपी पायक (पैदल सिपाही), पलक-रूपी ढाल [तथा] कटाक्ष-रूपी तलवार ले कर, फूले हुए फदकते, हज़ारों [प्रकारों की] चोटें करते [और] बचाते हैं॥

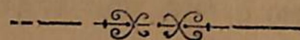
चोटें करने तथा बचाने का यह भाव है कि जब नायक नयन कोई प्रार्थनात्मक इंगित करते हैं, तो नायिका के नयन उसको अनदेखा कर के टाल जाते हैं। तब नायक के नयन नायिका के नयनों के उस अनदेखे का अनदेखा कर के फिर वही घात लगाते हैं॥

पहुला[3]-हारु हियैं लसै[4], सन की बैंदी भाल।
राखति खेत खरे[5] खरे[6] खरे-उरोजनु बाल॥ २४८॥

पहुला—इस शब्द का अर्थ हरिप्रकाश-टीका में फूल विशेष लिख कर छोड़ दिया गया है। लालचंद्रिका में इसका अर्थ 'कुब्ज पुष्प' लिखा है। पंडित हरिप्रसाद ने इसका पाठ 'प्रफुला' कर के अपनी आर्या में इसका अर्थ कुमुदिनी रक्खा है, और कदाचित् उन्हीं की देखादेखी श्रीदेवकीनंदन की एवं पंडित परमानंद की टीकाओं में भी इसका पाठ 'प्रफुला' रक्खा गया है। पं० प्रभुदयालु पांडे ने इसका अर्थ रुई की माला समझा है। हमारी एक

१. करिवार (१, ४)। २. पायक (१)। ३. पहुला (१), प्रफुलित (४)। ४. लसत (४)। ५. खरी (१, २)। ६. खरी (५)।

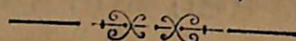
(अर्थ)—[ मेरे नयन जिस ] ढार पर ( जिस ढुलकाव की ओर, अर्थात् जिस ओर ) ढरे हैं ( रीझे हैं ), उसी पर ढरते हैं ; दूसरे ढार पर ( दूसरी ओर ) नहीं ढरते ( रीझते )। किसी प्रकार भी अन्य आनन ( मुख ) से [ मेरे ] नयन 'नै' कर ( झुक कर, रीझ कर ) नहीं लगते ॥



सोवत लखि मन मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन की मिलनि मिलि, तिय हिय सौं लपटाइ ॥ २३३ ॥

(अवतरण)—नायक यह देख कर कि नायिका मान ठान कर सो गई है, स्वयं भी उसके पास सो रहा। उद्दीपन होने के कारण नायिका नायक से लिपट गई। पर अपनी बात रखने के निमित्त वह इस भाँति लिपटी कि नायक उसे, नींद में लिपटते हुए जान, जगा कर मना ले। सखी-वचन सखी से—

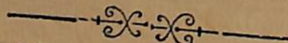
(अर्थ)—[ उसको ] मन में मान धारण कर के सोते देख प्रियतम आ कर [ उसके ] पास सो रहा। [ तब वह ] स्त्री नींद के मिलन की भाँति मिल कर [ प्रियतम के ] हृदय से लिपट रही ॥



जोन्ह नहीं यह, तमु वहै, किए जु जगत निकेतु।
होत उँदै ससि के भयौ, मानहु ससहरि सेतु ॥ २३४ ॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका को वियोग में जगत् अंधकारमय दिखलाई देता है। चाँदनी भी उसको अंधकार ही का रूपांतर प्रतीत होती है। अतः वह सखी से कहती है—

(अर्थ)—यह चाँदनी नहीं है, [प्रत्युत] वही अंधकार है, जिसने जगत् में [अपना] निकेतन ( घर ) कर रक्खा है। [ यह जो श्वेत जान पड़ता है, सो ] मानो चंद्रमा के उदित होते [ ही वह अंधकार ] डर कर श्वेत हो गया है [ यह श्वेतता कुछ चंद्रिका की नहीं है, क्योंकि यदि चंद्रिका होती, तो मेरा ताप हरती ]॥



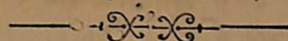
जात जात बितु होतु है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ, तौ होइ घरी मैं मोषु ॥ २३५ ॥

(अवतरण)—धन-लोभी मनुष्यों से कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

(अर्थ)—जिस प्रकार बित्त ( धन ) जाते जाते ( नष्ट होते होते ) चित्त में संतोष होता जाता है [ कि ईश्वर की जो इच्छा है, वही होता है, हमारा क्या वश है ], [ उसी प्रकार ] जो [ उसके ] होते होते ( संचित होने के समय ) [ संतोष ] हो [ कि

१. सपन ( १, २, ४ )। २. पिय ( १, २, ४ )। ३. उदो ( १, २ )। ४. ससिहर ( ५ )। ५. माँहि ( १, २ )।

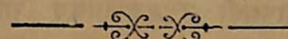
जो ईश्वर की इच्छा होगी, वही मिलेगा, हम वृथा क्यों सुमार्ग तथा कुमार्ग से धन संचित करने का उद्योग करें ], तो घड़ी भर में ( अति शीघ्र ) मोक्ष हो जाय ॥



तन भूषन, अंजन[1] दृगनु, पगनु[2] महावर[3]-रंग।
नहिं सोभा कौं[4] साजियतु,[5] कहिबैं[6] हीं कौं[7] अंग[8] ॥ २३६ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की स्वाभाविक शोभा का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ वह स्वभावतः ऐसी सुंदर है कि उसके ] तन को भूषण से, आँखों को अंजन से, [ तथा ] पाँवों को महावर के रंग से शोभा के निमित्त नहीं साजा जाता, [ प्रत्युत ये सब, अर्थात् भूषण, अंजन, तथा महावर, का रंग, ] कहने मात्र को [ उसके ] अंग में हैं। [ भावार्थ यह है कि ये सब उसके शरीर में ऐसे मिल जाते हैं कि उसकी शोभा बढ़ाने में कुछ उपकारी नहीं होते, केवल कहने से उनकी उपस्थिति जानी जाती है, क्योंकि उसका तन तो भूषणों के विना ही सुशोभित, तथा कंचन-वर्ण, आँखें अंजन के विना ही आँजी हुई सी एवं पावँ महावर के विना ही लाल हैं ] ॥

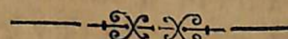


पाइ तरुनिकुच-उच्चपदु चिरम ठग्यौ सबु गाउँ।
छुटैं ठौरु रहिहै वहै, जु हो मोलु, छबि, नाउँ ॥ २३७ ॥

**चिरम**=गुंजा, घुँघुची ॥

( अवतरण )—किसी कुपात्र मनुष्य को किसी राजा ने उच्च पद दे रक्खा है, अतः वह बहुत वेतन पाता है, लोग उसको उत्तम व्यक्ति समझते हैं, एवं बड़ी बड़ी उपाधियों के साथ उसका नाम लिया जाता है। उसी की व्यवस्था कवि घुँघुची पर अन्योक्ति कर के कहता है—

( अर्थ )—[ देखो, ] तरुणी-कुच-रूपी उच्च पद को पा कर चिरम ने सब गाँव ( ग्राम-निवासियों ) को ठग लिया है ( अपने किसी बहुमूल्य, अत्यंत शोभा से संपन्न एवं शुभनामधारी रत्न होने का धोखा दे रक्खा है ) । [ पर इस ] ठौर के छुटने पर ( इस पद से च्युत होने पर ) [ उसका ] मोल, शोभा, [ तथा ] नाम वही रह जायगा, जो [ उसके इस पद पर आने के पूर्व ] था ॥



नितप्रति एकत हीँ रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल[9] अनेक ॥ २३८ ॥

**नितप्रति एकत ही रहत**=नित्यप्रति एकत्र ही रहते हुए अर्थात् सदा एकत्र रहने वाले। यह खंड-वाक्य 'जुगलकिसोर' पद का विशेषण है ॥ **बैस-बरन-मन-एक**=जो बैस ( वयक्रम ), बरन ( वर्ण,

१. अंजनु ( १, ५ ) । २. पगनि ( ४ ), पगन ( ५ ) । ३. महावरु ( १ ) । ४. रंगु ( १, २, ४ ) । ५. को ( ४ ), कौं ( ५ ) । ६. साजिये ( ५ ) । ७. ए गौँ कौँ ( १ ), वे ही को ( ४ ), ए ही को ( ५ ) । ८. अंगु ( १, ४ ) । ९. तन ( १, २ ) ।

रंग ) तथा मन, इन तीनों में एक ही हो रहे हैं, ऐसे। यह समस्त पद भी 'जुगलकिसोर' का विशेषण है ॥ **चहियत**=चाहे जाते हैं, अभिलषित होते हैं ॥ **जुगलकिसोर** ( युगलकिशोर )=श्रीराधिका तथा श्रीकृष्णचंद्र ॥ **लोचन-जुगल**=लोचनों के जोड़े ॥

( अवतरण )—किसी युगल-उपासक व्रजवासी भक्त की उक्ति है—

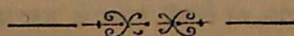
( अर्थ )—नित्यप्रति एकत्र ही रहने वाले, [ तथा ] वयक्रम, रंग एवं मन से एक [ ही हो रहे ] युगलकिशोर को [ लोचनों के एक जोड़े से ] देख कर [ तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत उनकी शोभा देखने के लिए ] लोचनों के अनेक जोड़े चाहे जाते हैं ( अभिलषित होते हैं, अर्थात् यह अभिलाषा होती है कि हमको लोचनों के अनेक जोड़े मिलें, जिसमें हम इनकी छवि भली भाँति देख सकें ) ॥

दोनों का एकरंग होना इसलिए कहा है कि दोनों पारस्परिक आभा से हरे रहते हैं, जैसा कि बिहारी ने श्रीकृष्णचंद्र के विषय में अपने प्रथम दोहे में कहा है, तथा माघ ने नारद मुनि एवं श्रीकृष्णचंद्र के मिलने पर दोनों का एक वर्ण हो जाना वर्णित किया है—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः ।
परस्परेणच्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥

एकमन इस अभिप्राय से कहा है कि दोनों के मन एक से प्रेममय हो रहे हैं ॥

इस दोहे में चमत्कार यह है कि दृश्य पदार्थ तो यद्यपि दो के स्थान पर एक ही रह गया है, तथापि देखने वाली इंद्रियाँ दो होने पर भी देखने वाले को तृप्त नहीं कर सकतीं, प्रत्युत तृप्ति के निमित्त आँखों के अनेक जोड़े अभिलषित होते हैं। इससे शोभाधिक्य व्यंजित होता है ॥

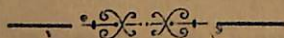


**मन न धरति मेरौ कह्यौ तूँ आपनैं सयान ।**
**अहे, परनि परि प्रेम की परहथ पारि न प्रान ॥ २३९ ॥**

**परनि**=पड़न, धावा, लूट,[1] आक्रमण। बटपरा शब्द में भी 'परा' का अर्थ पड़ने वाला अर्थात् आक्रमण करने वाला होता है ॥

( अवतरण )—नायिका को सखी शिक्षा देती है—

( अर्थ )—तू अपने सयान ( सयानपने के अभिमान ) के कारण मेरा कहा [ अपने ] मन में नहीं धरती। अहे ( अरी, मैं तुझे चैतन्य किए देती हूँ। देख ), प्रेम की 'परनि' ( आक्रमण, डाके ) में पड़ कर [ तू अपने ] प्राण 'परहथ' ( दूसरे के हाथ, अर्थात् वश, में ) मत डाल ॥



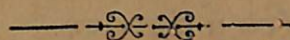
**नख-रेखा सोहैं नई, अलसौंहैं सब गात ।**
**सौंहैं होत न नैन ए, तुम सौंहैं कत खात ॥ २४० ॥**

( अवतरण )—खंडिता नायिका का वचन नायक से—

---

१. भरत ( ४, ५ ) ।

( अर्थ )—[ तुम्हारे शरीर में ] नई ( टटकी लगी हुई ) नख-रेखाएँ शोभित हैं, [ और तुम्हारे ] सब गात आलस्य-युक्त हैं, [ जिसकी लज्जा से तुम्हारे ] ये नेत्र सामने नहीं होते। [ इन सब लक्षणों से तुम्हारा अपराध पूर्णतया निर्धारित हो रहा है। उसके छिपाने के निमित्त ] तुम [ झूठी ] सौंहैं ( शपथें ) क्यों खा रहे हो [ कि हम अन्य स्त्री के यहाँ नहीं गए थे ]॥

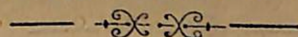


हरि, कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार॥ २४१॥

( अवतरण )—सेवा तथा दर्शन-सुख के अभिलाषी भक्त की प्रार्थना श्रीवृंदावन-विहारी से—

( अर्थ )—हे हरि, तुमसे हज़ार बार यही विनती ( नम्रता-पूर्वक प्रार्थना ) की जाती है [ कि मैं तुम्हारे ] दरबार ( राजसभा ) में जिस प्रकार हो सके, उसी प्रकार ( अच्छी अथवा बुरी जिस दशा में संभव हो, उसी में ) डला हुआ ( लुढ़कता पुढ़कता ) पड़ा रहूँ [ भावार्थ यह है कि मैं तुम्हारे दरबार से निकाल दिया जाना नहीं चाहता, अर्थात् मुक्ति नहीं चाहता, प्रत्युत तुम्हारी सेवा में, चाहे जिस दशा में हो, रहना चाहता हूँ ]॥

भक्ति-मार्ग के अनुयायी वैष्णव मुक्ति कदापि नहीं चाहते। उनका सिद्धांत यह है कि मुक्ति में रक्खा ही क्या है? जो कुछ आनंद है, वह तो युगल-स्वरूप के दर्शनों तथा सेवा में है। मुक्ति हो जाने पर तो अपनपा ही जाता रहता है, अतः सेवा तथा दर्शनों का आनंद नहीं प्राप्त हो सकता॥

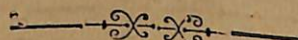


भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मौरि[3] मोरि, मुहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि[4] दीठि सौं जोरि॥ २४२॥

मौरि ( मौलि ) = शिर॥ मोरि—प्रथम 'मोरि' का अर्थ घुमा कर अर्थात् मटका कर अथवा बिदा करने का इंगित कर के, और द्वितीय का अर्थ फेर कर, अर्थात् मेरी ओर से घर की ओर कर के, है॥

( अवतरण )—नायिका ने अपने द्वार पर से नायक को देख कर जो चेष्टाएँ कीं, उन पर नायक रीझ गया है, और अपने अंतरंग सखा अथवा नायिका की सखी से उनका वर्णन करता है—

( अर्थ )—भौंहें ऊँची कर के ( सानंद देखने का भाव कर के ), आँचल [ किसी व्याज से ] उलट कर ( हटा कर ) [ जिसमें सुंदर त्रिवली इत्यादि दिखाई दे जायँ ], सिर घुमा कर ( मटका कर ), [ और फिर ] मुँह मोड़ कर ( पीछे फिर कर ) [ मेरी ] दृष्टि से दृष्टि मिला कर, कठिनता से ( अपनी इच्छा के विरुद्ध, लोकापवाद के भय से ) [ वह ] भीतर चली गई॥



रस की सी रुख, ससिमुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यौं रहै, भए बूढ़-रँग नैन॥ २४३॥

१. तुम सौं इहै बिनती ( ५ )। २. परे रहौं, डटे रहौ ( ४ ), डरयौ रहूँ, परयौ रहूँ ( ५ )। ३. मोरि मोरि ( ४, ५ )। ४. डीठि ( ५ )।

रुख ( रुख )—यह फ़ारसी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ मुख है। उर्दू में इसका अर्थ चेष्टा, दिशा इत्यादि भी होता है। उक्त भाषा में इसका प्रयोग पुल्लिंग-रूप से होता है, पर भाषा में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग, दोनों रूपों में दिखाई देता है। बिहारी ने इसका प्रयोग चार दोहों में किया है, और चारों में इसको स्त्रीलिंग ही माना है। देखो दोहे २१६, ३६४, ४१५ ॥ बूढ़ = बीरबहूटी। व्रज में बीरबहूटी को सावन की बूढ़ी अथवा डोकरी अब भी कहते हैं ॥

( अवतरण )—खंडिता धीरा नायिका से नायक-वचन—

( अर्थ )—हे शशिमुखी, रस की सी रुख ( प्रेम की चेष्टा की सी चेष्टा ) से हँस हँस कर वचन बोलते ( बोलने से ) मन में [ तेरा ] मान गूढ़ ( छिपा हुआ ) कैसे रह सकता है, [ क्योंकि ] तेरे नयन बीरबहूटी के रंग के हो गए हैं ॥

जिहिँ निदाघ-दुपहर रहै भई माँघ की राति।
तिहिँ[2] उसीर की रावटी खरी आवटी जाति॥ २४४॥

( अवतरण )—दूती नायक से नायिका के विरह-ताप का वर्णन करती है—

( अर्थ )—जिस [ उशीर की रावटी अर्थात् खस की बनी हुई रावटी ] में [ ऐसी ठंढक है कि उसमें बैठने वाले को ] ग्रीष्म की दुपहर माघ की रात हुई रहती है ( जान पड़ती है ), उस उशीर की रावटी में [ भी वह विरह-ताप के कारण ] खरी ( अत्यंत ) उबली जाती है ॥

रही दहेँड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवँनहारि[3]॥ २४५॥

मथनिया = मथने का पात्र, वह बड़ी हाँड़ी जिसमें दही तथा जल मिला कर मथा जाता है ॥

( अवतरण )—नायिका दही मथने के लिए बैठी है। इतने ही में नायक वहाँ आ गया। उसको देख कर नायिका मोह से उलटी पुलटी क्रिया करने लगी। कोई सखी दूसरी सखी से उसकी दशा कहती है—

( अर्थ )—दहेँड़ी ( दही की हाँड़ी ) [ तो इसके ] पास [ ज्यों की त्यों ] रक्खी [ ही ] रह गई, [ केवल ] जल से भरी हुई मथनिया में [ बिना दही डाले ही ] यह नई ( अनोखी ) बिलोने वाली ( मथने वाली ) रई ( दही मथने का काठ का यंत्र ) उलटी कर के फेर रही है ( घुमा रही है ) ॥

देवर-फूल-हने जु, सुँ सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसी करसि औषधि[5] सखिनु देह-ददोरनु भूलि॥ २४६॥

१. माह ( ४, ५ ) । २. सो ( ५ ) । ३. बिलोवनि ( १, ४ ) । ४. रिसु ( ४ ) । ५. औखदि ( १ ), ओषदि ( ४ ), औषद ( ५

**ददोरनु**=ददोरों की। मच्छड़ इत्यादि के काटने से अथवा और किसी कारण जो फूलन शरीर में, स्थान स्थान पर, हो आती है, उसी को ददोरा कहते हैं॥

( अवतरण )—नायिका का अपने देवर के साथ गुप्त प्रेम है। देवर ने नायिका पर फूल फेंके। जिन अंगों पर वे फूल लगे, वे सब हर्ष से फूल आए। सखियाँ उन फूलनों को ददोरे समझ कर कुछ औषधि करने लगीं। इस पर नायिका उनके भ्रम पर हँस पड़ी। कोई चतुर सखी ये सब बातें समझ कर किसी दूसरी सखी से कहती है—

( अर्थ )—देवर द्वारा फूल से मारे हुए जो जो अंग हैं, सो सो [ तो ] हर्षित हो कर फूल उठे हैं [ किसी व्याधि से नहीं फूले हैं, जो उनमें औषधि की आवश्यकता हो ]। [ अतः वह ] देह के ददोरों की भूल कर औषधि करती हुई सखियों पर हँसी॥

**फूले फदकत लै फरी पल, कटाच्छ-करवार[1]।**
**करत बचावत बिय-नयन-पाइक[2] घाइ हजार॥ २४७॥**

**फूले**=(१) प्रसन्नता से उमगे हुए। (२) प्रतिद्वंद्वी को देख कर शरीर फुलाए हुए॥ **फदकत**=(१) चपलता के साथ इधर उधर देखते हुए। (२) कूद कूद कर पैंतरा बदलते हुए॥ **करवार** (करपाल)=तलवार॥ **बिय**=दोनों। इस शब्द को बिहारी ने द्वितीय अर्थात् अन्य के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। देखो दोहा नं० १२२॥ **घाइ** (घात)=घाव, चोट॥

( अवतरण )—गुरुजनों में उपस्थित नायिका और नायक आपस में, नयनों के द्वारा, अनेक प्रकार के हावभाव कर रहे हैं। कोई सखी यह लक्षित कर और उनके नयनों का रूपक प्यादों से कर के दूसरी सखी से कहती है—

( अर्थ )—दोनों के नयन-रूपी पायक ( पैदल सिपाही ), पलक-रूपी ढाल [ तथा ] कटाक्ष-रूपी तलवार ले कर, फूले हुए फदकते, हज़ारों [ प्रकारों की ] चोटें करते [ और ] बचाते हैं॥

चोटें करने तथा बचाने का यह भाव है कि जब नायक के नयन कोई प्रार्थनात्मक इंगित करते हैं, तो नायिका के नयन उसको अनदेखा कर के टाल जाते हैं। तब नायक के नयन नायिका के नयनों के उस अनदेखे का अनदेखा कर के फिर वही घात लगाते हैं॥

**पहुला[3]-हारु हियैं लसै[4], सन की बेंदी भाल।**
**राखति खेत खरे[5] खरे[6] खरे-उरोजनु बाल॥ २४८॥**

**पहुला**—इस शब्द का अर्थ हरिप्रकाश-टीका में फूल विशेष लिख कर छोड़ दिया गया है। लालचंद्रिका में इसका अर्थ 'कुन्ज पुष्प' लिखा है। पंडित हरिप्रसाद ने इसका पाठ 'प्रफुला' कर के अपनी आर्या में इसका अर्थ कुमुदिनी रक्खा है, और कदाचित् उन्हीं की देखादेखी श्रीदेवकीनंदन की एवं पंडित परमानंद की टीकाओं में भी इसका पाठ 'प्रफुला' रक्खा गया है। पं० प्रभुदयालु पांडे ने इसका अर्थ रुई की माला समझा है। हमारी एक

१. करिवार (१, ४)। २. पायक (१)। ३. पमुला (१), प्रफुलित (४)। ४. लसत (४)। ५. खरी (१, २)। ६. खरी (५)।

अंक वाली पुस्तक में इसका पाठ 'पमुला' है। उसका भी अर्थ स्पष्ट निर्धारित नहीं होता। हमारे मित्र पं० कृष्ण-बिहारीजी मिश्र का कथन है कि देहातों में 'पफूल' कोईं अर्थात् कुमुदिनी के फूल को कहते हैं। अतः पहुला शब्द को 'पफूल' अथवा 'प्रफुला' का अपभ्रंश-रूप मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। अथवा 'पहुला' शब्द को 'पोथला' शब्द का रूपांतर मानना चाहिए। पोथ काच की छोटे छोटे दानों को कहते हैं, जिनको गूँथ कर ग्रामीण स्त्रियाँ पहनती हैं। 'पोथ' से 'पोथला' और 'पोथला' से 'पोहला' अथवा 'पुहला' क्रमशः बन कर फिर उसी का स्वरों के व्यत्यय से 'पहुला' हो जाना संभव है॥ **सन की बेंदी**—इसका अर्थ किसी ने सन के फूल की बेंदी, तथा किसी ने सन के बीज की बेंदी किया है। उक्त मिश्रजी महाशय का यह भी कथन है कि देहातों में सनई के फूल की पंखड़ियों की बेंदियाँ लड़कियाँ लगा लिया करती हैं, और सनई के फूल तथा कोईं के फूल होते भी एक ही ऋतु में हैं। अतः इसका अर्थ सनई के फूल ही की बेंदी करना उचित है। अथवा 'सन की बेंदी' का अर्थ 'सनकिरवा' की बेंदी करना चाहिए। 'गोरी गदकारी' इत्यादि दोहे में बिहारी ने 'सनकिरवा की आड़' लिखा है। आड़ लंबे तथा आड़े तिलक को कहते हैं। इस दोहे में 'सन की बेंदी' को उसी 'सनकिरवा' की गोल टिकुली के अर्थ में मानना चाहिए। सनकिरवा का अर्थ ७०८-संख्यक दोहे की टीका में द्रष्टव्य है॥

( अवतरण )—नायक किसी गँवारी स्त्री को खेत रखाते देख कर उसकी स्वाभाविक शोभा पर रीझा है, और स्वगत कहता है—

( अर्थ )—[ इसके ] हृदय पर [ केवल ] 'पहुला'-हार शोभित है, [ तथा ] भाल पर सन की बेंदी। [ यह ] बाला खड़े उरोजों से ( १. खड़े उरोजों वाली। २. खड़े उरोजों के प्रभाव से ) खरे खरे ( १. खड़े खड़े, खड़े रह कर। २. खरे खरे अर्थात् अच्छे अच्छे लोगों को ) खेत 'राखति' ( १. खेत रखाती, खेत रक्षित रखती। २. मार गिराती अर्थात् मोहित करती ) है॥

लई सौंह सी सुनन की, तजि मुरली, धुनि आन।
किए रहति नित[1] रातिदिनु कानन-लागे कान॥ २४९॥

( अवतरण )—नायिका के अनुराग की दशा सखी नायक से कहती है—

( अर्थ )—[ जब से उसने आपकी मुरली सुन ली है, तब से ] मुरली [ की ध्वनि ] को छोड़ कर अन्य ध्वनि ( शब्द, अर्थात् हम लोगों की बातचीत इत्यादि ) सुनने की शपथ सी ले ली है ( अन्य ध्वनि न सुनने का पूर्ण प्रण सा कर लिया है, अर्थात् किसी की कुछ नहीं सुनती ); नित्य दिन रात ( निरंतर ) कानों को कानन-लगे ( वन की ओर लगे हुए ) किए रहती है ( वन की ओर कान लगाए रहती है )॥

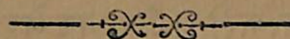
तूँ मति मानै[2] मुकतई[3] कियैँ कपट चित[4] कोटि।
जौ[5] गुनहीं, तौ[6] राखियै आँखिनु माँझ अगोटि॥ २५०॥

**मुकतई**=छुटकारा॥ **गुनहीं**=अपराधी। यह शब्द फ़ारसी शब्द 'गुनाह' अथवा 'गुनह' से बना है॥ **अगोटि**=बंद कर के, क़ैद कर के॥

१. दिन ( ५ )। २. जानै ( २ )। ३. नुकतई ( १ )। ४. नित ( १ ), बित ( ५ )। ५. ज्यौं ( २ )। ६. त्यौं ( २ )।

( अवतरण )—शठ नायक खंडिता नायिका से, अपना अपराध छिपाने के निमित्त, अनेक प्रकार की कपट-भरी बातें कहता है। इसी पर उसमें तथा नायिका में परस्पर बातचीत हुई है—

( अर्थ )—[ नायिका कहती है कि ] तू कोटि ( अनेक प्रकार के ) कपट करने से [ अपने ] चित्त में छुटकारा मत मान ( मत समझ, अर्थात् यह मत जान कि कपट से मेरा अपराध छिप गया, मैं तेरी बातें भली भाँति जानती हूँ ) । [ नायक उत्तर देता है कि ] यदि [ मैं आपकी दृष्टि में अंततोगत्वा ] अपराधी [ ही ठहरता हूँ ], तो [ मुझको ] आँखों में अगोट ( क़ैद ) कर के रखिए ( अर्थात् मुझे नित्यप्रति आँखों ही में—आँखों के सामने ही—रक्खा कीजिए ) ॥



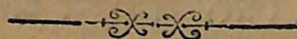
**गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु।**
**बहे[1] सदा पसु नरनु कौं[2] प्रेम-पयोधि पगारु ॥ २५१ ॥**

**रसिक**=भगवत्-लीला का स्वाद लेने वाले भक्त । स्वामी हरिदासजी की संप्रदाय रसिक-संप्रदाय कहलाती है, और उसके अनुयायी वैष्णव रसिक कहे जाते हैं । रसिक शब्द से यहाँ कवि का तात्पर्य भगवद्-रस-रसिक ही जान पड़ता है ॥ **जहाँ**=जिसमें ॥ **हजारु**=सहस्र, अनंत ॥ **पसु**=पशुवृत्तिधारी, अर्थात् भगवत्-प्रेम के भावों से रहित, अरसिक ॥ **प्रेम**—प्रेम से यहाँ कवि का तात्पर्य लौकिक प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्-प्रेम है ॥ **पगारु**=खाईं, गड़हा, अथवा पावों से हल कर पार उतर जाने के योग्य ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—जहाँ ( जिस प्रेम-रूपी पयोधि में ) पहाड़ से [ भी ] ऊँचे रसिक जनों के हज़ार मन डूब गए [ पर उसकी थाह न पा सके ], वही प्रेम-रूपी समुद्र नर-पशुओं ( अरसिक जनों, पशुवृत्तिधारी मनुष्यों ) के निमित्त सदा [ एक ] खाई [ मात्र है, अथवा सुगमता से हल कर पार उतर जाने योग्य है ] ॥

भाव यह है कि प्रेम का स्वाद जानने वाले तो उसमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उससे फिर न तो निकल ही सकते हैं, और न तृप्त ही होते हैं । परंतु पशुवृत्ति मनुष्य समझते हैं कि प्रेम कोई गंभीर वस्तु नहीं है, अतएव हम उससे सहज ही में तृप्त तथा उत्तीर्ण हो सकते हैं ॥



**भावँकु[3] उभरौंहौं भयौ, कछुकु परयौ भरुआइ।**
**सीपँ[4]-हरा कैं मिसिँ[5] हियौ निसिदिन[6] हेरतँ[7] जाइ ॥ २५२ ॥**

**भावकु**=एक भाव मात्र ॥ **परयौ भरुआइ**=भारी हो आया हुआ ॥ **सीप**=तालों तथा नदियों के किनारों पर छोटी-छोटी, बड़ी चमकदार सीपियाँ होती हैं, जिनको लड़के लड़कियाँ चुन लाते हैं, और गूथ गूथ कर सुंदर सुंदर हार अथवा अन्य आभूषण बना कर पहन लेते हैं ॥

( अवतरण )—ज्ञातयौवना नायिका की चेष्टा का वर्णन सखी अन्य सखी से अथवा नायक से करती है—

---

१. उहैं ( ३ ), उहे ( ५ ) । २. के ( ५ ) । ३. भाउकु ( १ ), भावक ( ३, ५ ), भाउक ( ४ ) ।
४. सीपि ( १ ) । ५. मिस ( १ ) । ६. निसु ( ४ ), निस ( ५ ) । ७. हेरति ( ३, ५ ) ।

(अर्थ)—[उसको] रातदिन (सब समय) सीपियों के हार [के देखने] के बहाने से "भावकु उभरौहौं भयौ" (एक भाव मात्र उभार पर आया हुआ), [तथा] कुछ एक भारी हो पड़ा हुआ [अपना] हृदय देखते (देखने में) जाता है। [भावार्थ यह है कि नायिका के हृदय पर छातियों का कुछ उभार सा हो आया है, जिसको वह निरंतर देखा करती है; पर ज्ञातयौवना होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नहीं देखती, प्रत्युत सीपियों का हार देखने के व्याज से]॥

इस दोहे का पूर्वार्ध 'हियौ' का विशेषण मात्र है, स्वतंत्र वाक्य नहीं॥

गली अँधेरी, साँकरी भौ भटभेरा आनि।
परे पिछाने परसपर दोऊ परस-पिछानि॥ २५३॥

भटभेरा=वास्तव में 'भटभेरा' दो प्रतिद्वंद्वी सेनाओं के भटों के, अथवा दो प्रतिभटों के, भिड़ जाने को कहते हैं। पर इसका प्रयोग शरीर से शरीर मिल जाने, सामना होने इत्यादि के अर्थ में होता है॥ परस-पिछानि=स्पर्श की विशेषता की पहचान से, अर्थात् दोनों के शरीर-स्पर्श में जो विशेषता है, उसके अनुभव से॥

(अवतरण)—नायक नायिका ने, अँधेरे में, स्पर्श मात्र से एक दूसरे को पहचान लिया है। यही वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

(अर्थ)—अँधेरी [तथा] सँकरी गली में आ कर [दोनों का] भटभेरा (अंग से अंग का स्पर्श) हो गया। स्पर्श की पहचान से दोनों परस्पर पहचाने पड़ गए (दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया)। [सखी यह व्यंजित करती है कि स्पर्श मात्र से परस्पर पहचान लेने से यह ज्ञात होता है कि ये दोनों इसके पूर्व भी एक दूसरे का आलिंगन-सुख अनुभूत कर चुके हैं, अतः दोनों की गुप्त प्रीति लक्षित होती है]॥

कहि पठई जियँ-भावती पिय आवन की बात।
फूली आँगन मैं फिरै, आँग न आँग समात॥ २५४॥

(अवतरण)—आगमिष्यत्पतिका नायिका पति के आने का संदेश पा कर हर्ष से फूली फूली फिरती है। सखी-वचन सखी से—

(अर्थ)—जी को सुख देने वाली [अपने] आने की बात प्रियतम ने [किसी के द्वारा उससे] कहला भेजी है। [सो वह] आँगन में फूली फूली फिरती है. ['उसके] अंग अंग में नहीं समाते॥

जब कोई हर्ष से अत्यंत उमग उठता है, तो बोलचाल में लोग कहते हैं कि उसके अंग अंग में नहीं समाते। यह लोकोक्ति है॥

१. भटभेरा (३, ५)। २. परसि (२)। ३. मन (२)। ४. अंग (२)।

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि, रही गुलाब मैं अपत, कँटीली डार ॥ २५५ ॥

**बहार**=वसंत ऋतु ॥ **अपत**=पत्र-रहित ॥

( अवतरण )—किसी गलित-यौवना स्त्री, नष्ट संपत्ति मनुष्य, विगत सुख राज्य इत्यादि पर यह अन्योक्ति है—

( अर्थ )—हे भ्रमर, जिन दिनों [ तूने ] वे [ सुंदर तथा सुगंधित ] पुष्प देखे थे, वह बहार ( वसंत ऋतु ) [ तो ] बीत गई। अब [ तो ] गुलाब [ के वृक्ष ] में बिना पत्ते की [ तथा ] कंटकित डाल ( शाखा ) रह गई है [ अब इससे दुःख छोड़ सुख की संभावना नहीं है ] ॥

———

मैं बरजी कै बार तूँ, इत कित लेति करौट।
पँखुरी लगैं गुलाब की परिहै गात खरौट ॥ २५६ ॥

**पँखुरी**=पंखड़ी, पत्ती ॥

( अवतरण )—विश्रब्धनवोढ़ा नायिका नायक की ओर से मुँह फेर कर सोती है। तब सखी उसे डर दिखा कर तथा उसके गात की कोमलता की प्रशंसा कर के नायक की ओर उसका मुँह कराना चाहती है—

( अर्थ )—मैंने तुझको कै बार बरजा। [ पर तू नहीं मानती। देख सँभल, ] इस ओर कहाँ करवट ले रही है। [ ऐसा मत कर, नहीं तो शय्या के किनारे लगाई गई इन गुलाब की पंखड़ियों में से किसी ] गुलाब की पंखड़ी के लग जाने से [ तेरे कोमल ] गात्र में खरोट पड़ जायगी ॥

———

नीचीयै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचैं, नीचौ दयौ मनु कुलिंगु झपि, झौरि ॥ २५७ ॥

**कुही**=एक प्रकार का छोटा बाज। यह जब किसी चिड़िया का शिकार करता है तो पहिले कुछ देर तक उसके नीचे नीचे उड़ा करता है, और फिर एकाएकी ऊपर उठ कर उस पर टूट पड़ता और उसको छोप लेता है। फिर उसको झकझोर कर, जिसमें वह बेदम हो जाय, नीचे की ओर झोंक से उतरता है ॥ **नीचौ दयौ**—पक्षियों के नीचे की ओर झोंक से उतरने को नीचा देना कहते हैं। इसी का गोतना भी बोलते हैं ॥ **कुलिंग**=एक प्रकार की चिड़िया, जिसको भृंग तथा फिंगा भी कहते हैं ॥ **झपि**=झाँप कर, छोप कर ॥ **झौरि**=झकझोर कर ॥

( अवतरण )—नायिका की दृष्टि, नायक की ओर, नीची ही नीची आ कर और एकाएक ऊपर

१. सो ( ४ ) । २. तैं ( २, ४ ) । ३. कत ( १, २ ) । ४. गड़े ( २ ) । ५. परिहैं ( ३ ) । ६. नीचीए ( १, ४, ५ ), नीची ही ( २ ) । ७. नीचे ( ४ ) । ८. कुलंग ( १ ), कुलंग ( २, ४ ) । ९. झकझोर ( ४ ) ।

उठ कर फिर नीची हो गई। यही वृत्तांत वह सखी से कह कर नायिका के प्रति अपना अनुराग प्रकट करता है—

(अर्थ)—[उसकी] दृष्टि ने सर्वथा कुड़ी की भाँति नीची ही नीची दौड़ कर, [एकाएकी] ऊपर उठ, [मेरे] मन-रूपी कुलिंग को झाँप कर [तथा] झकझोर कर नीचा दिया (नीचे की ओर गोता लिया, अर्थात् शीघ्रता से फिर नीची हो गई)॥

सूर उदित हूँ मुदित-मन, मुखु सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं, निहचल चखनु, चकोर॥ २५८॥

ओर—पहिले 'ओर' का अर्थ अवधि है। 'मुख सुखमा की ओर' का अर्थ है, मुख जो कि सुखमा की अवधि है। दूसरे 'ओर' शब्द का अर्थ दिशा है॥

(अवतरण)—सखी नायक से नायिका के मुख की प्रशंसा करती है—

(अर्थ)—सूर्य के उदित होने पर भी चकोर निश्चल आँखों से (टकटकी बाँध कर) उसके मुख को, जो कि सुखमा की अवधि है, चारों ओर से मुदित-मन देखा करते हैं॥

स्वेद-सलिलु, रोमांच-कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कैं, हथलेयैं हीँ हाथ॥ २५९॥

हथलेयैं=यह हथलेआ अर्थात् पाणिग्रहण का सप्तम्यंत रूप है॥ हाथ=दूसरे हाथ शब्द का प्रयोग सप्तम्यंत है॥

(अवतरण)—दूलह तथा दुलहिन विवाह के समय, पाणिग्रहण करते ही, परस्पर अनुरक्त हो गए हैं। यही वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

(अर्थ)—[विवाह के समय] हथलेए ही (पाणिग्रहण ही) में दुलहिन और नाथ ने स्वेद-रूपी जल [तथा] रोमांच-रूपी कुश ग्रहण कर के, [परस्पर अपना अपना] हृदय हाथ के साथ ही [दूसरे के] हाथ में दे दिया [लौकिक जल तथा कुश ग्रहण करने की बारी आने के पहले ही—विवाह के निमित्त जो संकल्पादि होते हैं, उनके पूर्व ही—दोनों मानसिक संकल्प से एक दूसरे के हो गए]॥

दच्छिन पिय, ह्वै बाम-बस, बिसराँई तिय आन।
एकै बासरि कैं बिरह लागी बरष बिहान॥ २६०॥

दच्छिन (दक्षिण)=चतुर। यह साहित्य का पारिभाषिक शब्द है। अनेक स्त्रियों से समान प्रीति रखने वाले नायक को दक्षिण नायक कहते हैं॥ बाम (वामा)=(१) स्त्री। (२) टेढ़ी, कुटिला, दुष्टा॥ बासरि=घर, घर की दीवार। हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में यही पाठ है। पर अनवरचंद्रिका तथा

---

१. हियौ दियौ (२, ४)। २. हाथ लए ही (४), हाथ लिये ही (५)। ३. बिसराई (२, ३, ४, ५)।

कृष्ण कवि की टीका को छोड़ कर अन्य सब प्राचीन टीकाओं में 'बासर' पाठ मिलता है, और प्रभुदयालु पाँडे की टीका में 'बाखरि' पाठ है। हमारी समझ में 'बासर' पाठ रखने से अर्थ बहुत स्पष्ट होता है। पर पाँचों प्राचीन पुस्तकों में 'बाखरि' पाठ होने के कारण यही पाठ इस संस्करण में रक्खा गया है॥ लागी—बिहारी ने वर्ष शब्द का यहाँ स्त्रीलिंग-प्रयोग किया है। ब्रज में ऐसा प्रयोग बोलचाल में सुनने में भी आता है। पर कविता में इसका प्रयोग प्रायः पुलिंग ही रूप से देखने में आता है। सतसैया भर में 'बरष' शब्द और कहीं नहीं आया है, जिससे इसका मिलान हो सकता। हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में यही पाठ है, पर अमरचंद्रिका में इसका पाठ 'लागो' एवं देवकीनंदन की टीका में 'बीतो' मिलता है। अन्य सब टीकाकारों ने इसका पाठ 'लागे' रक्खा है॥ बिहान=व्यतीत होने॥

इस पाठ के अनुसार अवतरण और अर्थ—

( अवतरण १ )—दक्षिण नायक, जिसकी कई पत्नियाँ हैं, किसी स्वतंत्र पड़ोसिन पर ऐसा अनुरक्त हो गया है कि उसी के घर पड़ा रहता है, और अपनी पत्नियों के यहाँ कई कई दिन नहीं आता। अतः वे सब आपस में कहती हैं—

( अर्थ १ )—दक्षिण [ होकर भी हमारे ] पति ने [ उस ] 'वाम' ( दुष्टा स्त्री ) के वश में हो अन्य स्त्रियाँ भुला दीं। [ हम लोगों को तो अब ] एक ही घर के ['अंतर के ] विरह में वर्ष बीतने लगा ( अर्थात् यद्यपि नायक परदेश नहीं गया है, एक ही घर के अंतर पर है, तथापि हम लोगों को उसका दर्शन वर्ष वर्ष भर तक, अर्थात् बहुत बहुत दिनों तक, नहीं होता )॥

'बासर' पाठ रखने से यह अवतरण और अर्थ होता है—

( अवतरण २ )—दूती नायिका से कहती है कि हे वामा, यद्यपि वह नायक दक्षिण अर्थात् अनेक स्त्रियों का वल्लभ है, तथापि तेरी वामता के वश में पड़ कर उसका सारा दक्षिणपन जाता रहा है—अन्य स्त्रियाँ उसने भुला दी हैं, और तेरे विरह में उसका एक दिन भी वर्ष के समान बीतता है—

( अर्थ २ )—[ उस ] दक्षिण नायक ने [ तुझ ] 'वाम' के वश में हो कर अन्य स्त्रियाँ भुला दी हैं। [ उसको तेरे ] एक ही दिन के विरह में [ एक ] वर्ष बीतने लगा है॥

इस पाठ तथा अर्थ में 'बाम' का अर्थ सुंदरी करना चाहिए॥


सोरठा

**मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।**
**जौ बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥ २६१॥**

**मोषु** ( मोक्ष )=भव बंधन से छुटकारा। यह शब्द भाषा में स्त्रीलिंग माना जाता है, पर बिहारी ने इसका संस्कृत के अनुसार पुलिंग-प्रयोग किया है॥ **गुननु**=गुणों से। 'गुननु' शब्द का प्रयोग 'बाँधौ' शब्द के साथ बड़ा ही उपयुक्त है, क्योंकि गुण शब्द का अर्थ रस्सी भी है॥

( अवतरण )—किसी भक्त का वचन श्रीभगवान् से—

( अर्थ )—[ हे अधमोद्धारण, ] जिस प्रकार [ करुणा कर के आपने ] अनेक अधमों को मोक्ष दी है [ उसी प्रकार अर्थात् अपनी करुणा से ] मुझे भी दीजिए। [ पर ] यदि [ आपको मुझे ] बाँधने ही में ( बंधन में रखने ही में ) तोष ( संतोष ) हो,

तो [ फिर ] अपने गुणों से बाँध रखिए ( अपने सगुण स्वरूप की उपासना में लगा रखिए ) ॥

दोहा

**चितु तरसतु, मिलत न बनतु बसि परोस कैं बास ।**
**छाती फाटी जाति सुनि टाटी-ओट उसास ॥ २६२ ॥**

**उसास** ( उच्छ्वास )=ऊँची साँस । संस्कृत में उच्छ्वास शब्द, पुल्लिंग माना जाता है । पर भाषा में लोग 'उसास' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग, दोनों प्रकार से करते हैं । बिहारी ने भी इसका प्रयोग दोनों लिंगों में किया है । सतसैया में 'उसास' शब्द का प्रयोग नव दोहों में हुआ है । उनमें से ५५३ अंक के दोहे में तो उसका लिंग संदिग्ध रह जाता है, पर तो भी उसमें उसका पुल्लिंग मानना अच्छा है । शेष आठ दोहों में से १३८, ३३४, ४८८ तथा ५०७ अंकों के दोहों में उसका पुल्लिंग-प्रयोग हुआ है, और ४४६, ५३४, तथा ६६० अंकों के दोहों में स्त्रीलिंग-प्रयोग । इस दोहे में 'उसास' शब्द स्त्रीलिंग एकवचन, अथवा पुल्लिंग बहुवचन, दोनों माना जा सकता है । ५०७ अंक के दोहे में वह 'उसाँस' रूप से आया है ॥

( अवतरण )—नायक तथा नायिका दोनों पड़ोसी हैं । पूर्वानुराग में उनको मिलने की अत्यंत अभिलाषा है । पर मिलने का कोई बानक नहीं बनता, यद्यपि दोनों के घरों में केवल एक टट्टी मात्र का अंतर है, जिसकी ओट से उच्छ्वास सुनाई देता है । उच्छ्वास को सुन सुन कर उनकी विकलता और भी बढ़ती है । इसी विकलता के बढ़ने का वृत्तांत नायिका अपनी अंतरंगिनी सखी से अथवा नायक दूती से कहता है—

( अर्थ )—चित्त तरसता रहता है, [ और ऐसे ] पड़ोस के वास में [ कि दोनों घरों के बीच केवल एक टट्टी मात्र का अंतर है ] बस कर [ भी ] मिलते नहीं बनता । टट्टी की ओट से [ उसकी ] ऊँची साँस ( मिलने की अभिलाषा तथा न मिलने के दुःख से ली जाती हुई ऊँची साँसों का शब्द ) सुन सुन कर [ और भी कष्ट बढ़ता है, अतः ] छाती फटी जाती है ॥

यह बात स्वाभाविक है कि जब कोई किसी से मिलने का अभिलाषी होता है तो, यह ज्ञात होने पर कि उसका प्रेमपात्र भी उससे न मिलने के कारण दुखी है, उसकी अभिलाषा और भी तीव्र तथा दुःखदायिनी हो जाती है ॥

---

**जालरंध्र-मग अँगनु कौ कछु उजास सौ पाइ ।**
**पीठि दिऐं जगत्यौ रह्यौ, डीठि झरोखैं लाइ ॥ २६३ ॥**

जालरंध्र=घर में प्रकाश आने के निमित्त झरोखे में जो जाली लगी रहती है, उसके छिद्र ॥ **उजास**=उजाला, प्रकाश, द्युति ॥ जगत्यौ=जागता हुआ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका पड़ोसी हैं । नायिका के झरोखे ( छोटी खिड़की ) से नायक की छत दिखलाई देती है । उस झरोखे का पट जालीदार है । नायक ने नायिका की झलक कहीं उसी जाली में से देख ली । सो, इस आशा से कि कदाचित् वह जाली खोल कर झाँके, वह रात भर, झरोखे

१. जग सौं ( २ ), जग सो ( ३, ४, ५ ) । २. रहे ( २ ) । ३. झरोखा ( २, ३, ४ ) ।

पर दृष्टि लगाए और बिछौने पर पीठ दिए, जागता ही रह गया। यही वृत्तांत दूती नायिका से, उसके हृदय में प्रेम उपजाने के निमित्त, कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे झरोखे की ] जाली के छेदों के मार्ग से [ तेरे ] अंगों का कुछ उजाला सा पा कर ( तुझे अपूर्ण रीति से देख कर ) [ वह रात भर ] झरोखे पर दृष्टि लगा कर, [ बिछौने पर ] पीठ दिए ( टेके ), [ जिसमें कोई यह न समझे कि वह जागता है ] जागता रह गया [ तेरी झलक मात्र से वह तुझ पर ऐसा आसक्त हो गया है ] ॥

परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि[1] मुलकी सुखदानि ।
कसु[2] करि राखी मिश्र हूँ मुहँ-आई मुसकानि[3] ॥ २६४ ॥

परतिय-दोषु = परस्त्रीगमन का दोष ॥ मुलकी = मुँह बना कर मुसकिराई ॥ कसु = बल ॥

( अवतरण )—पौराणिकजी का किसी परस्त्री से प्रेम था। वह बैठे किसी दिन पुराण बाँच रहे थे। श्रोताओं में वह स्त्री भी थी। पुराण में किसी प्रसंग-वश परस्त्रीगमन का दोष निकला। उसे सुन कर वह स्त्री पौराणिकजी की ओर देख कर व्यंग्य से हँसी। इस पर पौराणिकजी को भी हँसी आ गई, पर उन्होंने उसे बल-पूर्वक रोक लिया, जिसमें अन्य श्रोताओं पर उनका मर्म प्रकट न होने पावे। इसी वृत्तांत को लक्षित कर के कोई किसी से कहता है, अथवा यह कवि की उक्ति है—

( अर्थ )—परस्त्री [ के गमन ] का दोष पुराण में सुन कर [ वह पौराणिकजी को ] सुख देने वाली [ उनकी ओर ] देख कर 'मुलकी'। [ उधर ] मिश्र ( पौराणिकजी ) ने भी [ अपने ] मुख पर आई हुई मुसकिराहट को कस ( बल ) कर के रोका ॥

सहित सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कंप, मुसकानि[4] ।
प्रान पानि करि आपनैं, पाँन धरे मो पानि[5] ॥ २६५ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका के द्वार पर किसी कार्यवश गया था। नायिका शिष्टाचार करने के निमित्त उसको पान देने आई। पान देते समय की नायिका की चेष्टा देख कर नायक रीझ गया। वही वृत्तांत वह अपने अंतरंग सखा अथवा दूती से कहता है—

( अर्थ )—[ उस स्त्री ने ] स्नेह, संकोच ( लज्जा ), सुख ( हर्ष ), स्वेद ( पसीने ), कंप [ तथा ] मुसकिराहट [ इन सब भावों ] के साथ [ मेरे ] प्राणों को अपने हाथ ( वश ) में कर के मेरे हाथ पर पान धरे ( रक्खे ) ॥

सीरैं जतननु सिसिर-रितु सहि बिरहिनि[6]-तन-तापु ।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु पर्‌यौ परोसिनि[7] पापु ॥ २६६ ॥

१. हँसी मुलकि ( १ ), लखी मुलक ( २ ), लखी मुबाल ( ४ ) । २. बसि ( ३, ५ ) । ३. मुसिकानि ( १, ४ ) । ४. मुसिकानि ( १, ४ ) । ५. पानि ( ५ ) । ६. बिरहनि ( २, ३ ), बिरहन ( ५ ) । ७. परासन ( ५ ) ।

सीरैं = ठंढे, शीतल ॥

( अवतरण १ )—प्रोषितपतिका नायिका की दूती नायक से विरह-निवेदन करती है—

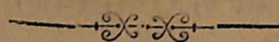
( अर्थ १ )—[ उसके शरीर से विरह की ज्वाला ऐसी कराल उठती है कि उसके ताप से पड़ोसिन भी जली जाती है। अतः ] शिशिर ऋतु में [ अनेक ] शीतलोपचारों [ के सहारे ] से [ किसी न किसी प्रकार उस ] विरहिणी के तन का ताप सह कर [ अब ] ग्रीष्म के दिनों में पड़ोसिन पर [ उसके पड़ोस में ] बसने के निमित्त पाप ( मानो किसी पाप का परिणाम ) पड़ा है ॥

इस दोहे का यही सामान्य भावार्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने किया है। परंतु 'पर्यौ परोसिनि, पापु' इस खंड-वाक्य से एक और गूढ़ भावार्थ की झलक भी दिखलाई देती है। अतः वह अर्थ भी लिखा जाता है ॥

( अवतरण २ )—नायक का पड़ोसिन से प्रेम था, जिसके कारण नायक नायिका में बहुधा कलह हुआ करता था। इससे दुखी हो कर नायक परदेश चला गया। अब नायिका विरह से अत्यंत संतप्त हो रही है। अतः उसकी दूती नायक के पास जा कर कहती है—

( अर्थ २ )—शिशिर ऋतु में सीरे यत्नों से [ उस ] विरहिणी का तन-ताप सह कर [ अब ] ग्रीष्म के दिनों में [ उस ] पड़ोसिन पर [ जो कि इस विरह का मूल कारण है, उसके पड़ोस में ] बसने के निमित्त [ इस विछोह कराने की कारण होने के ] पाप [ का फल ] पड़ा है ॥

इस अर्थ में यद्यपि चतुर दूती पड़ोसिन पर श्लेष प्रकट करती है, पर उसका अभिप्राय यह भी व्यंजित होता है कि अब आपकी प्यारी पड़ोसिन को भी महा कष्ट हो रहा है। अतः यदि उस नायिका से रुष्ट होने के कारण नहीं चलते हैं, तो उस पड़ोसिन ही को दुःख से बचाने के निमित्त पधारिए ॥

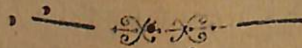


सोहतु संगु समान सौं, यहै कहै सबु लोगु।
पान-पीक ओठनु बनै, काजर नैननु जोगु ॥ २६७ ॥

जोगु = साथ, मेल ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति, अथवा नायक के ओठ पर अंजन और आँखों में पीक-लीक देख कर खंडिता की उक्ति—

( अर्थ )—[ प्रत्येक मनुष्य अथवा पदार्थ का ] संग [ अपने ] समान [ मनुष्य अथवा पदार्थ ] से सुशोभित होता है, यही [ बात ] सब संसार कहता है [ कुछ मैं ही नहीं ]। पान की पीक से [ और ] ओठों से, [ एवं ] काजल से [ और ] नयनों से 'जोगु' ( संयोग अर्थात् साथ ) बनता है ( शोभित होता है ), [ क्योंकि पान की पीक और ओठ, दोनों लाल हैं तथा काजल और नयन, दोनों श्याम ] ॥



१. अंग ( ३ )। २. सयानो ( ४ )।

तूँ रहि, हौं हीं, सखि, लखौं ; चढ़ि न अटा, बलि, बाल।
सबहिनु बिनु हीं ससि-उदै दीजतु अरघु अकाल ॥ २६८ ॥

( अवतरण )—नायिका ने गणेशचतुर्थी का व्रत किया है। चंद्रमा देखने को वह बार बार अटारी पर चढ़ती है। सखी उसका श्रम बचाने के निमित्त उसको फिर चढ़ने से रोकती है, किंतु यह कह कर नहीं कि तुझे, निराहार रहने के कारण, श्रम होगा। क्योंकि यदि वह यह कह कर रोकती, तो नायिका कदाचित् यह कह देती कि नहीं, मुझे श्रम नहीं होगा, फिर तू भी तो निराहार ही है। वह नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई यह कह कर रोकती है कि तेरे अटा पर चढ़ने से अन्य स्त्रियाँ अकाल अर्घ दे देती हैं, अतः तुझको भी दोष-भागिनी होना पड़ता है—

( अर्थ )—हे सखी, तू [ यहीं ] रह, मैं ही [ चंद्रमा ] देख आऊँ। हे बाला, मैं तेरी बलिहारी जाती हूँ, [ तू ] अटा पर मत चढ़। [ क्योंकि तेरा मुख चंद्रमा के समान प्रकाशमान है, अतः तेरे अटा पर चढ़ने से चंद्रोदय का भ्रम हो जाता है, जिससे ] शशि के उदय बिना ही सभों से अकाल अर्घ दे दिया जाता है [ जो कि दूषित है ] ॥

दियौ अरघु, नीचैं चलौ, संकटु भानैं जाइ।
सुचिती ह्वै औरौ सबै ससिहिँ बिलोकैं आइ ॥ २६९ ॥

( अवतरण )—यह दोहा भी गणेशचतुर्थी के व्रत के अवसर का है। नायिका चंद्रमा को अर्घ दे कर अटारी पर ठहर गई है। सखी उसको शीघ्र नीचे ला कर भोजन कराना चाहती है, क्योंकि वह दिन भर की भूखी है। पर नायिका से यह बात कहते समय वह, उसके रूप की प्रशंसा करती हुई, अन्य स्त्रियाँ पर अनुग्रह करने का अनुरोध करती है, जिसमें कि वह शीघ्र उतर चले। वह संकट तोड़ने वालियों में अपने को तथा अन्य सखियों को भी मिला लेती है, जिसमें कि नायिका उनके कष्ट का भी विचार करे—

( अर्थ )—अर्घ [ तो ] दिया जा चुका, [ अब ] नीचे चलो, [ जिसमें वहाँ ] चल कर [ हम लोग ] संकष्ट [ चौथ का व्रत ] तोड़ें ( पूरा करें, अर्थात् कुछ खाएँ पिएँ ), [ एवं ] और सब [ स्त्रियाँ ] भी सुचित्ती ( द्विविधा-रहित ) हो [ अपनी अपनी अटारी पर ] आ कर चंद्र-दर्शन करें। [ भावार्थ यह है कि जब तक तू अटारी पर रहेगी, तब तक अन्य स्त्रियों को दो चंद्र दिखाई देंगे, अतः उनके मन में द्विविधा रहेगी ] ॥

'संकटु भानैं जाइ' का अर्थ यह भी हो सकता है कि हम लोग चल कर दिन भर के व्रत का कष्ट निवारित करें ॥

ललित स्याम लीला, ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु-छाक्यौ मधुकरु पर्‌यौ मनौ गुलाब-प्रसून ॥ २७० ॥

१. ससि ( २ ), सिसि ( ५ ) । २. लखैं ( २ ) । ३. भानौं ( २ ), भाँजो ( ३, ५ ) । ४. औरहि ( ३ ), और ही ( ५ ) । ५. बिलोकौ ( १ ) ।

लीला = नीले रंग का गोदना ॥ दून = दूनी ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका के चिबुक के गोदने की शोभा कहती है—

( अर्थ )—हे ललन ! सुंदर श्याम गोदने पर [ उसके उज्ज्वल, गुलाबी ] चिबुक [ के प्रभाव ] से दूनी शोभा बढ़ गई है। [ ऐसा प्रतीत होता है ] मानो मधु ( मकरंद ) से छका हुआ ( मस्त ) भ्रमर गुलाब के फूल पर पड़ा है ॥

सबै सुहाएई[1] लगैं[2] बसैं[3] सुहाऐं ठाम।
गोरैं मुँह बैंदी लसैं[4] अरुन, पीत, सित, स्याम ॥ २७१ ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—सुहाए स्थान पर बसने से सभी सुहाए ही लगते हैं, [ जैसे ] गोरे ( सुंदर ) मुख पर अरुण, पीत, श्वेत [ तथा ] श्याम [ सब रंगों की ] बेंदियाँ लसती हैं ( सुशोभित होती हैं ) ॥

भए बटाऊ नेहु तजि, बादि बकति[5] बेकाज।
अब, अलि, देत उराहनौ अति उपजति उर लाज[6] ॥ २७२ ॥

बटाऊ = पथिक ॥ बादि = वृथा, विना कुछ प्रभाव डाले ॥ बेकाज = विना किसी लाभ की आशा के ॥

( अवतरण )—नायक कुछ दिनों से घर में बहुत कम देर ठहरता है, अन्य स्त्रियों के यहाँ विशेष रहता है। सखी उसको उलाहना देती है। तब नायिका नायक को सुना कर सखी से कहती है—

( अर्थ )—हे अलि, [ अब तो ये ] स्नेह को छोड़ कर बटाऊ हो गए हैं ( जैसे पथिक कहीं थोड़ी देर विश्राम के लिए ठहरता है, वैसे ही ये मेरे यहाँ रहते हैं )। [ तू तो इनसे ] वृथा [ तथा ] बेकाज बकवाद करती है [ इतने दिनों तक बकने से क्या लाभ हुआ, जो तू अब फिर बक रही है ]। अब [ तो इनको ] उलाहना देते [ भी ] उर में अत्यंत लज्जा उपजती है [ क्योंकि जिस पर कहने सुनने का कुछ प्रभाव न पड़े, उससे बकना निर्लज्जता ही है ]॥

मानु करत बरजति न हौं, उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंहीं जाहिँगी[7] सहज हँसौंहीं भौंह ॥ २७३ ॥

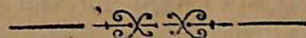
( अवतरण ) नायिका नायक से मान करना चाहती है, पर सखी चाहती है कि वह ऐसा न करे। अतः वह सीधे सीधे मना न कर के ऐसी बात कहती है, जिससे नायिका स्वयं समझ जाय और अपनी बड़ाई से प्रसन्न हो कर मान न करे—

---

१. सुहाइयैं ( ५ )। २. लसैं ( २ ), लगति ( ३, ५ )। ३. सबै ( २, ५ ), सबैं ( ३ )। ४. लसति ( ३, ५ )। ५. बकत ( २, ५ )। ६. उर उपजति अति लाज ( ३, ५ )। ७. जाइगी ( ३, ५ )।

( अर्थ )—मैं [ तुझको ] मान करते ( मान करने से ) बरजती नहीं, [ प्रत्युत ] उलट कर ( बरजने के बदले ) शपथ दिलाती हूँ [ कि तू अवश्य मान कर ] । [ पर क्या तुझसे अपनी ये ] सहज हँसौंहीं ( स्वभाव ही से हँसती हुई ) भौंहें रिसौंहीं ( रोष से भरी हुई सी ) की जायँगी ॥

सखी के कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि तू मान करने पर उद्यत है, तथापि तू अपनी सहज हँसौंहीं भौंहें रोष से भरी हुई सी न बना सकेगी, और तेरा मान मिथ्या ठहरेगा । अतएव उसका करना वृथा है । साथ ही यह भी अभिप्राय है कि तू सहज ही सुशीला है, वास्तव में तो तुझे रोष है नहीं, फिर भला बनाने से कहीं भौंहें रिसौंहीं बन सकती हैं । यह कहना वैसा ही है, जैसे किसी मनुष्य को किसी अन्य मनुष्य पर रुष्ट हो कर उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करते देख कर कोई उससे कहे कि कहीं आप ऐसे सज्जन भी भला ऐसा काम कर सकते हैं, और यह सुन वह अपनी प्रशंसा पर रीझ कर और अपनी प्रतिष्ठा का विचार कर के उस हानिकारक कार्य को करने से रुक जाय ॥



**तिय-तिथि तरुन-किसोर-बय पुन्यकाल-सम दोनु[1] ।**
**काहूँ पुन्यनु पाइयतु[2] बैस-संधि-संक्रोनु[3] ॥ २७४ ॥**

**तरुन** ( तरुण )—पंद्रह वर्ष के उपरांत तरुणावस्था का आरंभ होता है ॥ **किसोर** ( किशोर )—ग्यारहवें वर्ष के आरंभ से पंद्रहवें वर्ष के अंत तक किशोरावस्था रहती है ॥ **बय** ( वय ) = वयक्रम, अवस्था ॥ **पुन्यकाल** ( पुण्य-काल ) = शुभ समय । ज्योतिषशास्त्र में सूर्य-पथ के मंडल के बारह भाग माने जाते हैं । प्रत्येक भाग राशि कहलाता है । इन राशियों के भिन्न भिन्न नाम हैं । सूर्य के भिन्न भिन्न राशियों में रहने पर उसके भिन्न भिन्न नाम कहे जाते हैं, अतः द्वादश आदित्य प्रसिद्ध हैं । जब एक राशि को समाप्त कर के सूर्य दूसरी राशि में प्रविष्ट होने लगता है, तो उसको दोनों राशियों की संधि-रेखा उल्लंघन करनी पड़ती है । इसी उल्लंघन को संक्रमण अथवा संक्रांति कहते हैं । सूर्यपिंड के मध्य बिंदु को इस संधि-रेखा के स्पर्श तथा त्याग में जो समय लगता है, संक्रांति का मुख्य पुण्य-काल वही है । वह समय बड़ा पुनीत माना जाता है, और ऐसा सूक्ष्म होता है कि उसका अनुसंधान बड़ी कठिनता से हो सकता है । उसके विषय में प्रसिद्ध यह है कि बड़े पुण्यात्मा लोग ही उस समय को पाते हैं, अर्थात् उस समय को लक्षित कर के समयोचित कर्तव्य कर सकते हैं ॥ **पुन्यकाल-सम दोनु** = पुण्य-काल की भाँति दोनों हैं, अर्थात् एकत्रित हैं । जिस प्रकार दो सूर्य, अर्थात् दो राशियों के सूर्य, पुण्य-काल में एक ही संधि-रेखा पर रहते हैं, उसी प्रकार इस समय उस स्त्री में दोनों अवस्थाओं की संधि है ॥

( अवतरण )—नायिका का वयक्रम किशोर तथा तरुण अवस्थाओं की संधि पर है, अतः उसकी सखी नायक को, उसकी अवस्था कह कर, उसके पास लाया चाहती है—

( अर्थ )—[ उस ] स्त्री-रूपी तिथि में [ इस समय ] तरुण [ तथा ] किशोर वयक्रम, दोनों पुण्य-काल के समान [ स्थित ] हैं । [ यह ] वयक्रम-संधि-रूपी संक्रमण किसी [ मनुष्य ] से [ बड़े ] पुण्यों [ के प्रभाव ] से पाया जाता है ( प्राप्त हो सकता है ), [ अतः आपको इसका लाभ उठाना चाहिए ] ॥

---

१. दौन ( २ ) । २. पाइये ( ४ ) । ३. संकौन ( २ ) ।

इस दोहे मैं 'तरुन' शब्द का अर्थ मानसिंह तथा कृष्ण कवि ने सूर्य कर लिया है। अनवर-चंद्रिकाकारौं ने भी यही अर्थ उचित समझ कर 'तरुन' के स्थान पर पाठ ही "तरनि" कर डाला है। और फिर उनकी देखा-देखी प्रायः अन्य टीकाकारौं ने भी "तरनि" पाठ रख कर उसका अर्थ सूर्य किया है। पर ईसवीख़ाँ ने अपनी टीका मैं 'तरुन' का अर्थ यौवन ही माना है, और वही ठीक है। प्रभुदयालु पाँडे ने भी 'तरुन' पाठ, और उसका अर्थ यौवन, रक्खा है॥

गनती गनिबे तैं रहे, छत हूँ अछुत-समान।
अलि, अब ए तिथि औम लौं[1] परे रहौ तन प्रान॥ २७५॥

छत (क्षत)=क्षय हुए॥ अछुत=अक्षय॥ तिथि औम (अवम तिथि)—जो तिथि जिस दिन सूर्य के उदय के समय रहती है, वही तिथि उस दिन दिन भर मानी जाती है, चाहे सूर्योदय के बहुत थोड़े ही काल के पश्चात् दूसरी तिथि का आरंभ हो जाय। बहुधा ऐसा होता है कि किसी दिन सूर्योदय के समय जो तिथि रहती है, वह पल ही दो पल मैं बीत जाती है, और दूसरी तिथि का आरंभ हो जाता है। यदि यह दूसरी तिथि दूसरे दिन के सूर्योदय के पूर्व ही व्यतीत हो जाती है, और दूसरे दिन सूर्योदय के समय तीसरी तिथि आ जाती है, तो दूसरे दिन उस तीसरी तिथि ही का मान होता है। दूसरी तिथि, प्रथम दिन के सूर्योदय के पश्चात् से ले कर दूसरे दिन के सूर्योदय के पूर्व तक रहने पर भी, गिनती मैं नहीं आती, और न किसी दिन मानी ही जाती है। उसका उतने समय तक रहना न रहने के समान ही हो जाता है। इसी तिथि को अवम तिथि कहते हैं॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका प्रियतम-वियोग मैं अपने प्राणौं का रहना न रहना बराबर समझ कर सखी से कहती है—

**(अर्थ)—हे सखी, [प्रियतम के विरह मैं मेरे क्षीण प्राण] गिनती [मैं] गिनने (गिने जाने) से [तो] रहे (वंचित हो गए), [और] न रहते हुए भी रहने के समान हैं। अब [यदि इस पर भी] ये प्राण शरीर मैं [निर्लज्जता धारण कर के हठात् रहैं ही, तो] अवम तिथि की भाँति [भले ही] पड़े रहो॥**

सबै हँसत करतार दै नागरता कैं नाँव[2]।
गयौ गरबु गुन कौ सरबु गऐं[3] गँवारैं[4] गाँव[5]॥ २७६॥

नागरता=नगरनिवासीपन, चातुरी, गुण-संपन्नता॥ गँवारैं=ग्रामीण, गुणहीन, अगुणग्राही॥

(अवतरण)—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि अगुणग्राहकौं मैं बसने से गुणी की हँसी होती है—

**(अर्थ)—[नगरनिवासी पर गाँव के] सब के सब [लोग] नागरता के नाम [ही] पर ताली बजा बजा कर हँसते हैं (अर्थात् 'यह देखो नागर हैं' इत्यादि कह कर उसके नाम ही की हँसी उड़ाते हैं, अथवा उसकी किसी नागरता अर्थात् चातुरी; काव्य, संगीत**

१. अब पत्रा तिथि औम लौं (३, ५)। २. नाम (३, ५)। ३. बसत (१, २, ४)। ४. गवेले (३, ५)। ५. गाँम (३, ५)।

इत्यादि—का नाम ही सुन कर उसकी हँसी उड़ाते हैं )। [ देखो, ] गँवारों के गाँव में जाने से [ उस बेचारे का ] सब गुण-गर्व जाता रहा ( अर्थात् उसके गुण का वहाँ कोई ग्राहक न होने के कारण उसे अपने गुणों को कोई उपयोगी पदार्थ मानना छोड़ देना पड़ा ) ॥

जाति मरी बिछुरी[1] घरी जल-सफरी की रीति।
छिन छिन[2] होति खरी खरी, अरी, जरी यह प्रीति ॥ २७७ ॥

जरी—भाड़ में गई, उक्कर पड़ने गई, झोंसी, जरी इत्यादि का प्रयोग स्त्रियाँ कोसने में करती हैं। वास्तव में तो ऐसे खंड-वाक्यों का अर्थ 'भाड़ में जाय', 'उक्कर पड़ने जाय', झोंसे, जले इत्यादि है, पर वाक्य-व्यवहार में इनका भूतकालीन प्रयोग व्यवहृत है ॥

( अवतरण )—नायक पर नायिका की प्रीति प्रतिक्षण बढ़ती जाती है, और अब यहाँ तक बढ़ गई है कि क्षण मात्र के वियोग ही में उसके प्राणों पर बन आती है। अपनी यह दशा वह सखी से कहती है, अथवा कोई सखी उसकी व्यवस्था किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—हे सखी, [ मेरी अथवा उसकी ] यह प्रीति जली ( भाड़ में गई )। [ यह तो ] क्षण क्षण पर खरी खरी ( विशेष प्रभावशालिनी ) होती जाती है, [ और अब यहाँ तक बारी आ गई है कि मैं अथवा वह ] जल की मछली की भाँति ( जल से बिछुड़ने पर जैसे मछली की दशा होती है, वैसे ही ) [ प्रियतम से ] घड़ी भर [ भी ] बिछुड़ी हुई मरी जाती हूँ [ अथवा मरी जाती है ] ॥

पिय-प्राननु की[3] पाहरू, करति[4] जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा परयौ[5] सौतिनिहूँ संतापु ॥ २७८ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका की दशा विरह से ऐसी दुःसह हो रही है कि देखने वालों को उसके जीने में संदेह है। नायक का प्रेम उस नायिका पर ऐसा अधिक है कि वह उसके प्राणों का रक्षक समझा जाता है, अर्थात् लोगों को यह भावना है कि यदि इस नायिका के प्राणों पर आ बनी, तो नायक का भी जाना कठिन है। इसी भावना के अनुसार उसकी सौत उसकी व्याधि के शमन का स्वयं प्रयत्न करने में अत्यंत कष्ट पा रही है, अथवा उसके वियोग-ताप से, उसके सन्निकट उपस्थित रहने के कारण, संतप्त हो रही है। यही वृत्तांत कोई सखी किसी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ यह हमारी प्यारी सखी ] प्रियतम के प्राणों की [ ऐसी आवश्यक ] पाहरू ( रक्षक ) है [ कि ] जिसकी दुःसह ( कठिनता से सहे जाने के योग्य ) दशा से आप ( स्वयं ) अत्यंत यत्न ( उसकी व्याधि के शमन करने का उद्योग ) करती हुई सौत पर भी संताप ( कष्ट, दुःख ) पड़ा है ॥

---

१. बिछुरैं ( २ ) । २. छिन छिन ( १, २ ), छिनु छिनु ( ४ ) । ३. के ( ३, ४, ५ ) । ४. करत ( ३, ५ ) । ५. परै ( ३ ), परे ( ४, ५ ) ।

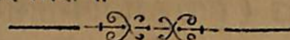
अहे, कहै न कहा कह्यौ तोसौं नंदकिसोर।
बड़बोली, बलि, होति कत बड़े दृगनु कैं जोर ॥ २७९ ॥

बड़बोली=गर्वयुत बड़ी बड़ी बातें बोलने वाली ॥ जोर ( फ़ारसी ज़ोर )=बल ॥

( अवतरण )—कलहांतरिता नायिका का मान अभी छूटा नहीं है, और वह बैठी हुई कुछ अंडबंड बक रही है कि 'वे बड़े झूठे तथा कपटी हैं' इत्यादि। सखी उसको समझाने और मनाने के निमित्त कहती है—

( अर्थ )—अहे ( हे सखी ), [ तू स्पष्ट ] कह न [ कि ] नंदकिशोर ने तुझसे क्या कहा है, [ जो तू ऐसे रोष भरे वचन कह रही है ]। मैं बलि जाऊँ, [ तू अपने ] बड़े दृगों के बल पर ( अभिमान से ) बड़बोली क्यों होती है [ देख, बड़ा बोल बोलना अच्छा नहीं होता ]॥

सखी के वचन बड़ी चातुरी के हैं। वह नायिका को बड़बोली कह कर लज्जित भी किया चाहती है, जिसमें उसका गर्व जाता रहे, और 'बड़े दृगनु कैं जोर' कह कर उसके नेत्रों की प्रशंसा भी करती है। इसके अतिरिक्त उसके मुख से नायक के वे वचन भी सुनना चाहती है, जिनके कारण वह रुष्ट हो रही है, जिसमें कि उसे समझाने का अवसर मिले ॥

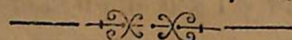


दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग-खियालु।
बाढ़त हूँ अति पीर सु न काढ़त बनैंतु गुलालु ॥ २८० ॥

खियालु=खेल। ५२८-संख्यक दोहे में भी बिहारी ने यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है ॥

( अवतरण )—नायक ने होली के खेल में नायिका की आँखों में गुलाल डाल दिया है। उससे यद्यपि नायिका को पीड़ा हो रही है, तथापि, यह सोच कर कि यह गुलाल नायक के हाथ का है, वह उससे निकालते नहीं बनता। यह प्रेमाधिक्य सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—प्रियतम ने फाग का खेल खेलते हुए जो [ गुलाल ] लख कर ( ताक कर ) [ उसकी ] आँखों में दिया ( डाल दिया ), वह गुलाल [ नायिका से ] पीड़ा के बहुत बढ़ते हुए भी काढ़ते ( आँखों से निकालते ) नहीं बनता ॥



मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आऐँ यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु ॥ २८१ ॥

त्रयताप=तीनों दुःख। संसार में दुःख तीन प्रकार का माना जाता है—( १ ) आधिभौतिक, जो किसी सांसारिक विषय से प्राप्त होता है। ( २ ) आधिदैविक, जो किसी देवता से मिलता है। ( ३ ) आध्यात्मिक, जो अपनी आत्मा के कारण होता है ॥ हमाम ( अरबी हम्माम )=स्नान करने की कोठरी, जो गरम कर दी जाती है। इसमें तीनों ओर से गरमी पहुँचाई जाती है—छत से, नीचे से तथा दीवारों से। इसी विचार से हृदय-रूपी हम्माम का तीनों तापों से तपाना कहा गया है। हम्माम में जाने से सब रोंगटे खुल जाते हैं, और

१. कह्यौ कहा ( २ )। २. कित ( ४, ५ )। ३. बनैं ( २ )। ४. कबहूँ ( २, ३, ४, ५ )।

भली भाँति पसीना आ जाता है। इसी लिए श्रीकृष्णचंद्र के हृदय-रूपी हम्माम में आने पर उनके पुलक कर पसीजने की संभावना कही गई है॥ मति—यह शब्द संभावनासूचक है। इसका प्रयोग इस प्रकार के वाक्यों में होता है—'मति वह आ ही जाय', अर्थात् संभव है कि वह आ जाय ; 'मति वहाँ जाना ही पड़े', अर्थात् संभव है कि वहाँ जाना पड़े॥

(अवतरण)—किसी भक्त की उक्ति है—

(अर्थ)—मैंने [अपने] हृदय-रूपी हम्माम को तीनों तापों से तपा रक्खा है, मति (यह सोच कर कि कदाचित्) कभी यहाँ आने पर श्याम (श्रीकृष्णचंद्र) पुलकित हो कर पसीज जायँ (करुणार्द्र हो जायँ)॥

---

बहकि बड़ाई आपनी कत राँचत मति-भूल।
बिनु मधु मधुकर कैं हियैं गड़ै न, गुड़हर, फूल॥ २८२॥

बहकि = संपत्ति अथवा किसी गुण के कारण उमंग में आ कर बकने अथवा अन्य कोई कार्य करने को बहकना कहते हैं॥ मति-भूल = बुद्धि के भ्रम से॥

(अवतरण)—गुड़हर के फूल पर अन्योक्ति कर के कोई, किसी धनाढ्य तथा प्रतिष्ठित पर गुण-हीन व्यक्ति को सुना कर, कहता है—

(अर्थ)—हे गुड़हर, बुद्धि के भ्रम से अपनी बड़ाई से बहक कर (उमंग में आ कर) क्यों 'राँचता' है (१. रंजित होता है, अर्थात् लाल होता है। २. प्रसन्न होता है)। मधु (१. मकरंद। २. सरसता गुण) के विना मधुकर (१. भ्रमर। २. गुणग्राही) के हृदय में फूल नहीं गड़ता (१. चुभता। २. प्रभाव डालता)॥

---

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै[1] सनेह[2]-बसँ[3] सखी सबै[4] ढिग जाति॥ २८३॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका की दूती नायक से उसके विरह-ताप का वृत्तांत कहती है—

(अर्थ)—[उसके शरीर में विरह-ताप ऐसा दुःसह हो रहा है कि] जाड़े की रात में भी गीले कपड़ों को आड़े (बीच में) दे कर [और फिर भी] साहस कर कर के स्नेह के कारण सभी सखियाँ [उसके] पास जाती हैं॥

---

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ॥ २८४॥

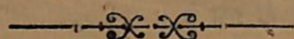
सब अँग (सर्वांग)—पुतली के पक्ष में इसका अर्थ पुतली को सब भावों के साथ चंचल करने में होगा, और पातुरी के पक्ष में इसका अर्थ नृत्य के सब अंगों में॥ सुघर = भद्देपन से रहित, सुंदर॥ नाइक

१. कै कै (३), के के (५)। २. नेह (३, ५)। ३. बसि (१)। ४. तबै (२)।

( नायक )—संगीत तथा नृत्य सिखलाने वाले को नायक कहते हैं ॥ रसजुत = रसालेपन से ॥ अनंत = अनेक प्रकार की ॥ गति—नृत्य के किसी एक विधान को गति कहते हैं, जैसे गाने के किसी एक विधान को गीत कहते हैं। गतें अनेक प्रकार की होती हैं, और नेत्रों के संचालन भी अनेक भावों के होते हैं ॥ पातुर-राइ—जो स्त्री नाट्यशाला में किसी नाटक-निबद्ध व्यक्ति का वेष धारण कर के अभिनय करती है, उसको पात्री कहते हैं। उसी पात्री शब्द के विकृत रूप पातुर, पातुरी इत्यादि हैं, जो अब नर्तकी के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'पातुर-राइ' का अर्थ नर्तकियों की सर्दार, अर्थात् नर्तकियों में श्रेष्ठ, हुआ। इस दोहे में यद्यपि 'प्रबीन' शब्द नहीं आया है, तथापि भान यह होता है कि बिहारी ने लड़कपन में केशवदास द्वारा प्रशंसित प्रबीनराय पातुरी का नाच देखा था, जो उसके हृदय पर जमा हुआ था। इस दोहे में उसने प्रबीनराय का स्मरण कर के ही 'पातुर' शब्द के साथ 'राइ' ( राय ) का प्रयोग किया है ॥

( अवतरण )—नायक को देख कर नायिका की आँखें अनेक प्रकार के भावों से चंचल होती हैं। कोई सखी इस बात को लक्षित कर के अन्य सखी अथवा नायक से कहती है—

( अर्थ )—स्नेह-रूपी नायक के द्वारा सिखला कर सर्वांग-सुघर कर रक्खी गई [ उसकी आँखों की ] पुतली-रूपी पातुरराय अनंत प्रकार की रसीली गतें लेती है ॥

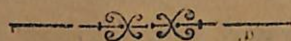


**सुनत पथिक-मुँह, माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम।**
**बिनु बूझैं, बिनु हीं कहैं, जियति बिचारी बाम ॥ २८५ ॥**

( अवतरण )—अपने गाँव की ओर से आए हुए किसी पथिक के मुँह से यह सुन कर कि उस गाँव में माघ महीने की रात में भी लुएँ चलती हैं, प्रोषित नायक ने अपनी विरहिणी स्त्री के जीवित होने का अनुमान कर लिया है। यही बात कोई किसी से कहता है—

( अर्थ )—[ नायक ने अपने गाँव की ओर से आए हुए किसी ] पथिक के मुँह से [ यह ] सुनते [ ही कि ] माघ [ मास ] की रात्रि में उस गाँव में लुएँ चलती हैं, बिना [ अपनी पत्नी का कुछ वृत्तांत ] पूछे [ ही तथा ] बिना [ उस पथिक के और कुछ ] कहे [ ही विरह से परम संतप्त उस ] बामा को जीती विचार ( अनुमान कर ) लिया ॥

उसने सोचा कि माघ की रात्रि में भी लुएँ चलने का बस यही कारण हो सकता है कि मेरी विरहिणी पत्नी के संताप ने गाँव भर की वायु को तप्त कर रक्खा है। बस, इसके अतिरिक्त और ऐसा कौन कारण हो सकता है। इसी अनुमान से उसने अपनी पत्नी का जीवित होना मान लिया; क्योंकि यदि वह मर गई होती, तो फिर माघ की रात्रि में लुएँ किसके ताप से चलतीं ॥



**अनत बसे निसि की रिसनु उर बरि रही बिसेषि।**
**तऊ लाज आई झुकत खरे लजौंहैं देखि ॥ २८६ ॥**

बरि रही = जल रही, संतप्त हो रही ॥ बिसेषि = विशेष रूप से ॥ झुकत = झुकते, क्रोधयुत कड़े वचन बोलते ॥

( अवतरण )—नायिका उत्तमा खंडिता है। यद्यपि नायक के रात भर अन्यत्र रहने के कारण उसके हृदय में क्रोधाग्नि धधक रही है, तथापि उसे अति लज्जित देख कर वह उससे क्रोध के साथ बोलते लजाती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ नायक के ] रात को अन्यत्र बसने की रिसों से [ यद्यपि वह नायिका ] हृदय में ( भीतर ही भीतर ) बहुत जल रही है, तथापि [ नायक को ] बहुत लज्जित देख कर [ उसे ] झुकते लज्जा आई ॥

---

**सुरँगु महावरु सौति-पग निरखि रही अनखाइ।**
**पिय-अँगुरिनु लाली लखैं खरी उठी लगि लाइ ॥ २८७ ॥**

**सुरँगु** = अच्छे रंग वाला ॥ **लाइ** = अग्नि, लवर ॥

( अवतरण )—अन्यसंभोग-दुःखिता नायिका का वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—सौत के पाँव में सुंदर रंग का महावर देख कर [ यह नायिका ] अनखा रही थी ( भीतर ही भीतर ईर्ष्या से दुखी हो रही थी कि सौत भी ऐसी सुघर है, जो ऐसा सुरंग महावर लगाती है )। [ इतने ही में ] प्रियतम की अँगुलियों में लाली देख कर [ इस अनुमान से कि उसने स्वयं सौत के पाँव में महावर लगाया है, उसके हृदय में ] भली भाँति आग लग उठी ॥

---

**मानहु मुँह-दिखरावनी दुलहिहिँ[1] करि अनुरागु।**
**सासु सदनु, मनु ललन हूँ, सौतिनु[2] दियौ[3] सुहागु ॥ २८८ ॥**

**मुँह-दिखरावनी** = मुँह-दिखाई। जब कोई नई दुलहिन ब्याह कर आती है, तो सास, ससुर इत्यादि ससुराल के प्रायः सभी लोग उसे आभूषण आदि वस्तुएँ उपहार के रूप में, उसका मुँह देख देख कर, देते हैं। यह उपहार दुलहिन का निज धन हो जाता है ॥ **सुहागु** ( सौभाग्य )—यहाँ इसका अर्थ, इस कहावत के अनुसार कि "जाकों पिय प्यारो चुहै वहै सुहागिनि नारि", अपने ऊपर का प्रियतम-प्रेम होता है ॥

( अवतरण )—नई दुलहिन विवाहित हो कर आई है। आते ही उसकी सुघराई तथा शील पर रीझ कर सास ने उसका घर का प्रभुत्व, नायक ने उसके रूप तथा गुणों पर अनुरक्त हो कर अपना मन एवं सौतों ने अपने को उसके बराबर न समझ कर प्रियतम का प्यार दे दिया। यह सब उसको ऐसे अल्प काल ही में प्राप्त हो गया, मानो मुँह-दिखाई ही में मिल गया। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—सास ने गृह, नायक ने भी मन [ तथा ] सौतों ने सौभाग्य ( अपने अपने ऊपर का पति-प्रेम ) [ इसको ऐसा चटपट तथा सदा के लिए ] दे दिया, मानो दुलहिन को मुँह-दिखाई [ ही ] में अनुराग कर के [ दिया है ] ॥

'मानहु' कहने का अभिप्राय यह है कि ये पदार्थ उसे आते ही मिल गए, और उन पर उसका ऐसा स्वत्व हो गया कि जैसा मुँह-दिखाई में प्राप्त पदार्थों पर होता है ॥

---

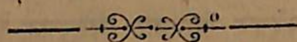
१. दुलहनि ( ३, ५ )। २. सौतिनि ( २, ४ )। ३. दयो ( ३, ५ )।

**कत सकुचत, निधरक फिरौ, रतियौ खोरि तुम्हैं न ।**
**कहा करौं[2], जौ जाइँ[3] ए लगैं[4] लगौंहैं नैन ॥ २८९ ॥**

( अवतरण )—खंडिता नायिका का वचन नायक से—

( अर्थ )—[ तुम ] संकुचित क्यों होते हो, निधड़क ( निःशंक ) [ जहाँ जी चाहे ] फिरा करो, [ ऐसा करने में ] तुम्हें रत्ती भर भी 'खोरि' ( दोष ) नहीं है । [ तुम ] क्या करो ( तुम्हारा क्या वश है ), यदि [ तुम्हारे ये ] लगौंहें ( चटपट रीझ जाने वाले ) नयन [ बरबस ] जा कर [ किसी से ] लग जायँ ( आसक्त हो जायँ ), [ और तुम्हें भी बलात् खींच कर उधर ले जायँ ] ॥

वास्तव में नायिका वचन-चातुरी से यह कहती है कि तुम बड़े निर्लज्ज हो, तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि चाहे जिस पर रीझ कर उसके यहाँ चले जाते हो । यदि तुम न जाओ, तो क्या तुम्हारे नयन खींच कर ले जायँ ॥

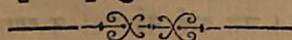


**आपु दियौ मनु फेरि लै, पलटैं दीनी पीठि ।**
**कौन चाल यह रावरी, लाल, लुकावत[5] डीठि ॥ २९० ॥**

**पलटैं** = बदले में ॥ **लुकावत** = छिपाते हो, चुराते हो ॥

( अवतरण )—परकीया नायिका नायक को उलाहना देती है—

( अर्थ )—अपना दिया हुआ मन लौटा ले कर [ उसके ] बदले में [ आपने मुझको अब ] पीठ दी ( मुझसे मुँह फेर लिया ) । हे लाल ! आपकी यह कौन [ भलमंसी की ] चाल है [ कि अब मुझसे ] आँखें [ भी ] चुराते हो ॥



**गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिकु रस-रास ।**
**लहाछेह[6] अति गतिनु की सबनु लखे सब-पास[7] ॥ २९१ ॥**

**रस-रास**—एक प्रकार के गोपजातीय नृत्य को रास कहते हैं । इसमें बहुत से स्त्री पुरुष एक साथ, मंडल बाँध कर, नाचते हैं । 'रस-रास' का अर्थ रसीला रास, अर्थात् आनंदोत्पादक रास, हुआ ॥ **लहाछेह**—यह शब्द संस्कृत के लघ्वाक्षेप शब्द से बना ज्ञात होता है । नृत्य, गान तथा वाद्य में किसी निबंध को समता से, नियत काल में, समाप्त करने को लय कहते हैं । यह लय तीन प्रकार की होती है—विलंबित, मध्य तथा द्रुत । किसी निबंध को धीरे धीरे बरतना उसकी विलंबित लय कहलाती है । जितना काल किसी निबंध के धीरे धीरे बरतने में लगता है, यदि उसका आधा काल लगाया जाय, तो उस निबंध में मध्य लय होगी । मध्य लय में जितना काल लगता है, यदि उससे भी आधे काल में वह निबंध बरता जाय, तो उसकी द्रुत लय हो जाती है । यदि और भी शीघ्रता की जाय, तो अति द्रुत लय होगी । नृत्य के संबंध में लघ्वाक्षेप का अर्थ अति लाघव अर्थात् फुर्ती से पैरों का उठाना रखना, अर्थात् द्रुत लय में नृत्य करना, है ॥ **गति**—नृत्य के

---

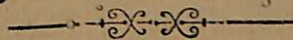
१. खोरति मैन ( ३, ५ ) । २. करौं ( २, ३, ४, ५ ) । ३. जाहिँ ( २ ) । ४. लगे ( २, ४, ५ ) । ५. लकावति ( १, ३ ) । ६. लहाछेह ( २ ), लेहछेह ( ३, ५ ) । ७. सब निरखे ( २ ) ।

किसी परिमित निबंध को गति कहते हैं। इसी का रूपांतर अब गत रह गया है, जिसको कि ऐसे वाक्यों में लोग प्रयुक्त करते हैं—"उसने एक गत नाचा" ॥ लहाछेह अति गतिनु की—इसका अर्थ नृत्य की गतों का अत्यंत पद-लाघव के साथ नाचना, अर्थात् नाच में अति शीघ्रता-पूर्वक चलत फिरत करना, है ॥

( अवतरण )—यह दोहा रास के समय का है। उस समय का वृत्तांत गोपियाँ आपस में कहती हैं—

( अर्थ )—[ उस ] शरद्-निशा में गोपियों के संग रस-रास में रमते हुए ( आनंद-पूर्वक क्रीड़ा करते हुए ) [ उन ] रसिक को, गतों के अति शीघ्र नाच के कारण, सबों ने सबों के पास देखा ॥

इस दोहे का भावार्थ यह है कि रास-मंडल में श्रीकृष्णचंद्र ऐसे द्रुत वेग से नृत्य करते थे कि सब को सब के पास दिखलाई देते थे, जैसे कि यदि किसी चक्र पर कोई बिंदु लगा दिया जाय, और चक्र वेग से घुमाया जाय, तो वह बिंदु हर जगह चक्राकार दिखलाई देगा ॥

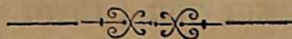


**स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीरु।**
**अँसुवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौं नीरु ॥ २६२ ॥**

**तरनिजा** = यमुना ॥

( अवतरण )—श्रीकृष्णचंद्रजी के मथुरा चले जाने पर श्रीराधिकाजी की स्मृति-दशा का वर्णन सखी सखी से करती है, अथवा उद्धवजी मथुरा में लौट आ कर श्रीकृष्णचंद्र से कहते हैं—

( अर्थ )—श्रीराधिकाजी यमुना के तीर को देखती हुई, श्याम की स्मृति कर के, [ अपने ] आँसुओं से तरौंस ( तट के निकट ) का पानी क्षण भर खारा कर देती हैं ॥

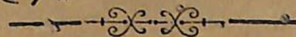


**गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस, अपार।**
**डगर डगर नै है रही, बगर बगर कैं बार ॥ २६३ ॥**

**नै** ( नइ ) = नदी। संस्कृत शब्द नदी का प्राकृत रूप नई होता है। उसी रूप से 'नइ' और 'नै' रूप बन गए हैं ॥ **बार** = द्वार ॥

( अवतरण )—उद्धवजी का वचन श्रीकृष्णचंद्र से—

( अर्थ )—[ हे श्रीकृष्णचंद्र, व्रजमंडल के ] डगर डगर ( प्रति मार्ग ) में, घर घर के द्वार पर, गोपियों के आँसुओं से भरी हुई सदा असोस ( कभी न सूखने वाली ) [ तथा ] अपार नदी हो रही है ( बन गई है ) ॥



**दुचितैं चित हलति न चलति, हँसति न झुकति, बिचारि।**
**लखत चित्र पिउ लखि, चितै रही चित्र लौं नारि ॥ २६४ ॥**

**दुचितैं** = द्विविधा में पड़े हुए ॥ **हलति न चलति** = न हिलती है, न चलती है। हिलती चलती

१. नइ ( ५ ) । २. रहीं ( १, ३ ) ।

इस कारण नहीं कि उसके पाँवों की आहट से कहीं प्रियतम उसका चित्रसारी में आना जान न जाय ॥ **हँसति न झुकति**=न प्रसन्न होती है, न रुष्ट होती है। हँसती तथा खिझलाती इसलिए नहीं कि अभी उसको यह नहीं ज्ञात है कि प्रियतम किस पर रीझेगा ॥

( अवतरण )—नायक चित्रसारी में चित्र देख रहा है। नायिका भी वहाँ आ गई है। वहाँ अनेक स्त्री-पुरुषों के चित्र लगे हुए हैं। उनमें नायिका का चित्र भी है। नायिका इस बात को जानने की इच्छा से कि नायक किसके चित्र को अधिक ध्यान से रीझ कर देखता है, चुपचाप खड़ी हुई देख रही है। यही वृत्तांत कोई सखी किसी अन्य सखी से कह कर कहती है कि तू विचार कि नायिका के इस प्रकार खड़ी रहने में क्या भेद है—

( अर्थ )—[ हे सखी, तू ] विचार [ तो सही कि इसमें क्या भेद है कि वह ] द्विविधा में पड़े हुए चित्त से न हिलती है, न चलती है, [ और ] न हँसती है, न खिझलाती है; प्रियतम को चित्र देखते देख कर [ वह ] नारी चित्र की भाँति ( अचल रूप से, बिना पलक गिराए ) ताक रही है ॥

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ माँगन सबु जगु[1] आनि ॥ २९५ ॥

**थुरहथी**=छोटे हाथ वाली ॥ **रहचटैं**=लालच में ॥

( अवतरण )—यह हास्य रस का दोहा है। किसी कृपण की कृपणता पर कोई उपहास कर के कहता है—

( अर्थ )—[ नई आई हुई ] बहू को थुरहथी जान कर ससुर ने [ उसे भिखारियों को ] कन ( कण, अन्न ) देने का काम सौंपा [ जिसमें अन्न कम लगे ]। [ पर उसके ] रूप के लालच में लग कर सारा जगत् [ उसके द्वार पर ] आ कर [ भिक्षा ] माँगने लगा [ जिससे और भी अधिक अन्न लगने लगा ] ॥

निरखि नबोढ़ानारि-तनें[2] छुटत लरिकई-लेस।
भौ[3] प्यारौ प्रीतमु तियनु, मनौं[4] चलत परदेस ॥ २९६ ॥

( अवतरण )—नवयौवना मुग्धा की मनोमोहिनी शोभा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ इस ] नवोढ़ा ( नई ब्याही हुई ) स्त्री के शरीर में से लड़कपन का लेश छूटता हुआ देख कर [ उसकी सपत्नी ] स्त्रियों को प्रियतम [ ऐसा ] प्यारा लगने लगा, मानो [ वह ] परदेश चल रहा है ॥

परदेश चलता हुआ मनुष्य इस कारण अधिक प्यारा लगता है कि उससे बहुत दिनों पीछे मिलने की आशा होती है। इस नायिका के यौवनागमन से सौतों ने समझा कि अब ऐसी सुंदरी को छोड़ कर प्रियतम हम लोगों के यहाँ बड़ी कठिनता से आवेगा, अतः अब वह उनको अधिक प्रिय लगने लगा ॥

---

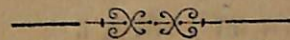
१. सबु जगु माँगन ( २, ३, ४ )। २. त्यौं ( २ )। ३. भो ( १, ४, ५ )। ४. मनौ ( २ )।

**प्रानप्रिया हिय मैं बसै, नखरेखा-ससि भाल।**
**भलौं दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप, रसाल॥ २६७॥**

भलौ—इस शब्द का अर्थ लक्षणा से यहाँ भयानक तथा दुःखद होता है॥

(अवतरण)—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

(अर्थ)—[आपके] हृदय में [तो] प्राणप्रिया (जो स्त्री आपको प्राण के समान प्यारी है, वह) बसी है, [जिस प्रकार विष्णु भगवान् के हृदय में लक्ष्मीजी बसती हैं, और] नखरेखा-रूपी शशि [आपके] भाल में [बसा है, जैसे शिवजी के मस्तक पर चंद्रमा रहता है]। हे रसाल, [आपने आज] आ कर यह हरि [और] हर का रूप [एक साथ] बड़ा उत्तम दिखलाया॥

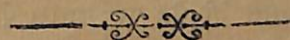


**तिय निय हिय जु लगी चलत पिय-नख-रेख-खरौंट[1]।**
**सूखँन[2] देति न सरसई खौंटि खौंटि[3] खत-खौंट[4]॥ २६८॥**

निय = निज॥ खरौंट = वह घाव, जो शरीर में नख, काँटे इत्यादि से खुरच जाने पर पड़ जाता है। यह शब्द खरोट, खरौट तथा खरौंट, तीनों रूपों में प्रचलित है॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका प्रियतम के नखों के खरौंट को, उनका प्रसाद समझ कर, सूखने नहीं देती। सखी-वचन सखी से—

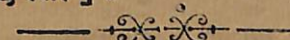
(अर्थ)—प्रियतम की नख-रेखा की जो खरौंट [उनके परदेश] चलते समय निज हृदय पर लगी है, [उसकी] सरसई (गीलापन) को [वह] स्त्री [यह समझ कर कि यह खरौंट प्रियतम के चलते समय का चिह्न है] घाव के खुरंड को खौंट खौंट (नोच नोच) कर सूखने नहीं देती॥



**सघन कुंज, घन घन-तिमिरु, अधिक अँधेरी राति।**
**तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीपसिखा सी जाति॥ २६९॥**

(अवतरण)—नायक दूती अथवा सखी से प्रार्थना करता है कि आज अच्छा अवसर है, तू नायिका को अभिसार करा कर अमुक कुंज मैं ले चल। सखी नायक की रुचि बढ़ाने के निमित्त, नायिका के रूप की प्रशंसा करती हुई, उसकी बात का खंडन करती है। अभिप्राय यह है कि नायक और अधिक लालायित हो कर प्रार्थना करे, तब ले जाऊँ—

(अर्थ)—[यद्यपि] कुंज सघन हैं, घन-तिमिर (बादलों का अंधकार) [भी] घना है, [तथा] रात्रि [भी अँधेरी है, एवं बादलों के कारण] अधिक अँधेरी है; तथापि, हे श्याम, वह दीपशिखा सी [नायिका] जाती हुई (अभिसार करती हुई) छिपेगी नहीं [कारण, अँधेरे में दिया नहीं छिपता]॥



---

१. खरोट (४, ५)। २. सूकन (२, ३, ५)। ३. खोट (४, ५)। ४. यह (३, ४, ५)।

**स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा; देखि, बिहंग, बिचारि ।**
**बाज, पराऐँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ॥ ३०० ॥**

**स्वारथु**=अपना लाभ ॥ **सुकृतु**=पुण्य ॥ **बिहंग**=आकाशगामी, स्वच्छंद-विहारी, दूरदर्शी । यह शब्द पत्नी के अर्थ में प्रयुक्त होता है ॥ **पच्छीनु**=( १[1] ) पक्षियों को । ( २ ) अपने पक्षवर्तियों अर्थात् स्वजातियों को ॥

( अवतरण )—किसी दुष्ट स्वामी के सेवक को, जो उस दुष्ट के निमित्त स्वजनों को कष्ट देता है, कोई बाज़ पर अन्योक्ति कर के समझाता है—

**( अर्थ )—हे बाज़ ! दूसरे के हाथ में पड़ कर ( दूसरे के वश में हो कर ) तू पक्षियों ( १. चिड़ियों । २. स्वजनों ) को मत मार । हे विहंग ( १. पक्षी । २. स्वच्छंद-विहारी ), [ नैक अपने मन में ] विचार कर देख, [ इस काम में तेरा न तो ] स्वार्थ है, [ और ] न सुकृत, [ केवल ] वृथा ( विना लाभ का ) श्रम है ॥**

ज्ञात होता है कि मिर्ज़ा राजा जयशाह जो शाहजहाँ की ओर से हिंदुओं के विरुद्ध युद्ध करते थे, वह बिहारी को अच्छा नहीं लगता था । सो उसने यह अन्योक्ति उन्हीं पर कही है । 'पराएँ' और 'पच्छीनु' ( पक्षी ) शाहजहाँ तथा हिंदुओं के ऊपर बहुत अच्छे घटते हैं । 'बिहंग' शब्द से कवि यह व्यंजित करता है कि तेरी गति तो अनिरुद्ध है, और तू बड़ा दूरदर्शी भी है, फिर दूसरे के वश में पड़ कर स्वजातियों को क्यों हानि पहुँचाता है, और इसका परिणाम नहीं सोचता ॥

जयशाह को, मुसलमानों की ओर हो कर हिंदुओं से लड़ने पर, शिवाजी ने भी, अपनी चिट्ठी में, बहुत फटकारा है । उस चिट्ठी के कुछ शेर नीचे लिखे जाते हैं—

ज़े खूने दिलो दीदए हिंदुवाँ । तु ख़्वाही शवी सुर्ख़रू दर् जहाँ ॥

हिंदुओं के हृदय तथा आँखों के रक्त से तू संसार में सुर्ख़रू ( लाल मुँह वाला ) हुआ चाहता है ॥

न दानी मगर् कीं सियाही शवद् । क़जीं मुल्को दीं रा तबाही शवद् ॥

पर तू यह नहीं समझता कि इससे तेरे मुँह पर कालख पोती जा रही है, क्योंकि इससे देश तथा धर्म का सत्यानाश होता है ॥

अगर् सर् दमे दर् गरेबाँ कुनीं । चो नज़्ज़ारए दस्तो दामाँ कुनीं ॥

यदि तू क्षण मात्र अपना सिर झुका कर सोचे और अपने हाथ तथा दामन का [ जो कि रक्त से सने हुए हैं ] निरीक्षण करे ॥

तु बीनी कि ईं रंग अज़ खूने कीस्त । कि दर् दोजहाँ रंगे ईं रंग चीस्त ॥

तो तुझे ज्ञान हो कि यह रंग किसके खून का है, और इहलोक तथा परलोक, दोनों में इस रंग का वास्तविक रंग क्या है, काला है अथवा लाल ॥

* * * * *

न बायद् कि बा मा नबर्द् आवरी । सरे हिंदुवाँ ज़ेरे गर्द् आवरी ॥

तुझको हम लोगों से युद्ध करना और हिंदुओं के सिरों को धूल में मिलाना उचित नहीं है ॥

* * * * *

अज़ीं तुर्कताज़ी चे आयद् तुरा । हवायत् सुराबे नुमायद् तुरा ॥

---

१. पंछीहि ( २ ), पच्छीहि ( ३, ५ ), पंच्छितु नहि ( ४ ) ।

इस वृथा की दौड़ धूप से तेरे हाथ क्या आता है? तेरी तृष्णा तुझे मृग-तृष्णा मात्र दिखा रही है॥

बदाँ सिफ़्ल मानी कि जेह्दे बरद्। उरूसे बचंगाले ख़ेश आवरद्॥

तू उस नीच मनुष्य की भाँति है, जो बड़ा उद्योग कर के किसी सुंदरी को अपने हाथ में लाता है॥

वले बर न अज़ बाग़े हुस्नश ख़ुरद्। बदस्ते हरीफ़े वरा बेस्परद्॥

पर उसके सौंदर्य की वाटिका का फल स्वयं नहीं खाता, प्रत्युत उसको अपने प्रतिद्वंद्वी के हाथ में सौंप देता है॥

---

**सीस-मुकट[1], कटि-काछनी[2], कर-मुरली, उर-माल।**
**इहिँ बानक[3] मो मन सदा बसौ[4], बिहारी लाल॥ ३०१॥**

**बानक**=बनाव, साज, वेष॥

(अवतरण)—कवि अपने उपास्य देव श्रीवृंदावनविहारी कृष्णचंद्र से नित्यप्रति अपने हृदय में, गोपाल रूप धारण किए हुए, बसने की प्रार्थना करता है—

(अर्थ)—हे विहारी लाल (आनंद-क्रीड़ा करने वाले लाल), मेरे हृदय में [तुम] सदा इस (ऐसे) बानक से बसो, जिसमें सिर पर मोर-मुकुट, कटि में काछनी, कर में मुरली [एवं] उर पर वनमाला है॥

इस दोहे के पूर्वार्ध में चार समस्त पद हैं, और उन चारों ही में बहुव्रीहि समास है। वे चारों पद 'बानक' शब्द के विशेषण हैं॥

'मुकट' तथा 'माल' के अर्थ यहाँ, 'काछनी' तथा 'मुरली' के साहचर्य से, मोर-मुकट तथा बनमाला होते हैं॥

कवि श्रीकृष्णचंद्र के गोप-वेष का उपासक है, अतः वह उसी वेष से उनको अपने हृदय में बसाना चाहता है। उसे द्वारिकाधीश के मणि-मंडित किरीट, पाटमय पीतांबर, सुदर्शन चक्र तथा वैजयंती माला धारण किए हुए रूप से कोई प्रयोजन नहीं है॥

---

**भृकुटी-मटकनि, पीतपट-चटक, लटकती चाल।**
**चलचंख-चितवनि चोरि चितु लियौ बिहारी लाल॥ ३०२॥**

**चटक**=चटकीलापन॥ **लटकती**=झूमती हुई॥

(अवतरण)—नायिका श्रीकृष्णचंद्र को कहीं वन में देख कर रीझी है। अतः वह उनके स्वरूप का वर्णन करती हुई सखी से कहती है—

(अर्थ)—भ्रुकुटी की मटक, पीत पट की चटक, लटकती हुई चाल [एवं] चंचल नेत्रों की चितवन से विहारी लाल ने [मेरा] मन चुरा लिया॥

---

**संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।**
**कुटिल-बंक-भ्रुव-सँग भए[5] कुटिल, बंक-गति नैन॥ ३०३॥**

१. मुकुट (४)। २. काछिनी (३)। ३. बानिक (२, ५)। ४. बसो सदा (५)। ५. लिए (४)।

**कुटिल**=टेढ़ी आकृति वाली ॥ **बंक** ( वक्र )=टेढ़े स्वभाव वाली, छली, निर्दय ॥

( अवतरण )—नायिका की तिरछी दृष्टि का घायल नायक सखी से कहता है, अथवा कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—संगति का दोष सब को लगता है. [ ये वचन जो सयानों ने ] कहे हैं, सो सच्चे वचन हैं । [ देखो, ] कुटिल [ तथा ] कपटशील भ्रकुटी के संग से नयन [ भी ] कुटिल [ तथा ] वक्र गति वाले हो गए हैं ॥

जरी-कोर गोरैं बदन बढ़ी खरी छबि, देखु ।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद-ससि-परिबेषु ॥ ३०४ ॥

**परिबेषु**=मंडल, घेरा ॥

( अवतरण )—सखी नायक को नायिका की शोभा दिखलाती हुई कहती है—

( अर्थ )—देखो, [ उसके ] गोरे मुख पर [ उसकी साड़ी की ] ज़री की कोर ( किनारी ) में शोभा [ कैसी ] अधिक बढ़ी है । मानो बिजली शरद-ऋतु के चंद्रमा का मंडल किए हुए विराजती है ॥

चितवनि भोरे भाइ की, गोरैं मुँह मुसकानि ।
लागति लटकि अली-गरैं[1], चित खटकति नित आनि ॥ ३०५ ॥

**लागति**—चार प्राचीन पुस्तकों में तो 'लागति' ही पाठ मिलता है, और दो संख्या वाली पुस्तक में 'लगति' पाठ है, एवं 'लागनि', पाठांतर-रूप में, लिखा हुआ है । 'लागति' पाठ के अनुसार दोहे का अर्थ करने में कुछ हेरफेर करना पड़ता है । ज्ञात होता है कि अनवरचंद्रिका में इसी कारण 'लागनि' पाठ कर लिया गया है, और उसके पश्चात् अन्य टीकाकारों ने भी उसी का अनुसरण किया है । इस संस्करण में प्राचीन पुस्तकों के अनुसार ही पाठ रक्खा और उसी के अनुसार अर्थ किया गया है ॥

( अवतरण )—नायक को देख कर नायिका ने जो चेष्टाएँ कीं, उनका वर्णन वह उसकी सखी अथवा अपने किसी अंतरंग सखा से करता है—

( अर्थ )—भोलेपन की चितवन से ( ऐसी चितवन के साथ कि मानो उसके चित्त में मेरी ओर कोई भाव ही नहीं है ), [ तथा ] गोरे मुख पर मुसकान से ( अर्थात् सहित ) सखी के गले से झुक कर लगती हुई ( सखी को भेटती हुई ) [ वह मेरे ] चित्त में नित्य आ कर खटकती ( पीड़ा देती, अर्थात् अपने से मिलने के निमित्त उत्सुक करती ) है ॥

इहिँ[2] द्वैहीँ मोती सुगथ तूँ, नथ, गरबि निसाँक ।
जिहिँ पहिरैँ जग-दृग ग्रसति लसति[3] हँसति-सी नाँक ॥ ३०६ ॥

**इहिँ द्वैहीँ मोती सुगथ**=इन दो ही सुगथ मोतियों से अर्थात् ऐसे दो मोतियों से, जो कि सुगथ हैं तो वे ही हैं, अन्य मोती उनके आगे सुगथ नहीं लगते ॥ **सुगथ** ( सुग्रथ )=सुंदर प्रकार से ग्रथे

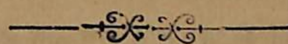
१. आली ( २ ) । २. ए ( ३, ५ ) । ३. हँसति लसति सी ( ८, ३, ५ ) ।

हुए अर्थात् सुडौल, अथवा सुंदर प्रकार से जोड़ मिलाए गए ॥ **गरबि** = गर्व कर ॥ **निसाँक** = बिना इस बात की शंका के कि कहीं मेरा गर्व मिथ्या न ठहरे ॥ **ग्रसति** = पकड़ती हुई, अपने में लगा लेती हुई ॥

( अवतरण )—नायिका, नायक से कुछ अनमनी सी हो रही है। नायक उसकी नथ को संबोधित कर के तथा उसे सुना कर कहता है—

( अर्थ )—हे नथ, तू इन दो ही 'सुगथ' मोतियों से निःशंक गर्व कर, जिनके पहनने से जग के दृगों को ग्रसती हुई ( अर्थात् परम नेत्ररंजक ) नासिका हँसती हुई सी लसती ( सुशोभित होती ) है ॥

जब कोई कुछ रुष्ट सा रहता है, तो उसके हँसाने के निमित्त लोग प्रायः कहते हैं कि "यह देखो, नाँक पर हँसी आई।" इसी प्रकार नायक नायिका का अनमनापन छुड़ाने के निमित्त कहता है कि उसकी नाँक मोतियों के व्याज से दाँत दिखलाती, अर्थात् हँसती सी, है। अपने इसी वाक्य से वह नायिका के नासिका-सौंदर्य की प्रशंसा भी, उसके प्रसन्नतार्थ, करता है ॥



**हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं[1] न।**
**भरत ढरत, बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन ॥ ३०७ ॥**

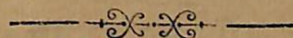
**घरी** = समय-बोधक जलयंत्र की कटोरी ॥

( अवतरण )—हरि की शोभा में अपने नेत्रों की आसक्ति का वर्णन नायिका अपनी किसी अंतरंगिनी सखी से करती है—

( अर्थ )—जब से [ मेरे ] नेत्र हरि के छबि-रूपी जल में पड़े हैं, तब से क्षण मात्र [ भी उससे ] बिछुड़ते नहीं ( अलग नहीं होते ), [ समय-प्रदर्शक जलयंत्र की ] घड़ी ( घटी, कटोरी ) की भाँति [ उसी छबि-जल में ] भरते ढरते, [ तथा ] डूबते उतराते रहते हैं ॥

समय-प्रदर्शक जलयंत्र की कटोरी भी क्षण मात्र जल से अलग नहीं रहती, क्योंकि यदि वह जल से कुछ देर अलग रहे, तो समय-प्रदर्शन में उतनी देर का भेद पड़ जाय। अतः वह नाँद के जल ही में भरती ढरती तथा डूबती तैरती रहती है ॥

'भरत ढरत' तथा 'बूड़त तरत' युग्मों का प्रयोग यथासंख्य हुआ है। 'भरत' का संबंध 'बूड़त' से तथा 'ढरत' का संबंध 'तरत' से है ॥



**मार-सुमार-करी, डरी, मरी[3], मरीहिं न मारि।**
**सींचि गुलाब घरी घरी, अरी, बरीहिं न बारि ॥ ३०८ ॥**

**मार-सुमार-करी** = कामदेव-द्वारा भली भाँति मारी गई अर्थात् आघात पहुँचाई गई ॥ **डरी मरी** = मरी पड़ी ॥ **बरीहिं** = जली हुई को ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका को संतप्त देख कर सखी उस पर गुलाब-जल छिड़कती

१. बिसरैं ( २, ४ )। २. हरत ( ३, ५ )। ३. खरी ( ३, ४ )।

है। पर गुलाब-जल से उद्दीपन होने के कारण उसकी विरह-ज्वाला और भी भड़क उठती है, अतः वह सखी से कहती है—

( अर्थ )—कामदेव-द्वारा भली भाँति मार की गई ( मारी गई ) [ मैं तो ] मरी [ ही ] पड़ी हूँ; [ अब तू ] मरी को मत मार। अरी [ सखी ], [ मुझ ] जली हुई को घड़ी घड़ी ( फिर फिर ) गुलाब-जल से सींच कर [ तू और अधिक ] मत जला॥

क्यौंहूँ सहबात न लगै, थाके भेद-उपाइ।
हठ-दृढ़गढ़-गढ़वै सु चलि लीजै सुरँग लगाइ॥ ३०९॥

सहबात = मेल की बातचीत॥ भेद-उपाइ = फोड़ कर अपनी ओर मिला लेने के उपाय॥ गढ़वै = गढ़वर्तिनी, गढ़ में बैठी हुई॥ सुरँग = ( १ ) सुंदर राग अर्थात् प्रेम। ( २ ) सुरंग, वह छिद्र जिसमें बारूद भर कर गढ़ इत्यादि उड़ा दिए जाते हैं॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका को समझाते समझाते हारी हुई सखी नायक से, उसके हठ का रूपक दृढ़ गढ़ से कर के, कहती है—

( अर्थ )—संधि की बातचीत किसी प्रकार [ उस पर ] नहीं लगती ( प्रभाव डालती ), मिला लेने के [ सब ] उपाय थक गए ( व्यर्थ हो गए )। अतः [ अब आप स्वयं ] चल कर [ और ] सुरंग लगा कर ( १. अपने प्रेम में लगा कर। २. गढ़ को बारूद के द्वारा उड़ा कर ) [ उस ] हठ-रूपी दृढ़ गढ़ की गढ़वर्तिनी को लीजिए ( अपने वश में कीजिए )॥

तो ही को छुटि मानु गौ देखत हीं ब्रजराज।
रही घरिक लौं मान सी मान करे की लाज॥ ३१०॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक से मान किया है। सखी यह कह कर मान छुड़ाया चाहती है कि तेरा मान तो छूट चुका है, अब तो तू व्यर्थ ही मान करने की लज्जा ढो रही है—

( अर्थ )—तेरे हृदय का मान [ तो ] ब्रजराज को देखते ही छूट गया। [ अब तो ] मान करने की लज्जा, मान की भाँति ( मान के स्थान पर ), घड़ी भर ठहरी हुई है॥

न ए बिससियहि[1] लखि नए दुरजन[3] दुसह-सुभाइ।
आँटैं परि प्रानन हरैं[4] काँटैं लौं लगि पाइ॥ ३११॥

बिससियहि = विश्वास किए जायँ॥ नए = नम्र हुए॥ दुसह-सुभाइ = दुःसह स्वभाव वाले॥ आँटैं ( अर्ति ) = दुःख, आमर्ष, दावँ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—ये दुःसह स्वभाव वाले दुर्जन नए ( नम्र हुए ) देख कर विश्वास न

१. किये ( ३, ५ )। २. बिसासि इहि ( ३, ५ ), बिससियै ( ४ )। ३. दुर्जन ( २, ३, ५ )। ४. हरे ( ५ )।

किए जायँ। [ये] आँट (दावँ) में पड़ने पर पैरों में लग कर (१. पैरों पर गिर कर। २. पैरों में चुभ कर) काँटे की भाँति प्राणों को हर लेते हैं (अत्यंत कष्ट देते हैं)॥

सखि, सोहति गोपाल कैँ उर गुंजनु की माल।
बाहिरै लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल॥ ३१२॥

**दावानल** = दावाग्नि, जंगल की आग। एक समय नंद, यशोदा तथा अन्य व्रज-जनों के साथ श्रीकृष्णचंद्र जंगल में थे। आधी रात को चारों ओर आग लग गई, जिससे सब लोग बहुत घबरा उठे। तब श्रीकृष्णचंद्र ने उस आग को पी कर सबका दुःख दूर किया। यहाँ 'दावानल' शब्द का वाच्यार्थ तो वही वन की अग्नि है, पर गौणीसाध्यवसाना लक्षणा शक्ति से इसका अर्थ दावानल-सदृश विरहाग्नि है॥

(अवतरण)—नायिका अनुशयाना है। उसने गुंजों के कुंज मैँ नायक से मिलने का संकेत बदा था, पर किसी अड़चन से वह वहाँ समय पर न पहुँच सकी। नायक संकेतस्थल से निराश तथा दुखी हो कर लौट आया, और यह सूचित करने के निमित्त कि मैँ संकेतस्थल हो आया हूँ, गुंजों की माला पहने हुए नायिका के घर के मार्ग से जा रहा है। उसको देख कर नायिका, जो उस समय गुरुजनों मैँ बैठी है, अपनी अंतरंगिनी सखी से कहती है। गुरुजनों के सुनने मैँ तो वह सामान्यतः श्रीकृष्णचंद्र की गुंजमाला पर एक नीरस सी उत्प्रेक्षा कह देती है; पर सखी से, जो कि उसके वृत्तांत से परिचित है, वह यह कहती है कि श्रीकृष्णचंद्र के हृदय पर गुंजमाला मुझे ऐसी लगती है, मानो उस कुंज मैँ मुझे न पा कर इनको जो दुःख-रूपी दावाग्नि का पान करना पड़ा, उसी की ज्वाला बाहर हो कर लपलपा रही है। इसे देख कर मेरी आँखों को बड़ा ताप होता है—

(अर्थ)—हे सखी, गोपाल के उर पर गुंजों की माला [ऐसी] सोहती है, मानो [उनके द्वारा] पिए गए दावानल (१. व्रज-लीला में पी गई दावाग्नि। २. संकेतस्थल में मेरे न मिलने से सही हुई दुःखाग्नि) की ज्वाला बाहर [निकल कर] लस रही है (लपलपा रही है)॥

'सोहति' तथा 'लसति' शब्दों का प्रयोग यद्यपि द्वितीय अर्थ के पक्ष मैँ समीचीन नहीं है, परंतु नायिका को इन्हें गुरुजनों को सुनाने के निमित्त प्रयुक्त करना पड़ा। इसके अतिरिक्त सोहना, लसना इत्यादि शब्द कविता मैँ ऐसे सामान्य रूप से प्रचलित हो गए हैं कि केवल 'स्थित होने', 'दिखाई देने' इत्यादि का अर्थ देने लगे हैं॥

गहिली, गरबु न कीजियै समै-सुहागहिँ पाइ।
जिय की जीवनि जेठ, सो माह न छाँह सुहाइ॥ ३१३॥

**गहिली** = बावली॥ **समै-सुहाग** = ऐसा सुहाग, जो किसी अवसर विशेष पर प्राप्त हो जाय॥ **माह** = माघ मास॥

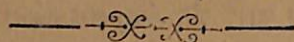
(अवतरण)—कलहांतरिता नायिका के यहाँ से नायक उसकी सौत के यहाँ चला गया है, जिससे वह गर्व कर रही है। उससे कलहांतरिता के पक्ष की सखी कहती है—

१. सोभित (१, ४)। २. बाहिरि (३), बाहरि (४, ५)। ३. मैं (२)।

( अर्थ )—हे बावली, समय का ( संयोग-वश का ) सुहाग ( पति-प्रेम ) पा कर गर्व न किया जाय ( तू गर्व मत कर ) । [ देख, जो ] छाँह जेठ में जी को जिलाने वाली होती है, वही माघ में नहीं सुहाती ( सही जाती ) ॥

समय-सुहाग कह कर सखी यह व्यंजित करती है कि तुझ पर वास्तव में पति का प्रेम नहीं है, प्रत्युत वह इस अवसर पर, मेरी सखी से कुछ अनबन हो जाने के कारण, तेरे यहाँ चला आया है ॥

सखी का अभिप्राय इस कहने से यह है कि सौत का उत्साह भंग हो जाय, जिसमें उसकी कांति उतर जाय, और वह नायक की आँखों में भौंडी लगने लगे ॥

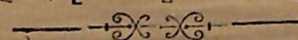


**हँसि, हँसाइ, उर लाइ उठि, कहि न रुखौंहैं बैन ।**
**जकित थकित ह्वै तकि रहे तकत तिलौंछे नैन ॥ ३१४ ॥**

**तिलौंछे** = तेल से पोंछे हुए । आँखों का सुरमा छुड़ाने के लिए स्त्रियाँ तेल से भीगे हुए कपड़े से उन्हें पोंछती हैं । उस समय तेल लग जाने के कारण आँखें कुछ मिचमिची सी हो जाती हैं, और उनमें कुछ पानी भी आ जाता है । तिलौंछे का अर्थ यहाँ तिलौंछे से होता है ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका से सखी का वचन—

( अर्थ )—[ नायक तेरे ] तिलौंछे नयन देख कर जकित ( स्तंभित ) [ तथा ] थकित ( श्रमित ) हो कर देख रहे हैं, [ अतः अब तू क्षमा कर के ] रूखे वचन मत कह, [ प्रत्युत स्वयं ] हँस [ तथा उनको भी ] हँसा, [ और ] उठ कर [ उनको ] कलेजे से लगा ले ॥

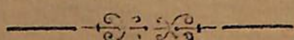


**तीज-परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर ।**
**सबै मरगजे-मुँह करीं इहीं मरगजैं चीर ॥ ३१५ ॥**

**मरगजे** = मले दले, मलिन ॥

( अवतरण )—तीज का त्यौहार है । नायिका ने पूर्व रात्रि में नायक के साथ रत्युत्सव का जागरण किया है । अतः वह आलस्य के कारण अभी तक पर्वोचित भूषण वसन धारण नहीं कर सकी है, अथवा प्रियतम के प्रस्वेद से भीनी हुई साड़ी को उसने, अति प्रिय होने के कारण, अभी तक नहीं बदला है । उधर उसकी सौतों ने नए नए वस्त्र तथा आभूषण धारण कर के अपने अपने शरीर सुसज्जित कर लिए हैं । पर इस नायिका की इसी मरगजी साड़ी से यह अनुमान कर के कि वही प्रियतम को परम प्रिय है, सभों के मुख फीके पड़ गए । इसी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—तीज के त्यौहार को [ इसकी ] सौतों ने भूषण वसन से [ अपने ] शरीर सजे, [ पर इसने ] इसी मरगजे चीर से सभी को मरगजे-मुँह ( मलिन-मुख ) कर दिया ॥



१. ह्वै कित रही ( ३ ) । २. तकति ( १ ), तकित ( २, ५ ) । ३. तिरीछे ( ४ ) । ४. करे ( २ ) । ५. इहे ( ३, ५ ) ।

गड़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौँह, कमान।
आघु बँकाईहीँ चढ़ै, तरुनि, तुरंगम, तान॥ ३१६॥

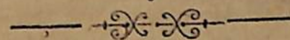
( अवतरण )—नायिका नायक पर अत्यंत आसक्त हो कर उसके अधीन हो रही है। सखी उसको आत्मगौरव की रक्षा के निमित्त शिक्षा देती है—

( अर्थ १ )—गढ़ की रचना, बरुनी, अलक, चितवन, भौँह [ तथा ] कमान ( धनुष ) का आघ ( अर्घ्य, मोल, आदर ) बँकाई ही से चढ़ता है, [ और इसी प्रकार ] तरुणी ( युवा स्त्री ), तुरंगम ( घोड़े ) [ और ] तान ( गाने में स्वरों के चढ़ाव उतार ) का [ भी ]॥

इस दोहे का सब टीकाकारोँ ने यही अर्थ किया है। पर इस अर्थ मेँ 'तरुनि', 'तुरंगम', 'तान', ये शब्द असंबद्ध से हो जाते हैँ। अतः इसका अर्थ इस प्रकार किया जाय, तो अच्छा हो—

( अर्थ २ )—गढ़ की रचना, बरुनी, अलक, चितवन, भौँह [ तथा ] कमान ( धनुष ) पर आघ ( अर्घ्य, मोल, आदर ) बँकाई ही से चढ़ता है, [ तथा ] तरुणी ( युवा स्त्री ) [ एवं ] तुरंगम ( घोड़े ) पर तान ( खिँचाव ) से॥

इस अर्थ मेँ 'तान' का अर्थ खिँचाव होगा। स्त्री पक्ष मेँ खिँचाव का अर्थ आत्मगौरव के साथ अपने को लिए दिए रहना और नायक के अत्यंत अधीन न हो जाना होगा। तुरंग-पक्ष मेँ इसका अर्थ तन कर खड़ा होना होगा, जैसे कजई कस देने पर घोड़े तन कर ठाट से खड़े हो जाते हैँ॥

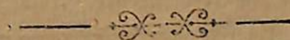


इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिँडोरैँ सैँ रहै लगी उसासनु साथ॥ ३१७॥

छसातक=छ सात के अनुमान॥ हिँडोरैँ सैँ=हिँडोले से किसी पदार्थ पर, मानो हिँडोले पर॥

( अवतरण )—विरह मेँ नायिका की अत्यंत कृशता एवं उसके उच्छ्वासोँ की प्रबलता का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ वह तन्वी नायिका विरह से ऐसी कृश हो रही है, और उसके उच्छ्वास ऐसे प्रबल हो रहे हैँ कि वह ] उच्छ्वासोँ के साथ लगी हुई हिँडोले से [ किसी पदार्थ ] पर चढ़ी रहती है, छ सात हाथ के अनुमान [ कभी ] इधर चल कर आती है, [ और कभी ] उधर चली जाती है॥



डर न टरै, नीँद न परै, हरै न काल-बिपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ बिषमु छबि-छाकु॥ ३१८॥

परै=शांत होता है। पड़ना क्रिया का प्रयोग शांत होने के अर्थ मेँ अनेक वाक्योँ मेँ पाया जाता है, जैसे 'हवा पड़ गई'॥ काल-बिपाकु=नियत काल का पूरा होना॥ उछकै न=उछकता नहीँ, उचटता

---

१. बढ़ै ( ३, ५ )। २. आवत ( २, ३, ५ )। ३. जात ( १, २, ३, ५ )। ४. सी ( ४ )।

नहीं, उतरता नहीं ॥ **बिषमु**=सादृश्य-रहित, दुस्तर ॥ **छबि-छाकु**=छवि का नशा, सौंदर्य देख कर चढ़ा हुआ प्रेम का नशा ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका को छवि का ऐसा नशा चढ़ा हुआ है कि वह क्षण मात्र अपने को सँभाल नहीं सकती। सखियाँ उसकी यह दशा देख कर आपस में कहती हैं—

( अर्थ )—छवि ( सौंदर्य ) का छाक ( नशा ) [ और सब नशों से ] बड़ा विषम होता है। [ और नशों को स्थिर रखने के निमित्त घड़ी घड़ी पीना पड़ता है, पर यह नशा ] क्षण मात्र छक लेने पर ( पी लेने पर ) फिर उछकता नहीं ( उतरता नहीं )। [ और नशे, अर्थात् भंग, मदिरादि के नशे, डर से उतर जाते हैं, पर यह ] डर से नहीं टलता। [ और नशे नींद आ जाने पर शांत हो जाते हैं, पर यह ] नींद से [ भी ] नहीं पड़ता ( उतरता ), [ क्योंकि इसमें नींद आती ही नहीं ]। [ और नशे नियत काल व्यतीत हो जाने पर हट जाते हैं, पर इसे ] काल का विपाक [ भी ] नहीं हरता ॥

---

**रमन कह्यौ हठि रमन कौं रतिबिपरीत-बिलास।**
**चितई करि लोचन सतर, सलज, सरोसे, सहास ॥ ३१६ ॥**

**रमन**=नायक ने ॥ **हठि**=हठ कर के ॥ **रतिबिपरीत-बिलास**=विपरीत रति की क्रीड़ा में ॥ **सतर**=तर्जन-युक्त, तीखे ॥

( अवतरण )—सखी का वचन सखी से—

( अर्थ )—रमण ने हठ कर के [ नायिका से ] विपरीत रति के विलास में रमने ( प्रवृत्त होने ) को कहा। [ तब नायिका ने अपने ] नेत्रों को सतर, सलज, सरोष [ तथा ] सहास कर के ( बना कर ) [ नायक की ओर ] देखा ॥

'करि' शब्द से कवि व्यंजित करता है कि नायिका ने अपने लोचनों को जान बूझ कर सतर, सलज, सरोस तथा सहास बनाया। इससे किलकिंचित हाव व्यंजित होता है ॥

---

**ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाइ।**
**फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाइ ॥ ३२० ॥**

**ऐंचति सी**=अपनी ओर आकर्षित करती हुई सी ॥ **फिरि उझकनि कौं**=फिर उझक कर वह मुझे उसी भाँति देखे, इस बात के निमित्त ॥ **दृगनि**—हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में 'दृगनि' ही पाठ मिलता है, अतः यही पाठ यहाँ रक्खा गया है। किंतु इस संस्करण की परिपाटी के अनुसार इसे 'दृगनु' होना चाहिए। ज्ञात होता है कि 'लगनिया' के 'लगनि' के अनुप्रास के लिए ही 'दृगनि' पाठ सब पुस्तकों में लिखा गया है ॥ **लगनिया**=अभिलाषा, लगन ॥

( अवतरण )—नायिका की चितवन पर आसक्त हो कर नायक उसकी खिड़की के नीचे, उसके फिर झाँक कर देखने की आशा लगाए, खड़ा है, और उसकी सखी अथवा अपने अंतरंग सखा से कहता है—

---

१. सगरब ( २ )। २. सलज ( २ )। ३. चितवनि ( २ )।

( अर्थ )—[ वह ] मृगनयनी [ मुझे अपनी ओर ] खींचती हुई सी चितवन से देख कर, [ और मेरे ] दृगों में फिर उझकने के निमित्त लालसा लगा कर ( इस बात की चाह लगा कर कि वह फिर उझके, तो मैं उसे देखूँ ), अलसा कर ओट में हो गई, [ तब से मैं उसकी खिड़की पर दृष्टि लगाए उसे फिर देखने की आशा से खड़ा हूँ ]॥

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥ ३२१ ॥

नल-नीर=फुहारे के नल का पानी ॥ गति=चाल, व्यवस्था ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—मनुष्य की तथा फुहारे के नल के जल की व्यवस्था एक ही कर के ( एक ही सी ) देखो ( समझो )। [ वह ] जितना नीचा ( १. नम्र । २. निम्नगामी ) हो कर चलता है, उतना [ ही ] ऊँचा ( १. श्रेष्ठ । २. ऊर्ध्वगामी ) होता है ॥

भूषन-भारु सँभारिहै क्यौँ इहिँ तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैँ सोभा हीँ कैँ भार ॥ ३२२ ॥

( अवतरण )—नायिका अपने यौवन तथा रूप की ऐँड़ से लचकती हुई पाँव रखती है, जिससे सब क्रियाओँ के करने मेँ विलंब होता है। अतः दूती, जो उसको शीघ्र अभिसार कराया चाहती है, उसके सौकुमार्य की प्रशंसा करती हुई, बड़ी चातुरी से, उसको भूषणादि सज्जित करने के बखेड़े मेँ देर लगाने से वारण करती है—

( अर्थ )—[ तू ] इस सुकुमार तन पर भूषण का भार क्योँकर सँभालेगी ? [ तेरे ] पावँ [ तो ] शोभा ही के भार से धरा ( पृथ्वी ) पर सीधे नहीँ पड़ते ॥

मुँह[1] मिठासु, दृग चीकने[2], भौँहैँ सरल सुभाइ।
तऊ खरैँ आदर खरौ खिन खिन हियौ[3] सकाइ ॥ ३२३ ॥

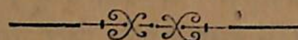
मिठासु—यह शब्द प्रचलित राष्ट्रभाषा मेँ स्त्रीलिंग माना जाता है। पर बिहारी इसको पुल्लिंग मानते थे। इस दोहे मेँ तो इसका पुल्लिंग होना केवल इसके उकारांत होने से लक्षित होता है, और ३६०वेँ दोहे मेँ भी ऐसा ही है। पर ४७३वेँ अंक के दोहे मेँ इसके साथ 'कितौ' तथा 'दयौ' शब्दोँ का प्रयोग हुआ है, जिनसे इसका पुल्लिंग माना जाना स्पष्ट हो जाता है। ३३७वेँ दोहे मेँ इसका लिंग निर्धारित नहीँ होता, और और किसी दोहे मेँ यह शब्द आया ही नहीँ है ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा सादरा धीरा नायिका पति को सापराध देख कर उसका विशेष आदर कर के मान सूचित करती है। नायक उसके नए ढंग के आदर से शंकित हो कर कहता है—

( अर्थ )—[ यद्यपि तेरे ] मुख मेँ मिठास ( मीठा वचन ) है, नेत्र चिकने ( स्नेह

१. परत ( १ )। २. चिकनई ( ३, ५ )। ३. हियैँ ( २, ५ )।

प्रकट करते हुए ) हैं, [ और ] भौंहैं स्वाभाविक रूप से सीधी ( कोप से वक्र नहीं ) हैं, तथापि [ तेरे ] खरे ( विशेष, बहुत ) आदर सैं क्षण क्षण पर हृदय बहुत शंकित होता है ॥

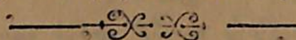


जदपि नाहिँ नाहीँ नहीँ बदन लगी जक जाति[1] ।
तदपि भौँह-हाँसीभरिनु[2] हाँसीयै ठहराति[3] ॥ ३२४ ॥

जक=रट । किसी बात को तार बाँध कर कहना जक लगना कहलाता है ॥

( अवतरण )—नायक ने मध्या नायिका का हाथ रति-क्रीड़ा के निमित्त पकड़ लिया है। नायिका यद्यपि लज्जावश मुख से नहीँ नहीँ करती है, तथापि, उसकी भौँहोँ पर हँसी होने के कारण, उसकी वह नहीँ नहीँ हँसी ही, अथवा हाँ सी ही, प्रतीत होती है । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—यद्यपि [ उसके ] वदन ( मुख ) में 'नहीँ नहीँ नहीँ' की जक लगी जाती है, तथापि [ उसकी ] हँसी-भरी भौँहोँ से ( भौँहोँ के कारण ) [ वह 'नहीँ नहीँ' की रट ] हाँसी ही ( परिहास ही अथवा हाँ सी ही ) ठहरती है ( निर्धारित होती है ) ॥

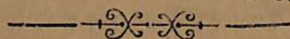


छुटन न पैयतु[4] छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल ।
मार्‌यौ फिरि फिरि मारियै, खूनी फिरै खुस्याल ॥ ३२५ ॥

खूनी ( फ़ा० ख़ूनी )=ख़ून करने वाला, अर्थात् किसी को मार डालने वाला ॥ खुस्याल ( फ़ा० खुशहाल )=सुखी अवस्था में ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी लगन की व्यवस्था, नायक को सुना कर, सखी से कहती है—

( अर्थ )—स्नेह-रूपी नगर में यह [ सर्वथा निराली ] चाल है [ कि इसमें ] क्षण मात्र बस कर [ फिर जन्म भर ] छूटने नहीँ पाया जाता, [ और ] मारा हुआ ( प्रेम-पात्र की चितवन-कटार से घायल किया गया ) [ तो इस नगर के शासक मदन महाराज के द्वारा ] फिर फिर मारा जाता ( दंड पाता, कष्ट पाता ) है, [ किंतु ] ख़ूनी ( घातक ) खुशहाल ( प्रसन्न अवस्था में ) [ स्वतंत्र ] फिरा करता है [ अन्यायी मदन महाराज उसे, कष्ट पहुँचाने की कौन कहे, पकड़ते तक नहीँ, अर्थात् छूते तक नहीँ ] ॥



चुनरी स्याम सतार नभ, मुँह[5] ससि की उनहारि ।
नेहु दबावतु नीँद लौँ निरखि निसा सी नारि ॥ ३२६ ॥

सतार=तारोँ के सहित ॥ उनहारि=सदृश । यह शब्द संस्कृत शब्द अनुहार से, जिसका अर्थ समान है, बन गया है ॥

( अवतरण )—नायक ने किसी स्त्री को श्याम चूनरी पहने देख लिया है। तब से वह,

---

१. जाहि ( ३, ५ ) । २. भरीँ ( २, ४ ) । ३. ठहराहि ( ३, ५ ) । ४. पैये ( २ ) । ५. मुख ( ३, ५ ) ।

उसके स्नेह मैं, सब सुधिबुधि भूला हुआ है। अपनी यही व्यवस्था वह दूती अथवा नायिका की किसी सखी से कहता है—

( अर्थ )—श्याम चूनरी से तारों के सहित आकाश की [ तथा ] मुख से शशि की अनुहारि ( सदृश ) [ उस ] निशा सी नारी को देख कर स्नेह नींद की भाँति दबा लेता है ( सुधिबुधि भुला देता है )॥

कहत सबै, बैंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बैंदी दियैं[1] अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥ ३२७ ॥

आँकु ( अंक ) = गिनती लिखने के निमित्त सांकेतिक अक्षर ॥ उदोतु ( उद्योत ) = ( १ ) प्रकाश, शोभा। ( २ ) अंक का अभिप्राय अर्थात् मूल्य ॥

( अवतरण )—बैंदी देने से नायिका के मुख की शोभा अत्यंत बढ़ गई है। उसी के विषय मैं नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—सभी [ लोग ] कहते हैं, बैंदी देने से अंक [ का मूल्य ] दसगुना हो जाता है। [ पर यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इस ] स्त्री के ललाट पर बैंदी देने से उद्योत ( १. कांति। २. अभिप्राय ) अगणित [ गुना ] बढ़ जाता है॥

तर झरसी, ऊपर गरी कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय पाती बिन हीं लिखी[2] बाँची बिरह-बलाइ ॥ ३२८ ॥

गरी = गली हुई ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका ने नायक के पास जो चिट्ठी भेजी है, उसमैं वह अपना दुःख विकलता के कारण पूर्णतया नहीं लिख सकी है। चिट्ठी लिखते समय उसके हाथ के ताप से काग़ज़ नीचे की ओर झुलस गया है, और कज्जल-मिश्रित अश्रुओं के गिरने से ऊपर की ओर गल गया है। इन बातों से नायक ने बिना लिखी हुई विरह-व्यथा का अनुमान कर लिया है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—नीचे [ विरह-ताप से ] झुलसी हुई, [ तथा ] ऊपर कज्जल के जल से छिरकी जा कर गली हुई पत्रिका मैं बिना लिखी हुई ही विरह की विपत्ति प्रियतम ने बाँच ली ( अनुमानित कर ली )॥

इस दोहे का पूर्वार्ध 'पाती' का विशेषण मात्र है। 'बिन हीं लिखी'; यह वाक्यांश 'बिरह-बलाइ' का विशेषण है। 'पिय' शब्द 'बाँची' का तृतीयांत कर्ता एवं 'बिरह-बलाइ' उसका प्रथमांत कर्म है॥

सोरठा

बिरह सुकाई देह, नेहु कियौ अति डहडहौ।
जैसैं बरसैं मेह जरै जवासौ, जौ जमै ॥ ३२९ ॥

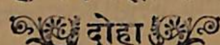
---

१. लगत ( १ )। २. लिखैं ( २ )।

डहडहौ=हराभरा ॥ जवासौ=एक प्रकार की घास, जो पानी बरसने पर जल जाती है ॥ जौ ( जव ) = जपा, गुड़हर । इस शब्द का अर्थ किसी ने जड़ कर के यह अर्थ किया है कि जवासे की डाल और पत्तियाँ तो जल जाती हैं, पर उसकी जड़ जम, अर्थात् पुष्ट हो, जाती है । इस अर्थ में एक ही वृक्ष के एक अंग का जलना और दूसरे अंग का जमना सिद्ध होता है । पर देह और नेह में वह संबंध नहीं है, अतः यह अर्थ असंगत है । किसी ने, 'जौ' का अर्थ यव मान कर, इस दोहे पर काल-विरुद्ध दूषण का आरोप किया है, क्योंकि जवासा आषाढ़ में जलता है, और यव कार्तिक में जमता । बिहारी को यव के जमने का काल न ज्ञात रहा होगा, यह मान लेना युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता । अतः 'जौ' का अर्थ जवा अर्थात् जवाकुसुम अथवा जपाकुसुम ही करना संगत है । जपाकुसुम का रंग भी लाल होता है, अतः स्नेह ( अनुराग ) के डहडहे होने का दृष्टांत जपा वृक्ष के लहलहाने से देना परम समीचीन है । यद्यपि जपाकुसुम पानी इत्यादि देते रहने से और ऋतुओं में भी कुछ कुछ फूलवा रहता है, पर इसका वृक्ष स्वभावतः आषाढ़ का मेह बरसने पर ही हराभरा हो कर विशेष रूप से फूलता है, और उसके नए पौधे भी विशेषतः उसी समय जमते हैं ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका विरह से अत्यंत क्षीण हो रही है, पर उसका स्नेह और भी लहलहा रहा है । उसकी यह दशा सखियाँ आपस में अथवा कोई सखी नायक से कहती है—

**( अर्थ )—विरह ने [ उसकी ] देह सुखा डाली है, [ और उसके ] स्नेह को अत्यंत डहडहा कर दिया है; जैसे मेह बरसने से जवासा जल जाता है, [ और ] जौ ( जवा, जपाकुसुम ) जमता है ( उग आता है, नए कल्लों से संपन्न हो कर फूल उठता है ) ॥**



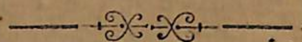
दोहा

**देखी सो न, जु ही फिरति सोनजुही सैं अंग ।**
**दुति-लपटनु[1] पट सेत हूँ करति बनौटी[2] रंग ॥ ३३० ॥**

**बनौटी रंग** = कपासी रंग । बन एक प्रकार के कपास को कहते हैं, जिसका फूल हलका पीला होता है । उसी के फूल के रंग के सदृश रंग को कपासी अथवा बनौटी रंग कहते हैं ॥

( अवतरण )—किसी दूती ने नायक से नायिका की शरीर-कांति की प्रशंसा की थी, और फिर उसे किसी वाटिकादि में भ्रमण करते दिखला भी दिया था । अब वह नायक से कहती है कि अब तो तुमने उसे देख ही लिया, मेरी की हुई प्रशंसा ठीक थी न ?—

**( अर्थ )—[ अब तो तुमने ] वह [ नायिका ] देख न ली, जो सोनजुही के सदृश अंग से कांति की लपटों ( झलकों ) के द्वारा [ अपने ] स्वेत पट को भी बनौटी रंग का करती हुई फिरती थी ॥**



**बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ ।**
**घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥ ३३१ ॥**

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

**( अर्थ )—संपत्ति-रूपी सलिल बढ़ते बढ़ते मन-रूपी कमल बढ़ जाता है । [ किंतु ]**

---

१. लपटत ( ३, ५ ) । २. होत केसरी ( ३, ५ ) ।

फिर वह [ उसके ] घटते घटते घटता नहीं, प्रत्युत समूल ( मूल-सहित ) कुम्हिला जाता है ( नष्ट हो जाता है ) ॥

यौं न चलै, बलि, रावरी चतुराई की चाल।
सनख हियैं खिन-खिन नटत अनख बढ़ावत, लाल ॥ ३३२ ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा खंडिता अधीरा नायिका का वचन नायक से—

( अर्थ )—हे लाल, मैं आपकी बलि गई, यहाँ ( मेरे आगे ) आपकी चतुराई की चाल ( ढंग ) न चलेगी। सनख हृदय से ( नख-क्षत-युत हृदय होने पर भी ) क्षण क्षण पर नटते ( मुकरते ) हुए [ आप मेरी ] अनख ( क्रोध ) बढ़ाते हैं ॥

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक सैं गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात ॥ ३३३ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका के शरीर की दीप्ति की प्रशंसा करती है—

( अर्थ )—[ उसके ] कनक से गात्र में समान दुति वाला सोना दिखलाई नहीं पड़ता ( उसके सुनहले रंग में वैसे ही रंग का सोना छिप जाता है )। [ पर ] हाथ में कर्कश लगते हुए भूषण स्पर्श कर के पहचाने जाते हैं ॥

करतु मलिन आछी छबिहिं, हरतु जु सहजु बिकासु।
अंगरागु अंगनु लगै, ज्यौं आरसी उसाँसु ॥ ३३४ ॥

अंगरागु = मृग-मद, चंदन, केसर इत्यादि से बनाया हुआ सुगंधित लेप विशेष ॥

( अवतरण )—सखी नायिका के शरीर की विमलता की प्रशंसा नायक से करती है—

( अर्थ )—अंगराग [ उसकी ] अच्छी छवि को मलिन कर देता [ तथा उसका ] जो स्वाभाविक विकास ( प्रकाश ) है, [ उसको ] हर लेता ( छिपा लेता ) है; [ उसके ] अंगों में [ वह ऐसा ] लगता है ( प्रतीत होता है ), जैसे आरसी में [ लगा हुआ ] उच्छ्वास [ प्रतीत होता है ] ॥

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाईं देत ॥ ३३५ ॥

मोरचे = लोहे के किसी पदार्थ पर नमी पहुँचने से जो मैल सा जम जाता है, उसे मोरचा कहते हैं। प्राचीन काल में दर्पण लोहे पर जिला कर के बनाया जाता था। अतः उसमें नमी से मोरचा लग जाता था। कभी कभी लोहे इत्यादि के संसर्ग से काच के दर्पण पर भी मोरचा लग जाता है ॥

---

१. राउरी ( ३, ५ )। २. खन-खन ( १, २, ४ )। ३. दीठि ( ५ )। ४. परस ( १, ३, ४, ५ )। ५. सु ( १ )। ६. लगैं ( १ ), लग्यो ( ४, ५ )। ७. उजासु ( १, ३, ५ )।

( अवतरण )—दूती नायिका से शीघ्र अभिसार कराना चाहती है, अतः बड़ी चतुराई से उसको भूषण सजित करने मैं देर लगाने से वारण करती है—

( अर्थ )—[ तू ] कनक के भूषण मत पहन, [ यह वाक्य ] इस हेतु कहने में आता है [ कि तेरे ] शरीर में [ सोने के गहने ] दर्पण के मोरचे से दिखाई देते हैं ( अर्थात् तेरे शरीर की कांति के सन्मुख कनक मलिन जान पड़ता है, अतः कनक के भूषण तेरे शरीर पर ऐसे ज्ञात होते हैं, जैसे दर्पण पर लगे हुए मोरचे ) ॥

जदपि चवाइनु चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन।
तऊ न छाड़त दुहुनु के हँसी रसीले नैन ॥ ३३६ ॥

चवाइनु चीकनी = चवावों से चुपड़ी हुई, भरी हुई ॥ सैन = संज्ञा, इशारा ॥

( अवतरण )—यद्यपि लोग नायक नायिका का प्रेम ताड़ गए हैं, और इस विषय में परस्पर सनकी सटकी किया करते हैं, तथापि सामना होने पर वे दोनों मुसकिरा ही देते हैं। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—यद्यपि चवावों से भरी हुई सैन चारों ओर चलती है, तथापि दोनों के रसीले ( प्रेम-भरे ) नयन [ सामना होने पर ] हँसी ( हँस देने का स्वभाव ) नहीं छोड़ते ॥

अनरस हूँ रसु पाइयतु, रसिक, रसीली-पास।
जैसैं साँठे की कठिन गाँठ्यौ भरी मिठास ॥ ३३७ ॥

साँठे = इसका अर्थ सभी टीकाकारों ने ईख किया है। अवध-प्रांत में साँठा अथवा सैंठा सरकंडे को कहते हैं, पर यह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता। ज्ञात होता है कि यह शब्द शर्कराकांड का विकृत रूप है ॥

( अवतरण )—नायिका ने मान किया था। जब वह मनाने से न मानी, तो नायक उसके यहाँ से चला आया। अब उसकी दूती नायक को समझा कर फिर नायिका के यहाँ लाया चाहती है—

( अर्थ )—हे रसिक, रसीली के पास अनरस ( १. रोष के समय। २. रसहीन स्थान ) में भी रस ( १. आनंद। २. स्वाद ) पाया जाता है, जिस प्रकार साँठे ( ऊख ) की कठिन ( कड़ी ) गाँठ भी मिठास से भरी होती है ॥

गोरी छिगुनी, नखु अरुनु, छला स्यामु छबि देइ।
लहत मुकति रति पलकु यह नैन त्रिबेनी सेइ ॥ ३३८ ॥

छिगुनी = कनिष्ठिका अँगुली ॥ मुकति रति = रति-रूपी मुक्ति, अर्थात् ऐसी प्रीति, जो चित्त को संसार के सब कामों से छुड़ा देती है ॥

( अवतरण )—नायक ने नायिका की कानी अँगुली में नीलम-जटित छल्ला देखा है, सो उसकी शोभा पर आसक्त हो कर स्वगत अथवा नायिका की सखी से कहता है—

१. गाँठे ( २, ४, ५ )।

( अर्थ )—[ उसकी ] गोरी छिगुनी, अरुण नख, [ एवं नीलम का ] श्याम छल्ला [ ये तीनों मिल कर कैसी ] छवि देते हैं ! यह ( इनसे बनी हुई ) त्रिवेणी क्षण मात्र सेवन कर के नयन रति-रूपी मुक्ति प्राप्त करते हैं ( अर्थात् इनको क्षण मात्र देख कर नयन प्रीति में ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि संसार से छुटकारा पा जाते हैं ) ॥

उर मानिक की उरबसी डटत घटतु दृग-दागु।
छलकतु[1] बाहिर भरि मनौ तिय-हियकौ-अनरागु ॥ ३३९ ॥

**दागु** ( दग्ध ) = दाह ॥ **तिय-हियकौ-अनुरागु** = स्त्री-संबंधी हार्दिक अनुराग ॥

( अवतरण )—नायक ने भूषण वसन का विपर्यय कर के अन्य स्त्री के साथ विहार किया था। प्रातःकाल उसने सब वेष तो बदले, पर वह उरबसी उतारना भूल गया, और उसे पहने ही इस नायिका के यहाँ चला आया। सो खंडिता नायिका उसे देख कर कहती है—

( अर्थ )—[ तुम्हारे ] उर पर की मानिक की उरबसी पर [ जिसको मैं पहचानती हूँ ] डटते हुए ( ठहरते हुए ) [ मेरे ] नेत्रों का 'दागु' ( दाह, जो अब तक तुम्हें न देखने के कारण हो रहा था ) घटता है। [ यह ऐसी शोभा देती है ] मानो [ उस ] स्त्री-विषयक [ तुम्हारे ] हृदय का अनुराग, भर कर ( परिपूर्ण हो कर ), बाहर छलक रहा है ॥

'घटतु' का अर्थ यहाँ विपरीत लक्षणा से 'बढ़तु' समझना चाहिए ॥

'तिय-हियकौ-अनुरागु', इस समस्त पद में कुछ विलक्षणता है, और इसी से इस दोहे के अर्थ में कठिनता पड़ती है। वास्तव में 'अनुरागु' शब्द का संबंध 'तिय' शब्द के साथ है। तिय-अनुराग, अर्थात् तिय-विषयक अनुराग, तो सामान्य समास है। पर 'अनुरागु' शब्द का विशेषण 'हियकौ' 'तिय' तथा 'अनुरागु' के बीच में आ गया है, जिससे कुछ विलक्षणता प्रतीत होती है ॥

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति[2]।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन[3]-जोति ॥ ३४० ॥

**सहज** = सामान्य अर्थात् जिसमें फूल, बूटे इत्यादि नहीं बने हैं ॥ **पँचतोरिया** ( पँचतोलिया, अर्थात् पाँच तोले का )—एक प्रकार का बहुत महीन कपड़ा ऐसा हलका बनता है कि उसकी एक पूरी साड़ी तौल में केवल पाँच तोले भर होती है। इसी को पँचतोलिया कहते हैं। उर्दू में इसका नाम आबेरवाँ है ॥ **जलचादर**—धनिकों के किसी किसी उद्यान में किसी ऊँचे स्थान से जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता है। यह जलचादर कहलाता है। किसी किसी जलचादर के पीछे गवाक्ष बना कर उनमें दीपकों की पंक्ति जला दी जाती है। रात्रि के समय जलचादर के पीछे से वह जगमगाती हुई दीपावली बड़ी शोभा देती है। इसी दीपावली को बिहारी ने 'जलचाँदर के दीप' कहा है ॥

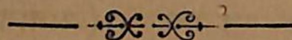
( अवतरण )—सखी नायक से नायिका के शरीर की शोभा का वर्णन कर के रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—सामान्य श्वेत पँचतोलिया [ साड़ी ] पहनने से [ उसकी ] छवि अति

---

१. झलकतु ( २, ३, ५ )। २. दुति ( ४ )। ३. तनु ( ३, ५ )।

( कुछ विशेष ) होती है। जलचादर के [ पीछे रक्खे हुए ] दीपकों की भाँति [ उसके ] तन की ज्योति जगमगाती है ॥

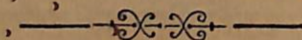


कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिँ बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैँ[1] चढ़ै, अंत[2] नीच कौ नीचु ॥ ३४१ ॥

बीचु = भेद, अदल बदल ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि जिसका जो स्वभाव होता है, वह यत्न करने से भी नहीँ बदलता—

( अर्थ )—कोई कोटि यत्न किया करो, [ पर ] प्रकृति मेँ भेद नहीँ पड़ता। [ देखो, ] नल के बल से [ यद्यपि फुहारे का ] जल उँचाई पर चढ़ता है, [ तथापि ] अंत को नीच का नीच ही [ होता है, अर्थात् फिर नीचे ही गिरता है ] ॥

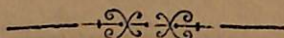


लगत सुभग सीतल किरन, निसि[3]-सुख दिन अवगाहि।
माह ससी-भ्रम सूर-त्यौँ[4] रहति चकोरी चाहि ॥ ३४२ ॥

सुभग = कोमल, सुकुमार, सुंदर ॥ अवगाहि = डूब कर, निमग्न हो कर ॥ माह = माघ मास ॥ त्यौँ ( तत् ) = ओर, दिशि ॥

( अवतरण )—कवि माघ महीने के तीव्रताप-रहित सुखद सूर्य का वर्णन करता है—

( अर्थ )—सुभग [ तथा ] शीतल किरणोँ के लगते हुए ( लगने से ), दिन को रात्रि के सुख मेँ निमग्न हो कर, माघ [ मास ] मेँ, चकोरी चंद्रमा के भ्रम से सूर्य की ओर चाह रहती ( देखा करती ) है ॥



तपन[5]-तेज, तपु-ताप तपि, अतुल तुलाई[6] माँह।
सिसिर[7]-सीतु क्यौँहुँ न कटै[8] बिनु लपटैँ तिय[9] नाँह ॥ ३४३ ॥

तपन = सूर्य ॥ तपु ( तपुस् ) = अग्नि ॥ तपि = तप कर ॥ अतुल = जो तौली न जा सके, अर्थात् बहुत भारी ॥ तुलाई = रज़ाई, सौड़ ॥

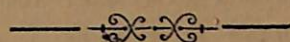
( अवतरण )—मानिनी नायिका से सखी कहती है कि शिशिर ऋतु का शीत विना स्त्री पुरुष के लिपटे किसी प्रकार नहीँ कटता, अतः ऐसी ऋतु मेँ मान करना उचित नहीँ है—

( अर्थ )—शिशिर का शीत, स्त्री पुरुष के लिपटे विना, तपन के तेज [ अथवा ] तपु

---

१. ऊँचौ ( २, ३, ५ )। २. अंति ( १, ५ )। ३. निसि दिन सुख अवगाहि ( २, ४ )। ४. ज्यो ( ४ )। ५. तनत तेज तप ताप ते ( १ ), तपनँ तेज तपि तापि तपि ( २ ), तपन तेज तापन तपति ( ३, ५ ), तपन तेज तपता तपति ( ४ )। ६. तूल ( २ )। ७. ससिर ( २, ३, ५ )। ८. घटै ( २ ), मिटै ( ३, ५ )। ९. उर ( २ ), पिय-बाँहि ( ३, ५ )।

( अग्नि ) के ताप से तप कर, [ अथवा ] बहुत भारी रज़ाई में [ दबकने से ] किसी प्रकार नहीं कटता ॥

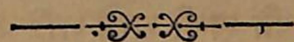


रहि न सकी सब जगत मैं सिसिर-सीत कैं त्रास।
गरम भाजि गढ़वै भई तिय-कुच अचल मवास ॥ ३४४ ॥

**गरम** = गरमी ॥ **गढ़वै** = गढ़वर्तिनी ॥ **मवास** = समरक्षित तथा अभेद्य वासस्थान ॥

( अवतरण )—शिशिर ऋतु के वर्णन मैं किसी शृंगारी पुरुष की उक्ति है—

( अर्थ )—शिशिर के शीत के डर से गरमी सब जगत् में [ और कहीं ] नहीं रह सकी, [ अतः वह ] भाग कर स्त्री के कुच-रूपी अचल मवास ( अभेद्य शरणालय ) में 'गढ़वै' ( गढ़-निवासिनी ) हो गई ( अर्थात् उष्णता अब केवल स्त्रियों के कुचों में मिल सकती है ) ॥

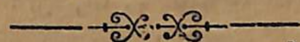


झूठे जानि न संग्रहे मन मुहँ-निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये बातनु कौं बिधि नैन ॥ ३४५ ॥

**झूठे** = यह शब्द संस्कृत शब्द 'जुष्ट' से बना है, जिसके दो अर्थ होते हैं—( १ ) सुखद, मनोरंजक, सुहावन इत्यादि। ( २ ) उच्छिष्ट भोजन। भाषा में यह शब्द 'झूठ' अथवा 'झूट' रूप से मीठे, मनोरंजक किंतु मिथ्या वचन के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और 'झूठ' अथवा 'जूठ' रूप से 'उच्छिष्ट भोजन' के अर्थ में। बिहारी ने यहाँ इन दोनों ही अर्थों में 'झूठे' शब्द का प्रयोग किया है। मुख से निकले हुए, अर्थात् उगले हुए होने के कारण वचनों को झूठा, अर्थात् उच्छिष्ट, कह कर श्लेष-बल से उनका झूठा, अर्थात् मिथ्या, होना भी कह दिया है; क्योंकि मुख से कहे हुए वचन बहुधा मिथ्या भी होते हैं। इस श्लेष से उनका अभिप्राय यह है कि मुख के वचन, जो कि प्रायः मिथ्या होते हैं, उच्छिष्ट भोजन के समान हैं, अतः उनका संग्रह मन ने नहीं किया ॥ **न संग्रहे** = सादर ग्रहण नहीं किए, अर्थात् विश्वास-योग्य नहीं समझे ॥ **बातनु कौं** = ( १ ) वृत्तियों के निमित्त, जीविकाओं के निमित्त। ( २ ) बातों के निमित्त ॥

( अवतरण )—कवि की प्रौढ़ोक्ति है कि संसार में झूठ बोलने का प्रचार अधिक हो गया है। अतः अब मन वचनों की प्रतीति नहीं करता। मन के सच्चे भाव आँखों से प्रकट होते हैं—

( अर्थ )—मुँह से निकले हुए वचन मन ने झूठे ( १. उच्छिष्ट भोजन। २. मिथ्या ) समझ कर संग्रह नहीं किए [ १. उन्हें अपने काम का नहीं समझा। २. उन पर भरोसा नहीं किया )। मानो इसी कारण ब्रह्मा ने [ सच्ची ] 'बातनु' ( १. जीविकाओं। २. बातों ) के निमित्त नयन बनाए हैं ॥



सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास ॥ ३४६ ॥

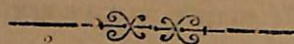
---

१. गई ( ३ )। २. जूठे ( १ )। ३. मानो ( ३, ५ )। ४. विधि बातनु कौं ( ३, ५ )। ५. पिय ( २, ३, ५ )। ६. डीठि ( २, ४, ५ )।

( अवतरण )— नई ब्याह कर आई हुई, रूप-गुण-गर्विता नायिका ने नायक को सुघर सौत के वश में सुन कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की । कारण, उसने सोचा कि यदि नायक को सुघर स्त्री के वश में होने की बान है, तो मैं उसे अवश्य ही अपने वश में कर लूँगी, क्योंकि मुझसे बढ़कर सुंदर तथा सुघर कौन हो सकती है । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम को सुघर सौत के वश में सुन कर दुलहिन ने दूने हुलास ( उमंग ) से [ अपने ] शरीर पर सगर्व ( अभिमान-सहित ), सलज ( लज्जा-युक्त ) [ तथा ] सहास ( मुसकिराहट के साथ ) दृष्टि डाल कर सखी को देखा ॥

'सगरब' से सौंदर्य, 'सलज' से यौवन का ज्ञान तथा 'सहास' से सौत के गुणों का उपहास व्यंजित होता है ॥

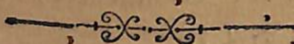


**लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।**
**भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ ३४७ ॥**

सबी ( अरबी शबीह )= यथार्थ चित्र ॥ गरब गरूर = इस युग्म प्रयोग में टीकाकारों ने प्रायः अर्थ-पुनरुक्ति समझ कर कई युक्तियों से उसके परिहार की चेष्टा की है । पर हमारी समझ में उन युक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं । भाषा में एक ही, अथवा कुछ भिन्न, अर्थ वाले दो शब्दों के एक साथ प्रयोग करने की प्रथा बहुत पुरानी है । इस समय भी ऐसे युग्मों का प्रयोग बहुतायत से होता है, जैसे राजा राव, इष्ट मित्र, गाँव गिरावँ, भाई बंधु, हवा बयार, पान पत्ता, जान पहचान, काम काज़ इत्यादि । कभी कभी ऐसे युग्मों में एक शब्द भारती भाषा का तथा दूसरा फ़ारसी अथवा अरबी का होता है, जैसे राज रियासत, धन दौलत, बाजार हाट, गली कूचा, राम रहीम, मर्द निरादर, गए गुज़रे, हरबा हथियार इत्यादि । इसी प्रकार 'गरब' ( गर्व ) भारती तथा 'गरूर' ( गुरूर ) अरबी शब्दों का युग्म इस दोहे में प्रयुक्त किया गया है । इस प्रयोग में न तो पुनरुक्ति दूषण है, और न 'गरूर' शब्द का अर्थ मगरूर ( गुरूर वाला ) करने की कोई आवश्यकता ॥ कूर—भाषा में यह शब्द संस्कृत के दो भिन्न भिन्न शब्दों से बनता है—एक तो क्रूर से, जिसका अर्थ निर्दय होता है, और दूसरे कुट्ट धातु से, जिसका अर्थ कुटी हुई, अर्थात् विदलित, बुद्धि वाला होता है । इस दोहे में 'कूर' का अर्थ है; निदलित अथवा विकृत बुद्धि वाले ॥

( अवतरण )—अंकुरितयौवना नायिका की सखी नायक से उसके क्षण क्षण पर बढ़ते हुए यौवन तथा शरीर-कांति की प्रशंसा यह कह कर करती है कि बड़े बड़े चतुर चितेरे भी इस समय उसका यथार्थ चित्र नहीं बना सकते, क्योंकि उसकी शोभा प्रतिक्षण ऐसी बढ़ती जाती है, कि जब कोई चितेरा उसका चित्र बना कर उससे मिलाता है, तो, इतने ही समय में उसके शरीर में परिवर्तन हो जाने के कारण, वह चित्र उससे नहीं मिलता । अतः उस चितेरे को मूढ़ बनना पड़ता है—

( अर्थ )—[ भला मैं बेचारी उसकी प्रतिक्षण बढ़ती हुई शोभा का वर्णन क्या कर सकती हूँ, ] जिसका यथार्थ चित्र लिखने के निमित्त घमंड [ तथा ] अभिमान से भर भर कर बैठ जगत् के कितने चतुर चितेरे कूर ( मूढ़-मति ) नहीं हुए ( ठहरे ) ॥

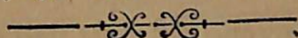


**टुनहाई[1] सब टोल मैं रही जु सौति कहाइ।**
**सु तैं ऐंचि प्यौ[2] आपु-त्यौं[3] करी अदोखिल आइ ॥ ३४८ ॥**

**टुनहाई**=टोना अर्थात् जादू करने वाली ॥ **टोल**=मंडली ॥ **अदोखिल**=निर्दोष, दोष-रहित ॥

( अवतरण )— इधर उधर की बातें सुन कर नायिका को नायक के सौत पर अनुरक्त होने का कुछ संदेह हुआ है, अतः सखी उस संदेह के दूर करने के निमित्त कहती है कि तेरे आने के पहिले तो अवश्य नायक का तेरी सौत के वश मैं होना टोल भर मैं प्रसिद्ध था, जिससे तेरी सौत को सब टुनहाई होने का दोष लगाती थीं। पर जब से तू आई है, तब से तो नायक तेरे रूप गुण से आकर्षित हो कर सौत की बात भी नहीं पूछता, अतः अब उस बेचारी के टुनहाई होने का दोष मिट गया—

( अर्थ )—[ तेरी ] सौत जो सब टोल मैं [ प्रियतम को अपने वश मैं कर रखने के कारण ] टुनहाई कहला रही थी, सो [ उसको ] तूने आ कर, [ और ] प्रियतम को अपनी ओर खींच कर ( अनुरक्त कर के ) दोष-रहित कर दिया ॥

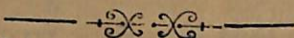


**दृगनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन।**
**ए तेरे सब तैं बिषम ईछन-तीछन बान ॥ ३४९ ॥**

**आन**=अन्य, दूसरे ॥ **ईछन** ( ईक्षण )=दृष्टि ॥

( अवतरण )—नायिका की दृष्टि से घायल हो कर नायक विकल हो रहा है। नायिका से उसकी दशा निवेदित करने के निमित्त सखी यह दोहा, भूमिका-रूप से, पढ़ती है, जिसमैं नायिका पूछे कि मेरे नेत्रों ने किसको घायल किया है, और तब सब वृत्तांत कहने का अवसर प्राप्त हो, क्योंकि किसी के पूछने पर कोई बात कहने से उसका प्रभाव अधिक पड़ता है—

( अर्थ )—ये तेरे कटाक्ष-रूपी तीक्ष्ण बाण सबसे ( और सब बाणों से ) विषम ( विलक्षण, तीव्र ) हैं। [ ये ] लगते तो दृगों मैं हैं, [ पर ] बेधते हृदय को हैं, [ और ] विकल करते हैं अन्य [ सब ] अंगों को ॥



**पीठि दियै हीं, नैंक मुरि, कर घूँघट-पटु टारि।**
**भरि, गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि ॥ ३५० ॥**

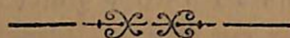
**भरि**=पूर्ण कर के अर्थात् अधभरी मूठ से नहीं, प्रत्युत मूठ को भली भाँति भर कर। भरि का अन्वय इस दोहे मैं कुछ कठिन है। इसमैं मुख्य वाक्य 'गई मूठि सी मारि' है। 'गुलाल की मूठि सौं' वाक्यांश 'मारि गई' क्रिया का क्रिया-विशेषण है, और 'भरि' भी उसी क्रिया का एक स्वतंत्र क्रिया-विशेषण है। इस दोहे के उत्तरार्ध का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए— गुलाल की मूठि सौं मूठि सी मारि गई भरि [ के ] ॥ **मूठि**—तंत्रशास्त्र के अनुसार एक प्रयोग मूठ चलाना अथवा मूठ मारना कहलाता है। इसमैं तिल, यव इत्यादि, मुट्ठी मैं भर कर एवं अभिमंत्रित कर के, जिस व्यक्ति पर प्रयोग करना होता है उसकी ओर, अथवा उसका नाम ले कर, फेंका जाता है। इससे मारण, मोहन इत्यादि प्रयोग होते हैं। जो प्रयोग करना होता

१. हनिहाई ( १, २ ) । २. पिय ( २ ) । ३. तन ( २ ) ।

है, उसी के अनुसार मुट्ठी में पदार्थ लिया जाता है। इस दोहे में 'गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि' कहा गया है, जिससे अनुराग उत्पन्न करने के निमित्त मूठ का चलाना व्यंजित होता है॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक पर जिस भाव से गुलाल की मूठ चलाई है, उसका वर्णन नायक, उसकी सखी अथवा अपने अंतरंग सखा से कर के, उससे मिलाने की युक्ति करने की प्रार्थना करता है—

( अर्थ )—[ वह मेरी ओर ] पीठ दिए ही ( बिना मेरे सन्मुख हुए ही ), किंचिन्मात्र मुड़ कर, [ तथा एक ] हाथ से घूँघट के पट को टाल कर ( कुछ हटा कर ) गुलाल की मूठ से, भर कर, मूठ सी मार गई॥

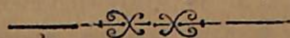


गुनी गुनी सबकैं कहैं निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं अरक-समानु उदोतु॥ ३५१॥

तरु अरक ( तरु अर्क )=तरु-रूप-धारी अर्क अर्थात् मदार का वृक्ष॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि निर्गुणी मनुष्य लोगों के गुणी गुणी कहने से गुणी नहीं हो सकता—

( अर्थ )—सबके गुणी गुणी कहने से निर्गुणी गुणी नहीं हो जाता। [ क्या अर्क कहलाने ही से ] कहीं तरु अर्क ( वृक्ष वाले अर्क अर्थात् मदार ) से अर्क ( सूर्य ) के समान प्रकाश सुना गया है॥

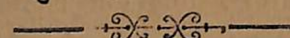


छुटत मुठिनु सँग हीं छुटी लोक-लाज, कुल-चाल।
लगे दुहुनु इक बेर हीं चल चित, नैन गुलाल॥ ३५२॥

( अवतरण )—फाग के खेल में नायक नायिका परस्पर अनुरक्त हो गए हैं। उसी का वर्णन सखियाँ आपस में करती हैं—

( अर्थ )—[ गुलाल-भरी ] मुट्ठियों के छूटने के साथ ही लोक की लज्जा [ तथा ] कुल की रीति छूट गई, [ और ] दोनों को चल चित्त [ तथा ] नेत्रों में एक साथ ही [ दोनों के ] गुलाल लगे॥

चित्त-पक्ष में गुलाल का अर्थ अनुराग होगा॥



ज्यौं ज्यौं पटु झटकति, हठति, हँसति, नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न॥ ३५३॥

हठति=हठ करती है, पारितोषिक लेने के निमित्त अड़ती है॥ फगुवा—फाग के दिनों में, इष्ट मित्र एकत्रित हो कर रंग गुलाल खेलते और फिर बैठ कर नाच-रंग देखते हैं। उस समय नाचने वाली गणिका

१. छुटे ( १, ४, ५ ), छूटै ( ३ )। २. लगै ( ३ )।

सबसे, उनके वस्त्र पकड़ कर तथा अनेक हाव भावों के साथ हठ कर के, पारितोषिक माँगती है। इसी पारितोषिक को 'फगुवा', अर्थात् फाग का उपहार, कहते हैं॥

( अवतरण )—किसी 'वैसिक नायक' का वर्णन कवि करता है कि फगुहारों की मंडली में गणिका के पारितोषिक माँगते समय, यद्यपि फगुआ देने में उसको कृपणता अथवा द्रव्याभाव इत्यादि बाधक नहीं हैं, तथापि उस गणिका के हाव भाव पर वह ऐसा लुभा रहा है कि उससे फगुआ देते नहीं बनता—

( अर्थ )—ज्यों ज्यों [ वह नर्तकी नायक का ] पट झटकती, [ फगुआ लेने के निमित्त ] हठ करती, हँसती, [ और ] नयन नचाती है, त्यों त्यों परम उदार [ नायक ] से भी [ उसके हाव भाव पर लुब्ध होने के कारण ] फगुवा देते नहीं बनता॥

ज्यौं ज्यौं पावक-लपट सी तिय हिय सौं लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही[1] गुलाब सैं[2] छतिया अति सियराति॥ ३५४॥

छुही = लिपी हुई, सिंची हुई॥ सैं = सदृश शब्द से 'सइ' और 'सइ' से 'सैं' बना है। 'सैं' का सानुनासिक उच्चारण भाषा विशेष की विशेषता मात्र है॥ सियराति = ठंढी होती है॥

( अवतरण )—स्त्री-आलिंगन के सुख का अनुभव कोई शृंगारी पुरुष किसी भोग-विरोधी पंचाग्नि-सेवी से, अथवा स्वगत, कहता है—

( अर्थ )—ज्यों ज्यों पावक-लपट ( अग्नि-ज्वाला ) सी ( अग्नि-ज्वाला की सी कांति वाली ) स्त्री हृदय से लिपटती है, त्यों त्यों गुलाब-जल से सिंची हुई सी [ हो कर ] छाती अति शीतल होती है॥

अग्नि-ज्वाला सी स्त्री के लिपटने से छाती का ठंढा होना, यही विलक्षणता है॥

भाल-लालबैंदी-छुऐं छुटे बार छबि देत[3]।
गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर-समेत॥ ३५५॥

आहु ( आहव ) = ललकार, युद्ध के निमित्त किसी को प्रचारना॥

( अवतरण )—नायिका ने स्नान कर के सौभाग्य की चिह्न लाल बैंदी तो लगा ली है; पर बाल अभी गूथे नहीं हैं, जिससे कुछ बाल भाल पर छिटके हुए हैं। उनकी शोभा सखी नायक से वर्णन करती हुई, सूर्य तथा चंद्र दोनों के ग्रहणों का एक साथ होना कह कर, रति-दान के निमित्त परम उपयुक्त समय सूचित करती है—

( अर्थ )—[ उसके ] छुटे हुए बाल भाल [ तथा ] लाल बेंदी को छाए हुए [ ऐसी ] शोभा देते हैं, मानो राहु ने बड़ा आहु ( ललकार अथवा युद्ध ) कर के शशि को सूर्य-समेत पकड़ लिया है ( अर्थात् इस समय चंद्र-ग्रहण तथा सूर्य ग्रहण, दोनों लगे हुए हैं )॥

१. छुही ( २ )। २. सै ( १ ), सी ( २ ), सैं ( ३ ), से ( ४ )। ३. दियैं ( २ ), दिए ( ४ ), दिये ( ३, ५ )।

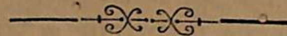
**तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौँह-कमान।**
**चलचित-बेझैँ चुकति नहिँ बंकबिलोकनि-बान॥ ३५६॥**

कित = कहाँ॥ कमनैती = धनुर्विद्या॥ जिहि = ज्या॥ बेझैं = वेध्य पर, लक्ष्य पर॥

( अवतरण )—नायक नायिका की तिरछी चितवन से घायल हो गया है, अतः अवसर पा कर उससे कहता है—

( अर्थ )—हे स्त्री, [ तूने यह विलक्षण ] कमनैती कहाँ पढ़ी ( सीखी ) है [ कि ] भौँह की विना ज्या की कमान [ तथा ] तिरछी चितवन के बाण से चल चित्त के लक्ष्य पर [ तू संधान मैँ ] चूकती नहीँ॥

नायिका की कमनैती मैँ विलक्षणता यह है कि यद्यपि विना ज्या की कमान काम नहीँ देती, पर वह अपनी भौँह की विना ज्या ही की कमान से काम लेती है; तिरछा बाण ठीक लक्ष्य पर नहीँ पहुँचता, पर उसकी तिरछी चितवन ही का बाण पूरा काम कर लेता है; और चंचल लक्ष्य पर निशाना ठीक नहीँ लगता, पर वह संसार भर मैँ सबसे चंचल पदार्थ चित्त को भी बेध लेती है॥



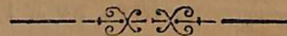
**दुसह दुराज प्रजानु कौँ क्यौँ न बढ़ै दुख-दंदु।**
**अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रबि-चंदु॥ ३५७॥**

दुख-दंदु ( दुःख-द्वंद्व ) = दुःख का झगड़ा अर्थात् दो दुःखोँ का उत्कर्ष॥ मावस = अमावस्या॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि 'दुराज' अर्थात् दुअमली मैँ प्रजा को अधिक दुःख होता है—

( अर्थ )—दुःसह द्विराज्य मैँ प्रजाओँ के निमित्त दुःख का द्वंद्व क्योँ न बढ़े। [ देखो, ] अमावस को सूर्य [ तथा ] चंद्रमा मिल कर ( एक राशि पर अधिकार कर के ) जगत् मैँ अधिक ( और सब तिथियोँ की अपेक्षा विशेष ) अँधेरा ( १. तिमिर। २. अंधेर, अत्याचार ) करते हैँ॥

इस दोहे का अर्थ किसी किसी ने नायिका-भेद मैँ भी लगाया है। पर हमारी समझ मैँ इसे कवि की प्रास्ताविक उक्ति ही मानना समीचीन है॥



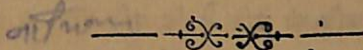
**ललन-चलनु सुनि पलनु मैँ अँसुवा झलके आइ।**
**भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैँ हीँ जमुहाइ॥ ३५८॥**

( अवतरण )—परकीया प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की दशा तथा चातुरी कवि कहता है—

( अर्थ )—नायक का चलना ( विदेश गमन ) सुन कर [ नायिका की ] पलकोँ मैँ आँसू झलक आए ( डबडबा आए )। [ पर उसने ] झूठे ही ( विना जम्हाई आए ही ) जम्हाई ले कर [ ऐसी विदग्धता की कि ] सखियोँ से भी लक्षित न हुई॥

१. कत ( २, ३, ५ )। २. बेझौ ( २ ), बेधत ( ३, ५ )। ३. हूँ ( १, २ )।

जम्हाई आने में बहुधा आँसू निकल आते हैं। अतः नायिका वृथा ही जम्हाई, जिसमें सखियाँ उसके आँसुओं को जृंभाश्रु समझें, और विदेशगमन-प्रस्तुत नायक से उसका प्रेम लक्षित न कर सकें॥

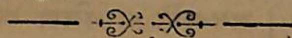


कंचनतन-धन-बरन बर रह्यौ रंगु मिलि रंग।
जानी जाति सुबास हीं केसरि लाई अंग॥ ३५९॥

**कंचनतन** = कंचन से तन वाली॥ **धन** = स्त्री, नायिका॥ **सुबास** ( स्ववास ) = अपनी सुगंध॥

( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायक से नायिका के शरीर की सुनहली गुराई तथा रुचिर सुगंध की प्रशंसा कर के उसके हृदय में रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—[ उस ] कंचन से तन वाली धन ( नायिका ) के श्रेष्ठ वर्ण में [ केसर का ] रंग [ तो ] रंग में मिल रहा ( मिल कर अलक्षित हो गया ) है, [ अतः उसके ] अंग में लगाई गई केसर [उसकी] अपनी सुगंध ही जानी जाती है [ क्योंकि उसके शरीर की सुगंध कुछ केसर से न्यून मोददायिनी तथा आह्लादकारिणी नहीं है। सखी के कहने का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर ऐसा सुनहला तथा सुगंधित है कि उसमें लगाई गई केसर न तो रंग से लक्षित होती है, और न गंध से ]॥

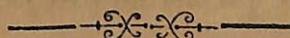


खरैं अदब, इठलाहटी, उर उपजावति त्रासु।
दुसह संक बिस कौ करै जैसैं सौंठि-मिठासु॥ ३६०॥

**अदब** = किसी की मानमर्यादा का सम्यक् संरक्षण॥ **इठलाहटी** = बनावटी गर्व के साथ चेष्टा को अथवा वचन के विकृत व्यवहार को इठलाना कहते हैं। 'इठलाहटी' का अर्थ इठलाने वाली, अर्थात् गर्व-चेष्टा से बर्ताव करने वाली, होता है॥ **सौंठि-मिठासु**—सौंठ के खेतों में कुछ गाँठें विषैली हो जाती हैं। देखने में तो वे सौंठ ही के आकार की होती हैं, परंतु उनमें सौंठ की सी चरपराहट नहीं होती, प्रत्युत एक प्रकार की मिठास होती है, जिससे लोग उनको विष समझ लेते हैं॥

( अवतरण )—नायिका स्वभाव ही से इठलाहटी, अर्थात् इठलाहट से व्यवहार करने वाली प्रकृति की, है। पर आज वह, नायक को सापराध जान कर भी, उसका बड़ा सन्मान करती है। नायक उसका मान लक्षित कर के कहता है—

( अर्थ )—हे इठलाहटी (गर्व-युत व्यवहार करने की प्रकृति वाली), [ आज तू अपने ] खरे अदब ( बड़े आदर के बर्ताव ) से [ मेरे ] उर में त्रास ( मान का डर ) उपजाती है; जैसे [ स्वभाव-सिद्ध कटु ] सौंठ की मिठास विष की दुःसह ( अति कठिन ) शंका [ उत्पन्न ] करती है॥

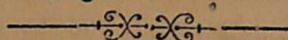


१. धन ( ४ )। २. रागु ( ४ )। ३. सुभाव ( २ )। ४. हूँ ( ३, ४, ५ )। ५. लागी ( २ ), लाये ( ४ )। ६. विष ( २ )।

तौ लगु या मन-सदन मैं हरि आवैं किहिँ बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट॥ ३६१॥

( अवतरण )—कपटी भक्तों से कवि की उक्ति है कि यदि हरि को अपने हृदय में बसाना चाहते हो, तो कपट का परित्याग कर दो—

( अर्थ )—इस मन-रूपी गृह में तब तक हरि ( भगवान् ) किस बाट से आवें, जब तक निपट विकट ( अत्यंत दृढ़ ) जड़े हुए कपट-रूपी किवाँड़ न खुलें॥



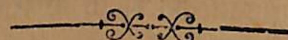
है कपूरमनिमय रही मिलि तन-दुति मुकतालि।
छिन छिन खरी बिचच्छिनौ लखति छ्वाइ तिनु आलि॥ ३६२॥

कपूरमनि ( कर्पूरमणि )—इसका दूसरा नाम संस्कृत में तृणमणि है। फ़ारसी में इसी को 'कहरुबा' ( तृण को आकर्षित करने वाला ) कहते हैं। यह एक प्रकार का पांडुर-वर्ण पत्थर होता है, और हाथ पर घिसे जाने पर तिनके को खींचने लगता है, जिस प्रकार चुंबक पत्थर लोहे को खींचता है॥ बिचच्छिनौ = विचक्षण होने पर भी॥ तिनु ( तृण ) = तिनका॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की तन-द्युति की प्रशंसा कर के रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—[ उसकी सुनहरी ] तन-द्युति से मिल कर मुक्तालि ( मोतियों की लड़ी ) कर्पूरमणिमय हो रही है; [ और ऐसा धोखा देती है कि उसकी ] बड़ी विचक्षण ( चतुर ) सखी भी क्षण क्षण पर [ उसमें ] तृण छुआ कर देखती है ( उसकी परीक्षा करती है )॥

क्षण क्षण पर सखी इस कारण देखती है कि मोती ऐसे कर्पूरमणि के सदृश हो गए हैं कि यद्यपि एक आध बार उनके तिनका न खींचने से वह यह मान लेती है कि वे तृणमणि नहीं हैं, तथापि उसको भ्रम हो जाता है कि कदाचित् किसी कारण विशेष से इन्होंने इस बार तिनका नहीं खींचा। अतः वह तृण को बार बार उनमें छुआ कर अपना भ्रम निवारित करती है॥



दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं; दई, नई यह रीति॥ ३६३॥

उरझत = आपस में गुथते हैं, अर्थात् मिलते हैं॥ टूटत कुटुम = कुटुंब के संबंध टूट जाते हैं॥ जुरत = प्रेम से परस्पर संबद्ध हो जाते हैं॥ गाँठि = आँट, ईर्ष्या॥

( अवतरण )—परकीया नायिका अपने हृदय का तर्क वितर्क अपनी अंतरंगिनी सखी से कहती है—

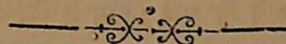
( अर्थ )—प्रीति [ के व्यवहार ] में उलझते [ तो ] दृग हैं, [ पर ] टूटते कुटुंब [ के

---

१. लगि ( ४ )। २. आवहिँ ( १, ४ )। ३. किहि ( १, ४, ५ )। ४. जड़े ( १ )। ५. जौ लौं ( १, २, ४ )। ६. छुटैं ( २ )। ७. बिचिच्छिनौ ( ३, ५ ), बिचच्छिनी ( २ )। ८. जुरति ( १ )। ९. चित की ( ४ )। १०. जियनि ( १ )।

संबंध ] हैं ; [ टूटते तो कुटुंब के संबंध हैं, पर ] जुड़ते ( मिलते ) चतुरों के चित्त हैं ; [ और जुड़ते तो चतुरों के चित्त हैं, पर ] गाँठ दुर्जनों ( चवाइयों ) के हृदयों में पड़ती है। हे दई, यह नई ( विलक्षण ) रीति है ॥

सामान्यतः तो जो वस्तु उलझती है, वही टूटती तथा जोड़ी जाती है, और फिर गाँठ भी उसी मैं पड़ती है, पर प्रीति-व्यवहार मैं विलक्षणता यह है कि उलझती और वस्तु है, टूटती और है, जुड़ती और है, एवं गाँठ और मैं पड़ती है ॥

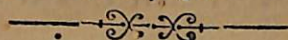


नहिँ नचाइ चितवति दृगनु, नहिँ बोलति मुसकाइ।
ज्यौँ ज्यौँ रूखी रुख करति, त्यौँ त्यौँ चितु चिकनाइ॥ ३६४ ॥

रुख—इस शब्द के अर्थ तथा लिंग के विषय में २४३-संख्यक दोहे की टीका द्रष्टव्य है ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा धीरा नायिका॰नायक को सापराध जान कर उदासीन चेष्टा से अपना मान व्यंजित करती है। शठ नायक उसे प्रसन्न करने के लिये मीठी बातें बनाता है—

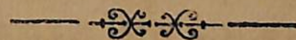
( अर्थ )—[ हे प्यारी, तू आज ] न [ तो ] दृगों को नचा कर ( चंचल कर के ) देखती है, [ और ] न मुसकिरा कर बोलती है। [ तेरी यह चेष्टा मुझे ऐसी सुहावनी लगती है कि ] ज्यों ज्यों [ तू ] रुख ( मुख की चेष्टा ) रूखी ( उदासीन, सरोष ) करती है, त्यों त्यों [ मेरा ] चित्त चिकनाता ( स्निग्ध होता ) है ॥



वैसीयै जानी परति झगा ऊजरे माँह[1]।
मृगनैनी लपटैत[2] जु यँह[3] बेनी उपटी बाँहँ[4] ॥ ३६५ ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ हे लालन, उस ] मृगनयनी के लिपटते॰समय जो यह बेनी ( चोटी ) [ तुम्हारी ] बाँह में उपट आई है ( मुद्रित हो गई है ), [ वह ] श्वेत झगा में वैसी ही ( ज्यों की त्यों ) जान पड़ती है ( प्रकट होती है )। [ अर्थात् तुम किसी स्त्री को अभी अभी आलिंगन कर के आ रहे हो, अभी इतना समय भी नहीं बीता है कि उसकी चोटी की छाप कुछ मिट जाती ] ॥



प्यासे[5] दुपहर जेठ के फिरे[6] सबै जलु सोधि।
मरुँधर[7] पाइ मतीरु हीँ[8] मारू कहत पयोधि ॥ ३६६ ॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति है कि जहाँ जो वस्तु दुर्लभ है, वहाँ यदि वह, किसी रूप में, थोड़ी भी मिल जाय, तो उसको लोग बहुत समझते और उस पर अभिमान करते हैं—

( अर्थ )—जल सोध ( खोज ) कर सब [ अकृतकार्य ] लौटे हुए जेठ के प्यासे मारू

---

१. माँहि ( ३, ५ ) । २. लपटी ( २ ) । ३. हिय ( ३, ४, ५ ) । ४. बाँहि ( ३ ) । ५. विषम तृषादित की तृषा ( १, २ ) । ६. रहे ( १, २ ), थके ( ४ ) । ७. मुर ( २, ३, ४ ) । ८. है ( २ ), हूँ ( ५ ) ।

(मारवाड़ी) दुपहर में (के समय) [संयोग से] मरुधर (मारवाड़) में [कहीं] मतीर (बड़ा तर्बूज़) ही पा कर [उसे] पयोधि (क्षीर-सागर) कहते (मानते) हैं ॥

विषम वृषादित की तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित, अपार, अगाध-जलु मारौ[1] मूँड़[2] पयोधि ॥ ३६७ ॥

(अवतरण)—कवि की उक्ति है कि यदि किसी छोटी वस्तु से काम निकले और बड़ी वस्तु से काम न निकले, तो वह बड़ी वस्तु, चाहे कैसी ही उत्तम हो, व्यर्थ है—

(अर्थ)—वृषराशि के विषम (प्रचंड) सूर्य [के ताप] की प्यास से [मरते हुए मारवाड़ी तो] मतीरों को खोज खोज कर जिए, [फिर] अमित (परिमाण-रहित), अपार, [तथा] अगाध (थाह-रहित) जल वाले पयोधि (क्षीर-सागर) को [ले कर] मूड़ मारो (वृथा मत्थापिट्टन करो) ॥

मूड़ मारना लोकोक्ति है। 'अमुक वस्तु को मूड़ मारो' का अर्थ अमुक वस्तु को वृथा समझो, फैंक दो, इत्यादि होता है ॥

निपट लजीली नवल तिय बहकि बारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यौ देइ ॥ ३६८ ॥

ढीठ्यौ = ढिठाई का भाव ॥

(अवतरण)—नवोढा नायिका को मदिरा पिला दी गई है, जिससे वह अपनापे से बाहर हो कर ढिठाई की बातें तथा चेष्टा करने लगी है। सखी नायक से उसका वृत्तांत कह कर उसे उसके पास लाया चाहती है—

(अर्थ)—[वह] निपट (अत्यंत) लजीली नवीन स्त्री [इस समय] वारुणी का सेवन कर के, बहक (नशे से विवश हो) कर ज्यों ज्यों 'ढीठ्यौ' देती (ढिठाई प्रकट करती) है, त्यों त्यों अति (अधिक) मीठी (प्यारी) लगती है ॥

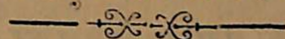
सरँस[3] कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु[4]।
दरसत अति सुकुमारु तनु, परसत मन[5] न पत्यातु[6] ॥ ३६९ ॥

(अवतरण)—अवतीर्णयौवना मुग्धा से मिलने के लिये उत्सुक नायक से, सखी, उसकी रुचि बढ़ाने के निमित्त, कहती है कि आपको उससे मिलने में शीघ्रता न करनी चाहिए। देखिए, भ्रमर भी अत्यंत सुकुमार कुसुम से एकाएक झपट कर लिपट नहीं जाता, प्रत्युत उसका रस अलग ही से, मँडरा कर, लेता है—

(अर्थ)—[देखिए,] रसीले (टटके) कुसुम पर भौंरा मँडराता रहता है, [पर] झुक

१. मारौं (१), मारू (३, ५)। २. मूढ़ (३, ५)। ३. सिरस (४)। ४. लपटाइ (३, ५)। ५. ज्यौं (२)। ६. पत्याइ (३, ५)।

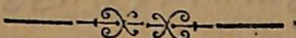
[ तथा ] झपट कर [ उससे एकाएक ] लिपट नहीं जाता, [ उस पुष्प का ] अति सुकुमार तन देखता हुआ [ उसे ] स्पर्श करते ( करने में ) [ अपने ] मन में नहीं पतियाता ( इस बात का विश्वास नहीं करता कि यह मेरे भार को सहन कर सकेगा )॥



निरदय, नेहु नयौ निरखि भयौ जगतु भयभीतु ।
यह न कहूँ अब लौं सुनी, मरि मारियै जु मीतु ॥ ३७० ॥

( अवतरण )—नायिका ने मान किया है, और यद्यपि प्रेमाधिक्य के कारण मिलने के निमित्त वह मन ही मन विकल हो रही है, तथापि मान की मर्यादा रखने के लिये नायक से हँसती बोलती नहीं। उधर नायक भी अत्यंत दुखी हो रहा है। अतः मान छुड़ाने के लिये सखी कहती है—

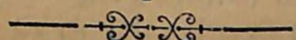
( अर्थ )—हे निर्दय, [ यह ] नया ( नए प्रकार का ) स्नेह देख कर जगत् ( सखी-जगत्, सखी-मंडल ) भय से भीत हो रहा है। यह [ बात ] अब तक कहीं नहीं सुनी गई है कि [ स्वयं ] मर कर ( दुखित हो कर ) मित्र को मारा जाय ( दुःख दिया जाय )॥



भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ ; भज्यौ न एकौ बार ।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार[1] ॥ ३७१ ॥

( अवतरण )—कोई सज्जन भक्त अपने मन को धिक्कारता है—

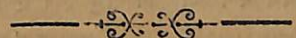
( अर्थ )—अरे गँवार, [ वेद-शास्त्रों ने जिसको ] भजने को कहा ( बतलाया ), उससे [ तो तू ] भागा, [ और उसको तूने ] एक बार भी नहीं भजा ( स्मरण किया ); [ पर ] जिससे ( जिस विषय-भोग से ) दूर भागने को कहा, उसको तूने भजा (भोग किया) [ फिर भला तेरा निस्तार क्योंकर संभव है ]॥



नैन लगे तिहिँ लगनि[2] जु, न छुटैँ छुटैँ हूँ प्रान ।
काम न आवत[3] एक हूँ तेरे सौंक[4] सयान ॥ ३७२ ॥

( अवतरण )—परकीया पूर्वानुरागिनी नायिका शिक्षा देती हुई सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ मेरे ] नयन जो उसकी लगन ( दर्शन की लालसा ) से लगे हैं, [ सो अब ] प्राण छूटने पर भी नहीं छूट सकते। तेरे 'सौंक सयान' ( सैकड़ों चतुराई-भरी शिक्षाएँ ) एक भी ( कुछ भी ) काम नहीं आते ( उपयोगी नहीं होते )॥



उड़ति गुड़ी लखि ललन[5] की अँगना अँगना[6] माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥ ३७३ ॥

**गुड़ी** = गुड्डी, पतंग ॥ **अँगना** ( अंगना ) = स्त्री ॥ **अँगना** = आँगन ॥

---

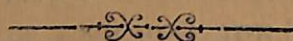
१. गमार ( १ )। २. गैल ( २ )। ३. आए ( ? )। ४. सोक ( ३, ४, ५ )। ५. लाल ( ४ )। ६. आँगन ( १, २, ४ ), अंगन ( ३ )।

( अवतरण )—नायक ने गुड्डी उड़ाई है, जिसकी छाया नायिका के आँगन मैं पड़ी है। उसके स्पर्श मैं नायक के स्पर्श का ही सुख मान कर नायिका जहाँ जहाँ वह जाती है, वहाँ वहाँ दौड़ कर पहुँचती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देखो, ] लाल की गुड्डी उड़ती देख कर [ यह ] अंगना [ उसकी ] छबीली परछाँही छूती हुई [ अपने ] आँगन मैं बावली सी दौड़ी फिरती है॥

'बौरी लौं' इसलिए कहा कि अनजान लोग उसका दौड़ना बिना किसी उद्देश्य ही के समझते हैं॥

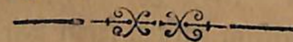
'छबीली छाँह' इस अभिप्राय से कहा कि नायिका को वह परछाँही, प्रेमाधिक्य के कारण, बड़ी मनोहर लगती है॥



ऊँचैं चितै सराहियतु गिरह कबूतरु लेतु[1]।
झलकित[3] दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु[4]॥ ३७४॥

( अवतरण )—नायक अपनी अटारी पर खड़ा गिरहबाज़ कबूतर उड़ा रहा है। नायिका नीचे से उसको देखती है, जिससे उसे सात्त्विक भाव उत्पन्न होता है। इतने ही मैं सखी को अपनी ओर देखते देख कर वह, नायक के प्रति अपना अनुराग छिपाने के निमित्त, दृष्टि को और ऊँची कर के कलाबाज़ी खाते हुए कबूतर की प्रशंसा करने लगती है, जिसमैं सखी जाने कि वह, ऊपर की ओर मुँह किए, कबूतर ही को देख रही है। पर चतुर सखी सात्त्विक से उसका अनुराग लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—ऊपर की ओर देख कर सराहा [ तो ] गिरह लेता हुआ ( कलाबाज़ी खाता हुआ ) कबूतर जाता है, [ पर यह तो बतला कि तेरे ] दृग झलकित ( प्रसन्नता की झलक से युक्त ), मुख मुलकित ( भावविशेष-सूचक मुसकिराहट से युक्त ) [ तथा ] तन ( शरीर ) पुलकित ( रोमांचित ) किस हेतु हैं ( हो रहे हैं ) [ अर्थात् तेरी चेष्टाओं से तो वास्तव मैं तेरा अटारी पर खड़े हुए नायक को देखना और तद्विषयक अनुराग लक्षित होता है; तू वृथा क्यों छिपाती है ]॥



लागत कुटिल कटाच्छ-सर क्यौं न होहिं बेहाल।
कढ़त[5] जि हियहिं दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल॥ ३७५॥

जि—यह शब्द 'जो' के बहुवचन रूप 'जे' का लघु रूप है॥ दुसाल = दो टुकड़े, दोनों ओर छिद्र वाला, आरपार। इसी शब्द का 'दुसार' रूप ४४३वें दोहे मैं प्रयुक्त हुआ है॥ नटसाल ( नष्ट शल्य ) = बाण का वह भाग, जो टूट कर शरीर के भीतर रह जाता और पीड़ा दिया करता है॥

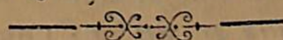
( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायिका से, उसके नेत्रों की प्रशंसा करती हुई, नायक की व्यवस्था विदित करती है—

---

१. चढ़ैं ( २ )। २. लेत ( १, २, ३, ५ )। ३. झलकि दृगनि ( २ )। ४. हेत ( २, ३, ५ )। ५. कढ़त जु हियैं ( २ ), काढ़त जियहिं ( ३, ५ ), काढ़त हियो ( ४ )।

( अर्थ )—[ तेरे उन ] कुटिल ( वक्र ) कटाक्ष-रूपी बाणों के लगते [ ही नायक ] क्यों न बेहाल ( चेतना-रहित ) हों, जो [ ऐसे विलक्षण हैं कि यद्यपि ] हृदय को 'दुसाल' ( दो टुकड़े, आरपार ) कर के कढ़ जाते हैं ( पार निकल जाते हैं ), तो भी [ उनके पीड़ा पहुँचा कर विह्वल करने वाले ] नष्ट शल्य रह जाते हैं ॥

कटाक्षों में बाणों की अपेक्षा यह विलक्षणता है कि टेढ़े बाण लक्ष्य के पार नहीं जाते, उसमें अटक रहते हैं, पर वक्र कटाक्ष हृदय के पार हो जाते हैं, और बाण जब शरीर में लग कर पार हो जाते हैं, तो उनके शल्य नहीं रहते, परंतु कटाक्ष पार हो जाने पर भी हृदय में खटका करते हैं ॥

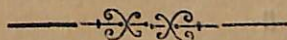


जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जग आघु अपारु ।
रहै गुनी ह्वै गर-पर्यौ, भलैं न मुकता-हारु ॥ ३७६ ॥

आघु = आदर, सन्मान, मूल्य ॥ गर-पर्यौ = गले पड़ा हुआ, अर्थात् विना चाहना तथा आदर के ॥

( अवतरण )—किसी सर्वांग-श्रेष्ठ मनुष्य के अनादर-पूर्वक भी किसी स्थान पर रहने के विषय में, मुक्ता-हार पर अन्योक्ति कर के, कोई किसी से उक्त मनुष्य को सुना कर कहता है—

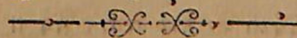
( अर्थ )—[ देखो, इसका ] जन्म [ तो ] जलधि ( समुद्र ) से है [ अर्थात् यह बड़े कुल का है ], पानिप ( १. शोभा, चमक । २. आबरू ) विमल ( १. निर्मल । २. विना धब्बा लगा हुआ ) है, [ तथा ] जग में आघ ( १. मोल । २. आदर ) [ भी ] अपार हुआ, [पर] गुणी ( १. डोरा वाला अर्थात् डोरे में गुथा हुआ । २. गुण वाला ) हो कर मुक्ता-हार [ जो ] गले पड़ा ( १. गले में पड़ा हुआ । २. निरादर-पूर्वक ) रहता है, [ सो ] 'भलैं न' ( भले प्रकार का रहना नहीं है ) ॥



गहै न नैकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै संसारु ।
कुच-उचपद-लालच रहै गरैं परैं हूँ हारु ॥ ३७७ ॥

( अवतरण )—यह दोहा अपने पूर्व के दोहे का उत्तर-स्वरूप है । जिस व्यक्ति से पहिला दोहा कहा गया है, वह उस निरादर सह कर रहने वाले मनुष्य को लालची ठहराता हुआ तथा उसको सुना कर, उसी मुक्ता-हार पर अन्योक्ति कर के, उत्तर देता है—

( अर्थ )—[ यह ] हार [ जो ] गले पड़ने पर भी रहता है, [ सो ] कुच-रूपी उच्च पद के लालच से । [ इसी लालच के कारण यह ] नैक भी [ अपने ] गुण का गर्व नहीं गहता ( करता ), [ इस पर हम तुम क्या ] सारा संसार [ हँसे, तो ] हँसो ॥



तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि ।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि ॥ ३७८ ॥

तच्यौ = संतप्त हुआ हुआ, अर्थात् संतप्त हो कर ॥ रह्यौ प्रेम-रस भीजि = प्रेम-रूपी रस में भीग

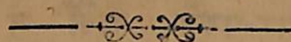
१. हँसै ( १, ४ ) ।

रहा हुआ अर्थात् पहिले से भीगा हुआ। यह वाक्यांश 'हियौ' शब्द का विशेषण है॥ **पसीजि पसीजि** = उष्णता के कारण प्रस्वेदित हो हो कर॥

( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायक से नायिका के अश्रु-पात की व्यवस्था निवेदित करती है—

( अर्थ )—प्रेम-रूपी रस में भीग रहा हुआ, [ और ] अब विरहाग्नि से संतप्त हुआ हुआ [ उसका ] हृदय पसीज पसीज कर आँखों के मार्ग से पानी ( अर्क़ ) बहता है॥

जब किसी पदार्थ का अर्क़ खींचना होता है, तो पहिले उसे जल में भली भाँति भिगो देते हैं, और फिर नलिकायंत्र में भर कर अग्नि पर चढ़ा देते हैं। तब उस पदार्थ का पसेव, पानी के रूप में, नलिकाओं के मार्ग से टपकने लगता है। यही व्यापार इस दोहे में स्फुरित है॥

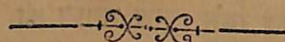


**छला परोसिनि हाथ तैं, छलु करि, लियौ, पिछानि।**
**पियहिं दिखायौ लखि बिलखि, रिस-सूचक मुसकानि॥ ३७९॥**

( अवतरण )—नायिका ने अपने पति का छल्ला, पड़ोसिन को पहिने देख कर, किसी छल से उससे ले लिया, और पति को रिस-सूचक मुसकिराहट के साथ दिखलाया। यही वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ अपने प्रियतम का ] छल्ला पहचान कर [ नायिका ने उसे कोई ] छल कर के पड़ोसिन के हाथ से ले लिया, [ और ] बिलख ( दुखी हो ) कर रोष प्रकट करने वाली मुसकिराहट से ( के साथ ) [ उसे ] देख कर प्रियतम को दिखाया ( प्रियतम का ध्यान उस ओर आकर्षित किया )॥

इस दोहे में बड़ी अच्छी स्वभावोक्ति है। मनुष्य की यह प्रकृति है कि जब वह किसी को कोई वस्तु देखते देखता है, तो स्वयं भी उसको देखने लगता है। अतः नायिका ने, बिना कुछ कहे सुने, उस छल्ले को 'रिस-सूचक मुसकानि' के साथ देख कर, बड़ी चातुरी से, नायक का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया॥



**हठि, हितु करि प्रीतम-लियौ, कियौ जु सौति सिँगारु।**
**अपनैं कर मोतिनु गुह्यौ, भयौ हरा हर-हारु॥ ३८०॥**

**प्रीतम-लियौ** = प्रियतम से लिया हुआ। इस पद में पंचमी तत्पुरुष समास है, और यह 'हार' शब्द का विशेषण है॥ **हर-हारु** = महादेवजी का हार अर्थात् सर्प॥

( अवतरण )—नायिका ने अपने हाथ से गूथ कर मोतियों का एक बड़ा सुंदर हार नायक को पहनाया था। नायक उसे पहने हुए अन्य स्त्री के यहाँ गया। उसने उसे अति मनोहर देख कर नायक से माँगा। पहिले तो नायक, यह विचार कर कि इस हार को कहीं वह नायिका इसके गले में देख लेगी तो कलह होगा, देने में हिचकिचाया। पर फिर उसके हठ करने पर उसने उसे दे दिया। उस स्त्री ने जब उससे अपना शृंगार किया, तो नायिका की दृष्टि कहीं उस पर पड़ ही तो

गई। बस, फिर उसको सौत के गले में पड़ा हुआ अपने ही हाथ का गूथा हुआ वह हार हर-हार हो गया, अर्थात् सर्प सा भयानक लगने लगा। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—हठ कर के [ तथा ] हित ( प्रेम ) कर के प्रियतम से लिया हुआ हार, जिसको ( जिससे ) सौत ने [ अपना ] शृंगार किया, [ वही ] अपने हाथ से मोतियों से गूथा हुआ [ हार नायिका को ] हर-हार ( सर्प ) हो गया ( अत्यंत भयानक लगने लगा )॥

बसै बुराई जासु तन, ताहीं कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु॥ ३८१॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि जिससे बुराई, अर्थात् हानि, पहुँचने की आशंका होती है, उसी का संसार में आदर होता है, पर सीधे, साधु-स्वभाव सज्जनों को कोई नहीं पूछता—

( अर्थ )—जिसके तन में बुराई बसती है, उसी का [ इस बुरे संसार में ] सन्मान होता है। [ देखो, ] भला [ ग्रह ] तो भला कह कर ( समझ कर ) छोड़ दिया जाता है, [ पर ] खोटे ग्रह [ के आने ] में जप, दान [ इत्यादि होते हैं ]॥

वै ठाढ़े, उमदाहु उत ; जल न बुझै बड़वागि।
जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताही कैं हियैं लागि॥ ३८२॥

उमदाहु—उमदाना उमंग से किसी ओर झुकने को कहते हैं। १७९-संख्यक दोहे में भी यह शब्द ऐसे ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है॥ बड़वागि ( बाड़वाग्नि )=समुद्र के भीतर की अग्नि॥

( अवतरण )—नायक सामने खड़ा है। नायिका उसे देख कर इठलाती तथा सखी से लिपटती झपटती है, जिससे सखी उसका नायक पर अनुराग लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—वे ( नायक ) [ तो वह ] खड़े हैं [ और तू मुझसे इठलाती तथा मेरी ओर उमगती है, सो यह व्यर्थ है ]। उसी ओर उमंग से झुक। जिससे [ तेरा ] हृदय लगा है, उसी के हृदय से लग। [ देख, ] जल से बाड़वाग्नि नहीं बुझती [ क्योंकि जल में तो वह रहती ही है। तात्पर्य यह कि मुझसे लिपटने से तेरी कामाग्नि नहीं बुझ सकती। वह तो मुझसे अलग हो कर उसी से शांत हो सकती है, जिस पर तेरा हृदय लगा है ]॥

ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट मैं मानु॥ ३८३॥

ढीठि ( धृष्ट )—पड़ोसिन को ढीठ इसलिए कहा है कि वह ऐसी निडर है कि स्वयं नायिका ही

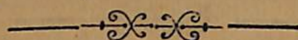
१. सबै ( १, ४ )। २. जास ( ३, ५ )। ३. तन ( ४ )। ४. उमदाउ ( १ ), उमदात ( २, ४ )। ५. ही ( ३, ५ )।

से अपने इष्ट का साधन कराना चाहती है ॥ ढीठि—इस शब्द के विषय में २८-संख्यक दोहे की टीका द्रष्टव्य है ॥ सयानु = सयानपन, चातुर्य ॥

( अवतरण )—नायिका अन्यसंभोग-दुःखिता है । नायक की गुप्त प्रीति पड़ोसिन से थी । एक दिन जब नायक घर पर नहीं था, तब उस पड़ोसिन ने आ कर, और नायिका की बड़ी इष्ट बन कर, उससे नायक से कहने को कुछ सँदेसे कहे । वे सँदेसे कुछ इस प्रकार के थे कि 'आज मेरे घर मैं कोई है नहीं, अतः तुम अपने पति से कह देना कि कृपा कर के मेरा अमुक कार्य कर दें', इत्यादि । इन सँदेसों से नायिका ताड़ गई कि इससे और मेरे पति से प्रीति है, अतः यह अवसर पा कर उनको सूने घर मैं बुलाया चाहती है । जब नायक आया, तो नायिका ने वे सब सँदेसे, जो ढीठ पड़ोसिन ने इष्ट बन कर बड़ी चातुरी से कहे थे, कह कर और मुसकिराहट-द्वारा यह व्यंजित कर के कि मैं सब भीतरी बात समझ गई हूँ, अपना मान सूचित किया । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—ढीठ पड़ोसिन ने इष्ट हो ( बन ) कर जो [ सँदेसे ] सयानपन गहे ( धारण किए ) हुए [ नायक से कहने को नायिका से ] कहे थे, [ सो ] सभी सँदेसे [ नायिका ने नायक से ] कह कर मुसकिराहट में ( मुसकिराहट-द्वारा ) [ अपना ] मान कहा ( प्रकट किया ) ॥

इस दोहे के अर्थ मैं टीकाकारों ने बड़ा धोखा खाया है ॥

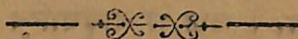


**छिनकु चलति, ठठुकति छिनकु, भुज प्रीतम-गल डारि ।**
**चढ़ी अटा देखति घटा बिज्जु-छटा सी नारि ॥ ३८४ ॥**

ठठुकति = ठमकती है ॥ छटा = द्युति की लपक ॥

( अवतरण )—नायिका, नायक के साथ अटारी पर घूम घूम कर, नए उठे हुए बादलों का तमाशा देख रही है । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देखो, वह ] बिजली की छटा सी स्त्री अटारी पर चढ़ी हुई [ कैसे आनंद से ] घटा देख रही है । प्रियतम के गले में बाँह डाल कर क्षण भर ( कभी तो ) चलती ( टहलती ) है, [ और ] क्षण भर ( कभी ) ठिठक जाती है ( ठहर जाती है ) ॥



**धनि यह द्वैज; जहाँ लख्यौ, तज्यौ दृगनु दुख-दंदु ।**
**तुम भागनु पूरब उयौ अहो ! अपूरबु चंदु ॥ ३८५ ॥**

दुख-दंदु = दुःख का ताप ॥

( अवतरण )—कोई परकीया पूर्वानुरागिनी नायक को देखे बिना संतप्त हो रही है । दिन शुक्ल पक्ष की द्वितीया का है । उसकी अंतरंगिनी सखी चंद्रमा देखने के निमित्त अटारी पर चढ़ी, तो उसने नायक को अपनी अटा पर खड़ा देखा । नायक का घर नायिका के घर से पूर्व दिशा मैं है । सखी नीचे आ कर नायिका से कहती है—

( अर्थ )—यह ( आज की ) द्वैज धन्य है ( अन्य द्वैजों की अपेक्षा श्लाघनीय है ) । [ कारण, आज ] तुम्हारे भाग्यों से अहो ! पूर्व में अपूर्व चंद्रमा उदय हुआ है [ तुरत छत

पर चढ़ कर देख ]। जहाँ [ तूने उसे ] देखा ( जैसे ही तू उसे देखेगी ), [ वहाँ तेरे ] दृगों ने [ सब ] दुःख का ताप तजा ( वैसे ही तेरी आँखें सब विरह का ताप छोड़ देंगी ) ॥

जो नायक का मुखचंद्र सखी नायिका को दिखाया चाहती है, उसमें अपूर्वताएँ ये हैं—प्रथम तो द्वितीया का चंद्रमा केवल दो कला का होता है, पर वह पूर्ण है ; दूसरे, द्वितीया के चंद्र का दर्शन पश्चिम दिशा में होता है, पर वह पूर्व दिशा में है ; और तीसरे, चंद्र-दर्शन से विरहिणी का संताप बढ़ता है, पर उसके दर्शन से ताप का शमन होगा ॥

---

लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ ॥ ३८६ ॥

लंगरु=ढीठ ॥ छैलु=चतुर ॥

( अवतरण )—क्रियाचतुर नायक की चातुरी का वर्णन परकीया नायिका अपनी अंतरंगिनी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ मेरी गोद से ] लड़का लेने के ब्याज से [ वह ] लंगर मेरे पास आ कर अचानक [ मेरी ] छाती में छैल अँगुली छुआ गया ॥

---

ढीठ्यौ दै बोलति, हँसति पोढ़-बिलास अपोढ़।
त्यौं त्यौं चलत न पिय-नयन छकए छकी नवोढ़ ॥ ३८७ ॥

( अवतरण )—नई ब्याही आई हुई नायिका को मद्य-पान करा कर सखियों ने, अथवा नायक ही ने, ऐसी मतवाली कर दिया है कि, थोड़े वय की होने पर भी, वह प्रौढ़ा की भाँति हँसने बोलने लगी है। उसकी वह शोभा नायक को ऐसी भली लगती है कि उसके नेत्र उस पर से टलते नहीं। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देखो, ज्यों ज्यों ] प्रौढ़ा के से विलास करने वाली [ यह ] 'अपोढ़' ( बिना पकी हुई अवस्था की ) [ नायिका ] ढिठाई कर के हँसती बोलती है, त्यों त्यों [ इस ] मद-छकी नवोढ़ा के द्वारा छकाए गए ( नशे में किए गए अर्थात् छवि देखने की चाह से पूरित किए गए ) प्रियतम के नयन [ इस पर से ] चलते ( टलते ) नहीं ॥

---

रनित[1]भृंग-घंटावली, झरित[3] दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु ॥ ३८८ ॥

रनित=गूँजते हुए ॥ दान=हाथी का मद ॥ मधु=मकरंद, पुष्प-रस ॥

( अवतरण )—कवि वसंत की सुखद वायु का वर्णन करता है—

( अर्थ )—गूँजते हुए भ्रमरों की घंटावली वाला [ एवं ] मकरंद-रूपी झरते हुए मद वाला कुंज-समीर-रूपी कुंजर मंद मंद चला आ रहा है ॥

---

१. छतियाँ ( ३, ५ ) । २. रनित ( ४ ) । ३. झरत ( ३, ५ ) ।

'रनितभृंग-घंटावली' एवं 'झरित दान मधु-नीरु', इन दोनों समस्त पदों में बहुव्रीहि समास है, और ये दोनों 'कुंज-समीरु' के विशेषण हैं ॥

रही रुकी क्यौं हूँ.सु चलि, आधिक राति पधारि।
हरति तापु सब द्यौस कौ उर लगि यारि बयारि ॥ ३८६ ॥

( अवतरण )—कवि ग्रीष्म ऋतु की उस शीतल वायु का वर्णन करता है, जो कि राजपूताने में बहुधा अर्ध रात्रि के समय चलती है, जैसे कि हरिद्वार में संध्या के पश्चात् ठंढी वायु का झोंका चलता है—

( अर्थ १ )—[ दिन भर तथा अर्ध रात्रि तक जो ] रुकी रही, सो प्रेमपात्री-रूपी वायु किसी प्रकार चल कर, आधी रात को पधार कर [ और ] हृदय से लग कर, सब दिवस का ताप हरती है ॥

अथवा इस दोहे को मुकरी मान कर इसका इस प्रकार अर्थ करना चाहिए—

( अर्थ २ )—[ नायक स्वगत कहता है कि दिन भर तथा आधी रात तक जो ] रुकी रही, सो किसी प्रकार चल कर, आधी रात को पधार कर [ और ] हृदय से लग कर सब दिवस का ताप हरती है। [ यह सुन कर उससे कोई प्रश्न करता है कि क्या ] 'यारि' ( प्रेमपात्री )? [ नायक सच्ची बात को छिपाने के लिये उत्तर देता है कि नहीं, ] 'बयारि' ( वायु ) ॥

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ ॥ ३६० ॥

चुवतु—यह अकर्मक क्रिया यहाँ सकर्मक रूप से प्रयुक्त हुई है ॥ बिरमाइ=विराम कर के, विश्राम कर के ॥

( अवतरण )—कवि शीतल, मंद, सुगंध दाक्षिणानिल का, वर्णन, बटोही से रूपक कर के, करता है—

( अर्थ )—मकरंद-कण-रूपी स्वेद ( पसीने की बूँदें ) चुआता हुआ, वृक्ष वृक्ष के नीचे विराम कर के, थका हुआ वायु-रूपी बटोही दक्षिण देश से आ रहा है ॥

मकरंद-कण चुआने से पवन का सुगंधि-गुण, वृक्षों के नीचे ठहरने से शीतलत्व एवं थके हुए होने से मंद गमन व्यंजित होता है ॥

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ ॥ ३६१ ॥

( अवतरण )—भक्त की उक्ति मन से, अथवा गुरु की उक्ति शिष्य से—

१. नहीं (२)। २. चली (१)। ३. तैं चल्यौ (१,२)। ४. चल्यो (४)।

( अर्थ )—माला-रूपी पतवारी को पकड़ कर, [ और ] हरि-नाम को नाव कर के ( बना कर ) संसार-रूपी सागर को तर ( पार कर ) । [ इस भवसागर के तरने का ] और कुछ उपाय नहीं है ॥

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद ।
आवति, नारि नवोढ़ लौं, सुखद बायु गति मंद ॥ ३६२ ॥

( अवतरण )—इस दोहे में कवि नवोढ़ा नायिका की उपमा दे कर शीतल, मंद, सुगंध वायु का वर्णन करता है—

( अर्थ )—पुष्प-पराग-रूपी पट में लिपटी हुई [ एवं ] पसीने अर्थात् मकरंद में सनी हुई सुखद वायु मंद मंद गति से, नवोढ़ा ( नई ब्याही हुई ) स्त्री की भाँति, आ रही है ॥

पुष्प-पराग से सुगंध एवं मकरंद में सनने से शीतलता व्यंजित होती है, और 'गति मंद' तो दोहे में स्पष्ट उक्त ही है ॥

इस दोहे में बिहारी ने 'वायु' शब्द का स्त्रीलिंग-प्रयोग किया है, पर इसके पहले के दोहे में 'बाइ' शब्द को पुल्लिंग माना है । भाषा में वायु शब्द स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग, दोनों ही रीति से प्रयुक्त होता है ॥

ललन, सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि ।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि ॥ ३६३ ॥

सूरन—अवध में इसको काँद कहते हैं । यह मुँह में कनकनाहट उत्पन्न करता है । इसी को सूरन का मुँह में लगना कहते हैं । लवण तथा घृत में भली भाँति पकाने से इसकी कनकनाहट जाती रहती है । पर यदि यह कुछ भी कच्चा रह जाता है, तो फिर मुँह में लगता है । यहाँ नायक की कचाई से उसका परस्त्री के फ़ेर में पड़ जाना अभिप्रेत है, और उसके मुँह लगने से उसका अपने अपराध को धृष्टता-पूर्वक मुकरना कहा गया है । 'तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि' का भावार्थ यह है कि यदि यह कचाई तुममें न होती, तो तुमको क्यों मुँह लगना पड़ता ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

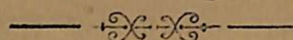
( अर्थ )—हे लालन, [ यद्यपि आप ] सलोने ( १. सुंदर । २. लवणयुक्त ) हैं, और स्नेह ( १. प्रीति । २. चिकनाई अर्थात् तेल अथवा घी ) से भली भाँति पग ( परिपक्व हो० ) रहे हैं, [ तथापि ] तनिक कचाई से ( कचाई के कारण ) मुँह लग कर ( १. धृष्टता-पूर्वक झूठी बातें कह कर । २. मुँह में कनकनाहट उपजा कर ) सूरन की भाँति दुःख देते हैं ॥

न करु, न डरु, सबु जगु कहतु; कत बिनु काज लजात ।
सौंहैं कीजै नैन, जौ साँची सौंहैं खात ॥ ३६४ ॥

१. ज्यौं ( २ ) । २. मुख ( १, ४ ) ।

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—सब जगत् कहता है ( सब जगत् में यह कहावत प्रसिद्ध है ) [ कि ] 'न कर, न डर' ( न अपराध कर, न दंड देने वाले से डर ) । [ अतः यदि आप अपराधी नहीं हैं, तो ] बिना कारण क्यों लज्जित होते हैं ( आँखें नीची किए हुए हैं ) । यदि [ आप अपने निरपराध होने की ] सच्ची शपथ खाते हैं, [ तो अपने ] नयन सामने कीजिए ॥

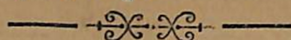


रहिहैं चंचल प्रान ए, कहि, कौन की अगोट[1] ।
ललन चलन की चित धरी, कल न पलनु की ओट ॥ ३६५ ॥

अगोट=प्रतिबंध, रुकावट ॥

( अवतरण )—प्रवत्स्यत्पतिका नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, तू ही ] कह ( बतला ), ये [ मेरे ] चंचल प्राण किसकी अगोट ( रुकावट ) से [ शरीर में ] रहेंगे । ललन ( प्रियतम ) ने [ तो ] चलने ( विदेश-गमन ) की [ बात ] चित्त में धरी ( ठानी ) है, [ और यहाँ उनके ] पलकों की ओट [ होने ही ] पर कल ( चैन ) नहीं [ पड़ती ] ॥

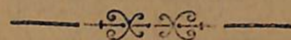


जौ चाहत[2], चटक न घटै, मैलौ होइ न, मित्त[3] ।
रज राजसु न छुवाइ[4] तौ नेह-चीकनौ[5] चित्त[6] ॥ ३६६ ॥

चटक=चटकीलापन, चमकदमक, स्फूर्ति ॥ रज= धूलि ॥ राजसु=रजोगुण अर्थात् गर्व, क्रोध इत्यादि ॥

( अवतरण )—कोई आनुभविक सज्जन किसी को चित्त की चोप तथा उज्ज्वलता स्थिर रखने के उपाय की शिक्षा देता है—

( अर्थ )—हे मित्र, यदि [ तू ] चाहता है [ कि चित्त की ] चटक न घटे [ और वह ] मैला न हो, तो रजोगुण-रूपी रज स्नेह से चिकनाए हुए चित्त में मत छुआ । [ भावार्थ यह है कि जिस प्रकार धूलि तेल लगी हुई वस्तु पर सहज ही में जम कर उसको मैला कर देती है, उसी प्रकार स्निग्ध चित्त पर गर्व इत्यादि रजोगुण का प्रभाव पड़ कर उसको मलिन कर देता है ] ॥



कोरि जतन कीजै, तऊ नागर-नेहु दुरै न ।
कहैं देत चितु चीकनौ नई रुखाई नैन ॥ ३६७ ॥

( अवतरण )—लक्षिता नायिका से सखी का वचन है । नायिका के मन में श्रीकृष्णचंद्र के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है, जिससे उसके भाव रसीले हो गए हैं । उसे छिपाने के लिये उसने अपनी

१. अँगोट ( ३, ५ ) । २. चाहै ( २ ) । ३. मित्त ( ४ ) । ४. छुवाइयै ( २ ) । ५. चीकनी ( १, ३, ५ ) । ६. चित ( ४ ) ।

आँखोँ मेँ रुखाई धारण की है। पर उस बनावटी रुखाई ही से उसका प्रेम लक्षित कर के सखी कहती है—

(अर्थ)—[हे सखी,] करोड़ोँ यत्न [क्योँ न] किए जायँ, पर [उस] नागर का स्नेह [ऐसा विलक्षण है कि] छिप नहीँ सकता। [तेरे] नयन [आज] नई रुखाई से (नई रुखाई धारण करने के कारण) [तेरा] चिकना (स्निग्ध, अनुरक्त) चित्त कहे देते हैँ (बताए देते हैँ)॥

लाल, तुम्हारे रूप की, कहौ, रीति यह कौन।
जासौँ लागत[1] पलकु दृग लागत पलक पलौ न॥ ३६८॥

(अवतरण)—पूर्वानुरागिनी की सखी अथवा दूती नायक से उसका विरह निवेदन करती हुई उसकी अनिद्रा दशा कहती है—

(अर्थ)—हे लाल! [भला] कहो [तो सही], तुम्हारे रूप की यह कौन [विलक्षण] रीति है [कि] जिससे पल मात्र लगते ही [फिर] दृग पलक से पल भर भी नहीँ लगते (छू जाते, अर्थात् पलकेँ खुली ही रहती हैँ, नेत्रोँ पर ढँपतीँ नहीँ)॥

कालबूत दूती बिना जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैँ टारैँ[2] बनै[3] पाकैँ प्रेम[4]-लदाइ॥ ३६६॥

कालबूत—यह फ़ारसी शब्द 'कालबुद' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ वह ढाँचा है, जिस पर कोई वस्तु, आकार शुद्ध करने के निमित्त, चढ़ाई जाती है, जैसे टोपी का कालबूत, जूते का कालबूत इत्यादि। यहाँ कालबूत का अर्थ मट्टी अथवा ईँट इत्यादि का वह ढाँचा है, जो छत अथवा द्वार का कड़ा जोड़ने के समय, सहारे के निमित्त, उसके नीचे दिया जाता है॥ लदाइ (लदाव) = छत अथवा द्वार के कड़े की जुड़ाई, जो कालबूत के सहारे की जाती है॥

(अवतरण)—पहिले जो नायिका ने दूती के द्वारा नायक से प्रेम दृढ़ कर लिया, और फिर उसको छाँटा बतला कर अलग ही अलग मिलने जुलने लगी। उसके इसी व्यवहार पर दूती उसको उलाहना देती है—

(अर्थ)—दूती-रूपी कालबूत के बिना और [किसी] उपाय से [प्रेम-रूप लदाव] नहीँ जुड़ता। [पर] फिर [उस] प्रेम-रूपी लदाव के पक्के (भली भाँति पुष्ट) हो जाने पर उसके (उस दूती के) टारे [ही] बन आता है॥

रह्यौ ऐँचि, अंतु न लहै[5] अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बाढ़तु बिरहु ज्योँ पंचाली कौ चीरु॥ ४००॥

अवधि = सीमा। यहाँ अवधि का अर्थ प्रियतम के आने का निश्चित दिन है॥ दुसासनु (दुःशा-

१. लागे (४)। २. डारैँ (५)। ३. लसै (२)। ४. प्रेमु (१)। ५. लह्यौ (२)।

सन ) = दुर्योधन का छोटा भाई। जब पांडव लोग जुए में द्रौपदी को हार गए, तो कौरवों ने उनके अपमान के निमित्त उसे भरी सभा में नंगी करना चाहा। पर जब दुःशासन उसका चीर खींचने लगा, तो श्रीकृष्णचंद्र के अनुग्रह से वह बढ़ने लगा; यहाँ तक कि चीर के ढेर के ढेरें लग गए, पर उसका अंत न आया॥ **पंचाली** ( पांचाली ) = द्रौपदी॥

( अवतरण )—नायक परदेश गया है, और जाते समय अपने लौटने का कोई दिन नियत कर गया है। प्रोषितपतिका नायिका के दिन, उसके वियोग में, बड़ी कठिनता से कटते हैं। यद्यपि प्रियतम की बदी हुई अवधि उसके विरह के समय को अपनी ओर खींच खींच कर कम करती जाती है, तथापि उसका दुःख प्रतिक्षण ऐसा बढ़ता जाता है कि उसको शेष समय उतना ही अधिक प्रतीत होता है, जितना समस्त अवधि का समय था। यही व्यवस्था नायिका सखी से कहती है—

( अर्थ )—**हे सखी, [ मेरा ] विरह ( विरह-दुःख का समय ) द्रौपदी के चीर के समान बढ़ता [ ही ] जाता है। अवधि रूपी वीर दुःशासन [ उसे ] खींच रहा है, [ पर उसका ] अंत नहीं पाता॥**

**यह[1] बरियाँ[2] नहिँ और की, तूँ करिया वह सोधि।**
**पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिँ कीने[3] पार पयोधि॥ ४०१॥**

**बरिया** ( वार ) = अवसर॥ **करिया**—कर्ण संस्कृत में नाव की पतवारी को कहते हैं। उसी से यह शब्द बना है। इसका अर्थ पतवारी धारण करने वाला होता है॥

( अवतरण )—भक्त की उक्ति मन से अथवा गुरु की उक्ति शिष्य से—

( अर्थ )—**यह अवसर ( भव-सागर तरने का समय, अंत-समय ) और का नहीं है ( अन्य किसी से काम चल जाने के योग्य नहीं है ), [ अतः ] तू वह करिया ( माँझी, केवट ) सोध ( सुधि कर, स्मरण कर ), जिसने [ करोड़ों भालु और कपि ] पाहन ( पाषाण ) की नाव पर चढ़ा कर पयोधि ( समुद्र ) से पार कर दिए॥**

यहाँ 'वह करिया' से श्रीरामचंद्र माने गए हैं, जिन्होंने समुद्र पर पत्थर तैरा कर, भालु कपियों के पार जाने के निमित्त, लंका तक पुल बना दिया था॥

**पावक-झर तैं मेह[4]-झर दाहक दुसह बिसेखि।**
**दहै देह वाकैं[5] परस[6], याहि दृगनु हीँ देखि॥ ४०२॥**

**झर**—पहिले 'झर' शब्द का अर्थ लपट, ज्वाला अथवा दाह है, और दूसरे का लगातार पानी बरसना॥ **बिसेखि** = विशेष समझ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका की उक्ति सखी से—

( अर्थ )—**[ हे सखी, ] पावक की झर ( लपट ) से मेघ की झड़ी को [ तू ] विशेष**

---

१. इहि ( ३, ४ )। २. बिरिया ( ३ ), बेरिया ( ४ )। ३. कीनें ( १, २ )। ४. मेघ ( ३, ५ )। ५. वाकौं ( ३, ५ )। ६. परसि ( ५ )।

दुःसह जलाने वाली समझ, [ क्योंकि ] उसके ( पावक-झर के ) [ तो ] स्पर्श से देह जलती है, [ पर ] इसको ( मेघ की झड़ी को ) आँखों ही से देख कर ॥

चलित ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन मुख तैं न ।[1]
बन-बिहार थाकीतरुनि-खरेथकाए नैन ॥ ४०३ ॥

ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन—ये तीनों 'मुख' के विशेषण हैं ॥ बन-बिहार-थाकीतरुनि-खरेथकाए—यह सब एक समस्त पद है, और 'नैन' शब्द का विशेषण । इसका अर्थ हुआ, वन-विहार में थकी हुई तरुणी के द्वारा भली भाँति थकाए हुए ॥

( अवतरण )—वन-विहार में, श्रम के कारण, नायिका के मुख पर जो लाली तथा पसीने की बूँदें आ गई हैं, वे नायक को ऐसी अच्छी लगती हैं कि उसके नयन उसके मुख पर से टलते नहीं । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—वन-विहार से थकी हुई तरुणी [ की शोभा ] के द्वारा खरे ( भली भाँति ) थकाए हुए ( मोहित किए हुए ) [ नायक के ] नयन ललित ( सुंदर ), श्रम-स्वेदकन-कलित ( परिश्रम से निकले हुए पसीने की बूँदों से मंडित ), [ तथा ] अरुण ( लाल ) मुख से चलित नहीं [ होते ] ॥

'तैं', 'न', ये दोनों शब्द पृथक् पृथक् हैं । यहाँ 'तैं' पंचमी की विभक्ति है ॥

कुढँगु कोपु तजि रँग-रली करतिँ जुवति जगँ, जोइ ।[2][3][4]
पावस, गूढ़ न बात यह, बूढ़नु हूँ रँगु होइ ॥ ४०४ ॥[5]

रँग-रली=आनंद-क्रीड़ा ॥ जोइ=देख ॥ गूढ़=छिपी ॥ बूढ़नु—व्रज में पावस की बुढ़िया अथवा डोकरी इंद्रवधू अर्थात् बीरबहूटी को कहते हैं । केवल 'बूढ़' शब्द भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है । उसी का बहुवचन 'बूढ़नु' हुआ । यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है । इसका एक अर्थ तो बूढ़ों को है, और दूसरा बीरबहूटियों को ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका का मान छुड़ाने के निमित्त सखी कहती है कि पावस ऋतु में तो बूढ़ों को भी अनुराग उत्पन्न होता है, फिर तेरी सी युवतियों को ऐसे समय मान करना सर्वथा अयोग्य ही है, क्योंकि अनुराग के उद्गार के सन्मुख उसका स्थिर रहना असंभव है—

( अर्थ )—यह बात गूढ़ ( छिपी हुई ) नहीं है [ कि ] पावस ( वर्षा ऋतु ) में बूढ़ों ( १. बुड्ढों । २. बीरबहूटियों ) में भी रंग ( १. अनुराग । २. रक्त-वर्ण ) होता है ( उत्पन्न होता है ), [ फिर युवतियों की तो बात ही क्या ] । देख, कुढंगे ( बुरी रीति वाले ) कोप ( रोष, मान ) को छोड़ कर जग में युवतियाँ ( युवा अवस्था वाली स्त्रियाँ ) रँग-रली कर रही हैं, [ अतः तेरा भी ऐसा ही करना उचित है ] ॥

---

१. चलत ( १, २, ५ ) । २. खरैं ( १ ) । ३. करत ( १, ३ ), कर जुवती ( ५ ) । ४. जगु ( १ ) ५. इह ( ३, ५ ) ।

**न जक धरँत[1] हरि हिय धरैँ[2], नाजुक कमला बाल।**
**भजत, भार-भयँ[3]-भीत है, घनु, चंदनु, बनमाल ॥ ४०५ ॥**

**भजत**=भोगते हुए, सेवन करते हुए ॥ **घनु**=घनसार, कपूर ॥

(अवतरण)—सखी नायिका से नायक का विरह-निवेदन बड़ी चातुरी से करती है। कहना तो वह यह चाहती है कि उनको तेरे विरह मैँ वन, चंदन, वनमाल' इत्यादि सुखद नहीँ हैँ, पर उसी बात को वह यह कहकर व्यंजित करती है कि वह घन, चंदन, वनमाल को धारण कर के कल नहीँ पाते, क्योँकि उनको यह आशंका होती है कि उनका भार उनके हृदय मैँ बसी हुई तुझ कमला सी सुकुमारी बाला पर पड़ेगा—

(अर्थ)—हे कमला सी नाजुक (सुकुमारी) बाला! हरि [तुझको] हृदय मैँ धरने के कारण भार-भय-भीत (तुझ पर भार पड़ने के भय से शंकित) हो कर घन, चंदन [तथा] वनमाल धारण करते हुए (अर्थात् धारण कर के) जक (कल, चैन) नहीँ धरते (नहीँ पाते) ॥

---

**नासा मोरि, नचाइ जे[4] करी[5] कका की सौँह।**
**काँटे सी कसकैँ[6] ति हियँ[7] गड़ी[8] कँटीली भौँह ॥ ४०६ ॥**

**कका**—काका अथवा कका पितृव्य को कहते हैँ। कका काका का लघु रूप है। स्त्रियोँ का स्वभाव है कि वे अपनी बात को सच्ची प्रतीति कराने के निमित्त 'काका की सौँह', 'बाबा की सौँह' इत्यादि वाक्योँ का प्रयोग करती हैँ ॥ **ति** (ते)=वे ॥ **कँटीली**=कंटकित अर्थात् सात्त्विक के कारण खड़े हो गए बालोँ वाली ॥

(अवतरण)—नायक ने नायिका को कहीँ शून्य स्थान मैँ पा कर उससे कुछ छेड़-छाड़ की थी, जिस पर नायिका ने नाक चढ़ा कर और भौँहोँ को नचा कर कहा था 'कि काका की सौँह, मुझको यह छेड़-छाड़ अच्छी नहीँ लगती' इत्यादि। ऊपर से तो उसने यह कहा, पर वास्तव मैँ उसका हृदय भी नायक पर अनुरक्त हो गया था, जिससे सात्त्विक के कारण उसकी भौँहैँ कंटकित हो गई थीँ। इस बात को नायक ने भाँप लिया। एक तो वह नायिका उसके हृदय को भा ही गई थी, दूसरे उसका अनुराग विदित होने से नायक उस पर और भी लुभा गया, और अब उसका वियोग उसको साल रहा है। यही वृत्तांत वह उसकी सखी अथवा किसी दूती से कह कर नायिका को अपने से मिलाने की प्रार्थना करता है—

(अर्थ)—[उसने मेरे छेड़ने पर] नाक को मोड़ (चढ़ा) कर, [और] जिन [भौँहोँ] को नचा कर काका की सौँह (शपथ) की [कि तुम्हारी यह ढिठाई मुझे अच्छी नहीँ लगती, इत्यादि], वे कँटीली (कंटकित) भौँहैँ मेरे हृदय मैँ गड़ी [हुई] काँटे सी कसकती (खटकती, पीड़ा देती) हैँ ॥

इस दोहे के पाठ मैँ हमारी पाँचोँ प्राचीन पुस्तकोँ मैँ ऐसा अंतर है कि अर्थ मैँ बहुत अंतर

---

१. धरति (३, ५) । २. धरत (२) । ३. भै (१) । ४. कै (२, ३, ५), दग (४) । ५. करति (२) । ६. कसकति (२, ३, ४, ५) । ७. हियैँ (२, ३, ४, ५) । ८. गड़ै (२) ।

पड़ता है। हमने यहाँ पहिली पुस्तक का पाठ ज्यों का त्यों रख दिया है, और पाठांतर पाद-टिप्पणी मैं दे दिए हैं। यह पाठ विशेष संबद्ध ज्ञात होता है ॥

क्यौं बसियै, क्यौं निबहियै, नीति नेह-पुर नाँहि[1]।
लगालगी लोइन करैं, नाहक मन बँधि जाँहि[2] ॥ ४०७ ॥

**लगालगी**—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसका पहिला अर्थ देखा-देखी, लगावट, घूराघूरी है, और दूसरा अर्थ लाग, दाँज, चोरों का उपद्रव ॥ **बँधि जाँहि** = बँध जाते हैं। यह क्रिया भी यहाँ श्लिष्ट है। मन विषय के पक्ष में इसका अर्थ होगा अनुरक्त हो जाते हैं, और मन में अनुक्तविषया अन्य नगर-निवासी के पक्ष में बाँध लिए जाते हैं, अर्थात् दंड के निमित्त बंधन में पड़ते हैं ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग में नायिका अथवा नायक का वचन सखी अथवा सखा से—

( अर्थ )—नेह ( स्नेह )-रूपी पुर में नीति ( न्याय-पूर्वक शासन ) नहीं है। [ यहाँ ] कैसे बसा जाय, [ तथा ] कैसे निर्वाह किया जाय। [ यहाँ की अनीति तो देखो कि ] लगालगी [ तो ] लोचन [ रूपी चोर ] करते हैं, [ और ] नाहक ( बिना अपराध ही के ) बँध मन [ रूपी अन्य भलेमानुस ] जाते हैं ॥

अन्याय यह है कि जो लोचन-रूपी चोर लगालगी करते हैं, वे तो नहीं बाँधे जाते, बाँधे जाते हैं मन-रूपी निरपराध भलेमानुस ॥

ललन-चलनु सुनि चुपु[3] रही, बोली आपु न ईठि।
राख्यौ गहि गाढ़ैं गरैं[4] मनौ गलगली डीठि ॥ ४०८ ॥

**ईठि** = इष्ट कर के, प्रेम-पूर्वक ॥ **गाढ़ैं** = गाढ़ता से, सर्वथा, भली भाँति ॥ **गरैं** = गले में, अर्थात् गले के स्थान में ॥ **गलगली** = आँसुओं से भीगी हुई ॥

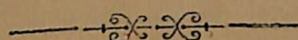
( अवतरण )—नायक ने नायिका से अपने परदेश चलने का समाचार कहा। कहते समय नायक की आँखें प्रेम से डबडबा आईं। यह देख कर प्रवत्स्यत्पतिका नायिका ने उसका चलना सुन तो लिया, पर स्वयं वह कुछ प्रेम-पूर्वक न बोली; क्योंकि उसने सोचा कि एक तो नायक को आप ही परदेश-गमन का दुःख ऐसा व्याप्त हो रहा है कि उसकी आँखें डबडबाई हुई हैं, दूसरे यदि मैं भी अपना विरह-दुःख, प्रेम जता कर, कहने लगूँगी, तो उसको महान् कष्ट होगा। नायिका के इसी चुप रहने पर कोई सखी किसी अन्य सखी से, उत्प्रेक्षा कर के, कहती है कि मानो नायक की गलगली दृष्टि ने उसके गले में मार्ग रोक लिया, जिससे वह बोल न सकी—

( अर्थ )—ललन ( प्रियतम ) का चलना ( परदेश-गमन ) [ उनके मुख से ] सुन कर [ वह प्रवत्स्यत्पतिका नायिका ] चुप रह गई, [ और ] स्वयं [ कुछ अपने विरह-दुःख-

---

१. नाहिँ ( ५ )। २. जाहिँ ( ५ )। ३. चुप ( ४, ५ )। ४. गाढ़े गहि राख्यौ गरौ ( २ ), राख्यौ मन गाढ़े गरे ( ४ )।

व्यंजक वचन ] प्रेम-पूर्वक न बोली, मानो [ उसके ] गले में [ प्रियतम की ] डबडबाई हुई दृष्टि ने भली भाँति पकड़ रक्खा ( मार्ग रूँध रक्खा ) ॥

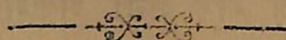


अपनी गरजनु बोलियतु, कहा निहोरौ तोहिं ।
तू प्यारौ मो जीय कौं, मो ज्यौ प्यारौ मोहिं ॥ ४०६ ॥

गरजनु = गरज़ों से। गरज़ अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ प्रयोजन अर्थात् इष्टार्थ अथवा स्वार्थ है। उसी 'गरज़' शब्द का बहुवचन 'गरजनु' है ॥ निहोरौ = कृतज्ञता, एहसान ॥

( अवतरण ) — नायक के अपराध पर रुष्ट हो कर नायिका ने मौनावलंबन कर लिया था। नायक ने उसकी बहुत अनुनय विनय की, और अब उसके मान जाने पर वह कृतज्ञता प्रकाशित करता है। नायिका शिष्टाचार की रीति पर कहती है कि मेरे मान जाने का एहसान कुछ तुझ पर नहीं है, प्रत्युत मेरे प्राणों ही पर है। इस कहने में वह, यह भी कह कर कि मेरा प्राण विना तुझसे बोले शरीर में नहीं रह सकता, अपना प्रेमाधिक्य व्यंजित कर देती है, और यह भी ध्वनित करती है कि मैं केवल अपने प्राणों के मोह से तुझसे बोलती हूँ, कुछ तेरी शुश्रूषा से नहीं । यदि मैं अपने प्राणों का मोह छोड़ दूँगी, तो फिर तेरा हाथ पाँव जोड़ना कुछ काम न आवेगा—

( अर्थ )—अपनी गरज़ों ( स्वार्थों ) से [ तुझसे ] बोला जाता है ( मुझे बोलना पड़ता है ), तुझ पर [ इस बोलने का ] क्या निहोरा ( एहसान ) है, [ कुछ मैं तेरी शुश्रूषा से प्रसन्न हो कर नहीं बोलती हूँ कि इसका एहसान तुझ पर हो। मैं तो केवल अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त तुझसे बोलती हूँ, क्योंकि ] तू [ तो ] मेरे जी को प्यारा है, [ और ] मेरा जी मुझे प्यारा है ॥

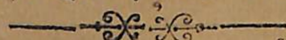


रह्यौ चकितु चहुँधा चितै चितु मेरौ मति भूलि ।
सूर उयैं आए, रही दृगनु साँझ सी फूलि ॥ ४१० ॥

साँझ सी फूलि—सूर्यास्त के समय जो लाली पश्चिम दिशा में छा जाती है, उसको वाक्य-व्यवहार में साँझ फूलना कहते हैं ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ तुम मेरे यहाँ ] आए [ तो ] सूर्य के उगने पर हो, [ पर तुम्हारी ] आँखों में साँझ सी फूल रही है ( लाली छा रही है ), [ जिससे विदित होता है कि तुम रात भर किसी अन्य स्त्री के साथ जागे हो। अतः ] मेरा चकित ( विस्मित ) चित्त [ प्रातः-काल तथा संध्या, दोनों को एक साथ ही देख ] मति ( बुद्धि ) भूल कर चारों ओर देख रहा है [ कि वास्तव में इस समय सूर्य उदयाचल पर है अथवा अस्ताचल पर ] ॥



---

१ जिय ( ३, ५ ) । २. उदै ( २, ३, ४, ५ ) ।

**अति अगाधु, अति औथरौ[1] नदी, कूपु, सरु, बाइ ।**
**सो ताकौ सागरु, जहाँ[2] जाकी[3] प्यास[4] बुझाइ ॥ ४११ ॥**

**अगाधु** = अथाह ॥ **औथरौ** = छिछला ॥ **बाइ** ( वापी ) = बावली ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि जिससे जिसका अभीष्ट सध जाय, वही उसके निमित्त सब कुछ है, चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा—

( अर्थ )—नदी, कूप, सर, वापी [ कुछ भी हो, और वह भी चाहे ] अति अगाध [ हो अथवा ] अति औथरा; जिसकी प्यास जहाँ ( जिस जलाशय से ) बुझे, वही उसको ( उसके लिये ) सागर है ॥

**कपट सतर भौंहैं करीं, मुख अनखौंहैं बैन ।**
**सहज हसौंहैं जानि कै[5] सौंहैं करति न नैन ॥ ४१२ ॥**

**सतर** = कड़ी, तर्जन-युक्त ॥ **अनखौंहैं** = क्रोधयुत ॥

( अवतरण )—नायिका ने लीला तथा परिहास के निमित्त कपट-मान किया है ; पर यह समझ कर कि मेरी आँखें स्वभावतः हँसीली हैं, वह उनको नायक के सामने नहीं करती । वह समझती है कि यदि मैं नायक से आँखें मिलाऊँगी, तो इनमें हँसी आ जायगी, और यह मान का ढोंग खुल जायगा । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—कपट से [ अपनी ] भौंहें [ तो इसने ] सतर ( तर्जनी ) कर ली हैं, [ और ] मुख में अनखौंहें ( अप्रसन्नता-सूचक ) वचन [ किए, अर्थात् बसा रक्खे, हैं ] । [ पर अपने ] नयनों को सहज ( स्वभाव ही से ) हसौंहें ( हँसोड़ ) जान कर [ नायक के ] सामने नहीं करती ॥

**मानहु बिधि तन-अच्छछबि स्वच्छ राखिबैं काज ।**
**दृग-पग-पोंछन कौं करे[6] भूषन पायंदाज ॥ ४१३ ॥**

**पायंदाज** ( फ़ा० ) = पावदान, वह टाट जो स्वच्छ बिछौने के पास बिछा दिया जाता है, जिस पर पैर पोंछ कर लोग बिछौने पर जाते हैं, जिसमें बिछौना मैला न हो ॥

( अवतरण )—नायिका के शरीर की गुराई की प्रशंसा सखी नायक से करती है—

( अर्थ )—[ उसके शरीर की शोभा ऐसी उज्ज्वल है कि उसके आगे कनक के भूषण ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे स्वच्छ बिछौने के आगे पायंदाज; अतः यह जान पड़ता है कि ] मानो विधाता ने [ उसके ] तन की 'अच्छ' ( उज्ज्वल ) छवि को स्वच्छ ( विमल ) रखने के निमित्त आँखों के पावों को पोंछने के लिये भूषण पायंदाज़ ( पाँव-पुछने ) किए ( बनाए हैं ) ॥

---

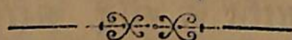
१. औंतरौ ( ३, ५ ) । २. तहाँ ( २ ) । ३. ताकी ( २ ) । ४. तृषा ( ३, ५ ) । ५. करि ( १,२,४ ) । ६. किए ( ३, ५ ) ।

**बिरह-बिथा-जल-परस[1]-बिन बसियतु मो-मन[2]-ताल ।**
**कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुर्जोधन[3] लौं, लाल ॥ ४१४ ॥**

जल-थंभ-बिधि = ऐसा कोई प्रयोग, जिससे जल के प्रभाव का स्तंभन हो जाय ॥ दुर्जोधन ( दुर्योधन )—दुर्योधन को जल-स्तंभन-क्रिया आती थी, जिसके प्रभाव से वह ताल में छिपा रहा और जल से उसे कोई बाधा नहीं पहुँची ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका ने नायक को पत्र में यह दोहा लिखा है—

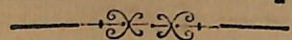
( अर्थ )—हे लाल, [ ज्ञात होता है कि तुम ] दुर्योधन की भाँति कुछ जल-स्तंभन की विधि जानते हो, [ क्योंकि ] विरह-व्यथा-रूपी जल के स्पर्श विना [ तुमसे ] मेरे मन-रूपी ताल में [ जिसमें वह विरह-व्यथा-रूपी जल भरा है ] बसा जाता है । [ भावार्थ यह कि तुम बसते तो मेरे मन में हो, जो विरह-व्यथा से पूर्ण है, पर तुमको वह व्यथा स्पर्श भी नहीं करती ] ॥



**रुख रूखी मिस-रोष, मुख कहति रुखौंहैं बैन ।**
**रूखे कैसैं होत ए नेह-चीकने नैन ॥ ४१५ ॥**

( अवतरण )—परकीया नायिका उपपति से, सखी के सामने, प्रेम छिपाने के निमित्त, रूखा रुख कर के, रूखी बातें करती है, पर उसके स्निग्ध नयनों से सखी उसका प्रेम लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—बनावटी रोष से [ तेरी ] चेष्टा रूखी [ हो रही है, और तू ] मुँह से रूखे वचन कहती है, [ पर तेरे ] ये स्नेह से चिकनाए हुए नयन [ भला ] कैसे रूखे होते ( हो सकते ) हैं [ अर्थात् स्निग्ध नयनों से तेरा प्रेम लक्षित होता है ] ॥



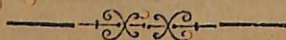
**पति-रितु-औगुन-गुन बढ़तु मानु, माह कौ सीतु ।**
**जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी[4]-मनु, नवनीतु ॥ ४१६ ॥**

माह = माघ ॥ रवनी ( रमणी ) = स्त्री ॥ नवनीतु = मक्खन ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसका मान करना कुछ अन्यथा नहीं है । आप ही के अपराध से यह हुआ है । इस दोहे को कवि की प्रास्ताविक उक्ति भी मान सकते हैं—

( अर्थ )—पति [ तथा ] ऋतु के अवगुण ( अपराध ) [ तथा ] गुण ( स्वभाव ) से मान [ तथा ] माघ महीने का शीत बढ़ता है, [ और उससे ] रमणी का मन [ तथा ] मक्खन अति मृदुल [ होने पर ] भी कठिन ( १. निष्ठुर । २. कड़ा ) हो जाता है ॥

इस दोहे में संज्ञाएँ यथासंख्य आई हैं ॥



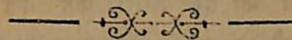
१. परसि ( १ ), परसु ( ४ ) । २. जिय ( १, ४ ), हिय ( २ ) । ३. दुरजोधन ( ३ ) । ४. रमनी ( १ ) ।

**त्यौँ त्यौँ प्यासेई रहत[1], ज्यौँ ज्यौँ पियत[2] अघाइ ।**
**सगुन सलोने रूप की[3] जु[4] न चख-तृषा बुझाइ ॥ ४१७ ॥**

**सगुन**=अपने गुण अर्थात् प्रभाव से संपन्न । सलोने रूप के पक्ष में इसका अर्थ ललचाने की शक्तियुत, एवं रूप में आरोप्य अनुक्त सलोने जल के पक्ष में इसका अर्थ प्यास लगाने की शक्तियुत, होगा ॥ जु (जो)—इस शब्द का प्रयोग इस दोहे में व्रजभाषा के विशेष व्यवहार के अनुसार हुआ है । अतः इसके अर्थ में उलझन पड़ती है । इस 'जु' (जो) का प्रयोग 'क्योंकि' के अर्थ में समझना चाहिए ॥

(अवतरण)—नायिका नायक को बार बार बड़े प्रेम से देखती है । सखी उसको लोकापवाद के भय से ऐसा करने से रोकती है । इस पर नायिका कहती है—

(अर्थ)—[ मेरे नयन-रूपी प्यासे ] ज्यों ज्यों [ उसको अर्थात् 'सगुन सलोने रूप' को ] अघा कर पीते हैं, त्यों त्यों प्यासे ही रहते हैं, क्योंकि [ अपने स्वाभाविक अर्थात् प्यास लगाने वाले ] गुण से संपन्न, सलोने (१. सुंदर । २. लावण्य-युत) रूप-रूपी जल से उत्पन्न की हुई 'चख-तृषा' (आँखों की तृषा अर्थात् दिखसाध) [ उससे अर्थात् 'सगुन सलोने' रूप-रूपी जल से ] बुझती नहीं, [ प्रत्युत बढ़ती ही जाती है ] ॥

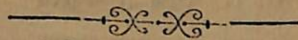


**अरुन-बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार ।**
**चुवत[5] सुरँगु रँगु सी मनौ चपि बिछियनु कैं भार ॥ ४१८ ॥**

**सुरँगु रँगु**=लाल कीट का रंग अथवा आलक्तक का रंग ॥ **चपि**=दब कर ॥

(अवतरण)—सखी अथवा दूती नायक से नायिका की पादांगुलियों की अरुणाई तथा सुकुमारता की प्रशंसा कर के रुचि उपजाती है—

(अर्थ)—[ उस ] तरुणी के चरणों की लाल अँगुलियाँ अति सुकुमार हैं । मानो [ सुकुमारता के कारण ] बिछियों [ ही ] के भार से दब कर चूते हुए सुरँग रंग सी (टपकते हुए आलक्तक के रंग की बूँद सी) [ हो रही हैं ] ॥



**मोर-मुकट[6] की चंद्रिकनु[7] यौं राजत नँदनंद ।**
**मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत[8] चंद ॥ ४१९ ॥**

**चंद्रिकनु**=चंद्रिकाओं से । मोर के पक्षों में जो चंद्राकार चमकीले चिह्न होते हैं, वे चंद्रक कहलाते हैं । बिहारी ने उसी चंद्रक शब्द के स्त्रीलिंग रूप 'चंद्रिका' का प्रयोग इस दोहे में तथा ६७६-संख्यक दोहे में किया है ॥ **नँदनंद**=नंदनंदन अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र ॥ **ससिसेखर** (शशी-शेखर)=महादेवजी, जिनके मस्तक पर चंद्रमा है ॥ **अकस** (अरबी अक्स)—इस शब्द का मुख्यार्थ उलटा है, पर उर्दू तथा हिंदी में यह बैर के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ॥

---

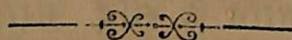
१. रहैं ( १ ) । २. पिवत ( २, ३ ), पीते ( ५ ) । ३. कौं ( १, २ ) । ४. जनु ( ३ ) । ५. चुवति ( १, ४ ) । ६. मुकुट ( २, ३, ४, ५ ) । ७. चंद्रकनि ( ३ ), चंद्रकन ( ५ ) । ८. सतसेखर ( ३ ) ।

**विरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियतु मो-मन-ताल।**
**कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुर्जोधन लौं, लाल ॥ ४१४ ॥**

जल-थंभ-बिधि = ऐसा कोई प्रयोग, जिससे जल के प्रभाव का स्तंभन हो जाय ॥ दुर्जोधन ( दुर्योधन )—दुर्योधन को जल-स्तंभन-क्रिया आती थी, जिसके प्रभाव से वह ताल में छिपा रहा और जल से उसे कोई बाधा नहीं पहुँची ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका ने नायक को पत्र में यह दोहा लिखा है—

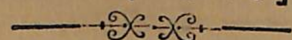
( अर्थ )—हे लाल, [ ज्ञात होता है कि तुम ] दुर्योधन की भाँति कुछ जल-स्तंभन की विधि जानते हो, [ क्योंकि ] विरह-व्यथा-रूपी जल के स्पर्श बिना [ तुमसे ] मेरे मन-रूपी ताल में [ जिसमें वह विरह-व्यथा-रूपी जल भरा है ] बसा जाता है। [ भावार्थ यह कि तुम बसते तो मेरे मन में हो, जो विरह-व्यथा से पूर्ण है, पर तुमको वह व्यथा स्पर्श भी नहीं करती ] ॥



**रुख रूखौ मिस-रोष, मुख कहति रुखौंहैं बैन।**
**रूखे कैसैं होत ए नेह-चीकने नैन ॥ ४१५ ॥**

( अवतरण )—परकीया नायिका उपपति से, सखी के सामने, प्रेम छिपाने के निमित्त, रूखा रुख कर के, रूखी बातें करती है, पर उसके स्निग्ध नयनों से सखी उसका प्रेम लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—बनावटी रोष से [ तेरी ] चेष्टा रूखी [ हो रही है, और तू ] मुँह से रूखे वचन कहती है, [ पर तेरे ] ये स्नेह से चिकनाए हुए नयन [ भला ] कैसे रूखे होते ( हो सकते ) हैं [ अर्थात् स्निग्ध नयनों से तेरा प्रेम लक्षित होता है ] ॥



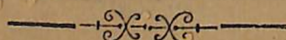
**पति-रितु-औगुन-गुन बढ़तु मानु, माह कौ सीतु।**
**जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी-मनु, नवनीतु ॥ ४१६ ॥**

माह = माघ ॥ रवनी ( रमणी ) = स्त्री ॥ नवनीतु = मक्खन ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका की सखी नायक से कहती है कि उसका मान करना कुछ अन्यथा नहीं है। आप ही के अपराध से यह हुआ है। इस दोहे को कवि की प्रास्ताविक उक्ति भी मान सकते हैं—

( अर्थ )—पति [ तथा ] ऋतु के अवगुण ( अपराध ) [ तथा ] गुण ( स्वभाव ) से मान [ तथा ] माघ महीने का शीत बढ़ता है, [ और उससे ] रमणी का मन [ तथा ] मक्खन अति मृदुल [ होने पर ] भी कठिन ( १. निष्ठुर। २. कड़ा ) हो जाता है ॥

इस दोहे में संज्ञाएँ यथासंख्य आई हैं ॥



---

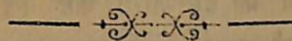
१. परसि ( १ ), परसु ( ४ ) । २. जिय ( १, ४ ), हिय ( २ ) । ३. दुरजोधन ( ३ ) । ४. रमनी ( १ ) ।

**त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।**
**सगुन सलोने रूप कौ जु न चख-तृषा बुझाइ॥ ४१७॥**

**सगुन**=अपने गुण अर्थात् प्रभाव से संपन्न। सलोने रूप के पक्ष में इसका अर्थ ललचाने की शक्तियुत, एवं रूप में आरोप्य अनुक्त सलोने जल के पक्ष में इसका अर्थ प्यास लगाने की शक्तियुत, होगा॥ **जु** (जो)—इस शब्द का प्रयोग इस दोहे में ब्रजभाषा के विशिष्ट व्यवहार के अनुसार हुआ है। अतः इसके अर्थ में उलझन पड़ती है। इस 'जु' (जो) का प्रयोग 'क्योंकि' के अर्थ में समझना चाहिए॥

(अवतरण)—नायिका नायक को बार बार बड़े प्रेम से देखती है। सखी उसको लोकापवाद के भय से ऐसा करने से रोकती है। इस पर नायिका कहती है—

(अर्थ)—[ मेरे नयन-रूपी प्यासे ] ज्यों ज्यों [ उसको अर्थात् 'सगुन सलोने रूप' को ] अघा कर पीते हैं, त्यों त्यों प्यासे ही रहते हैं, क्योंकि [ अपने स्वाभाविक अर्थात् प्यास लगाने वाले ] गुण से संपन्न, सलोने (१. सुंदर। २. लावण्य-युत) रूप-रूपी जल से उत्पन्न की हुई 'चख-तृषा' (आँखों की तृषा अर्थात् दिखसाध) [ उससे अर्थात् 'सगुन सलोने' रूप-रूपी जल से ] बुझती नहीं, [ प्रत्युत बढ़ती ही जाती है ]॥

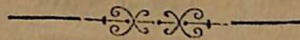


**अरुन-बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।**
**चुवैत सुरँगु रँगु सी मनौ चपि बिछियनु कैं भार॥ ४१८॥**

**सुरँगु रँगु**=लाल कीट का रंग अथवा आलक्तक का रंग॥ **चपि**=दब कर॥

(अवतरण)—सखी अथवा दूती नायक से नायिका की पादांगुलियों की अरुणाई तथा सुकुमारता की प्रशंसा कर के रुचि उपजाती है—

(अर्थ)—[ उस ] तरुणी के चरणों की लाल अँगुलियाँ अति सुकुमार हैं। मानो [ सुकुमारता के कारण ] बिछियों [ ही ] के भार से दब कर चूते हुए सुरँग रंग सी (टपकते हुए आलक्तक के रंग की बूँद सी) [ हो रही हैं ]॥



**मोर-मुकुट की चंद्रिकँनु यौं राजत नँदनंद।**
**मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥ ४१९॥**

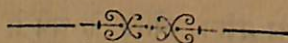
**चंद्रिकनु**=चंद्रिकाओं से। मोर के परों में जो चंद्राकार चमकीले चिह्न होते हैं, वे चंद्रक कहलाते हैं। बिहारी ने उसी चंद्रक शब्द के स्त्रीलिंग रूप 'चंद्रिका' का प्रयोग इस दोहे में तथा ६७६-संख्यक दोहे में किया है॥ **नँदनंद**=नंदनंदन अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र॥ **ससिसेखर** (शशी-शेखर)=महादेवजी, जिनके मस्तक पर चंद्रमा है॥ **अकस** (अरबी अक्स)—इस शब्द का मुख्यार्थ उलटा है, पर उर्दू तथा हिंदी में यह वैर के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है॥

---

१. रहैं (१)। २. पिवत (२, ३), पीते (५)। ३. कौं (१, २)। ४. जनु (३)। ५. चुवति (१, ४)। ६. मुकुट (२, ३, ४, ५)। ७. चंद्रकनि (३), चंद्रकन (५)। ८. सतसेखर (३)।

( अवतरण )-- सखी, नायिका से मयूर-मुकुटधारी श्रीकृष्णचंद्र की शोभा का वर्णन कर के, उसके चित्त मैं उस अद्भुत शोभा के देखने की लालसा उत्पन्न करना और उससे अभिसार कराना चाहती है —

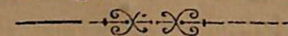
( अर्थ )—मोरमुकुट की चंद्रिकाओं से श्रीकृष्णचंद्र ऐसे विराजमान हैं ( सुशोभित हैं ), मानो शशिशेखर की अकस किए हुए [ जो है, सो अर्थात् कामदेव अपने ] मस्तक पर सौ चंद्रमा से [ शोभित है ] ॥



अधर धरत हरि कैं, परत ओंठ-डीठि-पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष-रँग होति ॥ ४२० ॥

( अवतरण )—सखी श्रीकृष्णचंद्र को बाँसुरी बजाते देख आई है, और श्रीराधिकाजी से उसकी प्रशंसा कर के उनको उसके दिखाने के ब्याज से ले जाया चाहती है। हरि के सामीप्य से एक सामान्य बाँसुरी का इंद्रधनुष के रंग की हो जाना कह कर वह यह व्यंजित करती है कि यदि आप उनके समीप चलैंगी, तो आपकी शोभा भी बड़ी रँगीली हो जायगी। वह ओंठ, नेत्र तथा पट की ज्योति से बाँसुरी का इंद्रधनुष के रंग की हो जाना कह कर श्रीकृष्णचंद्र के अधर की ललाई, नेत्रों की श्यामता एवं पट की पियराई का अति चटक तथा प्रभा देने वाली होना भी व्यंजित करती है—

( अर्थ )—हरि के [ अपने ] अधर पर [ बाँसुरी ] धारण करते [ ही और उस पर उनके ] ओठ, दृष्टि [ तथा ] पट की ज्योति ( झलक ) पड़ते [ ही वह ] हरित ( हरे ) बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष-रंग ( इंद्रधनुष के रंग की ) हो जाती है ॥

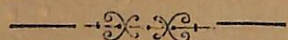


तौ अनेक औगुन-भरिहिँ चाहै याहि बलाइ ।
जौ पति संपति हूँ बिना जदुपति राखे जाइ ॥ ४२१ ॥

**औगुन** ( अवगुण ) = सद्गुणों का अभाव, दुर्गुण ॥ **बलाइ**—फ़ारसी भाषा मैं 'बला' विपत्ति को कहते हैं। उर्दू तथा भाषा की बोलचाल में 'यह काम मेरी बला अथवा बलाय करे' का अर्थ होता है, मैं यह काम कभी नहीं करूँगा ॥ **पति** = लज्जा ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि संपत्ति की आवश्यकता तो केवल संसार मैं लज्जा रखने के लिए है। यदि उसके बिना ही भगवान् लज्जा रक्खे जाएँ, तो फिर इस अनेक दुर्गुणों से भरी हुई संपत्ति को चाहना केवल बला मोल लेना है—

( अर्थ )—यदि संपत्ति के बिना भी यदुपति ( श्रीकृष्णचंद्र ) पति रक्खे जायँ ( निबाहे जायँ ), तो [ फिर ] अनेक अवगुणों से भरी हुई इस [ संपत्ति ] को [ मेरी अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की ] बलाय चाहे ॥



१. छवि ( ४ ) । २. भरी ( ३, ४, ५ ) । ३. राखे ( १, २ ), राखैं ( ३ ) ।

**प्रीतम-दृग-मिहचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।**
**जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ ॥ ४२२ ॥**

जनाइ = लक्षित ॥

( अवतरण )—नायिका सखियों के बीच मैं खड़ी है। नायक पीछे से आ कर अपने हाथों से उसकी आँखैं बंद कर लेता है। नायिका, नायक के कर-स्पर्श का सुख पा कर, उसे पहचान कर भी अनजान सी बन जाती है, और उसे अपना पहचान लेना लक्षित नहीं होने देती, जिसमैं उसे कर-स्पर्श का सुख कुछ देर तक मिलता रहे। कारण, इस आँख-मिचौनी के परिहास मैं जब आँखैं बंद करने वाले को वह व्यक्ति, जिसकी आँखैं बंद की जाती हैं, पहचान लेता है, तो आँखैं बंद कर लेने वाला हँस कर हाथ हटा लेता है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम के दृग मीचते [ ही ] प्रिया ( प्यारी नायिका ), हाथ के स्पर्श का सुख पाकर, [ यद्यपि आँख मीचने वाले को पहचान तो गई, पर इस अभिप्राय से कि स्पर्श का सुख कुछ समय तक प्राप्त रहे, वह जान पहचान कर भी अजान सी बनी रही, और उसने अजान बनने की क्रिया ऐसी चातुरी से की कि वह ] जान पहचान कर [ भी ] अजान सी [ बनी हुई ] किंचिन्मात्र [ भी ] लक्षित नहीं हुई ॥

---

**देखौं जागैंत वैसियै साँकर लगी कपाट।**
**कित ह्वै आवतु, जातु भजि, को जानै, किहिं बाट ॥ ४२३ ॥**

( अवतरण )—नायिका नायक को स्वप्न मैं देखा करती है, पर अपने भोलेपन तथा प्रेम की मुग्धता से समझती है कि वास्तव मैं वह मेरे सोते समय आता है। पर फिर किवाड़ों मैं ज्यों की त्यों साँकर लगी हुई देख कर वह चकित हो जाती है कि नायक किस बाट से आता-जाता है। यही बात वह अपनी अंतरंगिनी सखी से, अथवा अपने मन मैं, कहती है—

( अर्थ )—जाग कर [ तो मैं ] कपाट ( किवाड़ ) मैं वैसी ही [ जैसी मैं सोने के पहिले लगा देती हूँ ] साँकर लगी हुई देखती हूँ, [ पर वह जो मेरे सोते समय आता है, सो ] कौन जाने किस ओर से हो कर ( किस मार्ग से ) आता है, [ और फिर ] किस बाट ( मार्ग ) से भाग जाता है ॥

---

**करु उठाइ घूँघटु करत उझरत पट-गुझरौट।**
**सुख-मोटैं लूटीं ललन लखि ललना की लौट ॥ ४२४ ॥**

**गुझरौट** = आँचल का वह सिमटन पड़ा हुआ भाग, जो हाथ को ढके रहता है ॥ **लौट**—अन्य टीकाकारों ने, इस दोहे में, 'लौट' के स्थान पर 'लोट' पाठ मान कर, उसका अर्थ 'त्रिबली' अथवा 'पेटी' किया है। पर 'गुझरौट' के अनुरोध से यह शब्द 'लोट' नहीं हो सकता। इसे 'लोट' करने से 'गुझरौट' को 'गुझरोट' करना पड़ता है, जो उच्चारण-व्यवहार मैं सुनने मैं नहीं आता। अतः हमने 'लौट' का अर्थ 'लौट

---

१. मींचत ( ३, ५ )। २. लखाइ ( २, ३, ५ )। ३. देख्यौ ( ४ )। ४. जागित ( १, ४ ), गति तौ ( २ )। ५. घूँघट ( ५ )। ६. उसरत ( २, ४ )। ७. गुझरौट ( ३, ५ )। ८. लौटैं ( २ )।

पड़ना', 'घूम जाना' किया है। यदि 'गुभरौट' का उच्चारण 'गुभ्ररौट' होना माना जाय, तो 'लौट' के स्थान पर 'लोट' पाठ ठीक हो सकता है, और उसी अवस्था में इसका अर्थ 'त्रिबली' अथवा 'पेटी' माना जा सकता है॥

(अवतरण)—नायक को देख कर नायिका ने जो घूँघट करने के निमित्त हाथ उठाया, तो उसका गुभरौटा ऊपर को उठ गया, जिससे उसके आँचल के नीचे के अंग खुलने लगे। अतः उनको नायक की दृष्टि से बचाने के निमित्त वह बड़ी शीघ्रता से पीछे की ओर लौट पड़ी। उसकी यह लौट देख कर नायक को बड़ा आनंद प्राप्त हुआ। सखी-वचन सखी से—

(अर्थ)—[उसके] हाथ उठा कर घूँघट करने में पट के गुभरौटे के 'उभरत' (ऊपर की ओर सरकते) [ही] ललना (नायिका) की लौट देख कर 'ललन' (नायक) ने सुख की मोटें (गठरियाँ) लूटीं॥

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥ ४२५॥

कुबत=बुरी बात, बुराई, निंदा॥ कुटिलता=(१) बुराई। (२) टेढ़ाई॥ सरल=(१) शुद्ध, कपटहीन। (२) सीधे॥ त्रिभंगी=तीन जगह से टेढ़े॥

(अवतरण)—भक्त की उक्ति भगवान् से—

(अर्थ)—हे दीनदयालु, [मैं आपको अपने हृदय में बसाने के निमित्त ऐसा दीन और आतुर हो रहा हूँ कि यद्यपि] जगत् [मेरी] निंदा किया करो (करता रहे), [तथापि मैं अपनी] कुटिलता न तजूँगा। [क्योंकि यदि मैं कुटिलता छोड़ दूँगा, तो मेरा हृदय सरल हो जायगा, और फिर] हे त्रिभंगी लाल, [तुम] सरल (सीधे) हृदय में बसते हुए दुखी होगे (कष्ट पाओगे) [क्योंकि टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तु के भीतर नहीं रह सकती। कहावत भी है कि सीधी मियान में टेढ़ी तलवार नहीं रहती]॥

कवि अथवा इस दोहे का वक्ता भक्त त्रिभंगी लाल को हृदय में बसाने के निमित्त ऐसा दीन हो रहा है कि यह जान कर भी कि मेरी कुटिलता की निंदा जगत् में हो रही है, वह अपने हृदय को सीधा नहीं किया चाहता, क्योंकि उसकी यह धारणा है कि यदि मैं सीधा हो जाऊँगा, तो वह तीन जगह से टेढ़े भगवान् मुझमें कैसे बसेंगे। अतः वह कुटिलता रखने ही में अपने को परम दीन मान कर भगवान् को 'दीनदयाल' शब्द से संबोधित करता है॥

निज करनी सकुचेहिँ कत सकुचावत इहिँ चाल।
मोहूँ से नित-बिमुख-त्यौं सनमुख रहि, गोपाल॥ ४२६॥

बिमुख=किसी की ओर से मुख फेर कर रहने वाला, अर्थात् उसको न मानने वाला॥ त्यौं=ओर॥ सनमुख=किसी की ओर मुख किए हुए, अर्थात् उसके सानुकूल॥

(अवतरण)—कोई अपनी करनी से अति संकुचित भक्त वृंदावन-बिहारी श्रीगोपाल लाल को अपने ऊपर भी कृपा करते जान, अति संकुचित हो कर, कहता है—

१. सौं (२)।

( अर्थ )—हे गोपाल ! अपनी [ बुरी ] करनियों से सकुचे हुए ( लज्जित ) को [ अपनी ] इस चाल ( कृपा की रीति ) से, [ अर्थात् ] मुझ ऐसे भी नित्य-विमुख की ओर सन्मुख रह कर, [ आप और भी अधिक ] क्यों सकुचाते ( लज्जित करते ) हैं ॥

मोहिँ तुम्हैँ बाढ़ी बहँस, को जीतै, जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥ ४२७ ॥

बहस=विवाद । यह अरबी भाषा का शब्द है ॥ बिरद ( विरुद )—जिस क्रिया से किसी मनुष्य का नाम विख्यात हो जाता है, उस क्रिया से बना हुआ विशेषण उस मनुष्य का विरुद कहलाता है; जैसे ईश्वर पतितों को पावन करने में विख्यात होने के कारण 'पतित-पावन' कहलाते हैं । विरुद शब्द प्रायः प्रशंसात्मक विशेषण ही के लिए प्रयुक्त होता है; किंतु इस दोहे में प्रशंसात्मक तथा निंदात्मक, दोनों ही प्रकारों के विशेषणों के निमित्त प्रयुक्त हुआ है ॥

( अवतरण )—कोई श्रीकृष्णचंद्र का उपासक अपनी भावना के अनुसार उनको राजा समझ कर बड़ी चातुरी से, इस दोहे के द्वारा, उनको आन दिलाता है, जिसमें वे ताव में आ कर उसे चटपट तार दें । राजा लोग स्वभावतः शीघ्र ही ताव में आ जाते हैं, और करनी न करनी, सब कुछ उस ताव में कर डालते हैं । इसीलिए यहाँ 'जदुराज' नाम प्रयुक्त किया गया है—

( अर्थ )—हे यदुराज ! मुझसे तुमसे 'बहस' बढ़ी है, [ देखें तो ] कौन जीतता है । अपने अपने विरुद की लज्जा का निर्वाह दोनों ही को करना है [ इधर मेरा नाम तो पतित है, सो मैं तो पतितों की जो करनी होती है, उसको, अपने नाम की लज्जा रखने के निमित्त, छोड़ने का नहीं । उधर तुम्हारा नाम पतित-पावन है, सो तुम भी, अपने नाम का निर्वाह करने के निमित्त, मेरे पातकों को नष्ट कर के मुझे पावन करते ही चलोगे । अतएव अब देखना यही है कि अंत में मैं पाप करते करते थक जाता हूँ, और तुम मुझे पावन कर ही के छोड़ते हो, अथवा तुम पावन करते करते मेरे पातकों से घबरा कर हार जाते हो, और अपना 'पतितपावन' विरुद छोड़ देते हो ] ॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ॥ ४२८ ॥

पीठि दै=मुहँ फेर कर । स्मरण रहे कि पतंग का वह पार्श्व, जिस ओर बाँस की कमाची लगी रहती है, उसका पेट अथवा छाती कहलाता है, और दूसरा पार्श्व पीठ । गुड्डी के उड़ाने में उसकी पीठ उड़ाने वाले की ओर रहती है, और भागने वाले की पीठ भी जिससे वह भागता है, उसकी ओर रहती है । इसी सादृश्य से 'पीठि दै' क्रिया-विशेषण का प्रयोग कवि ने किया है ॥ गुन ( गुण )—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है । पतंग के पक्ष में इसका अर्थ डोरा, और ईश्वर के पक्ष में इसका अर्थ प्रकृति-भाव, है ॥ बिस्तारन=बढ़ाना । पतंग-पक्ष में 'गुन-बिस्तारन' का अर्थ डोरे का बढ़ाना, और ईश्वर-पक्ष में इसका अर्थ उसके गुणों का वैभव वर्णन करना होता है ॥ निर्गुन ( निर्गुण )—पतंग-पक्ष में इसका अर्थ डोरा-रहित, और ईश्वर-पक्ष में इसका अर्थ

१. तुमहिँ ( ३, ५ ) । २. बहसि ( ३, ४, ५ ) । ३. है ( २ ) ।

त्रिगुणातीत होता है ॥ चंग-रंग = चंग अर्थात् पतंग की भाँति ॥ भूपाल = पृथ्वी का पालन करने वाला । इस 'भूपाल' शब्द के स्थान पर अनेक सटीक ग्रंथों में 'गोपाल' पाठ मिलता है । पर यह संस्करण जिन पांच प्राचीन पुस्तकों के आधार पर संपादित हुआ है, उनमें 'भूपाल' ही पाठ है, अतः यही पाठ यहाँ रक्खा गया है ॥

( अवतरण १ )—इस दोहे में कवि निर्गुणोपासना का समर्थन करता है । वह कहता है कि सगुणोपासना में तो प्रभु के गुणों का, अनंत तथा अनीह होने के कारण, पार नहीं मिलता । अतः ज्यों ज्यों उनका विस्तार किया जाता है, त्यों त्यों प्रभु दूर ही होते जाते हैं । पर निर्गुण-स्वरूप से सबके निकट ही, अर्थात् अंतःकरण ही में, मिल जाते हैं, क्योंकि वह भूपाल, अर्थात् पृथ्वी भर का पालन करने वाले सर्वव्यापी, हैं । इसी बात को कवि बड़ी चातुरी से, उनकी उपमा चंग, अर्थात् गुड्डी, से देकर एवं गुण शब्द का श्लिष्ट प्रयोग कर के, कहता है—

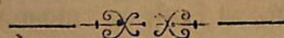
( अर्थ १ )—**गुण-विस्तार करने के समय प्रभु पतंग की भाँति पीठ दे कर दूर भागते हैं, [ पर ] निर्गुण रूप से ( १. गुणों के बखेड़े से रहित हो कर । २, डोरी से रहित हो कर ) भूपाल ( भुवनपालक ) निकटवर्ती हो कर प्रकट होते हैं [ पतंग का उड़ाने वाला ज्यों ज्यों उसकी डोरी को विस्तृत करता जाता है, त्यों त्यों पतंग उससे दूर ही होती जाती है । पर जब वह उसको बिना डोरी का कर देता है, अर्थात् उसकी डोरी समेट लेता है, तब वह उसके हाथ में आ जाती है । इसी प्रकार ईश्वर भी उसके गुण का विस्तार करने से दूर हो जाता है, पर निर्गुण रूप में, सर्वव्यापी होने के कारण, निकट ही, अर्थात् अपने ही में, रहता है ] ॥**

दोहे के पूर्वार्द्ध में कवि ने 'प्रभु' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि सगुणोपासना में सेव्य-सेवक-भाव रहता है, जिनमें बड़ा अंतर है । पर उत्तरार्द्ध में उसने 'भूपाल' शब्द का प्रयोग कर के उसके सर्व-व्यापित्व का भाव दरसाया है । इस भाव में सृष्टि तथा सृष्टिकर्ता में अंतर का अभाव हो जाता है । यद्यपि पालक तथा पाल्य में भी भेद है, पर यहाँ 'भूपाल' शब्द से सर्वव्यापी ही का भाव कवि ने ग्रहण किया है ॥

( अवतरण २ )—इस दोहे का अर्थ राजाओं के गुणियों से दूर तथा गुणहीनों से लिप्त रहने पर भी लगता है, और वह अर्थ विशेष सरल तथा स्पष्ट भी है, एवं भूपाल शब्द से पोषित भी होता है । अतः वह अर्थ भी नीचे लिखा जाता है—

( अर्थ २ )—**[ अपने ] गुणों ( १. कलाकौशलादि । २. डोरी ) को विस्तृत ( १. विस्तार-पूर्वक प्रकट । २. लंबी ) करने के समय प्रभु ( राजा ) पीठ दे कर दूर भागता है, और निर्गुण ( १. गुण-हीन । २. डोरी-हीन ) के निकट रह कर भूपाल ( राजा ) चंग-रंग ( गुड्डी की रीति ) प्रकट करता है ॥**

इस अर्थ में 'निर्गुण-निकट' को एक समस्त पद तथा 'चंग-रंग' को 'प्रगटत' क्रिया का कर्म मानना चाहिए ॥



**कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग ।**
**तीन दबावत निसँकहीं पातक, राजा, रोग ॥ ४२६ ॥**

१. सुस्तु सुश्रिति ( १ ), सुश्रत समृति ( ३, ५ ), सो श्रुति सुमृति ( ४ ) । २. यही ( ५ ) । ३. निसकहै ( ३ ), निकसही ( ४ ), निकसहूँ ( ५ ) ।

श्रुति = वेद ॥ सुम्रत्यौ = स्मृति भी ॥ सयाने = सज्ञान ॥ निसकहीँ = शक्तिहीन ही को, निर्बल ही को ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविकी उक्ति है कि पातक, राजा तथा रोग, ये तीनौँ निर्बल ही को दबाते हैँ। अपनी इस उक्ति के विषय मैँ कवि कहता है कि यही बात श्रुति, स्मृति तथा ज्ञानवान् पुरुष भी कहते हैँ—

( अर्थ )—यही [ बात ] श्रुति [ और ] स्मृति भी कहती हैँ, [ और ] यही ज्ञानी लोग [ भी कि संसार मैँ ये ] तीन, [ अर्थात् ] पातक, राजा [ और ] रोग, निर्बल ही को दबाते हैँ ( दुःख देते हैँ ) ॥

जो सिर धरि महिमा मही[1] लहियति[2] राजा राइ ।
प्रगटत जड़ता अपनियै[3] सु मुकुटु[4] पहिरत पाइ ॥ ४३० ॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति है कि जो वस्तु अथवा मनुष्य आदर के योग्य है, उसका निरादर करने से निरादर करने वाले ही की जड़ता प्रकट होती है—

( अर्थ )—जो [ मुकुट ] सिर पर धारण कर के मही ( पृथ्वी ) मैँ राजा राइ के द्वारा महिमा ( बड़ाई ) पाई जाती है, वह मुकुट पाँव मैँ पहनते समय [ पहनने वाला ] अपनी ही जड़ता प्रकट करता है [ उस मुकुट की गुणहीनता नहीँ ] ॥

'मही' को 'महिमा' शब्द का विशेषण भी मान सकते हैँ ॥

को कहि सकै बड़ेनु सौँ[5] लखैँ बड़ीयौ[6] भूल ।
दीनै दई गुलाब कौँ[7] इन[8] डारनु वे फूल ॥ ४३१ ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि बड़े लोगौँ से यदि कोई बड़ी भूल हो भी जाती है, तो भी उनको कोई कुछ नहीँ कहता। अपने इस कथन की पुष्टि मैँ वह कहता है कि देखो, गुलाब की ऐसी कँटीली तथा सूखी साखी डालियौँ मैँ यद्यपि विधाता ने ऐसे सुंदर, कोमल तथा सुगंधित पुष्प दिए हैँ, जो कि वास्तव मैँ बड़ी भूल की बात है, तथापि उसे कोई कुछ कह नहीँ सकता—

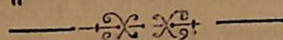
( अर्थ )—[ देखो, ] दई ( दैव ) ने गुलाब की इन [ सूखी तथा कँटीली ] डालियौँ मैँ वे [ सुंदर, कोमल तथा सुगंधित ] पुष्प [ जो कि चैत्र मास मैँ देखने मैँ आए थे ] दिए। [ यह वास्तव मैँ बड़ा अयोग्य संघट्टन है। पर दैव से कोई कुछ कह नहीँ सकता, क्योँकि ] बड़ोँ से [ उनकी ] बड़ी भूल देखने पर भी कौन कह सकता है [ कि यह भूल है ] ॥

'इन डारनु वे फूल' के स्थान पर 'इन डारनु ये फूल' पाठ होता, जैसा कि कृष्ण कवि तथा हरिचरणदास की टीकाओँ मैँ है, तो अर्थ बहुत स्पष्ट होता। पर हमारी पाँचो प्राचीन पुस्तकोँ मैँ

---

१. मही ( २, ४, ५ ) । २. लहियत ( २, ३, ५ ) । ३. आपनी ( २, ४ ) । ४. मुकुट सु ( ४ ) । ५. कौँ ( ३, ४ ) । ६. बड़ी ये ( २ ), बड़ी इहि ( ५ ) । ७. कौँ ( २, ४ ) । ८. उनि ( २ ) ।

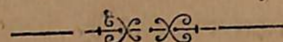
'वे फूल' ही पाठ है, अतः वही इस संस्करण मैं रक्खा गया है। इस पाठ के अनुसार गुलाब की डालियों को ग्रीष्म ऋतु मैं शुष्क दशा मैं देख कर और चैत्र मास के सुंदर पुष्पों का स्मरण कर के इस दोहे का कहा जाना मानना पड़ता है॥



**समै समै सुंदर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।**
**मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥ ४३२॥**

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि मनुष्य को संसार की सब वस्तुएँ समय समय पर, अपनी रुचि के अनुसार, सुंदर लगती हैं, वास्तव मैं दैव-सृष्टि की कोई वस्तु कुरूप नहीं है—

( अर्थ )—[ उस परम सौंदर्यमय सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता की सृष्टि में ] कोई रूप कुरूप नहीं है, समय समय ( अपने अपने अवसर ) पर सब ही सुंदर [ लगते ] हैं। [ मनुष्य के ] मन की रुचि ( प्रीति, चाह ) [ जिस समय ] जिस ओर जितनी [ होती है, उस समय ] उस ओर ( उस वस्तु के पक्ष में ) उतनी रुचि ( शोभा ) हो जाती है ( जान पड़ने लगती है )॥

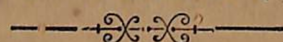


**या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।**
**तिय-छबि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ॥ ४३३॥**

**छायाग्राहिनी**=सिंहिका नाम की एक राक्षसी, जो कि राहु की माता मानी जाती और समुद्र मैं रहती थी। उसे यह शक्ति थी कि जिस उड़ते हुए पक्षी इत्यादि की परछाहीं जल पर पड़ती थी, उसे उसी परछाहीं के द्वारा आकर्षित कर के खा लेती थी। जब हनुमान्‌जी लंका को जाते थे, तब उसने उन्हें भी आकर्षित कर लिया। पर हनुमान्‌जी ने उसे मार कर समुद्र पार किया॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति है कि इस भवसागर से पार होने मैं स्त्री बड़ी भारी बाधा है—

( अर्थ )—इस भव-पारावार ( संसार-रूपी समुद्र ) को लाँघ कर कौन पार जा सकता है, [ क्योंकि ] स्त्री की छवि-रूपी छायाग्राहिणी ( छाया पकड़ कर खींच लेने वाली राक्षसी ) बीच ही में आ कर पकड़ लेती है [ बस यदि हनुमान्‌जी ऐसा ब्रह्मचारी तथा पराक्रमी हो, तो उससे बच कर पार हो सकता है ]॥



**दिन दस आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।**
**जौ लगि काग! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु॥ ४३४॥**

**सराधपखु** ( श्राद्धपक्ष )=पितृपक्ष। पितृपक्ष मैं जब लोग पितरों का श्राद्ध करते हैं, तो कुछ अन्न कौए के लिए भी निकाल कर उसको पुकार कर खिला देते हैं॥

( अवतरण )—किसी नीच मनुष्य के किसी विशेष अवसर पर सम्मानित हो कर गर्व करने पर कोई यह दोहा, काक पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

१. सुंदरि ( ३, ५ )। २. तिती तितै ( ३, ४ )। ३. गहै ( १, ३ ), ग्रहति ( २ )। ४. रूप को ( ४ )। ५. लौं ( ३, ५ )। ६. हीं ( २ )।

( अर्थ )—हे काक ! [ तू ] दस दिन ( थोड़े दिन ) आदर पा कर [ भले ही ] अपना बखान ( आत्मश्लाघा ) कर ले । [ पर यह समझ रख कि ] तेरा [ यह ] सन्मान तभी तक है, जब तक श्राद्धपक्ष ( अर्थात् यह अवसर विशेष ) है [ अभिप्राय यह है कि तुझमें वास्तव में कोई सन्मान के योग्य गुण नहीँ है; पर इस समय ऐसा अवसर ही उपस्थित है कि तेरा आदर करना पड़ता है, अतः तुझको इस आदर पर गर्व न करना चाहिए ] ॥

मरतु प्यास पिँजरा-पर्यौ सुआ समै कैँ फेर ।
आदरु दै दै बोलियँतु[1] बाइसु[2] बलि की बेर ॥ ४३५ ॥

बलि—पितृश्राद्ध अथवा बलि के समय वायस-बलि भी की जाती है; अर्थात् काक के निमित्त भी एक भाग निकाला जाता है, जिसके खिलाने के लिए कौआ पुकार पुकार कर बुलाया जाता है ॥

( अवतरण )—समय विशेष की आवश्यकता के अनुसार कहीँ गुणी का निरादर एवं मूर्ख का आदर देख कर कोई उस घटना का वर्णन, शुक तथा काक पर अन्योक्ति कर के, करता है—

( अर्थ )—[ देखो, ] समय के फेर से ( अवसर विशेष उपस्थित होने के कारण ) [ सब लोग पिंडदान के कार्य में ऐसे प्रवृत्त हैं कि ] सुआ ( शुक ) [ बेचारा तो ] पिँजड़े में पड़ा प्यास से मर रहा है, [ किसी को उसके दाना-पानी का भी ध्यान नहीँ है, और इस ] बलिप्रदान के बेर ( अवसर पर ) 'बाइस' ( वायस, काक ) आदर दे दे कर ( बड़े आदर-पूर्वक ) 'बोलियतु' ( बोला जाता, पुकारा जाता ) है ॥

वेई कर, ब्यौरनि वहै, ब्यौरौ कौन बिचार ।
जिनहीँ उरझ्यौ[3] मो हियौ, तिनहीँ सुरझे[4] बार ॥ ४३६ ॥

कर=हाथ । यहाँ इस शब्द का अर्थ हथौटी, अर्थात् कोई काम करने का ढंग विशेष, है ॥ ब्यौरनि= बालोँ के सँवारने का विशेष ढंग ॥ ब्यौरौ=भेद ॥

( अवतरण )—नायिका ने अपनी सखी को नायक के पास कुछ संदेश ले कर भेजा था । नायक ने वहाँ उसके केश अपने हाथ से सँवार दिए । उसके लौटने पर नायिका केश सँवारने की हथौटी तथा रीति से नायक-द्वारा सँवारे गए केश पहचान कर कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे बालोँ के बनाव की ] हथौटी वे ही हैं, [ जो नायक की हैँ तथा ] 'ब्यौरनि' ( सँवारने की रीति ) [ भी ] वही है, [ जैसी नायक की । तो फिर अब ] ब्यौरा ( भेद, अंतर ) किस विचार से [ रह गया । यह तो निश्चय ही हो गया है कि ] जिनसे मेरा हृदय उलझा है, उन्हीँ से ( उन्हीँ के द्वारा ) [ तेरे ] बाल सुलझे हैँ ॥

भिन्न भिन्न टीकाकारोँ ने इस दोहे के अर्थ भिन्न भिन्न किए हैँ । हमारी समझ में ऊपर लिखा हुआ अर्थ विशेष स्पष्ट, संगत तथा शब्दानुयायी है ॥

---

१. बोलियै ( २ ) । २. बायस ( ४ ) । ३. उरझत ( २ ) । ४. सुरझत ( २ ) ।

इहीँ आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब कैँ मूल।
ह्वैहैँ फेरि बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल ॥ ४३७ ॥

( अवतरण )—किसी राजा की संपत्ति नष्ट हो जाने पर गुणीजन उसका संग नहीँ छोड़ते। उनको यह आशा रहती है कि सुअवसर प्राप्त होने पर फिर उसी संपत्ति से वह संपन्न होगा। इसी विषय को कवि, भ्रमर पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

( अर्थ )—गुलाब की [ फूल-पत्तियोँ से रहित ठूँठी ] जड़ ( पेड़ी ) मैँ भ्रमर इसी आशा से अटका ( निरत ) रहता है [ कि ] वसंत ऋतु मैँ फिर इन डालोँ मैँ वे फूल [ जिनका आनंद मैं लेता था ] होँगे ॥

गुलाब की पेड़ी मैँ भ्रमर अटका नहीँ रहता। यह कवि की कल्पित प्रौढ़ोक्ति मात्र है ॥

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गवँई-गाँवँ, गुलाब ॥ ४३८ ॥

आब—यह शब्द फ़ारसी का है। इसका मुख्यार्थ जल है; पर यह चमक, ओप इत्यादि के अर्थ मैँ, जिसमैँ संस्कृत शब्द पानिप प्रयुक्त होता है, प्रचलित है। इस अर्थ मैँ 'आब' शब्द स्त्रीलिंग माना जाता है ॥
गवँई-गाँवँ=गवाँरोँ के ग्राम, अर्थात् वास-स्थल मैँ ॥

( अवतरण )—मूर्खमंडली मैँ पड़े हुए किसी गुणी के गुण का निरादर देख कर उससे कोई चतुर, गुलाब पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

( अर्थ )—हे गुलाब, यहाँ के नागर [ नगरनिवासी गुणग्राहक ] नहीँ हैं, जिनके आदर से तेरी आब ( शोभा, प्रतिष्ठा ) बढ़ी हुई है ( अर्थात् तू सम्मानित होता है )। [ इस ] गवाँरोँ की बसती मैँ [ तो तू ] फूला हुआ [ भी ] ( विकसित-गुण होने पर भी ) अनफूला ( बिना फूला हुआ, अर्थात् अविकसित-गुण ) हो रहा है [ भाव यह है कि यहाँ तेरे गुण का विकास होना न होना बराबर है ] ॥

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु कै ब्यापार।
नहिँ जानतु, इहिँ पुर बसैँ धोबी, ओड़, कुँभार ॥ ४३९ ॥

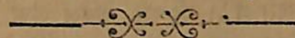
ओड़=घरोँ का ईँट, चूना इत्यादि गदहोँ पर ढोने वाले ॥

( अवतरण )—किसी महान् गुणी पुरुष को, अपने गुणोँ का ग्राहक प्राप्त करने की आशा से, निकृष्ट जनोँ की मंडली मैँ आया हुआ देख कर, कोई सज्जन, हाथी के व्यापारी पर अन्योक्ति कर के, उससे वहाँ से चले जाने की प्रस्तावना करता है—

( अर्थ )—[ अरे हाथी के व्यापारी, महान् गुणी, तू यहाँ से ] चला जा, यहाँ हाथियोँ के ( अर्थात् तेरे महान् गुणोँ के ) व्यापार ( क्रय, विक्रय, गुण-ग्राहकता ) कौन

१. इहि आसा ( ३, ४ )। २. रहे ( २ )। ३. बरी ( ४ )। ४. गाम ( २, ३, ५ )। ५. को ( १, ४ )। ६. सबै ( १, ४ )।

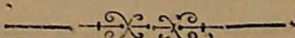
कर। [ क्या तू यह बात ] नहीँ जानता [कि] इस पुर मैं ( अर्थात् इस मंडली मैं ) [सब] धोबी, ओड़ [ तथा ] कुँभार ( अर्थात् निकृष्ट जन ) [ ही ] बसते हैं [ जिनको नित्य गदहों से काम पड़ता है। फिर भला वे तेरे हाथियों अर्थात् महान् गुणों को क्यों पूछने लगे ] ॥



खरी लसति गोरैं गरैं धँसति पान की पीक।
मनौ[1] गुलीबँद[2]-लाल की, लाल, लाल दुति-लीक ॥ ४४० ॥

( अवतरण )—सखी नायिका की गुराई तथा अमलता की प्रशंसा कर के नायक की रुचि बढ़ाती है—

( अर्थ )—हे लाल, [ उसके ] गोरे गले मैं धसती हुई ( पान खाने के समय नीचे उतरती हुई ) पान की पीक [ उसकी विमल तथा पतली त्वचा मैं से झलक कर ] खरी लसती ( अति शोभा देती ) है। मानो गुलूबंद ( गले मैं पहनने के भूषण विशेष ) के लाल ( माणिक्य ) की झलक की लाल रेखा है ॥

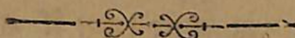


पाइल पाइ लगी रहै, लगौ[3] अमोलिक लाल।
भोडर हूँ की भासिहै बैंदी भामिनि-भाल ॥ ४४१ ॥

भोडर = अभ्रक ॥

( अवतरण )—पायल तथा बैंदी पर अन्योक्ति के रूप मैं कवि की उक्ति है कि जिस व्यक्ति मैं स्वयं योग्यता नहीं है, वह दूसरों की सहायता तथा भूषणादि से श्रेष्ठ पद नहीं पा सकता, पर जिसमैं स्वयं योग्यता होती है, वह यद्यपि सामान्य भी हो, तथापि उच्च पद प्राप्त करता है—

( अर्थ )—पायल ( पायज़ेब ) पाँव [ ही ] मैं लगी रहती है ( नीचे ही पद पर रहती है ), [ उसमैं ] अमोलिक लाल ( माणिक्य ) [ लगे हैं, तो ] लगे रहो ; [ पर सामान्य ] भोडर की भी बैंदी ( टिकुली ) भामिनी ( सुंदर स्त्री ) के भाल पर शोभा देगी ( उच्च पद प्राप्त करेगी ) ॥



कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ[4] इतौ[5] उदोतु।
बंक बकारी[6] देत ज्यौं दामु रुपैयाँ[7] होतु ॥ ४४२ ॥

बकारी = टेढ़ी लकीर, जो किसी अंक को रुपया सूचित करने के निमित्त उसकी दाहिनी ओर खीँच दी जाती है। जैसे यदि पाँच के अंक के विषय मैं यह सूचित करना हो कि इसका अर्थ पाँच रुपया है, तो इस रीति से—५)—लिखा जाता है ॥ दामु—एक पैसे के पचीसवें भाग को दाम कहते हैं। बिहारी के समय मैं कोई अंक बिना बकारी लिखे जाने पर उतने दामों का बोधक माना जाता था ; जैसे, 'अमुक वस्तु ८ की है', लिखने से यह समझा जाता था कि वह वस्तु आठ दाम की है। पर जब किसी अंक की

---

१. मानो ( ३, ५ ) २. गुलूबँध ( २ ); गुलबँद ( ३, ५ ) । ३. लगे ( ४ ) । ४. बढ़िगै ( १ ) । ५. इतै ( १ ) । ६. बकाई ( ५ ) । ७. रुपइए ( ३, ५ ) ।

दाहिनी ओर बकारी लगा दी जाती थी, तो वह अंक रुपए का ज्ञापक हो जाता था ; जैसे, ८) लिखने से आठ रुपया समझा जाता था, और ऐसा ही अब भी समझा जाता है। संप्रति दाम के लिखने की प्रथा उठती जाती है, और यदि लिखा भी जाता है, तो बहुधा अंक की बाईं ओर बकारी लगा दी जाती है ; जैसे, आठ दाम को बहुधा लोग )८ लिखते हैं। तो भी केवल अंक लिख देने की परिपाटी अभी सर्वथा लुप्त नहीं हो गई है। अब भी कभी कभी अधेले के स्थान पर १२॥ लिखा देखने में आता है॥

( अवतरण )—नायिका के मुख पर बालों की लट के लटक पड़ने से उसकी शोभा बहुत बढ़ गई है। सखी नायक का ध्यान उस ओर आकर्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ देखो, उसके ] मुख पर कुटिल अलक के छूट पड़ने से [ श्यामता तथा गुराई का मिलान होने के कारण उसकी गुराई का ] उदोतु ( उद्योत, उगाव ) इतना बढ़ गया है [ कि ] जिस प्रकार बंक ( टेढ़ी ) बकारी के देते [ ही ] दाम रुपया हो जाता है॥

दाम तथा रुपए के मूल्य में बड़ा अंतर है। पर दाम की दाहिनी ओर केवल बंक बकारी लगा देने से उस दाम का मूल्य रुपया हो जाता है। सखी कहती है कि इसी प्रकार मुख पर टेढ़ी अलक के आ जाने से उसकी शोभा बहुत बढ़ जाती है॥

**रहि न सक्यौ, कसु करि रह्यौ, बस करि लीनौ मार।**
**भेदि दुसार[2] कियौ हियौ[1] तन-दुति, भेदै सार॥ ४४३॥**

**कसु**=खींचातानी, बल, क़ाबू॥ **भेदि**=छेद कर, काट कर॥ **दुसार**=दो टुकड़े, दोनों ओर छिद वाला, आरपार। इसी शब्द का 'दुसाल' रूप बिहारी ने ३७५वें दोहे में प्रयुक्त किया है॥ **तन-दुति**=शरीर की शोभा॥ **भेदै**=छेदती है, पीड़ा देती है॥ **सार**=शल्य। यहाँ इसका अर्थ वह वस्तु है, जो घाव में रह जाने पर पीड़ा देती है। इस दोहे में इस शब्द का स्त्रीलिंग-प्रयोग हुआ है॥

( अवतरण )—नायक नायिका की शोभा देख कर मोहित हो गया है, और उसकी याद से उसके मिलने की अभिलाषा में विकल है। वह अपनी यही दशा उसकी सखी से कह कर मिलाने की प्रार्थना व्यंजित करता है—

( अर्थ )—[ मैं बहुत ] कस ( क़ाबू ) कर के रहा, [पर] रह न सका (मेरा कुछ बस न चला), और मार ( कामदेव ) ने [ मुझे अपने ] वश में कर [ ही ] लिया, [ क्योंकि उसके ] शरीर की शोभा ने भेद कर ( छेद कर ) हृदय को आरपार कर दिया, [ और अब उसकी शोभा का ] शल्य ( अर्थात् हृदय में रह गया हुआ स्मरण ) भेदता ( पीड़ा देता ) है॥

इस दोहे का अर्थ अन्य टीकाकारों ने और ही और किया है, पर इसके उत्तरार्द्ध से ३७५वें दोहे के उत्तरार्द्ध का भाव मिलाने से हमारा किया हुआ अर्थ ठीक प्रतीत होता है॥

**खल-बढ़ई बलु करि थके, कटै न कुबत-कुठार।**
**आलबाल उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार॥ ४४४॥**

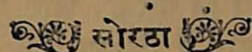
**कुबत**=निंदा॥ **आलबाल** (आलवाल)=क्यारी॥ **झालरी**=पुष्प, पल्लव आदि से संपन्न हुई॥

---

१. हिया ( ४ )। २. दुसाल ( ३, ५ )। ३. कै ( ३, ५ )।

( अवतरण )—किसी परकीया नायिका का वचन अंतरंगिनी सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, मेरे ] हृदय-रूपी आलवाल में प्रेम रूपी तरु की खरी फलराई हुई डालें निंदा-रूपी कुठार से कटती नहीं, [ यद्यपि ] खल ( दुर्जन )-रूपी बढ़ई बल कर के थक गए ॥

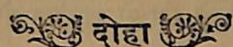

सोरठा

स्यौं[1] बिजुरी मनु मेह आनि[2] इहाँ[3] बिरहा धरे[4]।
आठौ जाम, अछेह, दृग जु बरत बरसत रहत ॥ ४४५ ॥

स्यौं = समेत, सहित ॥ अछेह ( अच्छेप )=निरंतर ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, मेरे ] नेत्र जो आठों याम ( रातदिन ), निरंतर, बलते [ तथा ] बरसते रहते हैं, [ सो ] मानो विरह ने बिजुली के समेत मेघ यहाँ ( इन नेत्रों में ) ला रक्खे हैं ॥

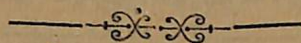

दोहा

कत बेकाज चलाइयति[5] चतुराई की चाल।
कहे देति यह रावरे सब गुन निरगुन[6] माल ॥ ४४६ ॥

गुन ( गुण )—गुण का अर्थ यहाँ विपरीत लक्षणा से दोष लिया जाता है ॥ निरगुन माल—स्त्री अथवा पुरुष जो मोतियों, अथवा अन्य किसी पदार्थ, की माला पहने होते हैं, उसके दाने आलिंगन करने में हृदय पर उपट आते हैं, पर उसका डोरा ( गुण ) नहीं उपटता। यही बिना गुण के उपटी हुई माला का चिह्न निर्गुण, अर्थात् बिना डोरे की, माला कहलाता है ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ मेरे आगे आपके द्वारा यह ] चतुराई की चाल ( धूर्तता से मुकरने की रीति ) व्यर्थ क्यों चलाई जाती है। आपके सब गुण ( दोष ) यह निर्गुण माला कहे देती है ॥



उनकौ हितु उनहीं बनै, कोऊ करौ[7] अनेकु।
फिरतु काकगोलकु भयौ दुहूँ देह ज्यौ एकु ॥ ४४७ ॥

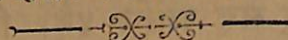
काकगोलकु = कौए की आँख का ढेढ़र अथवा पुतली। यह बात प्रसिद्ध है कि कौए की आँखों में गोलक एक ही होता है, और वह जब जिस आँख से देखना चाहता है, तब वह गोलक घूम कर उसी आँख में चला जाता है ॥ ज्यौ ( जीव )=प्राण ॥

( अवतरण )—दंपति का अनुपम तथा अलौकिक प्रेम देख कर सखियाँ आपस में प्रसन्नता-पूर्वक कहती हैं—

---

१. सौ ( २ ), ज्यौं ( ३, ४, ५ ) । २. आइ ( १ ) । ३. वही ( १ ) । ४. धरी ( १, ५ ), धरै ( ४ ) । ५. चलाइयत ( ३, ५ ) । ६. बिनगुन ( १ ) । ७. करे ( ४ ) ।

( अर्थ )—उन [ दोनोँ ] का [ परस्पर जो अनुपम तथा अलौकिक ] हित ( प्रेम ) [ है, वह ] उन्हीँ से [ करते ] बनता है। [ वैसा प्रेम करने की ] कोई अनेक [ चेष्टा किया ] करो [ पर वैसा हो नहीँ सकता ]। [ प्रेम के कारण उन दोनोँ की तो ऐसी दशा हो रही है कि दोनोँ के प्राण एक ही हो गए हैँ, और ऐसा जान पड़ता है कि ] एक ही जीव काकगोलक हुआ दोनोँ के शरीर मैँ फिरता है॥



गड़े, बड़े छबि-छाक छकि, छिगुनी-छोर छुटैँ न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीँ नह-दी मँहदी नैन॥ ४४८॥

छिगुनी-छोर=कानी अँगुली के सिरे पर॥ सुरँग=लाल॥ उहीँ=उसी स्थल पर॥ नह-दी=नख मैँ दी हुई॥ महदी=मँहदी॥

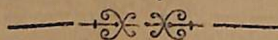
( अवतरण )—नायक को नायिका की कनिष्ठिकांगुली की शोभा ऐसी अच्छी लगी है कि उसके नयन वहाँ से टलते ही नहीँ, और मँहदी के रंग से अनुरक्त हो रहे हैँ। यह वृत्तांत वह नायिका से कह कर उसको प्रसन्न किया चाहता है—

( अर्थ )—छवि के बड़े ( गहरे ) छाक ( मद्यपान ) से छक कर ( मतवाले हो कर ) छिगुनी के सिरे पर गड़े हुए [ मेरे ] नयन छूटते नहीँ ( हट नहीँ पाते ), [ और ] 'उहीँ' ( उसी स्थान पर अथवा उसी कनिष्ठिका अँगुली के ) नह ( नख ) मैँ दी हुई मँहदी से सुरंग रंग मैँ रँग रहे हैँ ( भली भाँति अनुरक्त हो रहे हैँ )॥

'गड़े, बड़े छबि-छाक छकि, छिगुनी-छोर', यह खंड-वाक्य 'नैन' शब्द का विशेषण है॥

'नह-दी महदी' पद करणकारक है॥

होली के दिनोँ मैँ जब किसी को बहुत रँगना और छकाना होता है, तो पहिले उसको कोई गहरे नशे की वस्तु पिला देते हैँ, जिससे वह मतवाला हो कर भाग नहीँ सकता, और जब वह भकुआ हो कर रह जाता है, तो उसको रंग तथा गुलाल इत्यादि से भली भाँति लत्तपत्त कर के सब लोग आमोदप्रमोद मचाते हैँ। नायक अपने नेत्रोँ की वैसी ही दशा का होना कहता है॥



बाढ़तु तो उर उरज-भरु भरि तरुनई-बिकास।
बोझनु सौतिनु कैँ हियैँ आवति रूँधि उसास॥ ४४९॥

( अवतरण )—नवयौवना नायिका से सखी का वचन—

( अर्थ )—तरुणाई के विकास ( खिलाव ) से भर कर उरज ( छाती, कुच ) का भराव ( बोझा ) [ तो ] तेरे हृदय पर बढ़ता है, [ और ] बोझोँ [ के प्रभाव ] से उसास सौतोँ के हृदय मैँ रूँध कर ( घुट कर ) आता है ( अर्थात् तेरी जवानी के आने से सौतोँ को दुःख होता है )॥

---

१. छिंगुरी ( १ )। २. रही ( १ )। ३. मेहदी ( ४ )। ४. भरु ( २ ), भर ( ३, ४ )। ५. आवत ( ५ )। ६. रूँधी ( १, २ )।

इस दोहे में कवि ने यह चमत्कार दिखाया है कि बोझा तो एक के हृदय पर बढ़ता है, और उसके प्रभाव से उच्छ्वास दूसरे का रुँधता है ॥

अलि, इन लोइन-सरनु कौ खरौ बिषम संचारु।
लगैं लगाऐं एक से दुहूँनु[1] करत सुमारु ॥ ४५० ॥

(अवतरण)—नायक से सामना होने पर नायिका ने, उसके ऊपर, नयनों के बाण चलाए थे, जिनसे विकल हो कर नायक तड़प रहा है। सखी ने उसका वृत्तांत नायिका से कुछ इस रीति पर कहा कि वाह! उस दिन तूने कटाक्ष चला कर उस बेचारे को तो ऐसा घायल किया कि वह पड़ा कराह रहा है! इसके उत्तर में नायिका, इस दोहे के द्वारा, अपना भी उससे अनुरक्त होना विदित करती है—

(अर्थ)—हे सखी, [तू यह मत समझ कि वह ही मेरे अनुराग में विकल हैं, मैं भी तो उनके मिलने की अभिलाषा से तड़प रही हूँ] इन लोचन-रूपी सरों (बाणों) का बड़ा विषम संचार (व्यापार) है। [ये] 'सुमारु' (अच्छे अर्थात् बुरे मारने वाले) 'लगैं लगाएँ' (जिसको लगे हैं तथा जिसके द्वारा लगाए गए हैं), दोनों को एक सा [विकल] करते हैं॥

इस दोहे में जो 'दुहूँनु' पाठ है, उसके कारण छंद की गति में कुछ शिथिलता आ जाती है। चौथे अंक की पुस्तक में 'दुहुवन' पाठ है, और यही पाठ यूसुफ़ख़ाँ की टीका और हरिप्रकाश-टीका में भी मिलता है; पर 'दुहुवन' रूप का प्रयोग बिहारी की टकसाली भाषा के बाहर ज्ञात होता है, यद्यपि इस पाठ से छंद की गति सुधर जाती है। कृष्ण कवि की टीका तथा अमरचंद्रिका में क्रमशः 'दोउन' तथा 'दोहुन' पाठ मिलते हैं। इन पाठों से छंद की गति भी ठीक हो जाती है, और भाषा भी ठीक रहती है। पर हमारी पाँच प्राचीन पुस्तकों में से चार में 'दुहूँनु' ही पाठ है, और अनवरचंद्रिका में भी ऐसा ही है, अतः इस संस्करण में 'दुहूँनु' ही पाठ रक्खा गया है॥

मूड़ चढ़ाऐँऊ[2] रहै पर्‌यौ पीठि कच-भारु।
रहै[3] गरैं परि, राखिबौ[4] तऊ हियैं पर हारु ॥ ४५१ ॥

**मूड़ चढ़ाएँ**—मूड़ चढ़ाने का शब्दार्थ सिर पर धारण करना, एवं लक्ष्यार्थ किसी का आदर कर कर के उसे धृष्ट कर देना, होता है॥ **पर्‌यौ पीठि**—पीठ पर पड़े रहने का लक्ष्यार्थ बोलचाल में बिना सन्मान के रहना होता है॥ **गरैं परि**—गले पड़ने का लक्ष्यार्थ लोकोक्ति में किसी के पास बिना उसकी इच्छा के रहना होता है॥ **हियैं पर**—'हियैं पर' का शब्दार्थ छाती पर, एवं लक्ष्यार्थ सादर, है॥

(अवतरण)—अयोग्य पुरुष का चाहे कितना ही सन्मान किया जाय, पर वह श्रेष्ठ पद का अधिकारी नहीं होता, और गुणी पुरुष यदि गले पड़ कर भी रहे, तो भी उसे श्रेष्ठ पद देना होता है। इसी बात को कवि, बाल तथा हार पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

(अर्थ)—कच-भार (बालों का समूह) मूड़ चढ़ाने पर भी पीठ ही पर पड़ा रहता

१. दुहुवन (४)। २. चढ़ायौऊ (३, ५), चढ़ाये हूँ (४)। ३. रहौ (४)। ४. राखियै (२, ३)।

है ( अग्रसर नहीं हो सकता ), [ और ] हार [ यद्यपि ] गले पड़ कर रहता है, तथापि [ उसे ] हृदय पर रखना [ ही ] योग्य है ॥

इस दोहे में 'मूड़ चढ़ाएँ', 'पर्यौ पीठि', 'गरैं परि', 'हियैं पर', इन चारों के मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ, दोनों पर कवि की ताक झाँक है, एवं 'कच' तथा 'हार' शब्दों के कच्चे, अर्थात् सब कामों में कच्चे मनुष्य, एवं हार ( हारक ), अर्थात् सब गुणों में दक्ष, अर्थों पर भी कवि की दृष्टि प्रतीत होती है ॥

करतु जातु जेती कटनि बढ़ि रस-सरिता-सोतु।
आलबाल उर प्रेम-तरु तितौ तितौ दृढ़ु होतु ॥ ४५२ ॥

**कटनि**=काट। रस-पक्ष में इसका अर्थ हृदय में घाव करना, और जल-पक्ष में नदियों के द्वारा करारे का काटा जाना, होता है ॥ **रस**=मिलने का चाव तथा जल। इस शब्द में श्लिष्टपद-मूलक रूपक है ॥ **सोतु** ( स्रोत )=सोता, धारा ॥

( अवतरण )—नायिका नायक के प्रेम का वृत्तांत सुन कर उससे मिलने को उद्यत हो गई है। पर सखी उसको, नायक का प्रेम दृढ़ करने के निमित्त, शिक्षा देती है कि अभी कुछ समय तक तरसा कर नायक का प्रेम दृढ़ हो जाने दे। यह मत समझ कि इस तरसाने से कहीं उसका प्रेम जाता न रहे। सच्चे प्रेम की तो यह व्यवस्था है कि जितना ही मनुष्य का चाव बढ़ता है, उतना ही उसका प्रेम दृढ़ होता है—

( अर्थ )—चाव-रूपी जल की नदी का प्रवाह बढ़ कर जितनी जितनी काट करता जाता है, उतना उतना हृदय-रूपी आलबाल में प्रेम-रूपी तरु दृढ़ होता जाता है ॥

विलक्षणता यह है कि सामान्य नदी के बढ़ कर काट करने पर करारे के वृक्षों की जड़ें निर्बल पड़ जाती हैं, जिससे वृक्ष ढह जाते हैं, पर चाव-नदी के बढ़ कर काट करने पर प्रेम-तरु हृदय में और भी दृढ़ होता है ॥

राति द्यौस हौंसै रहै, मानु न ठिकु[1] ठहराइ।
जेतौ औगुनु ढूँढ़ियै, गुनै[2] हाथ परि जाइ ॥ ४५३ ॥

**हौंसै**=हवस ही। फ़ारसी भाषा में 'हवस' तृष्णा, अर्थात् अभिलाषा, को कहते हैं ॥ **ठिकु**=ठहरा हुआ, स्थिर ॥ **औगुनु** ( अवगुण )=दोष, खोट ॥

( अवतरण )—प्रेमगर्विता नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, मुझे तो मान करने की ] प्रबल अभिलाषा ही रात,दिन ( सदैव ) रहती है [ कि नायक कुछ अपराध करे, तो मैं भी मान करने का स्वाद चख लूँ। पर वह तो सदा मेरी सुश्रूषा में ऐसा लगा रहता है, और अन्य स्त्री की ओर से ऐसा विरक्त है कि मेरा ] मान स्थिर नहीं ठहरता। जितना [ ही उसका ] अवगुण [ मान

१. ठिकु न ( १ ), ठकि न ( ५ )। २. गुन्है ( १ ), गुन्नै ( ४ )।

करने के बहाने के निमित्त ] ढूँढ़ा जाता है, [ उतना ही उसका ] गुण ही हाथ पड़ जाता है ( मिल जाता है ) [ अतः मैं मान करने के स्वाद से वंचित ही रहती हूँ ] ॥

मनु न मनावन कौं करै, देतु रुठाइ रुठाइ।
कौतुक-लाग्यौ प्यौ प्रिया-खिझहूँ रिझवति जाइ ॥ ४५४ ॥

कौतुक-लाग्यौ = कौतुक अर्थात् खिलवाड़ में लगा हुआ। यह समस्त पद 'प्यौ' का विशेषण है ॥ खिझ ( खीझ ) = चिढ़, रोष-पूर्वक कुछ कहना अथवा करना ॥

( अवतरण )—नायक को नायिका के खीझने का भाव ऐसा अच्छा लगता है कि वह मनाते मनाते फिर वही भाव देखने के निमित्त कोई ऐसी बात बोल उठता है कि नायिका फिर रूठ जाती है, और वह फिर से मनाना आरंभ करता है। इसी कौतुक में नायक लगा हुआ है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—कौतुक ( खिलवाड़ ) में लगे हुए प्रियतम को प्रिया की खीझ भी रिझाती जाती है। [ अतः उसका ] मन [ उसे ] मनाने को नहीं करता, [ और जब यह कुछ मानने पर आती है, तो जान बूझ कर फिर उसे ] खिझा खिझा ( रुष्ट कर कर ) देता है ॥

बिरह-बिपति-दिनु परत हीं तजे सुखनु सब अंग।
रहि अब लौं ऽबै दुखौ भए चलाचलै जिय-संग ॥ ४५५ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका अपनी पत्रिका में नायक को अपनी दीन दशा लिखती है, और यह भी सूचित करती है कि अब मेरे प्राण चलने ही पर उद्यत हैं—

( अर्थ )—विरह-रूपी विपत्ति के दिन ( अवसर, समय ) के पड़ते ही सुखों ने [ तो ] सब अंग छोड़ [ ही ] दिए [ थे ] ( मेरे सब अंग सुखानुभव से वंचित हो गए थे ), [ और ] अब तक रह कर अब दुःख भी प्राणों के साथ चलाचल ( चलने पर उद्यत ) ही हो रहे हैं ( चला ही चाहते हैं ) ॥

इस दोहे का ध्वन्यार्थ यह हुआ कि सब अंगों को सुख तो छोड़ ही गए थे ; अब दुःख भी उन्हें छोड़ कर प्राणों के साथ जाया ही चाहते हैं, अर्थात् अब शरीर में दुःख तथा सुख, दोनों ही न रह जायँगे ; पर प्राणों को दुःख शरीर-त्याग के पश्चात् भी होता रहेगा, क्योंकि दुःख प्राणों के साथ ही चलाचल हो रहे हैं। अतः आप पधार कर दुःख से प्राणों का पिंड छुड़ाइए ॥

'चलाचलै' ( चलाचल ही ) में जो 'ही' है, उससे व्यंजित होता है कि प्राण शीघ्र ही निकला चाहते हैं। अतः नायक को आने में किंचिन्मात्र भी विलंब न करना चाहिए ॥

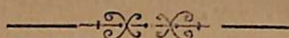
---

१. मान मनावन ( २ ) । २. कौतिक ( १,४ ), कौतिग ( २ ) । ३. खीझ रीझवति ( ४ ) । ४. सब दुख ( ३, ५ ) । ५. चलाचलू, चलाचली ( २ ) ।

**नयैं बिरह बढ़ती बिथा खरी बिकल जिय बाल।**
**बिलखी देखि परोसिन्यौ हरखि हँसी तिहिँ काल ॥ ४५६ ॥**

( अवतरण )—नायिका को नया नया विरह हुआ है, जिसके कारण वह अत्यंत विकल हो रही है। पर अपनी बालावस्था तथा पूर्वानुभव-शून्यता के वश एवं लज्जा तथा अज्ञानता के कारण, वह, संदेश भेज कर अथवा पत्र-द्वारा अपना विरह निवेदित कर के, नायक को बुलाने का उपाय करने मैं हिचकती है, और सोच रही है कि किस प्रकार विरह-दुःख दूर हो। इतने ही मैं वह, अपनी प्रवीण पड़ोसिन को भी दुखी देख कर, अनुमान करती है कि इसे भी मेरे ही पति का वियोग व्यथित कर रहा है, और यह चतुर होने के कारण अवश्य ही नायक को, पत्रादि-द्वारा अपना विरह निवेदन कर के, बुला लेगी। इस विचार से, विरह-व्यथा मिटने की संभावना मान कर, उसको हर्ष होता है, और वह अपना दुःख भूल कर, पड़ोसिन की चोरी खुल जाने पर तथा संयोग-संभावना पर प्रसन्न हो कर, हँस देती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—नए विरह मैं बढ़ती हुई व्यथा से [ वह ] जी में अत्यंत विकल बाला ( नई अवस्था वाली स्त्री ) पड़ोसिन को भी बिलखी ( दुखी ) देख कर उसी समय हर्षित हो कर हँस पड़ी ॥



**छुतौ[1] नेहु कागर[2] हियैं[3], भई लखाइ न टाँकु।**
**बिरह-तचैं उघरचौ सु अब सेँहुड़ कैसो आँकु ॥ ४५७ ॥**

**छुतौ**=छत हो गया, अलक्षित हुआ, समा गया ॥ **कागर**=कागज़ ॥ **लखाइ**=लक्षित होने की क्रिया, पहिचान ॥ **टाँकु**—एक बहुत छोटे तोल के परिमाण को कहते हैं। बोलचाल में टाँक का अर्थ बहुत थोड़ा लिया जाता है ॥ **आँकु**=चिह्न। यहाँ इसका अर्थ अक्षर अथवा लेख समझना चाहिए ॥ **सेँहुड़ कैसो आँकु**=सेँहुड़ के दूध से लिखे हुए आँक के ऐसा आँक। श्वेत कागज़ पर सेँहुड़ के दूध से लिख देने से लेख, सूख जाने पर, अलक्षित हो जाता है; पर जब वह कागज़ अग्नि पर सेँका जाता है, तो वह लेख काला हो कर दिखाई देने लगता है ॥

( अवतरण )—इस दोहे की नायिका परकीया प्रोषितपतिका है। पर विलक्षणता यह है कि वह पूर्वानुरागिनी होने की अवस्था ही मैं प्रोषितपतिका भी हो गई है। पूर्वानुराग मैं उसने, कुल-कानि के कारण, अपना अनुराग किसी पर प्रकट नहीं किया था, यहाँ तक कि नायक को भी यह नहीं प्रकट होने पाया था कि यह मुझ पर अनुरक्त है। यद्यपि नायक ने उससे मिलने का उद्योग भी किया था, तथापि वह टाल गई थी, और दूर ही दूर से उसके दर्शन मात्र से संतोष कर लेती और मिलने के निमित्त किसी परम सुअवसर की प्रतीक्षा करती थी। अब जब नायक परदेश चला गया, तो उसे देखे बिना विकल हो कर उसने अपने अनुराग का वृत्तांत सखी से कहा, और उसको नायक के पास भेजा। सखी ने जब नायक से उसका विरह-वृत्तांत कहा, तो नायक ने आश्चर्य से पूछा कि अब यह प्रेम कैसे उत्पन्न हो गया, मेरे वहाँ रहने पर तो वह मेरी ओर कुछ रुझान ही नहीं करती थी। इसके उत्तर मैं सखी कहती है कि उसके हृदय मैं आपका प्रेम कुछ नए सिरे से नहीं उत्पन्न हुआ है, प्रस्तुत

१. छयौ ( ४ )। २. कागद ( ४ )। ३. हियैं ( २ )।

उस समय भी अलक्षित रूप से था। पर अब जब प्रवास के कारण उसे आपका दर्शन मिलना भी बंद हो गया, तो क्लेशाधिक्य के कारण वह उसे छिपा न सकी—

( अर्थ )—[ उस समय, जब कि आप वहाँ उपस्थित थे, उसके ] हृदय-रूपी काग़ज़ में स्नेह [ विद्यमान तो था, पर ] अलक्षित हो गया [ था, और ] टाँक [ भर भी ] ( किंचिन्मात्र भी ) [ इस बात की ] 'लखाइ' ( पहिचान ) नहीं हुई। [ पर ] अब विरहाग्नि से तपने पर सेंहुड़ के [ आँक ] ऐसा वह आँक उघरा ( प्रकट हुआ ) ॥

इस दोहे में कवि ने इस स्वाभाविक बात को भी प्रकाशित किया है कि जब कोई मनुष्य अथवा पदार्थ उपस्थित रहता है, तो उसकी विशेष चाह नहीं की जाती, पर जब वह दुर्लभ हो जाता है, तो उसकी आकांक्षा दुःख देती है ॥

इस दोहे के 'छतौ' शब्द के विषय में वर्तमान विद्वानों में मतभेद है। कोई तो इसका अर्थ था करते हैं, और किसी के मत में 'छतौ' का अर्थ था होना संशयात्मक है। उनकी समझ में 'छतौ' के स्थान पर 'छप्यौ' पाठ विशेष संगत है। हमारी पाँचों प्राचीन पुस्तकों में से चार के अनुसार तो 'छतौ' ही पाठ ठीक ठहरता है; और केवल चार अंक की पुस्तक में 'छयौ' पाठ है। प्राचीन टीकाओं में से अनवरचंद्रिका, कृष्ण कवि की टीका, रसचंद्रिका, हरिप्रकाश तथा लालचंद्रिका में 'छतौ' पाठ है, और अमरचंद्रिका, देवकीनंदन की टीका तथा शृंगारसप्तशती में 'छप्यौ'। 'छतौ' का अर्थ कृष्ण कवि की टीका से अलक्षित अर्थात् छिपा हुआ होना प्रतीत होता है, पर रसचंद्रिका, हरिप्रकाश तथा लालचंद्रिका में इसका अर्थ था पाया जाता है। बिहारी के सबसे पहिले टीकाकार मानसिंह ने भी इसका अर्थ 'हो', अर्थात् था, ही लिखा है। हमारी समझ में इसका अर्थ अलक्षित हुआ, छिप गया, करना उचित है, जो कि कृष्णकवि-लिखित सवैया से प्रतीत होता है। संस्कृत में 'क्षत' शब्द का अर्थ नष्ट हुआ, बिगड़ा इत्यादि होता है, और 'छद्' धातु का अर्थ ढाँपना, छिपाना इत्यादि। इन्हीं दोनों में से किसी से यह शब्द बना प्रतीत होता है। २७४वें अंक के दोहे में भी 'छत' तथा 'अछत' शब्द इसी प्रकार के हैं। बोलचाल में अब भी लोग कहते हैं कि "तुम्हारे अछत अथवा आछत अमुक कार्य कैसे हुआ"। ऐसे वाक्य में 'अछत' का अर्थ नष्ट न होने पर, अर्थात् उपस्थित रहते, होता है। तुलसीदासजी ने भी 'अछत' का प्रयोग इसी अर्थ में कई स्थानों पर किया है, यथा—

"अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।"
"परसु अछत देखौं जियत बैरी भूप-किसोर।" इत्यादि ॥

---

**फूलीफाली फूल सी फिरति जु बिमल-बिकास।**
**ओरतरैयाँ होहु ते चलत तोहिँ पिय-पास ॥ ४५८ ॥**

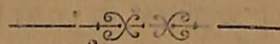
( अवतरण )—मानिनी नायिका से सखी अथवा दूती अभिसार कराने के निमित्त कहती है—

( अर्थ )—[ तेरी सौतें ] जो विमल ( म्लानरहित, अर्थात् तुझसे बाधा पहुँचने के खटके के म्लान से रहित ) विकास-सहित फूल सी फूलीफाली ( प्रसन्नवदन ) फिरती हैं

---

१. कमलु ( २ )।

( अपनी चटकमटक दिखाती घूम रही हैं ), [ वह हम लोगों से सहन नहीँ होता, अतः हम लोगोँ की अभिलाषा है कि ] वे तेरे प्रियतम के पास 'चलत' ( चलते ही अथवा चलने से ) 'भोरतरैयाँ' ( प्रातःकाल की तरैयाँ अर्थात् प्रभाहीन ) हो जायँ ॥

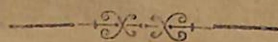


अरी, खरी सटपट परी बिधु आधैं मग हेरि ।
संग-लगैं मधुपनु लई भागनु गली अँधेरि ॥ ४५९ ॥

सटपट = सटपटी, घबराहट ॥

( अवतरण )—परकीया कृष्णाभिसारिका प्रेम तथा रूपगर्विता नायिका यह विचार कर नायक से अँधेरी रात को मिलने गई थी कि चंद्रोदय के पूर्व ही घर लौट आऊँगी। पर नायक ने प्रेम-वश उसके लौटने में विलंब लगा दिया, जिससे लौटते समय आधे रास्ते ही में चंद्रमा निकल आया, और उसको बड़ी घबराहट हुई कि अब मुझे लोग देख लेंगे; पर उसके शरीर तथा अंगरागोँ की सुगंधि के कारण संग लगे हुए भौंराँ की भीड़ ने गली को आच्छादित कर के अँधेरा कर दिया, जिससे वह लक्षित न हो सकी। यही वृत्तांत वह सखी से कह कर अपने शरीर की सुगंधि तथा नायक के प्रेम का आधिक्य जनाती है—

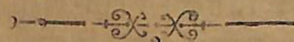
( अर्थ )—अरी, [ सखी, उस रात्रि को नायक के पास से लौटते समय, वहाँ उसके प्रेमाधिक्य के कारण विलंब हो जाने से, मुझे ] आधे मार्ग में बिधु ( चंद्रमा ) देख कर खरी ( बड़ी ) सटपट ( घबराहट ) पड़ी। [ पर बड़ी कुशल हुई कि मेरे ] भाग्यों से [ मेरे शरीर की सुगंधि के कारण ] संग लगे हुए मधुपों ( भ्रमरों ) ने गली अँधेर ( अँधियारी कर ) ली [ नहीं तो बड़ा अनर्थ होता, लोग मुझे देख लेते ] ॥



चलतु घैरु घर-घर, तऊ घरी न घर ठहराइ ।
समुझि उहीँ घर कौं चलै, भूलि उहीँ घर जाइ ॥ ४६० ॥

( अवतरण )—सखी सखी से नायिका की स्नेह-दशा का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ यद्यपि ] घर घर [ इसका ] घैर ( निंदा ) चल रहा है [ कि वह अमुक पर अनुरक्त हो रही है, और कुलकानि आदि छोड़ बैठी है ], तथापि [ वह ] घड़ी [ भर भी अपने ] घर में नहीँ ठहरती, समझ कर ( जान बूझ कर ) [ भी ] उसी [ नायक के ] घर को चलती है, [ और ] भूल कर ( अनजान में ) [ भी ] उसी [ नायक के ] घर को जाती है [ भावार्थ यह कि वह प्रेम में ऐसी लिप्त हो रही है कि निंदा इत्यादि पर कुछ ध्यान नहीँ देती। सुधि में भी वह उसी के घर जाती है, और बेसुध होने पर भी उसके मन तथा पाँव उसे उसी के घर ले जाते हैं ] ॥



१. चटपट ( १ ) । २. ठहराति ( २ ) । ३. जाति ( २ ) ।

इक भीजैँ, चहलैँ परैँ, बूड़ैँ, बहैँ हजार।
कितै न औगुन जग करै बै-नै चढ़ती बार ॥ ४६१ ॥

बै=वयःक्रम ॥ नै=नदी ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि नदी की भाँति वय भी चढ़ते समय अनेक अनर्थ करती है, अतः मनुष्य को चढ़ती जवानी से सचेत रहना उचित है—

( अर्थ )—वय-रूपी नदी चढ़ते समय जगत् में कितने अवगुण नहीँ करती। एक ( कोई ) [ तो इस अवस्था के प्रभाव से ] भीग जाते हैं ( विषय-रस में मिल जाते हैं ), [ कोई ] कीचड़ में फँस जाते हैँ ( विषय-सुखों में ऐसे फँस जाते हैँ कि दूसरी ओर जा ही नहीँ सकते ), हज़ारोँ डूब जाते हैँ ( सिर से पाँव तक विषय-भोग मेँ निमग्न हो जाते हैँ ), [ और ] हज़ारोँ बह जाते हैं ( लोक, परलोक सबसे दूर हो जाते हैं ) ॥

गाढ़ैँ ठाढ़ैँ कुचनु ठिलि पिय-हिय को ठहराइ।
उकसौँहैँ हीँ तौ हियैँ दईँ सबै उकसाइ ॥ ४६२ ॥

गाढ़ैँ=सघन, कठोर तथा पीन ॥ ठाढ़ैँ=उन्नत, ऊँचे ॥ ठिलि=ढकेली जा कर ॥ उकसौँहैँ=उकास अर्थात् उभार पर आए हुए ॥ उकसाइ=उभार, उखाड़ ॥

( अवतरण )—अंकुरितयौवना नायिका से सखी परिहास-पूर्वक उसके यौवनागमन तथा सौंदर्य की प्रशंसा करती हुई कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे ] गाढ़े [ तथा ] ठाढ़े कुचों से ठिल कर ( अर्थात् जब तेरे उरोज गाढ़े ठाढ़े हो कर प्रियतम के हृदय में धक्का लगाएँगे, तो उनसे ढकेली जा कर ) [ तेरी ] कौन [ सौत ] प्रियतम के हृदय में ठहरेगी ( अर्थात् कोई न ठहर सकेगी )। [ तेरे कुचों ने तो ] तेरे [ ही ] हृदय पर ( अर्थात् प्रियतम के हृदय पर बिना लगे ही ) 'उकसौँहैं' ही ( उठते हुए से ही, अर्थात् बिना उठे, केवल उठान पर आए हुए ही ) [ हो कर ] सभी ( सब सौतों ) को [ प्रियतम के हृदय में ] उकास दिया ( उभार दिया, हलचल में कर दिया ) है [ भावार्थ यह कि प्रियतम के हृदय में तेरी जो सौतें जमी हुई थीं, उनमें हलचल तो तेरे उभार पर आए हुए ही कुचों ने, तेरे ही हृदय पर से, कर रक्खी है। अतः अब उनमें प्रियतम के हृदय से ढकेले जाने पर वहाँ थमे रहने का सामर्थ्य नहीँ है। बस फिर जब तेरे उरोज पीन तथा उन्नत हो कर प्रियतम के हृदय में धकियावेंगे, तो वहाँ कौन ठहर सकेगी, अर्थात् अभी से तेरी सौतों की ओर से प्रियतम का चित्त कुछ फिर सा गया है, फिर जब तेरी पूर्ण यौवनावस्था आवेगी, तब तो वह किसी को स्मरण भी न करेगा ] ॥

१. भीजे ( २, ४, ५ )। २. परे ( २, ४, ५ )। ३. बूड़े ( २, ४, ५ )। ४. बहे ( २, ४, ५ )। ५. करे ( ४, ५ )। ६. नै ( २ ), नई ( ३, ५ )। ७. बै ( ३, ४, ५ )। ८. बाढ़े ( २ ), गाढ़े ( ४ )। ९. ही ( १ )। १०. उकसौंएँ ( १ )। ११. तै ( १ )। १२. सबै दई ( ३, ५ ), सब दीनी ( ४ )।

दीप-उजेरैँ हूँ पतिहिँ हरत बसनु रति-काज।
रही लपटि छबि की छटनु, नैँकौ छुटी न लाज ॥ ४६३ ॥

( अवतरण )—नायिका के शोभाधिक्य का वर्णन सखी सखी से करती है कि उसकी छवि की छटा मैँ ऐसी दीप्ति है कि दीपक के उजेरे मैँ भी प्रियतम उसको नग्न न देख सका, क्योँकि उसकी आँखैँ उस पर न ठहर कर उसकी छवि की छटा मैँ ही फँसी रह गईँ, अतः उस नायिका की लज्जा रह गई—

( अर्थ )—दीपक के उजेरे मैँ भी, रति के निमित्त पति के ( पति के द्वारा ) वसन ( वस्त्र ) 'हरत' ( हरने पर ), [ वह अपनी ] शोभा की छटा ( किरण ) मैँ [ ऐसी ] लिपट रही कि उसकी लज्जा ( पति ) किंचिन्मात्र भी नहीँ छुटी ( गई ) [ भावार्थ यह कि उसे नग्न कर देने पर भी पति का ध्यान उसकी नग्नता पर नहीँ गया, प्रत्युत उसकी शोभा ही मैँ लगा रहा ] ॥

लखि दौरत पिय-कर-कटकु बास-छुड़ावन-काज।
बरुनी-बन गाढ़ैँ दृगनु रही गुढ़ौ[2] करि लाज ॥ ४६४ ॥

कटक=सेना ॥ बासु=( १ ) वसन, वस्त्र। ( २ ) वासस्थान ॥ गुढ़ौ=छिप कर रहने का दृढ़ स्थान ॥

( अवतरण )— रत्यारंभ मैँ मध्या नायिका के नयनोँ मैँ लज्जा जो अपना मवास बना कर बस रही है, उसका वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—पति के कर-रूपी कटक को वसन-रूपी वासस्थान छुड़ाने के निमित्त दौड़ता देख कर वरुणी-रूपी सघन वन मैँ, नयनोँ मैँ 'गुढ़ौ' ( मवास ) कर के ( बना कर ), लाज [ जा ] रही ( बसी ) [ अर्थात् जब नायक ने वस्त्र हरना चाहा, तो नायिका की आँखोँ मैँ लज्जा भर आई ] ॥

सकुचि सुरत[3]-आरंभ हीँ बिछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठि[4] ढिठाई आइ ॥ ४६५ ॥

लजाइ—यहाँ 'लजाइ' का अर्थ लजाई हुई अथवा लजाती हुई कर के उसको लाज का विशेषण मानना चाहिए ॥ ढरकि=ढरकती हुई अर्थात् धीरे से ॥ ढार=ढाल से, सुंदर चालढाल से ॥ ढुरि=प्रसन्न हो कर ॥ ढिग=समीप ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा नायिका के सुरत का वर्णन सखी सखी से करती है—

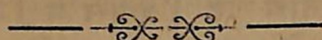
( अर्थ )—सुरत के आरंभ ही मैँ [ उसकी ] लजीली लज्जा [ तो ] संकुचित हो कर बिछुड़ गई ( हट गई ), [ और ] सुंदर चालढाल से ढुर कर ( प्रसन्नता-पूर्वक ) धीरे से ढीठ ढिठाई आ कर [ उसके ] समीप [ उपस्थित ] हुई ॥

१. बसन ( २, ३, ५ ) । २. गूढ़ ( २ ) । ३. सुरति ( ५ ) । ४. ढीठ ( १, २, ३, ४ ) ।

सकुचि सरकि पिय-निकट तैं, मुलकि[1] कछुक, तनु तोरि।
कर आँचर की ओट करि, जमुहानी मुँहु मोरि॥४६६॥

( अवतरण )—रत्यंत मैं नायिका ने जो भाव किए, उनका वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—संकुचित हो प्रियतम के निकट से सरक कर ( अर्थात् संकोच के कारण प्रियतम के पास से कुछ हट कर ), 'मुलकि कछुक' ( कुछ विशेष भाव से मुसकिरा कर ) [ तथा ] तन तोड़ कर ( अँगड़ाई ले कर ) [ वह ] हाथ से अंचल की ओट ( आड़ ) कर के [ और ] मुख को मोड़ कर ( मुख को प्रियतम की ओर से अन्य ओर कर के ) जमुहाई॥

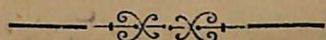


देह-लग्यौ ढिग गेहपति, तऊ नेहु निरबाहि।
नीची अँखियनु हीँ इतै गई कनखियनु चाहि॥४६७॥

दह-लग्यौ = देह से देह भिड़ाए हुए॥ गेहपति ( गृहपति ) = अपने घर का पति अर्थात् स्वपति॥ कनखियनु = आँखों के कोनों से अर्थात् दबी हुई आँखों से॥

( अवतरण )—उपपति नायक अपनी मित्रिणी परकीया की चातुरी की प्रशंसा उसकी सखी से, अथवा स्वगत, करता है—

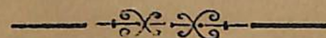
( अर्थ )—[ यद्यपि उसका ] गृहपति [ मेरी अथवा उसकी ] देह से देह लगाए हुए समीप ( अत्यंत समीप ) था, तथापि [ वह ] नीची ही आँखों से ( आँखों को नीची ही किए हुए ) कनखियों से इस ओर ( मेरी ओर ) देख कर स्नेह को निबाह गई ( स्नेहोचित बर्ताव कर गई )॥



मारयौ मनुहारिनु भरी, गारयौ खरी मिठाहिँ।
वाकौ अति अनखाहटौ मुसकाहट-बिनु नाहिँ॥४६८॥

( अवतरण )—नायक नायिका से ऐसा अनुरक्त है कि उसे उसकी मार गाली भी अच्छी लगती है, अतः वह उसकी सखी से उसके प्रत्येक दशा मैं प्रिय लगने का वर्णन करता है—

( अर्थ )—[ उसकी ] मार भी मनुहारियों ( मन हरण करने की रीतियों ) से भरी हुई है, [ और उसकी ] गालियाँ भी खरी ( बड़ी ) मिठाती हैं। उसकी [ तो ] अत्यंत अनखाहट ( क्रोध से बात करना ) भी बिना मुसकिराहट के नहीं होता ( उसका स्वभाव ऐसा हँसमुख है कि अत्यंत क्रोध की अवस्था में भी उसके मुख पर मुसकिराहट आ ही जाती है )॥



नाचि अचानक हीँ उठे[2] बिनु पावस बन मोर।
जानति हौँ, नंदित करी यँह[3] दिसि नंदकिसोर॥४६९॥

१. मुरकि ( २ )। २. उठैं ( १ )। ३. इह ( ३ ), इहि ( ४ )।

( अवतरण )—नायिका की सखी उसे विरह-विकल देख कर, जी बहलाने के निमित्त, वन मैं ले जाया चाहती है। उसको यह आशा भी है कि कदाचित् वहाँ श्रीकृष्णचंद्र से भेंट हो जाय, परंतु इस बात का उसको दृढ़ विश्वास नहीं है। अतः उनके वहाँ होने का यह अनुमान वह इस उद्देश्य से प्रकट करती है कि उनके दर्शनों के लोभ से वह वन मैं जाने को उद्यत हो जाय, और अपने अनुमान के प्रमाण मैं बिना पावस ही के उस वन मैं मोरों के नाच उठने का, सच्चा अथवा कल्पित, वर्णन करती है, जिसमैं कि यदि श्रीकृष्णचंद्र से वहाँ भेंट न हो, तो नायिका उससे खीझे नहीं, प्रत्युत बिना कारण नाच उठने के अपराधी मोर समझे जायँ—

( अर्थ )—[ हे सखी, आज मैं जब यहाँ आ रही थी, तो इस पास वाले ] वन मैं बिना पावस के अचानक ही मोर नाच उठे [ इससे मैं ] जानती हूँ ( अनुमान करती हूँ ) [ कि घनश्याम-स्वरूप ] नंदकिशोर ने यह दिशा आनंदित की है ( अर्थात् इस दिशा को अपने पदार्पण से सुखी किया है ) ॥

**मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब, बाल।**
**लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ॥ ४७० ॥**

( अवतरण )—नायिका किसी देव-मंदिर मैं दर्शनार्थ गई है। वहाँ उसी समय उसका उपपति नायक भी आया है। नायक और नायिका, दोनों ने देवार्चन कर के पुष्पों की सुंदर सुंदर मालाएँ चढ़ाईं, और पुजारी ने मंदिरों की परिपाटी के अनुसार प्रसाद की मालाएँ उनको पहनाईं। संयोग से उसने नायिका को नायक की चढ़ाई हुई माला पहना दी। नायिका ने वह माला नायक को चढ़ाते देखी थी। अतः उसके स्पर्श से उसके सर्वांग मैं रोमांच सात्त्विक हो गया, जिससे सखी उसकी प्रीति लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—हे बाल ( बाला ), यह अपूर्व ( विलक्षण ) भक्ति मैंने तुझी मैं देखी कि प्रसाद की माला पा कर [ तेरा ] तन कदंब की माला ( कदंब के पुष्पों की माला के रूप का, अर्थात् रोमांचित ) हो गया ॥

दोहे मैं स्वयं पुजारी से भी नायिका का अनुराग माना जा सकता है। ऐसी दशा मैं उसके रोमांचित होने का कारण पुजारी की दी हुई माला का स्पर्श माना जायगा ॥

**जाकैं एकाएक[1] हूँ[2] जग ब्यौसाइ न कोइ।**
**सो निदाघ फूलै फरै[4] आकु[3] डहडहौ होइ ॥ ४७१ ॥**

एकाएक हूँ=एकाकी भी, अकेला भी ॥ ब्यौसाइ ( व्यवसायिन् )=व्यवसाय अर्थात् उद्योग करने वाला ॥

( अवतरण )—निःसहाय मनुष्य के हानिकारक दशा मैं भी ईश्वर की सहायता से संपन्न होने पर कोई, मदार-वृक्ष पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

( अर्थ )—जिसके निमित्त जग मैं कोई एकाकी [ मनुष्य ] भी व्यवसायी ( उद्योग

---

१. एको ( १, ४ ), एकै ( २ )। २. हीं ( २ )। ३. फल ( ३, ५ )। ४. फलै ( ३, ५ )।

करने वाला ) नहीं है, सो [ बेचारा ] आक ( अर्क, मदार ) ग्रीष्म ऋतु में [ जब कि अन्य वृक्षों को सींचने इत्यादि की आवश्यकता होती है ] डहडहा हो कर फूलता फलता है ॥

किसी बेकाम के मनुष्य के विशेष संपन्न होने पर भी यह दोहा अन्योक्ति हो सकता है ॥

---

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं[1] भौंहनु हँसै[2], दैन कहैं[3] नटि जाइ ॥ ४७२ ॥

बतरस-लालच = बातचीत करने के आनंद के लालच में ॥

( अवतरण )—श्रीराधिकाजी ने वार्तालाप के आनंद के लोभ से श्रीकृष्णचंद्र की मुरली कहीं छिपा कर रख दी है। इस पर दोनों में जो वचन-विनोद हो रहे हैं, उसका वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ श्रीराधिकाजी ने ] वाक्य-विनोद के लालच से लाल ( श्रीकृष्णचंद्र ) की मुरली [ कहीं ] लुका कर ( छिपा कर ) धर दी है। [ सो देखो, अब कैसा विनोद हो रहा है कि श्रीकृष्णचंद्र के ] सौंह ( शपथ ) [ कि 'बाबा की सौंह! जो मेरी मुरली खोज देगी, उसका मैं सदा ऋणी रहूँगा', अथवा 'भैया की सौंह! मुझे यह हँसी अच्छी नहीं लगती' इत्यादि ] करने पर [ श्रीराधिकाजी ] भौंहों में ( किंचिन्मात्र ) हँस देती हैं, [ जिसमें श्रीकृष्णचंद्र को उन पर संदेह हो जाय, और वे निराश हो कर अन्यत्र न चले जायँ, पर ] देने को कहने पर ( माँगने पर ) नट जाती हैं ( मुकर जाती हैं, अर्थात् यह कह देती हैं कि मैं नहीं जानती, मैंने नहीं छिपाई है, इत्यादि ) ॥

---

रही लट्टू ह्वै, लाल, हौं लखि वह बाल अनूप।
कितौ मिठास दयौ दई इतैं[4] सलोनैं[5] रूप ॥ ४७३ ॥

लट्टू ह्वै—बोलचाल में लट्टू होना अत्यंत रीझने को कहते हैं, जैसे 'अमुक व्यक्ति अमुक वस्तु पर लट्टू हो रहा है' ॥

( अवतरण )—नायिका के रूप की प्रशंसा कर के दूती नायक को उससे मिलाया चाहती है—

( अर्थ )—हे लाल, मैं वह अनूप बाल ( बाला, युवती ) देख कर लट्टू हो रही हूँ। [ मैं नहीं समझ सकती कि ] इतने सलोने रूप में [ माधुर्य लाने के निमित्त ] दैव ने कितना मिठास दिया है [ कि इतने लावण्य पर भी माधुरी अपना स्वाद अलग ही दे रही है ] ॥

जिस पदार्थ में लवण नहीं पड़ा रहता, वह थोड़ा ही मीठा डालने से मधुर हो जाता है। पर जिसमें लवण पड़ा रहता है, उसमें मिठास लाने के निमित्त अधिक चीनी इत्यादि मिलानी पड़ती है, तब कहीं वह दुरसा होता है ॥

---

१. करै ( २ ), करे ( ४, ५ )। २. हँसैं ( १ ), हँसैं ( ३ ), हँसे ( ४ )। ३. कहे ( २ ), कहे ( ४ ), कहें ( ५ )। ४. इतौ ( २ )। ५. सलोनो ( ६ )।

नहिँ पावसु, ऋतुराजु यह; तजि, तरवर, चित-भूल ।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यौँ नव दल, फल, फूल ॥ ४७४ ॥

(अवतरण)—कोई किसी राजा से लाभ उठाने की आकांक्षा करने वाले से, वृक्ष पर अन्योक्ति कर के, कहता है कि सामान्य पुरुष से लोगोँ को सहज ही मैँ लाभ पहुँच सकता है, पर किसी राजा से लाभ उठाने के निमित्त बड़ा कष्ट उठाना तथा निरादर सहना पड़ता है—

(अर्थ)—हे तरुवर (श्रेष्ठ वृक्ष), यह पावस (सामान्य वर्षा ऋतु) नहीँ है, [प्रत्युत] यह [तो] ऋतुराज (ऋतुओँ का राजा, वसंत) है, [अतः तू अपने] चित्त की [यह] भूल [कि इससे भी पावस की भाँति सहज ही में प्राप्ति हो जायगी] तज दे। [इससे] बिना अपत (पत्रशून्य, निर्लज्ज, मान-रहित) हुए [तू] क्योंकर नए दल (कोंपल), फल [तथा] फूल (अर्थात् वस्त्र, भोजन तथा अन्य सुख-सामग्री) पाएगा ॥

———

बन-बाटनु पिक-बटपरा लखि बिरहिनु मत मैँ नैँ ।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठैँ, करि करि राते नैन ॥ ४७५ ॥

पिक = कोकिल ॥ बटपरा = डाकू ॥ मत—यहाँ इस शब्द का अर्थ ज्ञान, बोध, चेतना है ॥ कुहौ कुहौ—यह कोकिल के कूकने का अनुकरण-शब्द है। इसका अर्थ यहाँ मारो मारो भी लिया गया है। 'कुष' धातु का अर्थ फाड़ना, मर्दन करना होता है। इसी से फ़ारसी शब्द 'कुश्तन' बना है, जिसका अर्थ मार डालना है ॥ राते (रक्त) = लाल ॥

(अवतरण)—नायक विदेश जाने पर उद्यत है। नायिका तथा उसकी सखियाँ उसे जाने से रोकने के निमित्त कहती हैँ कि इस वसंत ऋतु मैँ जाना बड़ा भयावह है—

(अर्थ)—[वसंत ऋतु में विदेश-गमन उचित नहीँ है, क्योँकि] वन के मार्गों मैँ कोकिल-रूपी डाकू विरहियोँ को [अपने] मत (चेतना) में न देख कर (अर्थात् विरह-दुःख से चेतना-रहित पा कर), [अपनी] आँखेँ लाल कर कर के, [और] कुहौ कुहौ (मारो मारो) कह कह कर [चारोँ ओर से] उठते हैँ (आक्रमण करने पर उद्यत हो जाते हैँ) ॥

डाकुओँ की रीति है कि जंगलोँ मैँ वे पथिक के साथ साथ छिप कर चले जाते हैँ, और जब उसको असावधान पाते हैँ, तो मार मार कह कर उस पर टूट पड़ते हैँ ॥

———

दिसि दिसि कुसुमित देखियत उपबन-बिपिन-समाज ।
मनहुँ बियोगिनु कौँ कियौ सर-पंजर रितुराज ॥ ४७६ ॥

सर-पंजर (शर-पंजर) = बाणोँ का पिंजड़ा। बड़े बड़े अपराधियोँ को देह-दंड देने के निमित्त

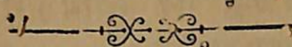
---

१. पाइहैँ (१), पाइयै (३, ५)। २. बिरहनि (२, ३, ५), बिरहिनि (४)। ३. मनु (२), मन (३, ५)। ४. मैँ न (३, ५), मैन (४)। ५. कुहू कुहू (२), कहुँ कहुँ (५)। ६. रातैँ (१)। ७. देखियै (२)। ८. मनौ (२)।

प्राचीन काल में शर-पंजर बनाया जाता था। इसके भीतर चारों ओर बाणों के फलों की आकृति के शूल लगे रहते थे। अपराधी जब इसमें बंद कर दिया जाता था, तो किसी ओर हिलडुल नहीं सकता था, क्योंकि जिस ओर वह किंचिन्मात्र भी झुकता था, उसी ओर के भल्ल उसको चुभते थे॥ रितुराज (ऋतुराज) = ऋतुओं का राजा अर्थात् वसंत। ऋतुराज का प्रयोग कवि ने इस निमित्त किया है कि दंड देने का काम तथा अधिकार राजों ही का होता है॥

(अवतरण)—नायिका मान किया चाहती है। सखी उसको यह कह कर मान करने से रोकती है कि इस ऋतुराज के शासन-काल में मान कर के वियोगिनी बनना बड़ा अपराध है। देख, वियोगियों को दंड देने के निमित्त ऋतुराज महाराज ने वन-उपवनों को काम के शरों का पिंजड़ा बना रक्खा है। यदि तू इस समय मान करेगी, तो महान् कष्ट में पड़ेगी—

(अर्थ)—[हे सखी! देख,] उपवन [तथा] विपिन के समाज प्रत्येक दिशा में कुसुमित (फूले हुए) दिखाई देते हैं। मानो (सो तू यह समझ कि) ऋतुराज ने वियोगियों [को दंड देने] के निमित्त [इन उपवनों तथा वनों के समाजों को काम के बाणों का] शर-पंजर बनाया है॥

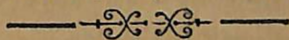


**टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति[1]।**
**लसति रसोई कैं बगर, जगरमगर दुति होति॥ ४७७॥**

**धोवती** = धोती॥ **बगर** = कोठा, घर॥

(अवतरण)—आर्य-जाति के अच्छे घरों में यह परिपाटी है कि जब नई पतोहू आती है, तो उससे रसोई बनवाने के निमित्त कोई शुभ दिन नियत किया जाता है। उस दिन वह नव-वधू धोई हुई, स्वच्छ तथा अपरस, धोती पहन कर रसोई बनाती है, और परिवार के लोग उसी दिन से उसके हाथ का बनाया हुआ भोजन करना आरंभ करते हैं। उसी अवसर की नायिका की शोभा सखी नायक को सुना कर, उसे, उसको देखने के निमित्त, आवाहित करती है, क्योंकि उस समय, रसोई के कार्य में हाथों के फँसे रहने के कारण, वह शीघ्र घूँघट भी नहीं कर सकती—

(अर्थ)—[इस समय उस नायिका की शोभा देखने ही योग्य है। उसके शरीर पर] टटकी (तुरत की) धोई धोती [शोभित है, और उसके] मुख की ज्योति [अग्नि की चमक से और भी] चटकीली [हो रही] है। [इस रूप से वह] रसोई के बगर (घर) में लस रही है (विराज रही है), [और उसकी] द्युति जगमगा रही है॥



**सोहति धोती सेत मैं कनक-बरन-तन बाल।**
**सारद-बारद[2]-बीजुरी-भा रद कीजति[3], लाल॥ ४७८॥**

**बारद** (वार्द) = बादल॥ **भा** = प्रभा, शोभा॥

(अवतरण)—सखी अथवा दूती नायक से नायिका के शरीर की द्युति की प्रशंसा कर के उसकी रुचि बढ़ाती है—

१. ज्योति (३, ५)। २. बारिद (१, ३, ४)। ३. कीजतु (२, ३), कीजत (५)।

(अर्थ)—हे लाल, श्वेत धोती मैं [वह] कनक-वर्ण से तन वाली बाला [ऐसी] शोभित है [कि उसके आगे] शरद् ऋतु के बादल की बिजुली की प्रभा रद (व्यर्थ, बे-काम) की जाती (समझी जाती) है ॥

बहु धनु लै, अहँसानु कै[2], पारौ देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ॥ ४७९ ॥

(अवतरण)—कोई वैद्य, जो स्वयं नपुंसक है, किसी को अपना फूँका हुआ पारा, बहुत धन ले कर तथा बड़े निहोरे से, उसकी रति-शक्ति बढ़ाने के निमित्त, दे रहा है। यह देख कर उसकी स्त्री, मर्म की बात सोच कर अर्थात् यह सोच कर कि यदि यह पारा वास्तव मैं ऐसा गुणद होता तो यह स्वयं क्यौं नपुंसक बना रहता, हँस देती है। यही वृत्तांत कोई किसी से कहता है अथवा कवि ही की उक्ति है—

(अर्थ)—[किसी नपुंसक रोगी से] बहुत सा धन ले कर, [और ऊपर से उस पर] एहसान कर के (अपना उपकार जना कर) [एवं] बड़ी प्रशंसा कर के [अपने पति के] पारा देते समय वैद्य की बधू, भेद (मर्म) से हँस कर, नाह (नाथ, पति) का मुख देख रही है अथवा देख कर रह गई ॥

रहौ[3], गुही बेनी, लखे गुहिबे कै[4] त्यौनार।
लागे नीर चुचांन[5], जे नीठि सुकाए[6] बार ॥ ४८० ॥

त्यौनार=ढंग, रीति ॥

(अवतरण)—नायक नायिका की चोटी गूँथ रहा है। स्पर्श से दोनौं को स्वेद सात्त्विक हो गया है, जिससे नायिका के बाल भीग गए हैं। नायिका सात्त्विक छिपाने के निमित्त, मारे लाज के नायक के गूँथने के ढंग मैं दोषारोपण कर के, कहती है—

(अर्थ)—रहो (ठहरो, रहने दो, बाल गूँथना बंद करो), गुही बेनी (तुम बेनी गूँथ चुके, अर्थात् तुम्हारे गूँथे बेनी गूँथी न जायगी), [तुम्हारे] गूँथने के ढंग देखे गए (अर्थात् परीक्षा करने पर सर्वथा निकम्मे ठहरे)। [नैंक तुम अपने गूँथने के ढंग की विलक्षणता तो देखो कि] जो बाल नीठि (बड़ी कठिनता से) सुखाए थे, [वे फिर से गीले हो कर] नीर चुचांने (टपकने) लगे ॥

इस दोहे की नायिका स्वाधीनपतिका है। 'नीठि सुकाए बार' वाक्यांश से उसे अपने बालौं के सघन तथा लंबे होने का गर्व होना भी झलकता है ॥

मीत, न नीति[7] गलीतु है जौ धरियै धनु जोरि[8]।
खाएँ खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि[9] ॥ ४८१ ॥

---

१. अहिसान (२), आहिसानु (४)। २. करि (२)। ३. रही (१, २)। ४. की (३, ५)।
५. चुचावने (३)। ६. सुखाए (२)। ७. नीत (१), मीत (३, ५)। ८. जोर (५)।
९. करोर (५)।

( अवतरण )—कोई उदार मित्र किसी कृपण मित्र को शिक्षा देता है—

( अर्थ )—हे मित्र, [ यह ] नीति नहीं है कि गलीत ( दुर्दशा में ) हो कर ( अर्थात् अपनी दुर्दशा बना कर ) धन इकट्ठा कर के रक्खा जाय । [ पर हाँ, ] यदि खाने खर्चने ( आवश्यक व्यय करने ) पर [ कुछ ] बचे, तो [ चाहे ] करोड़ [ रुपया ] जोड़ा जाय ( इकट्ठा किया जाय ) । [ भावार्थ यह कि मनुष्य को अपने खाने तथा अन्यावश्यक कार्यों में कृपणता कर के धन एकत्रित करना उचित नहीं है । हाँ, यदि इन व्ययों के पश्चात् कुछ बचे, तो भले ही एकत्रित किया जाय । पर मनुष्य के आवश्यक व्यय ही इतने हैं कि उन्हीं का पूरा पड़ना कठिन है ] ॥

दुरैं न निघरघट्यौ[1] दियैं ए रावरी कुचाल ।
बिषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की, लाल ॥ ४८२ ॥

**निघरघट्यौ**—निघरघट उस मनुष्य को कहते हैं, जो पानी अथवा खाद्य पदार्थ को बिना घूँटे एक बार ही निगल जाय । इसका लक्ष्यार्थ निर्लज्ज, धृष्ट तथा अपराध के स्पष्ट प्रकट हो जाने पर भी मुकरने वाला मनुष्य होता है । 'निघरघटी' का अर्थ निघरघटपन हुआ । इसी 'निघरघटी' शब्द से 'निघरघट्यौ' बना है, जैसे 'परोसिनी' से 'परोसिन्यौ' । इसका अर्थ निघरघटी भी अर्थात् निघरघटपन भी है, जैसे परोसिन्यौ का अर्थ परोसिनी भी ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा अधीरा नायिका का वचन धृष्ट नायक से—

( अर्थ )—निघरघटपना भी देने से ( करने से ) आपकी ये कुचालें ( परस्त्री के यहाँ जाने इत्यादि की बुरी चालें ) नहीं छिपतीं । हे लाल, [ तुम्हारी यह ] खिसी ( खिसियानपने ) की हँसी [ मुझे ] विष सी बुरी लगती है ॥

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियैं गुलाब[2] कैं झँवा झँवैयत[3] पाइ ॥ ४८३ ॥

( अवतरण )—नायिका के पाँवों की सुकुमारता का वर्णन सखी नायक से करती है—

( अर्थ )—छाले पड़ने के डरों से [ नाइन उसके पाँवों में अपने कठोर ] हाथ नहीं छुआ सकती । [ अतः नाइन-द्वारा उसके ] पाँव गुलाब के झाँवे से, झझकते हुए ( हिचकिचाते हुए ) हृदय से, झँवाए जाते हैं ॥

तिय-तरसौंहैं मुनि[4] किए करि सरसौंहैं नेह ।
धर-परसौंहैं ह्वै रहे झर-बरसौंहैं मेह ॥ ४८४ ॥

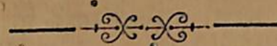
( अवतरण )—बादलों की उद्दीपन-शक्ति का वर्णन कवि करता है, अथवा सखी नायक से कहती है कि ऐसे समय, जब मुनियों के मन भी स्त्रियों के निमित्त तरस रहे हैं, आपको अलग रहना उचित नहीं है—

---

१. निघरघटो ( ४ ) । २. फूल ( २ ) । ३. झाँइयत ( २ ), झँवैयतु ( ३, ५ ) । ४. मन ( ३, ५ ) ।

(अर्थ)—झर-बरसौंहैं (झड़ी बाँध कर बरसने वाले) मेघ मुनियों को [भी], नेह से सरसौंहैं (सरस) कर के, तिय-तरसौंहैं (स्त्रियों के निमित्त तरसने वाले अर्थात् स्त्रियों की उत्कट अभिलाषा करने वाले) किए हुए धर-परसौंहैं (धरा को स्पर्श करते हुए से) हो रहे हैं ॥

धरा के स्थान पर 'धर' का प्रयोग भाषा के प्रायः सभी कवियों ने किया है ॥



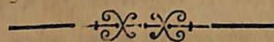
घन-घेरा छुटि गौ, हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनौ आइ जगु सरद-सूरनरनाह ॥ ४८५ ॥

**घन**—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ बादल और दूसरा अर्थ मार डालने वाला, अर्थात् डाकू इत्यादि, है। इन्हीं दो अर्थों के आधार पर इसमें श्लिष्टपद मूलक रूपक है ॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका की सखी, उसको ढाढ़स बँधाने के निमित्त, कहती है कि अब वर्षा बीत गई और शरद् का सुखद समय आ गया है। वर्षा के कारण जो रास्ते बंद हो रहे थे, वे खुल गए और चारों ओर लोग आने जाने लगे हैं। अतः अब तू धैर्य धर, तेरे प्रियतम भी शीघ्र ही आया चाहते हैं—

(अर्थ)—बादल-रूपी डाकुओं, घातकों का घेरा (घेरघार) छूट गया, चारों ओर हर्ष-पूर्वक [घनों की बाधा से निडर हो कर] राह (मार्ग) चलने लगी (लोग मार्ग चलने लगे), [और] शरद्-रूपी शूर (बहादुर) राजा ने आ कर (अपना अधिकार जमा कर) जगत् को 'सुचैनौ' (सुखी, अर्थात् घनों की बाधा से रहित) कर दिया ॥

वर्षा ऋतु में बादलों की घेरघार के कारण और निर्बल राजा अथवा बिना राजा के देश में डाकुओं इत्यादि के लगने के कारण मार्ग बंद हो जाते हैं। पर शरद् ऋतु में बादलों के हट जाने पर एवं देश में प्रबल राजा का अधिकार हो जाने से डाकुओं इत्यादि के उपद्रव शांत हो जाने पर मार्ग खुल जाते हैं, और सब लोग सुख से चारों ओर आने जाने लगते हैं ॥



पावस-घन-अँधियार महि[1] रह्यौ भेदु नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ[3] परतु लखि चकई चकवानु ॥ ४८६ ॥

**लखि चकई चकवानु** = चकई-चकवाओं को पृथक् पृथक् एवं एकत्र देख कर, अथवा उनके शब्द से यह लक्षित कर के कि वे पृथक् पृथक् हैं या एकत्र। चकई चकवा के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे रात्रि को एकत्र नहीं रहते, किसी जलाशय का अंतर दे कर, एक इस पार और दूसरा उस पार रहता है। दिन में फिर वे एकत्र हो जाते हैं। जब वे पृथक् रहते हैं, तो अन्य प्रकार से शब्द करते हैं, जो कि कराहने के सदृश होता है, और जब एकत्र रहते हैं, तो अन्य प्रकार का शब्द करते हैं, जिससे आनंद सूचित होता है ॥

१. महो (३, ५)। २. मैं (२)। ३. जानी (३, ५)।

( अवतरण )—कवि वर्षा ऋतु की सघन घटाओं का वर्णन करता है—

( अर्थ )—पावस ( वर्षा ऋतु ) के घनों ( बादलों ) के अँधेरे के कारण मही ( पृथ्वी ) में [ रात तथा दिन में ] अन्य [ कोई ] भेद ( रूपांतर ) नहीं रह गया। [ अब ] रात दिन [ का समय-भेद केवल ] चकई-चकवाओं को [ पृथक् पृथक् एवं एकत्र ] लक्षित कर के जान पड़ता है॥

इस दोहे में चकई-चकवा के वर्णन के विषय में वर्तमान विद्वानों के मतों में विरोध है। एक दल का कथन है कि वर्षा ऋतु में चक्रवाक इस देश में नहीं रहते, अतः इस ऋतु में उनका वर्णन करना अस्वाभाविक है। इससे बिहारी की नैसर्गिक अज्ञानता व्यक्त होती है। दूसरा दल कहता है कि ऐसा नहीं है, वर्षा ऋतु में भी चक्रवाक समस्थल प्रदेशों में रहते हैं, और कवियों ने इस ऋतु में उनका वर्णन भी किया है॥

हमारी समझ में इस दोहे में इन झगड़ों का कोई अवसर ही नहीं है। धनाढ्यों के उपवनों तथा पाईंबाग़ों में मयूर, सरहंस, चक्रवाक इत्यादि प्रायः पले रहते हैं, और बहुधा उनके पर भी काट दिए जाते हैं। अतएव चाहे जंगली चक्रवाक वर्षा ऋतु में भारतवर्ष में रहते हों वा नहीं, पर ये बेचारे पलुवे चक्रवाक तो अवश्य ही उन उपवनों में उपस्थित रहते हैं। जो लोग उपवनों में सारस, चक्रवाक इत्यादि पालते हैं, वे उनमें कोई कृत्रिम झील इत्यादि भी बनवा देते हैं। बिहारी का यहाँ चकई-चकवाओं से तात्पर्य ऐसे ही पलुवे चकई-चकवाओं से है, क्योंकि रात्रि दिवस का निर्णय करने के निमित्त कोई जंगल की दूरस्थ झीलों को देखने क्यों जाने लगा, विशेषतः ऐसे समय, जब कि सघन घनों के कारण दिन रात्रि सा हो रहा हो। चकई-चकवाओं के शब्द भी तो ऐसे ऊँचे नहीं होते कि ग्राम के बाहर की झील से ग्राम में सुनाई दें। कवि का मुख्य वर्णनीय विषय यहाँ पावस का सघन अंधकार है, चकई-चकवा का वर्णन केवल गौण रीति पर, मुख्यार्थ-साधन के निमित्त, हुआ है॥

---

**अरुनसरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।**
**समै आइ सुंदरि[2] सरद काहि न करति[3] अनंद॥ ४८७॥**

( अवतरण )—कवि शरद् ऋतु का वर्णन, सुंदरी स्त्री से रूपक कर के, करता है—

( अर्थ )—अरुनसरोरुह-कर-चरन ( जिसके हाथ पाँव लाल कमल हैं ), दृग-खंजन ( जिसके दृग खंजन हैं ), [ एवं ] मुख-चंद ( जिसका मुख चंद है ), [ ऐसी ] शरद्-रूपी सुंदरी [ अपने ] समय पर ( अधिकार पर ) आ कर किसको आनंदित नहीं करती॥

---

**नाहिँन ए पावक-प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।**
**मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम-लेत[5] उसास[4]॥ ४८८॥**

पावक-प्रबल = पावक सी प्रबल अर्थात् प्रचंड॥ ग्रीषम-लेत = ग्रीष्म के द्वारा ली जाती हुई॥

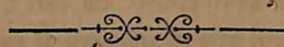
१. मुँह ( १ )। २. सुंदर ( ३, ४ )। ३. करेतु ( १ ), करै ( ३, ४ ), करत ( ५ )। ४. उसात ( ३, ५ )। ५. लेतु ( १ ), लेइ ( ४ )।

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका ग्रीष्म की लुओं के विषय में सखियों से कहती है कि ये लुएँ नहीं हैं, प्रत्युत तुम इनको ऋतुराज के विरह से संतप्तहृदया ग्रीष्म ऋतु की उसासें समझो ; फिर भला मैं अपने पति के विरह से संतप्त हो कर जो उष्ण उच्छ्वास लेती हूँ, तो आश्चर्य क्या है ! देखो, ऋतु भी अपने पति के वियोग में ऐसा ही करती है—

( अर्थ )—[ हे सखियो, ] चारों ओर ये पावक सी प्रबल लुएँ नहीं चल रही हैं । [ इनको तो तुम ] वसंत ( ऋतुराज ) के विरह में ग्रीष्म-द्वारा ली जाती हुई उसासें समझो ॥

'ग्रीष्म' शब्द को लोग पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग, दोनों ही प्रकार प्रयुक्त करते हैं । इस दोहे में इसको स्त्रीलिंग ही मानना संगत है । सतसैया में केवल दो और दोहों में ग्रीष्म शब्द आया है । पर उनमें उसका प्रयोग ऐसा है कि यह पता नहीं चलता कि बिहारी इसका कौन लिंग मानते थे ॥

'उसास' शब्द का प्रयोग बिहारी ने दोनों लिंगों में किया है । इस विषय में २६२-संख्यक दोहे की टीका द्रष्टव्य है ॥



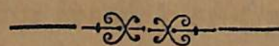
**कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ ।**
**जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ॥ ४८९ ॥**

**तपोबन**=तपस्वियों का वन । तपोवन में तपस्वियों के प्रभाव से जीव जंतु परस्पर का वैर छोड़ कर बसते हैं ॥ **दीरघ-दाघ**=दीर्घ अर्थात् प्रचंड ताप वाली ॥ **निदाघ**=ग्रीष्म ऋतु ॥

( अवतरण )—वन के जीवों का, ग्रीष्म के प्रचंड प्रभाव से कातर हो कर, परस्पर का वैर-भाव भूल कर, एकत्र रहना कवि वर्णित करता है—

( अर्थ )—अहि ( सर्प ) [ तथा ] मयूर [ एवं ] मृग [ तथा ] बाघ [ मारे गरमी के ] 'कहलाने' ( कातर हुए, व्याकुल हुए ) एकत्र [ ही ] बसते हैं । प्रचंड ताप वाली ग्रीष्म ऋतु ने [ अपने प्रभाव से ] जगत् को तपोवन सा कर दिया है ( बना रक्खा है ) ॥

इधर मयूर तथा बाघ को मारे गरमी के इस बात का ध्यान ही नहीं है कि सर्प तथा मृग हमारे आहार हैं, और न उनको उन पर झपटने की शक्ति ही है । इधर सर्प तथा मृग को भी इस बात की सुधि नहीं है कि हम मयूर तथा बाघ के आहार हैं, और न उनको भागने की शक्ति ही है । ग्रीष्म की प्रचंडता ऐसी व्याप्त हो रही है ॥



**पग पग मग[2] अगमन परत चरन-अरुनदुति झूलि ।**
**ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि ॥ ४९० ॥**

**अगमन**=आगे ॥ **दुपहरिया**=एक प्रकार का अरुण पुष्प, जो वर्षा ऋतु में मध्याह्न में फूलता है । संस्कृत में इसको बंधुजीव कहते हैं ॥

( अवतरण )—सखी नायिका के पाँवों की ललाई की प्रशंसा नायक से कर के उसके हृदय में उसके देखने की उत्सुकता उत्पन्न करना चाहती है—

---

१. रहत ( २ ) । २. मैं ( १ ) । ३. रहैं ( २ ) ।

( अर्थ )—[ उसके चलते समय ] मार्ग में एक एक पग आगे [ उसके ] चरणों की अरुण द्युति ( लाल आभा ) के झूल कर ( ऊपर से नीचे की ओर तिरछे बल में आ कर ) पड़ते हुए ( पड़ते समय, पड़ने से ) ठौर ठौर पर दुपहरिया के फूल से फूल उठे देखे जाते हैं ( जान पड़ते हैं, अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो ठौर ठौर पर दुपहरिया के फूल फूल उठे हैं ) ॥

नीच हियैं हुलसे रहैं[1] गहे गेंद के[2] पोत।
ज्यौं[3] ज्यौं माथैं मारियत, त्यौं[4] त्यौं ऊँचे[5] होत ॥ ४६१ ॥

पोत ( प्रकृति ) = स्वभाव ॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति है—

( अर्थ )—नीच [ मनुष्य ] गेंद के पोत ( स्वभाव ) धारण किए हुए [ सदा निरादृत होने पर भी ] हृदय में हुलसे ( फूले ) रहते हैं । ज्यौं ज्यौं [ वे ] माथे पर मारे जाते हैं ( निरादृत होते हैं, अपने सिर पर चोट खाते हैं ), त्यौं त्यौं ऊँचे होते हैं ( अपने को श्रेष्ठ मानते हैं, ऊपर को उछलते हैं ) ॥

ज्यौं ज्यौं बढ़ति बिभावरी, त्यौं त्यौं बढ़त अनंत।
ओक ओक सबलोक-सुख, कोक-सोक हेमंत ॥ ४६२ ॥

( अवतरण )—हेमंत ऋतु का वर्णन । कवि की उक्ति—

( अर्थ )—हेमंत ऋतु में ज्यौं ज्यौं रात्रि बढ़ती है, त्यौं त्यौं घर घर में सब लोगों के सुख [ और ] कोक ( चकई-चकवा ) के दुःख अनंत ( बहुत ) बढ़ते हैं ॥

रह्यौ मोहु, मिलनौ[6] रह्यौ, यौं कहि गहैं मरोर।
उत दै सखिहिं[7] उराहनौ इत चितई मो ओर ॥ ४६३ ॥

( अवतरण )—कोई परकीया नायिका गुरुजनों के समाज में थी । इतने ही में उसका उपपति, जो बहुत दिनों से उससे मिला नहीं था, वहाँ आ गया, और संयोग से उसकी कोई सखी भी उसी समय वहाँ आई । नायिका ने बड़ी चातुरी से मोहहीन होने तथा बहुत दिनों से न मिलने का उराहना तो सखी को दिया, पर उराहना देते समय नायक की ओर रुष्टता से देख कर उस पर यह विदित कर दिया कि वह उराहना वास्तव में उसे दिया गया है । नायिका की उसी चातुरी तथा मनोमोहिनी रोष-चेष्टा का वर्णन नायक अपने पीठमर्द सखा से करता है, जिसमें वह उसके रोष-निवारण का उद्योग करे—

( अर्थ )—[ हे सखी, जो तू मुझ पर बड़ा मोह जनाया करती थी, सो तेरा सब ] मोह रहा ( समाप्त हो गया ), [ और ] मिलना जुलना [ भी ] रहा ( बंद हो गया ), इस

१. रहत ( १, २ ) । २. को ( २ ) । ३. जेते ( ३, ४, ५ ) । ४. तेते ( ३, ४ ) । ५. ऊँचौ ( २ ) । ६. मिलबो ( ५ ) । ७. सखी ( २, ३, ५ ) ।

प्रकार [ कुछ ] रुष्टता लिए हुए कह कर [ उसने ] उधर सखी को उराहना दे कर इधर मेरी ओर [ दबी आँखों से ] देखा [ सो उसकी यह चेष्टा मुझे विकल किए डालती है ] ॥

नहिँ हरि लौं हियरा धरौ[1], नहिँ हर लौं अरधंग।
एकत ही करि राखियै[3] अंग अंग प्रति अंग ॥ ४६४ ॥

( अवतरण )—दूती नायिका को नायक के पास ला कर कहती है कि यह सर्वांग-सुंदरी है, अतः इसके प्रति अंग का सुख आपको प्रति अंग से लेना चाहिए—

( अर्थ )—[ इस सर्वांग-सुंदरी नायिका को आप ] न [ तो ] विष्णु भगवान् की भाँति हृदय में धारण कीजिए, [ और ] न शंकर की भाँति अर्द्धांग में। [ इसके तो ] अंग अंग को [ आप अपने ] प्रति अंग ( अंग अंग ) में एकत्र ही कर के ( एक ही कर के ) रखिए [ तभी आपको इसके सर्वांग-सुखदायिनी होने का अनुभव हो सकेगा ] ॥

कियौ[4] सबै जगु काम-बस, जीते जिते अजेइ।
कुसुमसरहिँ सर धनुष कर अगहनु गहन[2] न देइ ॥ ४६५ ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका का मान छुड़ाने के अभिप्राय से सखी उससे अगहन मास के विशेष उद्दीपनकारी होने का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ यह ] अगहन ( १. जाड़े का मास विशेष। २. आगे मारने वाला, सेना का अग्रगामी, सेनापति ) [ ऐसा प्रबल तथा स्वामिभक्त है कि अपने प्रभु ] कुसुमसर [ महाराज ] को हाथ में सर [ तथा ] धनुष लेने [ का कष्ट उठाने ] नहीं देता। [ अपने प्रबल प्रभाव से उसने स्वयं ही ] सब जगत् को काम के वश में कर दिया है, [ और ] जितने [ योगी, यती इत्यादि ] अजेय ( जीते जाने के अयोग्य ) [ समझे जाते ] थे, [ उनको भी ] जीत लिया है। [ बस फिर ऐसे अगहन के अधिकार के समय तेरा मान करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वह तेरे हृदय को भी अवश्य ही काम-वश कर देगा ] ॥

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध ॥ ४६६ ॥

( अवतरण )—वसंत का वर्णन कर के सखी मानिनी का मान छुड़ाया चाहती है—

( अर्थ )—[ यह सुखद समय मान करने का नहीं है ; देख, ] आम के बौरों की सुगंधि से छक ( अघा ) कर, [ तथा ] माधुरी [ लता के पुष्पों ] की मधुर सुगंधि से सने हुए, [ एवं ] मधु ( मकरंद-रूपी मदिरा ) [ के पान ] से अंधे ( मतवाले ) भ्रमरों के झुंड ठौर ठौर झौंरते ( झूमर बाँध कर मँडराते ) [ और ] झँपते ( झुकते अथवा ढाप लेते ) हैं ॥

---

१. धरौं ( २, ३ )। २. गहि ( ४ )। ३. राखिहौं ( ३, ४ )। ४. कियैं ( ३ )।

मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रति-लीन।
नूतन बिधि हेमंत, सबु जगतु जुराफ़ा कीन ॥ ४९७ ॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका से सखी हेमंत ऋतु का प्रभाव वर्णन कर के उसका मान छुड़ाया चाहती है—

( अर्थ )—[ देख, इस ऋतु में ] दंपति ( नायक नायिका ) अति रति-लीन ( प्रीति में समाए हुए ) [ हो ] मिल कर ( साथ साथ ) विहार करते हैं, [ और ] बिछुड़ते [ ही ] मरते हैं ( मरने लगते हैं, अर्थात् अत्यंत कष्ट पाते हैं ) । [ इस ] हेमंत-रूपी नए ब्रह्मा ने सब जगत् को जुराफ़ा बना रक्खा है ॥

ऊँट की आकृति का एक पशु जुराफ़ा अफ़रीका में होता है। इसके विषय में प्रसिद्ध यह है कि यह अपने जोड़े के साथ ही रहता है, और वियोग होने पर शीघ्र ही मर जाता है। प्राचीन टीकाकारों ने जुराफ़ा का अर्थ पक्षी विशेष लिखा है ॥

पल सोहैं पगि पीक-रँग, छल सोहैं सब बैन।
बल-सौंहैं कत कीजियत ए अलसौंहैं नैन ॥ ४९८ ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा धीरा नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ तुम्हारी ] पलकें [ पान की ] पीक के रंग से पग कर ( लिप्त हो कर ) सोहती हैं, [ तथा तुम्हारे ] सब वचनों में छल शोभित हैं, [ जिनसे तुम्हारे रात्रि के सब कर्म स्पष्ट विदित हो रहे हैं । अब उनके छिपाने के निमित्त ] ये आलस्य-भरे से ( सामना करने में झेंपते हुए से ) नयन [ व्यर्थ ही ] 'बल-सौंहैं' ( बल-पूर्वक सामने ) क्यों किए जाते हैं ॥

कत लपटइयतु मो गरैं; सो न, जु ही निसि सैन।
जिहिं चंपक-बरनी किए गुल्लाला-रँग नैन ॥ ४९९ ॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ आपके द्वारा ] मेरे गले में क्यों लिपटा जाता है। [ मैं ] वह नहीं हूँ, जो रात को [ आपकी ] शय्या पर थी, [ तथा ] जिस चंपक-वरणी ने [ आपको रात भर जगा कर आपके ] नयन गुल्लाला के रंग के कर दिए हैं ॥

इस दोहे में मुख्यार्थ के साथ साथ कई फूलों के नाम भी आए हैं—लपटइया ( इश्कपेचाँ ), मोगरा ( एक प्रकार का बेला ), सोनजुही, निशिशयन ( कमल ), चंपक, बरनी ( वर्णी ), गुल्लाला, नैन ( पंच नैना )। इनसे अर्थ में यद्यपि कोई उपकार नहीं होता, तथापि कवि की चातुरी प्रकट होती है। इस प्रकार नामों का संग्रह कर देना एक प्रकार का मुद्रालंकार कहलाता है ॥

---

१. रस ( २, ४ ) । २. रितु ( ४ ) । ३. जगै ( २ ), जुगै ( ४ ) । ४. बलि ( ३, ५ ) । ५. कित ( ५ ) ।

नैंकु उतै उठि बैठियै, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नह-दी छिनकु महँदी सूकन देहु ॥ ५०० ॥

गेहु ( गृह )=घर ॥ नह-दी=नखों मैं दी हुई अर्थात् लगाई गई ॥

( अवतरण )—स्वाधीनपतिका नायिका की सखी का वचन नायक से। नायिका के नखों मैं मैंहदी लगाई गई है। नायक वहाँ उपस्थित है। सखी कहती है कि तुम्हारे सामने रहने के कारण नायिका को स्वेद सात्त्विक हो रहा है, जिससे उसकी मैंहदी सूखने नहीं पाती। अतः तुम क्षण मात्र सामने से टल जाओ, तो मैंहदी सूख जाय। सखी का अभिप्राय, नायिका का सात्त्विक प्रकट कर के, नायक के हृदय मैं प्रीति बढ़ाना है—

( अर्थ )—नैंक ( थोड़े समय के लिए ) [यहाँ से] उठ कर उधर ( आड़ मैं ) बैठ जाइए, [ भला आप इस प्रकार ] क्यों घर को पकड़े हुए हैं ( घरघुसने बने हुए हैं )। [ देखिए, आपके सामने उपस्थित रहने से, स्वेद सात्त्विक के कारण, इसकी ] नखों मैं दी हुई ( लगाई गई ) [ टटकी ] मैंहदी छुटी जाती है, [ सो उसको ] क्षण मात्र सूखने दीजिए ॥

लटुवा लौं प्रभु-कर-गहैं[1] निगुनी गुन लपटाइ।
वहै[2] गुनी-कर तैं छुटैं[3] निगुनीयै ह्वै जाइ ॥ ५०१ ॥

निगुनी ( निर्गुणी )=( १ ) गुण ( शूरता, कलाकौशल इत्यादि ) से विहीन मनुष्य। ( २ ) डोरी से रहित लट्टू ॥ गुन ( गुण )=( १ ) कलाकौशलादि गुण। ( २ ) लट्टू फिराने की डोरी ॥ गुनी ( गुणी )=( १ ) सर्वगुणसंपन्न ईश्वर। ( २ ) लट्टू फिराने की डोरी को धारण करने वाला ॥

( अवतरण )—कवि की उक्ति है कि जिस पर ईश्वर की कृपा होती है, वह गुणहीन होने पर भी गुणी हो जाता है, और फिर वही गुणी, प्रभु की कृपा से वंचित होने पर, गुणहीन रह जाता है। इसी बात को कवि ईश्वर को लट्टू फिराने वाले की तथा मनुष्य को लट्टू की उपमा दे कर कहता है—

( अर्थ )—लट्टू की भाँति प्रभु ( १. ईश्वर। २. लट्टू के स्वामी ) के हाथ मैं पकड़ने ( १. सहायता करने। २. हाथ मैं लेने ) पर निर्गुणी ( १. गुणहीन मनुष्य। २. विना डोरी का लट्टू ) गुण ( १. विद्वत्तादि। २. डोरी ) मैं लिपट जाता है ( १. अनेक प्रकार के शुभ गुणों से आच्छादित हो जाता है। २. डोरी मैं लिपट जाता है )। [ फिर ] वही गुणी ( १. ईश्वर। २. डोरी वाले ) के हाथ से छूटने पर [ संसार मैं ] निर्गुणी ही ( १. शुभगुणहीन ही। २. डोरी से रहित ही ) हो जाता है ( १. माना जाता है। २. रह जाता है ) ॥

है हिय रहति हई छई, नई जुगति जग[4] जोइ।
दीठिहिँ दीठि लगैं[6], दई[7], देह दूबरी होइ ॥ ५०२ ॥

१. लागन ( २, ४ )। २. उहै ( ३, ५ )। ३. छुटो ( ४, ५ )। ४. दई ( २ )। ५. यह ( २ )। ६. लगैं ( ३ ), लगो ( ४ ), लगे ( ५ )। ७. बड़ी ( २ )।

हई—यह शब्द संस्कृत 'हति', शब्द का अपभ्रंश-रूप है। 'हति' का अर्थ विस्मय, भय, विव्हलता, निराशता इत्यादि होता है। यहाँ इसका अर्थ भय अथवा विस्मय है। किसी किसी ने, 'हई' को अरबी शब्द 'हयरत' का बिगड़ा हुआ रूप मान कर, बिहारी पर शब्दों के मरोड़ने का धप्पा धरा है। पर 'हई' शब्द का प्रयोग बिहारी ने बिगाड़ कर नहीं किया है। यह शब्द अब भी—सामान्यतः अवध प्रांत में—भय के अर्थ में बोला जाता है, जैसे 'उस खेत में बँदरों की बड़ी हई है'॥ **जुगति** ( युक्ति ) = योजना-विधि, रीति ॥ **जोइ** = देख कर ॥ **दीठि** = ( १ ) दृष्टि। ( २ ) कुदृष्टि ॥ **दूबरी** = दुर्बल ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी का वचन अंतरंगिनी सखी से—

( अर्थ )—**जगत् में [ यह ] नई रीति देख कर हृदय में हई ( विस्मय, भय ) छाई रहती है [ कि ] हे हई, लगती तो दृष्टि की दृष्टि ( १. आँख से आँख। २. आँख को कुदृष्टि ) है, [ पर ] दुबली देह होती है ॥**

भय का कारण यह है कि जगत् में सामान्य रीति तो यह है कि जिसको कुदृष्टि लगती है, वही दुबला होता है, पर स्नेह-व्यापार में लगती तो दृष्टि को दृष्टि है, और दुबली देह होती है ॥

——————

**जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि, सतराइ।**
**तत्यौं गुलाल-मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ ॥ ५०३ ॥**

**झाँपति** = ढाँपती है ॥ **सतराइ** = खिझला कर ॥ **झुठी** = बिना गुलाल-भरी ॥ **झझकावत** = डराता ॥

( अवतरण )—होली के खेल में नायक को गुलाल-भरी मूठ ताने हुए देख कर नायिका, आँखों में गुलाल पड़ने के भय से चौंक कर, घूँघट से मुख ढाँपती, झुक जाती, हँसती और खिझलाती है। नायक को उसकी यह चेष्टा ऐसी अच्छी लगती है कि वह उसको फिर फिर देखना चाहता है, अतः वह बिना गुलाल-भरी ही मूठ तान तान कर उसको डराता जाता है, जिसमें वह फिर फिर वही चेष्टा करे। बिना गुलाल की मूठ वह इसलिए तानता है कि उसको भी अपनी परम सुकुमारी प्राणप्यारी की आखों में गुलाल पड़ने का भय है, और वह यह भी सोचता है कि यदि एक बार गुलाल आँखों में पड़ जायगा, तो फिर वह निडर हो जायगी, और मेरी मूठ का तानना देख भी न सकेगी, अतः फिर मूठ तानने पर वह मनोमोहिनी चेष्टा न करेगी। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—**[ हे सखी! देख, कैसा सुंदर खेल हो रहा है ] 'जज्यौं' ( ज्यों ज्यों ) [ नायिका ] उझक कर ( चौंक कर ) [ अपना ] बदन ( मुख ) ढाँपती है, [ तथा ] विचित्र प्रकार से हँस [ तथा ] खिझला कर झुक जाती है, 'तत्यौं' ( त्यों त्यों ) 'प्यौ' ( प्रियतम ) [ उसकी उस मनोहारिणी चेष्टा से रीझ कर ] गुलाल की झूठी मूठ से [ उसको ] झझकाता ( डराता ) जाता है [ जिसमें वह फिर फिर वैसी ही चेष्टा करे ] ॥**

——————

**छिनकु, छबीले लाल, वह नहिँ जौ लगि बतराति।**
**ऊख, महूष, पियूष की तौ लगि भूख न जाति ॥ ५०४ ॥**

---

१. ज्यौं ज्यौं ( ४, ५ )। २. ढाँपति ( २ )। ३. त्यौं त्यौं ( ४, ५ )। ४. पिय ( ४ )। ५. आइ ( २ )। ६. लगु ( ३, ४ )। ७. बतराइ ( २, ४ )। ८. मयूष ( ३, ५ )। ९. लगु ( ३, ५ )। १०. जाइ ( २, ४ )।

महूष = मधु, शहद ॥ पियूष ( पीयूष ) = अमृत ॥

( अवतरण )—समधिकलज्जावती मुग्धा नायिका की सखी, नायक से नायिका की वचन-माधुरी की प्रशंसा कर के, उसके हृदय में प्रीति उपजाती है । कहती है कि अभी लज्जा-वश वह तुमसे बोलती नहीं, अतः तुमको उसकी वचन-माधुरी का अनुभव नहीं है, और इसी से तुम्हें ऊख, मधु एवं अमृत में माधुरी जान पड़ती है । पर जब वह क्षण भर भी तुमसे बातें करेगी, तो उसकी वचन-माधुरी के आगे ये सब पदार्थ तुमको फीके लगने लगेंगे—

( अर्थ )—हे छबीले लाल, वह जब तक [ तुमसे ] क्षण मात्र बातें नहीं करती, तब तक [ तुम्हारी ] ऊख, शहद [ तथा ] अमृत की भूख ( चाह ) नहीं जाती [ जहाँ उसने तुमसे दो दो बातें कीं, वहाँ तुम इन सबकी माधुरी भूल कर उसकी बातों ही की माधुरी के पान करने की लालसा में लीन रहने लगोगे ] ॥

अँगुरिनु उचि, भरु भीति दै, उलमि[1] चितै चख लोल ।
रुचि सौं दुहूँ दुहूँनु के चूमे[2] चारु कपोल ॥ ५०५ ॥

उलमि = झुक कर ॥ लोल = चंचल ॥

( अवतरण )—उपपति नायक तथा परकीया नायिका के घरों के बीच में केवल एक भित्ति मात्र का अंतर है । किसी दिन अवसर पा कर दोनों ने अपनी अपनी छतों पर से उचक कर परस्पर कपोलों का चुंबन किया । वही वृत्तांत कोई अंतरंगिनी सखी किसी अन्य अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ पाँवों की ] उँगलियों पर उचक कर, भीति ( मुँडेर ) पर [ अपना अपना ] भार दे कर, [ आगे की ओर ] झुक कर [ तथा ] चंचल दृगों से [ चारों ओर ] देख कर [ कि कोई देखता तो नहीं है ] दोनों ने दोनों के सुंदर कपोल [ बड़ी ] चाह से चूमे ॥

नागरि, बिबिध बिलास तजि, बसी गवँलिनु माँहि[3] ।
मूढ़नि मैं गनबी कि तूँ, हूठ्यौ[4] दै इठलाँहि[5] ॥ ५०६ ॥

बिलास = नागरियों के से सुख चैन, रहन सहन, चेष्टा इत्यादि ॥ गवँलिनु = गवाँरियों ॥ मूढ़नि = ज्ञान-शून्यों, निर्बुद्धियों ॥ गनिबी = गिनी जायगी, गिनने के योग्य होगी ॥ कि तूँ = या तो तू, नहीं तो तू ॥ हूठ्यौ दै—हूठा देने का अर्थ ९३-संख्यक दोहे में द्रष्टव्य है ॥

( अवतरण )—गवाँरियों में बसी हुई किसी नागरी पर अन्योक्ति कर के कवि कहता है कि गवाँरों में बस कर गुणी को, उन्हीं का सा गवाँरपन न करने पर, हास्यास्पद ही होना पड़ता है—

( अर्थ )—हे नागरी ! [ अब तू नागरियों के से ] विविध चाल व्यवहार, रहन सहन छोड़ दे ; [ क्योंकि तू ] गवाँरियों में बसी है, या तो [ अर्थात् नहीं तो ] तू मूढ़ों

१. उलटि ( ३, ५ ) । २. चूँबे ( ४ ) । ३. माँह ( २, ३ ), माह ( ४ ) । ४. मूठ्यौ ( ३, ४, ५ ) ।
५. इठलाह ( २ ), इठलाइ ( ४ ) ।

में परिगणित होगी। [ देख, ये सब गवाँरिनें तेरे नागरिक व्यवहार पर ] हठा दे कर हठलाती हैं ॥

इस दोहे के अर्थ में टीकाकारों के मतों में भेद है। प्रायः टीकाकारों ने 'इठलाँहि' को विधि-वाचक क्रिया मान कर उसका अन्वय 'तूँ' से किया है। पर यह ठीक नहीं है। इस दोहे के भावार्थ का मिलान २७६-संख्यक दोहे से करना चाहिए ॥

बिथुर्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौंहीँ लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु ॥ ५०७ ॥

गाँसु ( आस ) = किसी की ओर हृदय में कुछ गुप्त भावना रखना ॥

( अवतरण )—नायिका अपनी सौत के पाँवों में फैला हुआ महावर देख कर, पहिले तो चित्त में गाँस रख कर कि यह ऐसी फूहर है कि इसे महावर देना नहीं आता, हँसी, पर फिर, उसको लज्जायुत हँसौंहीं देख कर, उसने निर्धारित कर लिया कि यह महावर का बिथुरापन इसके फूहरपने के कारण नहीं है, प्रत्युत यह महावर प्रियतम के हाथ का लगाया हुआ है, और लगाते समय कंप सात्त्विक के कारण अस्तव्यस्त हो गया है। इस विचार से वह अन्य-संभोग-दुःखिता हो गई, और जो हँसी उसको आई थी, वह पूरी भी न होने पाई, और उसने आधी ही हँसी में दुःखोच्छ्वास लिया। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—सौत के पाँवों में बिथुरा ( फैला ) हुआ जावक ( महावर ) देख कर [ वह मन में ] गाँस ( गुप्त भावना ) रख कर हँसी। [ पर फिर उस सौत को ] लज्जायुक्त हँसती सी देख कर [ उसने ] आधी ही हँसी में ( हँसी के बीच ही में ) [ खेद से ] ऊँचा श्वास लिया ॥

नायिका के दुःख का कारण यह अनुमान भी हो सकता है कि नायक सौत को मनाने के लिए उसके पाँवों पर पड़ा था, जिससे उसका जावक फैल गया है ॥

मोसौं मिलवति चातुरी, तूँ नहिं भानति भेउ।
कहे देत यह प्रगट हीं प्रगट्यौ पूस पसेउ ॥ ५०८ ॥

( अवतरण )—नायक को देख कर नायिका को स्वेद सात्त्विक हुआ है। उसे छिपाने के निमित्त वह सखी से कुछ बात बनाती है। पर सखी उसके स्वेद से अनुराग लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे अंग में, नायक को देख कर, ] पूस महीने में प्रकटा हुआ ( प्रकट रूप से निकला हुआ ) पसेव ( प्रस्वेद, पसीना ) प्रकट ही ( स्पष्ट ही ) यह कहे देता है [ कि तू जो बातें बना रही है, वह तू केवल ] मुझसे चतुराई मिलाती है ( मेरी चतुराई से अपनी चतुराई का मिलान कर के अपनी चतुराई को अधिक ठहराया चाहती है ), [ और ] भेव ( भेद, रहस्य की बात ) नहीं भानती ( फोड़ती, खोलती ) ॥

---

१. सहज ( २ )। २. लयौ ( ३, ५ )। ३. निकट ( २ )।

सौंहैं हूँ हेर्यौ न तैं, केती द्याई सौंह।
एहो, क्यौं बैठी किए ऐंठी ग्वैंठी भौंह ॥ ५०९ ॥

( अवतरण )—कलहांतरिता नायिका को अभी ऊपर से वैसी ही टेढ़ी भौंहैं किए देख कर, और उसके मन का पश्चात्ताप समझ कर, सखी कहती है कि अब तू क्यौं टेढ़ी भौंहैं किए बैठी है, अब तो नायक यहाँ से चला भी गया। सखी का तात्पर्य यह है कि यदि अब भी नायिका का मान ढीला पड़ा हो, और वह अपना पश्चात्ताप प्रकट करे, तो मैं जा कर नायक को बुला लाऊँ—

( अर्थ )—[ नायक तथा हम लोगों ने तुझे, मान छोड़ने के निमित्त, ] कितनी ही शपथ दिलाई, [ पर मान छोड़ना तो कौन कहे ] तूने सामने ( नायक की ओर ) देखा भी नहीं। [ तब लाचार हो कर वह बेचारा यहाँ से चला गया ] अरी, [ भला बतला तो सही कि अब तू ] क्यों टेढ़ी मेढ़ी भौंहें किए बैठी है [ अब तो रोष का नहीं, पछताने का अवसर है ] ॥

हीँ[2] औरै[3] सी ह्वै गई[4] टरी औधि कैं नाम।
दूजैं कै डारी[5] खरी बौरी बौरैं[6] आम ॥ ५१० ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका एक तो यह सुन कर अत्यंत व्याकुल हो रही है कि प्रियतम ने आने की जो अवधि बदी थी, वह टल गई है। दूसरे वसंत के बौरे हुए आमों ने उसको सर्वथा बावली ही कर दिया है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ एक तो ] टली हुई अवधि के नाम ( सुनगुनी, चर्चा ) [ सुनने ] से [ वह ] हृदय में [ कुछ ] और ही सी ( विलक्षण तथा अस्वाभाविक चित्त-वृत्ति वाली ) हो [ ही ] गई थी, दूसरे [ अब उसको ] बौरे हुए आमों ने खरी ( सर्वथा, पूर्ण रीति से ) बौरी ( बावली ) कर डाला ॥

सही रँगीलैं रति-जगैं जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किऐँ कहैं हँसौंहैं नैन ॥ ५११ ॥

रति-जगैं = ( १ ) किसी उत्सव के कारण रात्रि भर के जागरण में। ( २ ) रति के निमित्त जागरण में॥

( अवतरण )—नायिका ने रात्रि भर नायक के साथ रत्युत्सव में जागरण किया है, जिससे उसकी आँखें अलसौंहीं हो रही हैं। आँखों के उनींदी होने का कारण वह सखी से किसी उत्सव के रतजगे में जागना बतलाती है। पर जब वह आँखें सामने करती है, तो वे हसौंहीं हो जाती हैं, जिससे सखी सच्ची बात लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे ] अलसौंहैं नयन सामने करने पर अथवा शपथ खा कर हसौंहैं [हो] कहते हैं [कि तू] सही(सचमुच) रँगीले (रंग-भरे, सरस, आनंदप्रद) रतिजगे (१. किसी उत्सव के रतिजगे। २. रति के जागरण) में सुख [ और ] चैन में पगी हुई जागी है॥

१. चाह्यौ ( २ )। २. हिय ( ४ )। ३. सु और ( ३,५ )। ४. रही ( २ )। ५. जु डरी ( २ )। ६. औरैं ( २ )। ७. दैन ( ३, ५ )।

इस दोहे में 'रँगीलैं', 'रतिजगैं', 'सुख चैन' तथा 'हँसौंहैं' शब्दों से सखी नायिका की रातें लक्षित करना व्यंजित करती है ॥

कहा कुसुमु, कह कौमुदी, कितक आरसी जोति ।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति ॥ ५१२ ॥

( अवतरण )—सखी, नायिका के गौर वर्ण की प्रशंसा नायक से कर के, रुचि उपजाती है, अथवा नायक नायिका की गुराई पर रीझ कर स्वगत कहता है—

( अर्थ )—जिसकी उजराई ( उज्ज्वलता ) देखने पर आँख उज्ज्वल ( ज्योति-संपन्न ) होती है, [ भला उसके आगे ] कुसुम ( पुष्प ) क्या वस्तु है, कौमुदी ( चाँदनी ) क्या है, [ और ] आरसी ( दर्पण ) में कितनी ज्योति ( चमक ) है ॥

'कुसुम' शब्द से यहाँ श्वेत अथवा पीत कुसुम ग्राह्य है ॥

पहिरत हीं गोरैं गरैं यौं दौरी दुति, लाल ।
मनौ परसि पुलकित भई बौलसिरी की माल ॥ ५१३ ॥

**बौलसिरी** ( बकुलश्री ) = मौलसिरी । मौलसिरी के वृक्ष को संस्कृत में बकुल तथा मकुल कहते हैं । बकुलश्री अथवा मकुलश्री का अर्थ बकुल अथवा मकुल की शोभा, अर्थात् पुष्प, होता है । प्राकृत में 'श्री' का रूपांतर 'सिरी' हो जाता है, अतः 'बकुलश्री' से बोलसिरी अथवा बौलसिरी तथा मकुलश्री से मोलसिरी अथवा मौलसिरी बनता है । सतसैया के केवल दो दोहों में बिहारी ने इस शब्द का प्रयोग किया है, और दोनों ही स्थानों पर 'बौलसिरी' रूप ग्रहण किया है ॥

इस दोहे के भाव में कुछ ऐसी अस्पष्टता है कि इसका अर्थ भिन्न भिन्न टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है, पर संतोषप्रद अर्थ कोई भी नहीं प्रतीत होता ॥

सतसैया के सबसे पहिले टीकाकार मानसिंह ने इसका अर्थ यह लिखा है—"श्रीराधाजू के गोरै गरे पहिरत ही लाल तमाल-पुष्प की माल ताकी ऐसी दुति दौरी । जानियै कै गोरे गरे में पुलक-भरी बोलसिरी की माल पहिरी है ।" इस अर्थ में टीकाकार ने 'लाल' का अर्थ लाल तमाल-पुष्प की माल किया है । यदि लाल का अर्थ यह हो भी, तो भी इस अर्थ में दूरान्वय दोष पड़ता है ॥

अनवर-चंद्रिका में इस दोहे पर यह लिखा है—"जो माला लै गई ही, ताकौं दूतत्व ते रोमांचित कहि नाइका को प्रेम नाइक सौं जतावति है ।" इस अर्थ में यह नहीं समझ में आता कि माला के रोमांचित होने से नायिका का प्रेम कैसे प्रकट होता है ॥

अमरचंद्रिका में यह लिखा है—

'प्रश्न

पुलकित सी होतहि सु तौ मौलसिरी की माल ।
ताहि कहैं पुलकित भई परसैं प्रश्न बिसाल ॥

---

१. कितिक ( २ ) ।

उत्तर

तुम जु दई तिहिँ माल, तिहिँ परसत गोरैँ गरैँ।
यौँ बाढ़ी छबि बाल, लाल परसि पुलकित मनौ ॥"

अमरचंद्रिका का भावार्थ यह हुआ—'तुम्हारी दी हुई मौलसिरी की माला को गोरे गले में पहिनने से उसकी ऐसी छवि हुई मानो वह तुम्हीं को स्पर्श कर के पुलकित हुई है।' यह भाव अच्छा है, पर इस अर्थ में 'पहिरत' के साथ 'बौलसिरी की माल' का अन्वय बड़ी क्लिष्टता से करना पड़ता है। हरिप्रकाश तथा बिहारीबोधिनी टीकाओँ में भी अमरचंद्रिका का अनुसरण किया गया है॥

रसचंद्रिका में यह अर्थ लिखा है—"नाइक ने जो हार भेजा था नाइका को सो सखी नाइक सौँ कहै है कि हे लाल, नाइका के गोरे गरे की शोभा सौँ मौलसिरी के फूल के जो काँटे थे, सो ऐसे लगने लगे कि काँटे नहीँ हैँ, मानो माला भी पुलकित भई है।" यह भावार्थ स्पष्ट तो अवश्य है, पर कुछ विशेष संतोषप्रद नहीँ है। कृष्ण कवि की टीका तथा लालचंद्रिका मेँ भी यही भावार्थ माना गया है॥

देवकीनंदन की टीका में अमरचंद्रिका तथा रसचंद्रिका, दोनोँ के अर्थोँ का संग्रह है॥

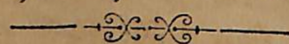
प्रभुदयालु पाँडेजी ने विलक्षण ही अर्थ किया है—"गोरे गले में पहनते ही लाल द्युति यौँ दौड़ी, मानो स्पर्श कर के मौलसिरी की माला पुलकित भई॥"

हमारी समझ में इस दोहे का भावार्थ ४७०-संख्यक दोहे के अनुसार मानना चाहिए। जिस प्रकार उस दोहे में नायिका के शरीर ही का पुलकित हो कर कदंब की माला हो जाना कहा गया है, उसी प्रकार इस दोहे में नायिका के शरीर का पुलकित हो कर 'मौलसिरी की माल' हो जाना समझना चाहिए॥

(अवतरण)—नायक ने नायिका के निमित्त मौलसिरी की माला उसकी अंतरंगिनी सखी के हाथ भेजी थी। सखी ने जब वह माला नायिका को पहिनाई, तो, इस विचार से कि वह माला नायक की भेजी हुई एवं उसके द्वारा स्पर्श की हुई है, उसको पुलक सात्त्विक हुआ। यह वृत्तांत सखी नायक से कह कर यह व्यंजित करती है कि आपके हाथ की स्पर्श की हुई माला के स्पर्श से उसका सर्वांग पुलकित हो जाता है। सखी का अभिप्राय नायिका का प्रेमाधिक्य व्यंजित कर के नायक की प्रीति बढ़ाना है—

(अर्थ)—हे, लाल! [तुम्हारी भेजी हुई मौलसिरी की माला को] गोरे गले में पहनते ही [पुलक सात्त्विक के कारण उस नायिका पर] ऐसी द्युति (शोभा) दौड़ पड़ी (गले से आरंभ हो कर अति शीघ्र सर्वांग में छा गई), मानो [उसको] परस कर पुलकी हुई [वह नायिका स्वयं] मौलसिरी की माला हो गई॥

इस अर्थ में प्रथम मौलसिरी की माला का अध्याहार करना पड़ता है। पर 'वह नायिका स्वयं मौलसिरी की माला हो गई', इस खंडवाक्य के बल से यह अध्याहार हो जाता है॥

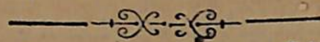


**रस-भिजए दोऊ दुहुनु, तउ टिकि रहे, टरैँ न।**
**छबि सौँ छिरकत प्रेम-रँगु भरि पिचकारी नैन॥ ५१४॥**

१. तौ (२, ४)।

( अवतरण )—नायक नायिका पारस्परिक शोभा देखते तथा नेत्रों के भाव से अपना अपना प्रेम सूचित करते हैं। इस व्यवस्था का रूपक होली के खेल से कर के सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—दोनों ( नायक नायिका ) के द्वारा दोनों ( नायिका नायक ) रस ( अनुराग-रूपी रंग ) से भिगो दिए गए हैं, [ और ऐसी दशा में चाहिए तो यह था कि सामने से हट जाते, क्योंकि होली के खेल में जो सराबोर हो जाता है, वह भाग कर हट जाता है ], तो भी [ ये ] नयन-रूपी पिचकारियाँ भर कर प्रेम-रूपी रंग [ बड़ी ] सुंदरता से छिड़कते हुए ( अपना अपना प्रेम बड़ी सुंदर रीति से सूचित कर के दूसरे को प्रेम में सराबोर करते हुए ) टिके रहे हैं ( सामने सामने डटे हुए हैं ), टलते नहीं ॥

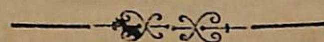


**कारे-बरन डरावने कत आवत इहिँ गेह ।**
**कै वा लखी, सखी, लखैँ लगै थरथरी देह ॥ ५१५ ॥**

कै वा=कै बार ॥ लखी—'लख ( लक्ष )' धातु का प्रयोग बिहारी ने अकर्मक तथा सकर्मक, दोनों रूप में किया है। इस दोहे में 'लखी' क्रिया अकर्मक रूप से प्रयुक्त हुई है ॥

( अवतरण )—नायिका बहिरंगिनी सखियों में बैठी है। इतने ही में श्रीकृष्णचंद्र किसी व्याज से उसके घर आए हैं। उनको देख कर नायिका को कंप सात्त्विक हुआ है। अनुराग छिपाने के निमित्त वह सखी से उस कंप का भय के कारण होना कहती है—

( अर्थ )—यह काले वर्ण वाले डरावने [ मनुष्य ] इस घर में [ बार बार ] क्यों आया करते हैं। हे सखी, [ मैं ] कितने [ ही ] बार देख चुकी हूँ ( अनुभव कर चुकी हूँ ) [ कि इनके ] देखने से [ मेरी ] देह में [ भय के कारण ] थरथरी ( कंप ) लगती है ( होने लगती है ) ॥

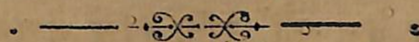


**कर के मीड़े कुसुम लौँ गई बिरह कुम्हिलाइ ।**
**सदा-समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ ॥ ५१६ ॥**

मीड़े ( मृदित )=मले हुए, मसले हुए ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की व्याधि दशा का वर्णन कर के उसको उसके पास आने पर उद्यत किया चाहती है—

( अर्थ )—हाथ से मले हुए फूल की भाँति [ वह ] विरह से [ ऐसी ] कुम्हिला गई है [ कि ] सदा समीप रहने वाली सखियों के द्वारा भी बड़ी कठिनता से पहिचानी जाती है ॥



**चितवत, जितवत हित हियैँ, कियैँ तिरीछे नैन ।**
**भीजैँ तन दोऊ कँपैँ, क्यौँ हूँ जप निबरैँ न ॥ ५१७ ॥**

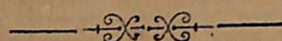
---

१. थरहरा ( २ ) ।

जितवत = जताते हुए ॥ निबरैं न = निवृत्त नहीं होते, समाप्त नहीं होते ॥

( अवतरण )—नायक नायिका, जाड़े के दिन मैं किसी जलाशय मैं स्नान कर के, जप करने के व्याज से पानी ही मैं खड़े, तिरछी दृष्टि से परस्पर अपना अपना प्रेम सूचित कर रहे हैं। अतः विशेष विलंब हो जाने पर भी उनके जप समाप्त नहीं होते। सखी-वचन सखी से—

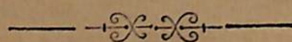
( अर्थ )—[ एक दूसरे के ] हृदय में [ अपना ] प्रेम जताते हुए, तिरछे नयन किए ( औरों की आँखें बचाए ) [ परस्पर ] देखते ( अवलोकन करते ) हुए दोनों [ स्नान कर के ] भीगे तन से [ पानी में खड़े ] काँप रहे हैं, [ और ] किसी प्रकार ( बहुत विलंब होने पर भी ) [ उनके ] जप समाप्त नहीं होते ॥



कियै जु, चिबुक उठाइ कै, कंपित कर भरतार ।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ैं तिलक लिलार ॥ ५१८ ॥

( अवतरण )—नायक ने एक हाथ से नायिका की ठोढ़ी उठा कर दूसरे हाथ से उसके ललाट पर तिलक लगाया है ; नायक के कंप सात्त्विक के कारण तिलक टेढ़ा हो गया है । नायिका नायक का प्रेम उसके सात्त्विक से निश्चित कर के ऐंठती फिरती है । इसी प्रेम-गर्विता नायिका का वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

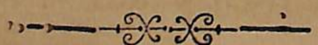
( अर्थ )—चिबुक ( ठोढ़ी ) उठा कर, [ सात्त्विक के कारण ] काँपते हुए हाथ से, जो [ तिलक ] भर्तार ने [ उजलो ] किया ( लगाया ), ललाट पर [ उस ] टेढ़े ( प्रियतम के प्रेम-सात्त्विक से कंप होने के सूचक ) तिलक [ के गर्व ] से [ वह ] टेढ़ी ही टेढ़ी ( ऐंठती, इतराती ) फिरती है ॥



भौ यह ऐसोई समौ, जहाँ सुखद दुखु देत ।
चैत-चाँद की चाँदनी डारति किए अचेत ॥ ५१९ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका का वचन सखी से—

( अर्थ )—[ प्रियतम के विरह में ] यह समय ऐसा ही हो गया है [ कि ] जहाँ ( जिसमें ) सुखद [ पदार्थ ] दुःख देते हैं । [ देख, यह ] चैत्र [ मास ] के चंद्रमा की चाँदनी [ जो संयोग-समय में सुखद थी, इस समय मुझे ] अचेत ( विरह-व्यथा का उद्दीपन कर के दुःखाधिक्य के कारण चेतनाशून्य ) किए डालती है ॥



कत कहियत दुखु दैन कौं रचि रचि बचन अलीक ।
सबै कहाउ रह्यौ लखैं, लाल, महावर-लीक ॥ ५२० ॥

अलीक = रीति-रहित, मनमाने, मिथ्या ॥ कहाउ = कहना सुनना, वक्तव्य ॥ लीक = लकीर ॥

---

१. जहँ सुख तहँ दुख ( ४ ) ।

( अवतरण )—नायक अन्य स्त्री के पास रात भर रह कर प्रातकाल इस नायिका के यहाँ आया है, और रात को अपने न आने के अनेक मिथ्या कारण गढ़ गढ़ कर कह रहा है। इतने मैं उसके भाल पर महावर की लीक नायिका देख लेती है, जिससे वह सच्चा कारण निश्चित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ मुझे ] दुःख देने ( और भी अधिक चिढ़ाने ) के निमित्त [ ये ] मिथ्या वचन रच रच कर क्यों कहे जाते हैं। हे लाल, [ तुम्हारा ] सभी कहना सुनना महावर की लकीर देखने पर रह गया ( वृथा हो गया ) ॥

लोपे कोपे इंद्र लौं रोपे प्रलय[1] अकाज।
गिरिधारी राखे सबै गो, गोपी, गोपाल ॥ ५२१ ॥

( अवतरण )—कोई सज्जन भक्त, किसी बलिष्ठ दुर्जन के द्वारा दुःख दिए जाने पर, अपने मन को धैर्य देता है कि रे मन, तू घबरा मत, धैर्य धारण कर, तेरे प्रभु गिरिधरलाल ऐसे भक्त-वत्सल हैं कि उन्होंने समस्त व्रज के प्राणियों की रक्षा की, और ऐसे शक्ति-संपन्न हैं कि और की कौन कहे, इंद्र से प्रबल शत्रु भी उनके आगे भाग गए—

( अर्थ )—गिरिधारी ( गोवर्द्धन गिरि धारण करने वाले ) [ श्रीकृष्णचंद्र ] ने गउएँ, गोपियाँ [ तथा ] गोपाल ( ग्वाल ), [ ये ] सब ही [ दुष्टों से ] रक्षित किए, [ एवं और की कौन कहे ] बिना समय का प्रलय रोपे ( प्रलय करना ठाने ) हुए कुपित इंद्र ऐसे [ शत्रु भी ] लोपे ( लुप्त किए, भगा दिए ) ॥

ढोरी लाई सुनन की, कहि गोरी मुसकात[2]।
थोरी थोरी सकुच सौं भोरी भोरी बात ॥ ५२२ ॥

ढोरी = धुन, उत्कृष्ट अभिलाषा ॥

( अवतरण )—नायक ने नायिका को मुसकिरा कर भोली भोली बातें करते सुना है। उससे उसको ऐसा आनंद मिला है कि वैसी ही बातें सुनने की धुन लग गई है। अतः वह अपनी दशा सखी से कहता है—

( अर्थ )—उस गोरी ( गौरवर्णी नायिका ) ने मुसकिराते हुए थोड़ी थोड़ी लज्जा से भोली भोली बात कह कर [ मुझे वैसी ही बात फिर फिर ] सुनने की ढोरी ( धुन ) लगा दी है ॥

आज कछू औरै भए, छुए नए[3] ठिकठैन।
चित के हित के चुगॅल[4] ए नित के होहिं न नैन ॥ ५२३ ॥

ठिकठैन = ठाटबाट ॥ चुगॅल = किसी के छिपे भेद को प्रकट कर देने वाले ॥ होहिं—'होहिं'

---

१. प्रलै ( ३ ), प्रलौ ( ४, ५ )। २. मुसिकात ( २ ), मुसुकात ( ४ )। ३. नए बए ( ४ )। ४. जुगल ( ५ )।

का प्रयोग 'हैं' के स्थान पर अवधी भाषा में प्रचलित है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने भी 'होहिं' का प्रयोग 'हैं' के अर्थ में बहुतायत से किया है। इस प्रयोग के शुद्ध ब्रजभाषा में प्रचलित होने में संदेह है। ५४६-संख्यक दोहे में भी 'होहिं' का ऐसा ही प्रयोग है॥

( अवतरण )—लक्षिता नायिका की आँखों की विलक्षण झलक से सखी उसके हृदय का स्नेह लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—ये [ तेरे ] हृदय के हित ( प्रेम ) के चुग़ल नयन नित के ( नित्यप्रति जैसे रहते थे, वैसे ) नहीं हैं, आज नए ठाटबाट से छाए हुए कुछ और ही [ से ] हो गए हैं [ जिससे यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि तेरा हृदय किसी पर अनुरक्त हुआ है ]॥

छुटै न लाज, न लालचौ प्यौ लखि नैहर-गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच, सनेह॥ ५२४॥

सटपटात=संशय में पड़े हैं कि सामने देखें अथवा नीचे हुए रहें, अतः अति शीघ्रता से सामने तथा नीचे होते हैं॥

( अवतरण )—नायिका अपने नैहर में है। नायक भी वहाँ आया है। नायिका के नेत्रों में नायक के देखने की अभिलाषा तथा माता, भगिनी इत्यादि का संकोच, दोनों द्वंद्व मचाए हुए हैं। अभिलाषा तो आँखों को नायक की ओर प्रेरित करती है, और संकोच उन्हें नीची किए देता है। अतः आँखें कभी सामने, कभी नीची होती हैं। यही व्यवस्था सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—प्रियतम को नैहर के घर में देख कर [ नायिका के नेत्रों से ] न [ तो ] लज्जा छूटती है, [ और ] न लालच ही। [ अतः उसके ] नेत्र संकोच [ तथा ] स्नेह से भरे हुए अत्यंत सटपटाते हैं॥

ह्याँ तैं ह्याँ, ह्याँ तैं इहाँ, नेकौ धरति न धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर॥ ५२५॥

डाढ़ी ( दग्धा )=दाही, जलाई हुई। 'डाढ़ी' शब्द का प्रयोग जली हुई अथवा जलाई हुई के अर्थ में काव्य-भाषा में प्रचलित है। अवध प्रांत में 'डाढ़ा' शब्द अग्नि के अर्थ में, बोलचाल में भी, आता है। स्त्रियाँ कोसने में भी कहती हैं कि 'तोरे मुँहे में डाढ़ा लागे'॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की उद्वेग दशा सखी सखी से, अथवा नायक से, कहती है—

( अर्थ )—[ वह ] किंचिन्मात्र भी धैर्य न धरती हुई ( अर्थात् परम विकल नायिका ), बढ़ी हुई गाढ़ी पीड़ा से दग्ध सी रात दिन यहाँ से वहाँ [ और ] वहाँ से यहाँ फिरा करती है॥

१. छुटहि ( ३, ५ )। २. धरत ( ४ )। ३. दाढ़ी ( ५ )।

**बिरह-बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।**
**आँक-बिहूनीयौ सुचित सूनैं बाँचत जाइ॥ ५२६॥**

आँक-बिहूनी=अक्षरोँ से रहित॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका तथा प्रोषित नायक, दोनोँ की विरह-विकलता नायिका की पत्रिका ले जाने वाली दूती अपने मन मैँ कहती है—

(अर्थ)—[ उधर नायिका की तो यह दशा है कि उस ] विरह-विकल ने [ नायक को चिट्ठी लिखना चाहा; पर जब विकलता के कारण न लिख सकी, तो ] बिना लिखी ही 'पाती' (पत्रिका) भेज दी। [ इधर नायक की यह दशा है कि यह ] बिना अक्षर की [ पत्रिका ] भी 'सूनैं' (एकांत मैं) जा कर [ और ] सुचित्त हो कर (बड़े ध्यान से) बाँचता है॥

इस दोहे के भाव से ६० तथा ३२८-संख्यक दोहोँ का भाव मिलाने के योग्य है॥

**समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराइ।**
**फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ॥५२७॥**

(अवतरण)—परकीया नायिका नायक को अपनी खिड़की मैँ से देख कर काम-पीड़ित हुई है, पर संकोचवश एकाएक आँख भर कर नहीँ देख सकती। अतः वह कभी तो उझक कर देखती है, और कभी नायक को अपनी ओर देखता देख कर छिप जाती है, और फिर अन्य लोगोँ की दृष्टि बचा कर देखती है—

(अर्थ)—बराबर के स्मर [ तथा ] संकोच के वश मैँ [ पड़ कर ] विवश हुई [ वह नायिका किसी एक दशा मैँ ] ठीक नहीँ ठहरती। फिर फिर (बारंबार) [ नायक को देखने के निमित्त झरोखे मैँ ] उझकती है, [ और ] फिर छिप जाती है, [ इसी प्रकार वह ] छिप छिप कर (लोगोँ की तथा नायक की दृष्टि बचा बचा कर) [ झरोखे मैँ ] आ कर उझकती है॥

इस नायिका को मध्या स्वकीया भी मान सकते हैँ॥

**फिरत जु अटकत कटनि-बिनु, रसिक, सुरस न, खियाल।**
**अनत अनत नित नित हितनु चितैं सकुचत कत, लाल॥५२८॥**

(अवतरण)—नायिका नायक को अन्य स्त्रियोँ के साथ हँसते बोलते देख कर कुछ रुष्ट हुई है, जिस पर नायक ने उससे कहा है कि मैँ उन स्त्रियोँ से कुछ प्रेम-संबंध से बातचीत नहीँ करता था, प्रत्युत केवल आमोद प्रमोद मैँ उलझा था। यह कहते समय नायक का मन अपनी बनावटी बात पर कुछ संकुचित हुआ। यह संकोच उसकी चेष्टा से लक्षित कर के एवं सच्ची बात निर्द्धारित कर के नायिका कहती है—

१. अंक (२)। २. बाँचति (२, ४)। ३. झुकति (४)। ४. दुर उझकत फिरि आइ (४)। ५. कत सकुचावत लाल (२), चित सकुचित कत लाल (५)।

( अर्थ १ )—हे रसिक ! [ तुम ] जो 'कटनि' ( प्रेम की काट, प्रेम के प्रभाव ) बिना अटकते ( अन्य स्त्रियों से उलझते ) फिरते हो, [ वह अटकना ] रस नहीं है ( प्रेम के कारण नहीं है ), [ प्रत्युत ] 'खियाल' ( खिलवाड़ ) [ मात्र ] है, हे लाल, [ यदि तुम्हारा यह कथन सच है, और तुम अपराधी नहीं हो, तो फिर तुम यह तो बतलाओ कि ] 'नित नित' ( नित्यप्रति ) 'अनत अनत' ( अन्य अन्य स्त्रियों के ) हितों से चित्त में संकुचित क्यों होते हो [ वे हित तो तुम्हारे कथनानुसार केवल खिलवाड़-संबंधी हैं, कुछ प्रेम-संबंधी नहीं कि संकोच के कारण हों ] ॥

नायिका नायक को 'रसिक' शब्द से संबोधित कर के यह व्यंजित करती है कि तुम जो अन्य स्त्रियों से अटकने का कारण खिलवाड़ मात्र बतलाते हो, वह मिथ्या है; क्योंकि तुम तो रसिक हो, बिना रस के अटकने वाले नहीं ॥

इस दोहे के 'चित सकुचत कत, लाल' के स्थान पर हमारी दूसरे अंक की पुस्तक में 'कत सकुचावत, लाल' पाठ है, और अनवर-चंद्रिकादि सटीक ग्रंथों में भी यही पाठ ग्रहण किया गया है। पर हमारी तीन प्राचीन पुस्तकों में वही पाठ है, जो इस संस्करण में रक्खा गया है, और जिसके अनुसार ऊपर लिखा हुआ अर्थ किया गया है। हमारी प्रथम अंक की पुस्तक में यह दोहा नहीं है, क्योंकि उसमें केवल ४६४ दोहे हैं। यदि दूसरे अंक की पुस्तक का पाठ शुद्ध माना जाय, तो इस दोहे का अवतरण तथा अर्थ यह होगा—

( अवतरण २ )—परकीया नायिका, नायक के बहुत दिनों न मिलने से यह समझ कर कि वह अब अन्य स्त्रियों में उलझा रहता है, उसको उराहना देती है—

( अर्थ २ )—[ तुम ] जो 'कटनि' ( प्रेम की काट अर्थात् चोट ) बिना 'नित नित' ( नित्यप्रति ) 'अनत अनत' ( नई नई स्त्रियों से ) अटकते फिरते हो, [ सो ] हे रसिक, वह [ तुम्हारा अटकना ] रस नहीं, [ प्रत्युत ] खिलवाड़ [ मात्र ] है। हे लाल, [ इस बिना रस के अटकने से ] तुम हितों को ( प्रेम के भावों को ) क्यों संकुचित करते हो [ अर्थात् तुम्हारी इस बिना प्रेम की क्रीड़ा से प्रेम बेचारा संकुचित होता है ] ॥

विपरीत लक्षणा से इस अर्थ में रसिक का अर्थ अरसिक होता है ॥

---

**अरैं[1] परै न, करै हियौ खरैं जरैं[2] पर जार।**
**लावति घोरि गुलाब सौं, मलै[3] मिलै घनसार ॥ ५२६ ॥**

अरैं=अड़ में, हठ में ॥ जार=जलन ॥

( अवतरण )—विरहिणी नायिका की कोई सखी उसके ताप को दूर करने के निमित्त चंदन तथा कपूर को गुलाब-जल में घोल कर लगाती है। पर उससे उसका हृदय और भी संतप्त हो कर तन में जलन उत्पन्न करता है। अतः वह सखी को उस कार्य से वारण करती है—

---

१. अरे परैं न करै ( २ ), अरैं परै न करैं ( ३ ), अरे परे न करे ( ४ ), अरैं परैं न करे ( ५ )। २. जरे खरौ ( २ ), जरे परैं ( ३ ), जरे खरे ( ४ )। ३. मलय मिलैं ( ३ ), मिले मिले ( ४ ), मलय मिले ( ५ )।

( अर्थ )—[ अरी ] घनसार ( कपूर ) में 'मलै' ( मलय, चंदन ) मिला कर [ एवं ] गुलाब-जल से ( में ) घोल कर लगाती हुई [ सखी, तू इस लेप लगाने की ] 'अरैं' ( हठ में ) मत पड़ ( हठ मत ठान ); [ क्योंकि मेरा ] हृदय [ विरह से ] भली भाँति जले हुए होने पर [ भी इस लेप से शरीर में और भी ] जलन [ उत्पन्न ] करता है ॥

दोऊ चोरमिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात ॥ ५३० ॥

चोरमिहीचनी—यह एक प्रकार का खेल है, जिसको आँखमिचौअल या आँखमिचौनी भी कहते हैं। इसमें पाँच सात लड़के लड़कियाँ सम्मिलित होते हैं। उनमें से एक की आँखें बंद की जाती हैं, और शेष सब भाग कर जहाँ तहाँ छिप जाते हैं। तब उसकी आँखें खोल दी जाती हैं, और वह सबको खोजने के लिए इधर उधर दौड़ता है। इतने में सब अपने अपने छिपने के स्थानों से निकल, निकल कर उस स्थान को, जहाँ आँखें मूँदी गई थीं और जिसको खुँटवा कहते हैं, दौड़ दौड़ कर छूने का यत्न करते हैं। जिस व्यक्ति को वह, जिसकी आँखें मूँदी गई थीं, खुँटवा छूने के पहिले, छू लेता है, वह चोर हो जाता है। फिर दूसरी बार उसी की आँखें मीची जाती हैं। इस खेल में कभी चोर किसी के छिपने के स्थान ही पर पहुँच जाता है, तो उसे देख कर छिपने वाला वहाँ से भागता है, जिसमें वह चोर उसको छू न सके ॥

( अवतरण )—नायक नायिका, दोनों सखियों के साथ आँखमिचौअल खेलते हैं, पर उस खेल से तृप्त नहीं होते; क्योंकि उनको उससे परस्पर आलिंगन करने का अवसर मिलता है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—दोनों ( नायक नायिका ) चोरमिहीचनी का खेल खेल कर अघाते नहीं ( तृप्त नहीं होते )। [ दोनों एक दूसरे के ] हृदय से लिपट कर छिपते हैं, [ अर्थात् जब किसी अन्य की आँख मीचने की पारी होती है, तब दोनों एक ही स्थान में जा छिपते हैं, और वहाँ एकांत पा कर परस्पर आलिंगन करते हैं, और ] छूते समय [ भी परस्पर ] हृदय से लिपटते हैं [ अर्थात् जब इनमें से किसी की आँखें मीचने की पारी पड़ती है, तो दूसरा जिस गुप्त स्थान में छिपता है, वहाँ वह उसको खोजता हुआ पहुँच जाता है। उसको देख कर छिपने वाला भागता नहीं, प्रत्युत छू जाता है, और उस एकांत स्थल में दोनों परस्पर आलिंगन करते हैं ] ॥

मिसि[1] हीँ मिसि आतप दुसह दईँ और बहराइ।
चले ललन[2] मनभावतिहिँ तन[3] की छाँह छिपाइ ॥ ५३१ ॥

( अवतरण )—ज्येष्ठा कनिष्ठा नायिकाओं के साथ नायक के बर्ताव का वर्णन कोई सखी किसी अन्य सखी से करती है—

( अर्थ )—दुसह ( कठिनता से सहे जाने के योग्य ) आतप ( धूप ) के बहाने ही

१. मिस ही मिस ( २,४ )। २. लाल ( २ )। ३. तिनकी ( ४ )।

बढ़ाने से ( वृथा बढ़ाने से ) और [ सब नायिकाएँ तो नायक ने ] बहरा दीं ( टाल दीं, वहाँ से हटा दीं ), [ अर्थात् इस समय बड़ी धूप है, अतः कुंजभवन में चलने का अवसर नहीं है, यह कह कर अपने अपने महलों को भेज दीं, और अपनी ] मनभावती [ नायिका ] को [ अपने ] तन की छाया में छिपा कर ललन [ कुंजभवन को ] चले ॥

लहलहाति तन[1] तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ[2] ।
लगैं लाँक लोइन-भरी लोइनु लेति लगाइ[3] ॥ ५३२ ॥

लग—हमारी चार पुस्तकों में यही पाठ है। पर कई टीकाकारों ने 'लग' के स्थान पर 'लगि' पाठ रक्खा है। दोनों पाठों का अर्थ एक ही, अर्थात् कंपा, है ॥ लोइन-भरी = ( १ ) लावण्य-भरी । ( २ ) लासा-भरी । चिड़िया फँसाने के लासे को भी लोयन कहते हैं । किसी किसी ने 'लोइन' शब्द का एक ही अर्थ, अर्थात् लुनाई, मान कर इसे बिहारी के बिगाड़े हुए शब्दों में परिगणित किया है। पर बिहारी ने सतसैया के तीन और दोहों में भी 'लोइन' शब्द 'लुनाई' के अर्थ में रक्खा है, जिससे प्रमाणित होता है कि किसी आवश्यकता के कारण बिहारी ने 'लुनाई' को बिगाड़ कर 'लोइन' नहीं कर डाला था, प्रत्युत उस समय 'लोइन' शब्द 'लावण्य' के अर्थ में प्रचलित था। 'लोइन' शब्द लावण्य शब्द का अपभ्रंश इस क्रम से हो गया है—लावण्य, लोअन, लोयन, लोइन ॥ लोइनु = ( १ ) नेत्र । ( २ ) लवा पक्षी ॥

( अवतरण )—नायक के नेत्र नायिका की लंक पर मोहित हुए हैं, सो नायक अपने नेत्रों की उपमा लवा पक्षियों से एवं नायिका की कटि की उपमा बहेलिए की लग्गी से दे कर कहता है—

( अर्थ १ )—'लोइन' ( १. लावण्य । २. लासा )-भरी लाँक ( कटि ) तन-रूपी तरु ( वृक्ष ) में नई ( झुकी ) [ और ] लहलहाती ( लपलपाती ) हुई लचक कर 'लग' ( कंपे ) की भाँति 'लफि' ( झुक ) जाती है, [ और ] 'लोइन' ( १. लोचन । २. लवा पक्षियों ) को लगने पर ( १. अपने पर पड़ने पर । २. अपने से छू जाने पर ) लगा लेती है ( १. आसक्त कर लेती है । २. फँसा लेती है ) ॥

इस दोहे का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—

( अर्थ २ )—[ उसके ] शरीर में तरुनई ( जवानी ) लहलहा रही है, [ तथा उसकी ] लावण्य-भरी कटि लोचन के लगने से ( उस पर पड़ने से ) लचक कर 'लग' ( बाँस की पतली छड़ी ) की भाँति 'लफि' ( झुक ) जाती है, [ और देखने वालों की ] आँखों को [ अपने में ] लगा लेती है ( आसक्त कर लेती है ) ॥

रही अचल सी है, मनौ लिखी चित्र की[4] आहि ।
तजैं लाज, डरु लोक कौ, कहौ, बिलोकति काहि ॥ ५३३ ॥

( अवतरण )—अद्यावधि नायक ने परकीया का अपने ऊपर अनुराग होना छिपा रक्खा था। इस समय नायिका को उसकी ओर जड़वत् टकटकी बाँध कर देखते देख कर, और उसका प्रेम लक्षित कर के,

१. तनु ( ३, ५ ) । २. जाय ( ३ ) । ३. लगाय ( ३ ) । ४. की ( २, ४ ) ।

सखी नायक से, ताना देती हुई, कहती है कि आप तो उसका प्रेम छिपाए हुए थे, पर अब बतलाइए कि वह इस अनुरागमय जड़ता-भाव से किसको देख रही है—

( अर्थ )—[ देखो, वह तुम्हें देख कर ] अचल सी ( जड़ पदार्थ सी ) हो रही है, मानो चित्र में लिखी हुई [ मूर्ति ] है। [ यदि वह तुम पर अनुरक्त नहीं है, जैसा कि तुम कहते हो, तो ] कहो [ कि ] लज्जा [ तथा ] लोक का डर तजे हुए [ इस भाँति वह ] किसको देख रही है ॥

पल न चलैं, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीँ तनु रितयौ; कहौ, मनु पठयौ किहिँ पास ॥ ५३४ ॥

( अवतरण )—परकीया नायिका ने अपना उपपति-विषयक प्रेम सखी से छिपा रक्खा था। पर अब, नायक के सामने आने पर, सखी वह गुप्त प्रेम लक्षित कर के परिहास-पूर्वक कहती है—

( अर्थ )—[ इस नायक को देख कर तेरी ] पलकैं चलती नहीं ( तेरी टकटकी बँध गई है ), [ तू ] स्तंभित सी हो रही है, [ तथा तेरी ] उसास थक सी रही है ( तेरी साँस बहुत मंद मंद चलने लगी है, अर्थात् तू साँस रोक कर उसको देख रही है )। [ अभी तक तो तेरी ऐसी दशा नहीं थी, पर ] अभी ( इस नायक को देखते ही ) [ तूने अपना ] शरीर [ मन से ] खाली कर दिया। [ फिर यदि तू इस पर अनुरक्त नहीं है, तो ] बतला, मन किसके पास भेजा है ॥

मैं लै द्यौ, लयौ सु, कर छुवत छिनकि गौ नीरु।
लाल, तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीरु ॥ ५३५ ॥

( अवतरण )—पूर्वानुराग में नायक ने नायिका के पास प्रेमोपहार-रूप अरगजा भेजा था। उससे उद्दीपन होने के कारण नायिका के शरीर में अत्यंत ताप उत्पन्न हुआ। उसी ताप का वर्णन सखी नायक से, प्रेम बढ़ाने के निमित्त अत्युक्ति में, करती है—

( अर्थ )—मैंने [ तुमसे ] ले कर [ उसको ] दिया, [ और ] उसने लिया, [ पर वह अरगजा अरगजा-रूप से उसके उर तक न पहुँचने पाया। उसके ] हाथ से छूते [ ही तापाधिक्य के कारण उसका ] नीर 'छिनकि गौ' ( छनछना कर जल गया )। [ अतः ] हे लाल, तुम्हारा [ भेजा हुआ ] अरगजा [ उसके ] उर पर अबीर हो कर लगा ॥

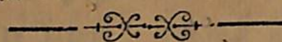
चलौ, चलैं छुटि जाइगौ हठु रावरैं सँकोच।
खरे चढ़ाए हे, ति अब आए लोचन लोच ॥ ५३६ ॥

( अवतरण )—कलहांतरिता नायिका की सखी का वचन नायक से—

( अर्थ )—[ अब आप फिर ] चलिए ; [ अब आपके ] चलने पर आपके संकोच

१ कहूँ ( ३, ५ )। २. तुम्हारौ ( ३, ५ )। ३. जाहिंगौ ( २ )।

( मुरव्वत ) से [ उसका ] हठ छूट जायगा [ क्योंकि अब रोष की वह तेज़ी नहीं है; जो तब ] खरे चढ़ाए हुए थे, वे लोचन अब लोच ( लचकाने, नर्मी ) पर आ गए हैं ॥



**कहे जु बचन बियोगिनी बिरह-बिकल बिललाइ ।**
**किए न को अँसुवा-सहित सुवा ति बोल सुनाइ ॥ ५३७ ॥**

( अवतरण १ )—प्रोषितपतिका नायिका ने विरह-दुःख से प्राण त्यागते समय बिलला कर जो वचन कहे थे, उनको शुक ने याद कर लिया था, और फिर उसने उन करुणामय शब्दों का उच्चारण कर कर के सुनने वालों को रुला रुला दिया । यही वृत्तांत उस मृत विरहिणी की कोई सखी किसी से कहती है—

( अर्थ १ )—[ उस ] विरह से विकल वियोगिनी ने [ प्राण त्यागते समय ] जो [ करुणामय ] वचन बिलला कर ( विवशता तथा हताशता से भरा हुआ विलाप कर के ) कहे [ थे ], उन शब्दों को सुना कर सुग्गे ने किनको आँसुओं के सहित नहीं कर दिया ( किनको नहीं रुला दिया, अर्थात् सब सुनने वालों को रुला दिया ) ॥

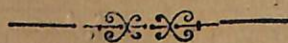
इस दोहे का अर्थ अन्य टीकाकारों ने जीवित प्रोषितपतिका नायिका पर लगाया है, क्योंकि शृंगार रस में मरणावस्था का वर्णन निषिद्ध माना जाता है । पर दोहे के शब्दों से नायिका का बिलला कर प्राण त्याग देना प्रतीत होता है । 'कहे' भूतकालीन क्रिया है । अतः उससे प्रतीत होता है कि अब वैसे वचन वह नहीं कहती । इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो उसके पति का आ जाना और दूसरा उसका शरीर त्याग देना । पति के आ जाने पर भी सखी उससे शुक वाला वृत्तांत, नायिका का प्रेमाधिक्य व्यंजित करने के निमित्त, कह सकती है । पर दोहे के शब्दों से ऊपर लिखा हुआ अर्थ ही कुछ विशेष झलकता है ॥

आचार्यों ने शृंगार रस में दशम दशा का वर्णन निस्संदेह निषिद्ध माना है । पर जहाँ ऐसी घटना हो जाती है, वहाँ उसका वर्णन करना ही पड़ता है । इसके अतिरिक्त बिहारी की सतसैया में यद्यपि शृंगार की प्रधानता है, तथापि इसमें अन्य रसों के दोहों का अभाव भी नहीं है । अतः इस दोहे को करुण शृंगार का दोहा मानने में कोई बाधा नहीं ज्ञात होती ॥

यदि इस दोहे का अर्थ जीवित नायिका ही पर लगाना हो, तो इस प्रकार लगाना चाहिए—

( अवतरण २ )—नायक के परदेश से आने पर सखी नायिका के वियोग-दुःख का वर्णन, उसके हृदय में प्रीति बढ़ाने के अभिप्राय से, करती है—

( अर्थ २ )—[ इस ] विरह से विकल वियोगिनी ने ( जिस समय यह विरह से विकल वियोगिनी थी, उस समय इसने ) जो वचन बिलला कर ( विवशता तथा आतुरता से भरा हुआ विलाप कर के ) कहे, [ वे ऐसे करुणाजनक थे कि उनसे इसका तो लोगों को रुला देना कोई बात ही न थी ] उन बोलों ( शब्दों ) को सुग्गे ने सुना कर किनको ( ऐसे कौन कठिन हृदय के थे, जिनको ) आँसू-सहित नहीं कर दिया ( किनको नहीं रुला दिया, अर्थात् सब सुनने वालों को रुला दिया ) ॥



छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलैँ[2] अँचर[3]-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी कैँ नीर॥ ५३८॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की शोभा का वर्णन कर के उसकी रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—[ उसका ] छबीला मुख नीले अंचल-पट में छिपा हुआ [ ऐसा ] लसता ( शोभा देता ) है, मानो कलानिधि ( चंद्रमा ) कालिंदी के [ नीले ] नीर में झलमला ( प्रतिबिंबित हो कर मंद लहरियों के कारण हिलती हुई आभा दे ) रहा है॥

मानु तमासौ करि रही बिबस बारुनी सेइ।
झुकति, हँसति; हँसि हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि हँसि देइ॥५३९॥

( अवतरण )—नायिका वारुणी-पान कर के विवश हो रही है, और ऐसी ही अवस्था में उसने मान किया है, पर विवशता के कारण उसको खिझलाते समय हँसी आ जाती है, और फिर हँसते समय रोष हो आता है। अतः उसका मान एक तमाशा सा हो रहा है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देख, यह ] वारुणी का सेवन कर के विवश हुई [ नायिका ] मान को [ एक ] तमाशा कर रही है ( बना रही है )। [ वह कभी तो ] झुकती ( झिड़कती, परुष वचन कहती ) है, [ और कभी ] हँसती है; हँस हँस कर [ तो वह ] झुकती ( खीझती ) है, [ और ] झुक झुक कर ( खीझ खीझ कर ) हँस हँस देती है [ अतः उसकी हँसी और झिड़की के मेल से मान के स्थान पर एक तमाशा हो जाता है ]॥

सदन सदन के फिरन की सद न छुटै, हरिराइ।
रुचै, तितै बिहरत फिरौ; कत बिहरत उँरु आइ॥ ५४०॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा धीरा खंडिता नायिका सापराध नायक से कहती है—

( अर्थ )—हे हरिराय ( हरिजी महाराज ), [ आपकी ] घर घर फिरने की 'सद' ( कुटेव, कुबान ) नहीं छूटती [ तो फिर अच्छा मैंने संतोष कर लिया। मैं भी उसी में प्रसन्न हूँ, जिसमें आपको आनंद मिले ]। [ आपको जहाँ ] रुचे ( अच्छा लगे ), 'तितै' ( वहाँ ) विहार करते फिरिए, [ यहाँ ] आ कर [ मेरा ] हृदय क्यों 'बिहरत' ( विदीर्ण करते ) हैं॥

'हरिराइ', यह प्रतिष्ठासूचक पद यहाँ लक्षणा शक्ति से अप्रतिष्ठा-सूचक है, जैसे कोई किसी अपराधी से कहे कि "आइए, महाराज"॥

प्रलय-करन बरषन[5] लगे जुरि जलधर इकसाथ।
सुरपति-गरबु[6] हर्यौ हरषि गिरिधर[7] गिरि[8] धरि हाथ॥ ५४१॥

---

१. छप्यो ( ४ )। २. भीनैँ ( २ )। ३. अंचल ( २ )। ४. इत ( ४ )। ५. बरसन ( २, ४ )। ६. गर्ब ( २ )। ७. गिरधर ( ४, ५ )। ८. गिरिधर ( २ ), गिरधर ( ३, ५ )।

( अवतरण )—कोई सज्जन कृष्ण-भक्त अपने प्रभु के वीरत्व का वर्णन करता है—

( अर्थ )—[ सब ] प्रलय-करण ( प्रलय करने वाले ) जलधर ( मेघ ) [ इंद्र की आज्ञा से व्रज को बहा देने के निमित्त ] जुड़ कर ( इकट्ठे हो कर ) एक साथ [ ही ] बरसने लगे। [ पर उनकी कुछ भी न चली ] गिरिधर ( श्रीकृष्णचंद्र ) ने हर्ष-पूर्वक [ गोवर्द्धन ] गिरि को हाथ पर धर कर [ और व्रजवासियों को उसके नीचे शरण दे कर ] सुरपति ( इंद्र ) का गर्व ( यह अभिमान कि मैं व्रज को बहा दूँगा ) हरा ( नष्ट कर दिया ) ॥

करे चाह सौं चुटकि[1] कै खरैं उड़ौंहैं मैन।
लाज नवाऐं[2] तरफरत, करत खूँद सी नैन ॥ ५४२ ॥

**चुटकि कै**=चुटकारी दे कर। चुटकने के विषय में लाला भगवानदीनजी की टिप्पणी द्रष्टव्य है। अतः वह नीचे उद्धृत की जाती है—"सन की एक गावदुम लंबी रस्सी सी ( वेणी के आकार की ) बनाई जाती है। उसे चुटकी कहते हैं। घोड़ा निकालते समय जब घोड़े को 'उड़ान' सिखाना होता है, तब यह चुटकी घोड़े के पीछे तड़ाक तड़ाक बजाई जाती है, जिससे डर कर घोड़ा उड़ना ( कूदते हुए चलना ) सीखता है॥" **खूँद**—इस शब्द पर श्रीपंडित पद्मसिंहजी शर्मा की टिप्पणी उद्धृत की जाती है—"लघु द्रुत गति से ज़मीन को काटते हुए चलना, जहाँ से पैर उठाया है फिर वहीं रखना, इत्यादि खूँद करने का अर्थ है, जिसे इधर की ग्रामीण भाषा में 'खौरु खोदना' भी कहते हैं। जब बछेरे को 'ओंधी' में फेरते वक्त चाबुकसवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है, तो वह ऊपर को उठ जाता है, और भागना चाहता है; परंतु बागें खिंची रहने के कारण भाग नहीं सकता, झुक कर वहीं आ रहता है॥"

( अवतरण )—मध्या नायिका के नेत्र चाह से तो ऊँचे हो कर नायक को देखना चाहते हैं, पर लज्जा से दब कर फिर नीचे हो जाते हैं। उनकी यह व्यवस्था कोई सखी उनकी उपमा खूँद करते हुए घोड़ों से दे कर किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—चाह[-रूपी चुटकी ] से चुटक कर मदन[-रूपी सवार ] के द्वारा 'खरैं' ( भली भाँति ) उड़ौंहैं ( उड़ान अर्थात् कुदान करने पर उद्यत ) किए हुए [ इसके ] नयन [-रूपी तुरंग ] लज्जा[-रूपी लगाम ] से 'नवाऐं' ( झुकाए जाने से ) [ एक ही स्थल पर ] तड़फड़ाते हैं, मानो खूँद कर रहे हैं ॥

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि, त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल ॥ ५४३ ॥

**उताल**=चित्त में शीघ्रता रख कर॥ **रहचटैं**=रस की चोट अर्थात् लालच में॥

( अवतरण )—प्रियतम से शीघ्र ही मिलने के लालच से नायिका घर के सब काम काज जल्दी जल्दी कर के साँझ ही से छुट्टी पा जाना चाहती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ देख, ] रस की चोट में लगी हुई [ यह ] बाला ज्यौं ज्यौं रात समीप

१. चटकि ( ३,५ )। २. दबाऐं ( २ )।

आती है, त्यों त्यों खरी (अत्यंत) उताल (उतावली अर्थात् शीघ्रता से) झमक झमक कर (उत्साह-पूर्वक जल्दी जल्दी अपने भूषणों को बजाती हुई चल चल कर) [घर की सब] टहलें (सेवाएँ, अपने करने के काम) करती है (निपटाए लेती है) ॥

रही, पैज कीनी जु मैं; दीनी तुमहिं मिलाइ।
राखहु चंपकमाल लौं, लाल, हियैं लपटाइ ॥ ५४४ ॥

(अवतरण)—दूती-वचन नायक से—

(अर्थ)—[इस नायिका का प्राप्त होना तो बड़ा कठिन था, पर] मैंने जो 'पैज' (प्रतिज्ञा) की थी, [वह किसी न किसी प्रकार] रह गई, [और मैंने उसको] तुमसे मिला दिया। [अब] हे लाल, [तुम इस चंपकवर्णी को अपने] हृदय में चंपकमाला की भाँति लिपटा रक्खो [देखो, ऐसा न हो कि इसका निरादर हो, जिससे फिर यह तुम्हारे पास न आवे] ॥

दोऊ चाह-भरे कछू चाहत कह्यौ, कहैं न।
नहिं, जाँचकु सुनि, सूम लौं बाहिर निकसत बैंन ॥ ५४५ ॥

(अवतरण)—नायक नायिका, दोनों एक दूसरे के वचन सुनने के अभिलाषी हैं, और परस्पर कुछ कहना भी चाहते हैं; पर नए स्नेह के कारण संकोच तथा लज्जा-वश कहते नहीं। सखी-वचन सखी से—

(अर्थ)—दोनों [एक दूसरे के वचन सुनने की] चाह से भरे कुछ कहना चाहते हैं, [पर संकोचवश] कहते नहीं। याचक (मंगन, अपने से कुछ आकांक्षा रखने वाले) को [द्वार पर उपस्थित] सुन कर (जान कर) [दोनों के] वचन सूम (कृपण) की भाँति [मुख-रूपी सदन से] बाहर नहीं निकलते ॥

यद्यपि 'बैन' शब्द वचन से बनता है, और इसका बकार सानुनासिक नहीं है, पर व्रजभाषा के प्राचीन कवियों की यह परिपाटी थी कि जब किसी शब्द में कोई अनुनासिक अक्षर—जैसे न, म—आता था, और उसके पूर्व का अक्षर निरनुनासिक तथा दीर्घ होता था, तो उस निरनुनासिक, दीर्घ अक्षर को सानुनासिक भी बोलते तथा लिखते थे। इसी परिपाटी के अनुसार 'बैंन' का 'बै' सानुनासिक माना गया है ॥

सुभर भर्यौ तुवगुन-कननु, पकयौ कपट-कुचाल।
क्यौं धौं, दार्यौ ज्यौं, हियौ दरकतु नाहिंन, लाल ॥ ५४६ ॥

---

१. सु (२, ४)। २. दीन्ही (२, ४)। ३. तुमैं (२, ३)। ४. राखौ (२, ४)। ५. सी (४)। ६. सुभरु (४)। ७. गनतु (४)। ८. पचयौ (३, ४, ५)। ९. लौं (२)। १०. नाहीं (२), नहिं नँदलाल (४)।

**नाहिँन**—यह दुहरा निषेध-वाचक शब्द व्रजभाषा में 'नहीं है' के अर्थ में आता है। बिहारी ने इसको ४८७-संख्यक दोहे में भी प्रयुक्त किया है। देव इत्यादि अन्य श्रेष्ठ कवियों ने भी इसको लिखा है॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा खंडिता नायिका का वचन नायक से—

( अर्थ )—[ मेरा हृदय-रूपी दाड़िम ] तुम्हारे गुण ( अवगुण )-रूपी कणों ( दानों ) से 'सुभर' ( अच्छे भराव से, ठूँस ठूँस कर ) भर गया है, [ और तुम्हारे ] कपट ( १. दुराव। २. आवरण अर्थात् वह कपड़ा, जो अनार के फलों पर, चिड़ियों से उनकी रक्षा करने तथा उन्हें शीघ्र पकाने के निमित्त, बाँध दिया जाता है ) की कुचाल ( १. बुरी चाल। २. बुरे आच्छादन ) से पकाया गया ( १. पीड़ित किया गया। २. परिपक्व किया गया ) है, [ तो फिर ] हे लाल, [ यह ] हृदय जिस भाँति 'दाख्यौ' ( दाड़िम ) [ दरकता है, उस भाँति ] 'क्यौं धौं' ( न जाने क्यों ) दरक नहीं जाता॥

अनार जब दानों से भली भाँति भर जाता और पक जाता है, तो दरक जाता है॥

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख॥ ५४७॥

( अवतरण )—किसी उत्तम पद अथवा पदार्थ के अधिकारी को कोई निकृष्ट पद अथवा पदार्थ देना चाहता है। वह, उसको लेना अस्वीकृत कर के, अपनी चित्तवृत्ति के विषय में चकोर पर अन्योक्ति कर के, कहता है कि या तो मैं जिस पद अथवा पदार्थ का अधिकारी हूँ, उसके न मिलने पर दुःख ही झेलूँगा अथवा यदि मिल सकेगा, तो वही लूँगा, जैसे चकोर या तो चिनगी ही चुगता रहता है, या चंद्रमा की किरणों का अमृत ही पान करता है—

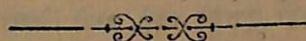
( अर्थ )—[ नेक ] चकोर की ओर चित्त दे कर देख [ तो कि उसका कैसा दृढ़ व्रत है कि ] या तो [ वह ] अंगारे की चिनगियाँ चुगता है, या चंद्रमा की किरणें ही पान करता है, तीसरे [ पदार्थ ] को [ वह ] भूख में नहीं भजता ( भोगता अथवा ध्यान करता )॥

तुहूँ कहति, हौं आपु हूँ समुझति सबै सयानु।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु॥ ५४८॥

( अवतरण )—सखी नायिका को मान करना सिखलाती है, और कहती है कि यदि तू बीच बीच में मान कर के उसको भ्रमकाती न रहेगी, तो वह सर्वथा स्वच्छंद हो जायगा, और फिर संभव है कि शनैः शनैः किसी अन्य स्त्री के फंदे में ऐसा फँस जाय कि तेरे हाथ ही से निकल जाय। ये ही बातें उसने नायिका को पहिले भी कई बार समझाई थीं, पर उससे मान करते नहीं बनता था। इस बार उसके विशेष समझाने पर नायिका कहती है कि तेरा उपदेश तो वास्तव में ठीक है, पर मैं क्या करूँ, नायक को देख कर मेरा मन अपने वश में नहीं रहता—

१. चुनै ( २ )। २. राखहुँ ( ३, ५ )।

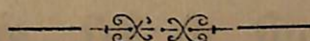
( अर्थ )—तू भी कहती है ( मान करने के लिए उपदेश देती है ), [ और ] मैं स्वयं भी सभी सयानपन ( मान करने की उपयोगिता ) समझती हूँ । [ पर मैं क्या करूँ, ] मोहन ( मोह लेने वाले श्रीकृष्णचंद्र )को देख कर जो [ मेरा ] मन [ मुझमें ] रहे, तो [ मैं उस ] मन में मान रक्खूँ ( धारण करूँ ) [ मोहन को देखते ही जब मेरा मन चट उनके पास चला जाता है, और मेरे वश में रहता ही नहीं, तो भला फिर मैं उसमें मान कैसे रक्खूँ ] ॥



धुरवा होहिँ न, अलि, उठै धुवाँ धरनि-चहुँकोद ।
जारत आवत जगत कौं पावस-प्रथमपयोद ॥ ५४९ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका को नए बादल अग्नि की भाँति ताप देते हैं । अतः वह उनको देख कर सखी से कहती है—

( अर्थ )—हे अलि, [ ये जो पृथ्वी के छोर से उठते हुए दिखाई देते हैं, वे ] धुरवा नहीं हैं । पावस ऋतु के पहिले बादल जगत् को जलाते हुए चले आ रहे हैं; [ यह उसी का ] धुआँ धरती के चारों ओर उठ रहा है ॥

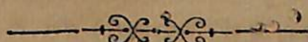


नख-रुचि-चूरनु डारि कै, ठगि, लगाइ निज साथ ।
रह्यौ राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ ॥ ५५० ॥

रुचि-चूरनु—ठग लोग किसी तांत्रिक क्रिया के द्वारा एक प्रकार की मोहिनी विभूति बनाते हैं । यह विभूति जब किसी पर डाल दी जाती है, तो उसकी बुद्धि स्थगित हो जाती है, और वह विभूति डालने वाले पर ऐसा मोहित हो जाता है कि उसके साथ लग लेता है—कोई लाख समझावे और रोके, पर रुकता नहीं । जब कोई ठग किसी धनी का धन लेना चाहता है, तो उस पर यह बुकनी बुरका देता है । बस, फिर वह उसके साथ लग कर चला जाता है । किसी निर्जन स्थान में ले जा कर वह ठग उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता है । बहुधा यह बुकनी मनुष्यों अथवा अन्य जीवों के हाड़ अथवा नखों की बनाई जाती है । इसी से कवि ने 'नख-रुचि-चूरनु' कहा है ॥ रुचि—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है । इसका एक अर्थ शोभा है, जिसके कारण यह 'नख' से अन्वित होता है, और दूसरा अर्थ चाह है, जिससे यह 'चूरनु' से अन्वित होता है ॥

( अवतरण )—नायक नायिका के हाथों तथा उनके नखों पर मोहित हो कर अपनी दशा उसकी सखी से कहता है—

( अर्थ )—[ उसके ] हाथ [-रूपी ठग ] नख-शोभा-रूपी रुचि-चूर्ण ( मोहिनी विभूति ) डाल कर, ठग कर ( बुद्धि को स्थगित कर के ), [ और ] अपने साथ लगा कर [ मेरे ] रक्षित किए जाते ( जाने से रोके जाते ) हुए मन को हठात् हाथोंहाथ ( देखते ही देखते ) ले गए ॥



१. चख ( ४ ) । २. चेटक ( ४ ) । ३. ठग ( २ ) । ४. गयौ ( ३, ५ ) ।

चलत देत आभारु सुनि उहीँ परोसिहिँ नाह ।
लसी तमासे की दृगनु हाँसी, आँसुनु माँह ॥ ५५१ ॥

( अवतरण )—इस दोहे की नायिका अपने किसी परोसी से अनुरक्त है। इस समय उसका पति विदेश जा रहा है, जिससे वह अपनी आँखों में आँसू भरे हुए है। इतने ही में उसने सुना कि उसका पति उसी परोसी को घर सँभालने का भार दे रहा है। यह सुनते ही, हर्ष के कारण, उसकी आँसू-भरी आँखों में हँसी आ गई। यही वृत्तांत कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ विदेश ] चलते समय [ अपने ] नाथ ( पति ) को उसी परोसी को [ जिससे यह नायिका अनुरक्त है, अपने न रहने पर घरद्वार सँभालने का ] आभार ( बोझा ) देते हुए सुन कर [ इसकी ] आँखों में आँसुओं के बीच तमाशे की ( द्रष्टव्य, विलक्षण ) हँसी लसी ( शोभित हुई, उमड़ आई ) ॥

हँसी को 'तमासे की' इस निमित्त कहा है कि वह आँसुओं के बीच में एकाएकी आ गई है, जो कि एक विलक्षण बात है ॥

सुरति न ताल नै तान की, उठ्यौ न सुरु ठहराइ ।
एँरी, रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ ॥ ५५२ ॥

( अवतरण )—नायिका कोई राग गाना चाहती थी, और उसका स्वर उठा कर गुनगुना रही थी। इतने ही में उसको नायक का शब्द सुनाई पड़ गया, जिससे उसको स्वरभंग सात्त्विक हो गया, और गाना बिगड़ गया। किसी अंतरंगिनी सखी के यह कहने पर कि तू तो बहुत अच्छा गाया करती थी, आज क्या है, जो बेसुरी हो रही है, वह कहती है—

( अर्थ )—[ मैं क्या करूँ, मुझे कुछ ] सुधि न ताल की [ रह गई है ], न तान की, [ और ] न उठा हुआ ( आरंभ किया हुआ ) स्वर ठहरता है ( जमता है, स्थिर रहता है )। हे सखी, [ वह मेरा ] बैरी ( प्रियतम, परंतु सखियों के बीच में मुझे अच्छा न गा सकने के कारण, संकुचित करने वाला ) [ अपना ] बोल सुना कर [ और स्वरभंग सात्त्विक उपजा कर मेरा ] राग ( गाना ) बिगाड़ गया ॥

प्रजँस्यौ आगि बियोग की, बह्यौ बिलोचन-नीर ।
आठौँ जाम हियौ रहै उड़्यौ उसास-समीर ॥ ५५३ ॥

( अवतरण )—नायिका की सखी अथवा दूती नायक से उसका विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—वियोगाग्नि से जला हुआ [ तथा ] आँखों के नीर ( आँसू ) से बहा हुआ [ उसका ] हृदय [-रूपी पतंग ] आठों याम उसास-रूपी समीर ( वायु ) से उड़ा रहता है ( स्थिर नहीं रहता, स्वस्थ नहीं रहता ) ॥

१. परोसिनि ( २ ) । २. रु ( ४ ) । ३. ऐरी ( ३, ५ ) । ४. पजरयौ ( २ ) ।

गुड्डी जल जाने अथवा भीग जाने पर नहीँ उड़ती । पर उसके हृदय मैँ यह विलक्षणता है कि वह जलने तथा भीगने पर भी उड़ा रहता है ॥

उरु उरुझ्यौ चितचोर सौँ, गुरु गुरुजन की लाज।
चढ़ैँ हिँडोरैँ सैँ हियैँ, कियैँ बनै गृह-काज ॥ ५५४ ॥

( अवतरण )—उधर तो नायिका का मन नायक से अनुरक्त हो रहा है, और इधर उसको गुरुजनोँ की लज्जा है। इन दोनोँ की खीँचातानी मैँ यद्यपि वह घर के कामकाज करती तो है, पर ठीक ठीक नहीँ कर सकती। अंतरंगिनी सखियाँ उसकी यह दशा आपस मैँ कहती हैँ—

( अर्थ )—[ इसका ] उर [ एक ओर तो ] चितचोर ( नायक ) से उलझा ( फँसा ) हुआ है, [ और दूसरी ओर ] गुरुजन ( सास, जेठानी इत्यादि ) की गुरु ( भारी ) लज्जा है। [ इसी खीँचातानी मैँ इस बेचारी से घर के कामकाज यद्यपि यथार्थ रीति पर नहीँ हो सकते, तथापि ऐसे ] हिँडोले पर चढ़े हुए हृदय से [ भी उसको ] गृह-काज किए [ ही ] बनता है ॥

पट सौँ पोँछि परी करौ, खरी-भयानक-भेष[1]।
नागिनि ह्वै लागति दृगनु नागबेलि-रँग[2]-रेख ॥ ५५५ ॥

( अवतरण )—खंडिता-वचन नायक से—

( अर्थ )—[ हे लाल ! यह जो तुम्हारी ] आँखोँ मैँ नागबेल ( पान ) के रंग की रेखा [ है, वह मुझे ] बड़ी भयानक भेष ( वेष ) वाली नागिन हो कर लगती है ( पीड़ा देती है ); [ अतः तुम उसको ] पट ( वस्त्र ) से पोँछ कर परी ( परे, दूर ) कर डालो ॥

लाल रंग की नागिन बड़ी ही भयानक तथा विषैली होती है ॥

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न-जाति।
ठोड़ी[3]-गाड़ गड़्यौ, तऊ उड़्यौ रहै दिन राति ॥ ५५६ ॥

**गड़्यौ**—चित्त का किसी वस्तु मैँ अटल रूप से लग जाना उसका उसमैँ गड़ जाना कहलाता है ॥
**उड़्यौ**—चित्त का उड़ा रहना वाक्य व्यवहार मैँ चित्त के स्थिर तथा ठिकाने, अर्थात् अपने वश मैँ, न रहने को कहते हैँ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका की ठोड़ी की शोभा पर मोहित हो कर उससे कहता है—

( अर्थ )—तुझको देख कर मेरे मन ने जो गति ( व्यवस्था ) धारण की है, वह कही नहीँ जाती। [ यद्यपि वह तेरी ] ठोड़ी की गाड़ मैँ गड़ गया है ( अटल रूप से लग गया है ), तथापि दिन रात उड़ा रहता है ( ठिकाने नहीँ रहता ) ॥

इस दोहे मैँ विलक्षणता यह है कि गड़ी हुई वस्तु नहीँ उड़ती, पर मन ठोड़ी-गाड़ मैँ गड़े रहने पर भी उड़ा रहता है। यही विचित्र गति नायक के मन ने नायिका को देख कर प्राप्त की है ॥

---

१. वेष ( २ )। २. रस ( ४ )। ३. ठोढ़ी ( २ )।

सोरठा

**मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।**
**वहई रोग-निदानु, वहै[1] बैदु, औषधि[2] वहै॥ ५५७॥**

नारी-ज्ञानु—यह पद यहाँ श्लिष्ट है। इसका पहिला अर्थ नाड़ी-ज्ञान अर्थात् नाड़ी-परीक्षा का ग्रंथ-विशेष और दूसरा अर्थ नारी-ज्ञान अर्थात् स्त्रियों के स्वभाव, आकृति इत्यादि से उनके वृत्तांत का ज्ञान प्राप्त करने का शास्त्र है॥ रोग-निदानु=रोग उत्पन्न होने का आदि कारण॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका विरह से व्याकुल तथा रोगग्रस्त हो रही है, पर अपना अनुराग छिपाए है। सखियाँ अनेक उपाय करती हैं, पर कुछ लाभ नहीं होता। तब एक सखी, जो उसके रोग का कारण समझ गई है, उससे कहती है कि मैं तेरा रोग समझ गई हूँ। तेरे रोग का जो आदि कारण है, वही इसका वैद्य और वही इसकी औषधि भी है। अब तू घबरा मत, मैं इस रोग की निवृत्ति का उपाय करूँगी—

( अर्थ )—मैंने नारी-ज्ञान ( १. नाड़ी-ज्ञान। २. नारी-ज्ञान ) देख कर ( तेरी दशा का मिलान नारी-ज्ञान से कर के ) यह निश्चय कर रक्खा है [ कि तेरे ] रोग का वही [ तो ] आदि कारण है, वही वैद्य है, [ और ] वही औषधि है [ अर्थात् तेरे रोग का कारण किसी पर अनुरक्त होना है, और बस वही तेरा चिकित्सक तथा औषधि है ]॥

नायिका बहिरंगिनी सखियों तथा गुरुजनों में बैठी है। इसलिए इस सखी ने श्लेष से यह बात कही है॥

दोहा

**जो तिय तुम[3] मनभावती राखी हियैं बसाइ।**
**मोहिं झुकावति[4] दृगनु ह्वै वहई[5] उझकति आइ॥ ५५८॥**

( अवतरण )—नायक नायिका को किसी अन्य स्त्री के नाम से पुकार बैठा है। उस पर नायिका रुष्ट हो कर कहती है कि जिस स्त्री को तुमने अपने हृदय में बसा रक्खा है, वही मुझको चिढ़ाने के लिए तुम्हारी आँखों में उझक उझक कर आती है, अतः उसी का रूप तुमको दिखलाई देता है, और तुम मुझको उसी के नाम से पुकारते हो—

( अर्थ )—जो मनभावती स्त्री तुमने [ अपने ] हृदय में बसा रक्खी है, वही मुझको खिझाती हुई [ तुम्हारी ] आँखों के द्वारा आ आ कर उझकती है [ जिससे तुम्हें मुझमें भी उसी का रूप दिखाई देता है, और तुम उसी के नाम से मुझको पुकारते हो ]॥

जिसके मन में जो बहुत बसा रहता है, उसका नाम उसके मुँह से, अन्य किसी से बातचीत करते समय अथवा अन्य किसी को संबोधित करते समय, अनायास ही निकल जाता है। नायक के मुँह से अन्य स्त्री का नाम निकल जाने पर नायिका के मान करने का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। बिहारी ने अपने ९६९-संख्यक दोहे में भी यह भाव कहा है॥

---

१. उहै ( ३, ५ )। २. औषदि ( २ ), औषद ( ३, ५ )। ३. तुव ( ४ )। ४. जिय ( ३, ५ )। ५. लगाइ ( २ )। ६. उहई ( ३, ५ )।

दोऊ अधिकाई-भरे एकैं गौं गहराइ।
कौंनु मनावै, को मनै, मानै मन ठहराइ ॥ ५५९ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका, दोनों अपने अपने रूप यौवन के घमंड में हैं। प्रत्येक समझता है कि मुझसे बोले बिना दूसरे से न रहा जायगा। एक समय दोनों ने, यह ठान कर कि देखें, पहिले कौन मनाता है, और कौन मानता है, परस्पर प्रणय-मान किया है। इसी का वर्णन कोई सखी किसी अन्य सखी से करती है—

( अर्थ )—मनों को ठहरा कर ( स्थिर कर के, रोक कर ) [ यह बात ] माने हुए [ कि देखें, ] कौन मनाता है, [ और ] कौन मानता है, दोनों ( नायक तथा नायिका ) एक ही गौं ( अभीष्ट, मतलब, उद्देश्य ) से [ कि वह अन्य मुझको मनावे ] गहरा कर ( ओठों ही में कुछ गर्वयुत बुड़बुड़ा कर ) अधिकाई ( उत्कर्ष, अपनी अपनी बात रखने की अभिलाषा की अधिकाई ) से भरे हुए हैं ॥

इस दोहे में गहराना शब्द वही है, जो काशी तथा अवध के प्रांतों में गहुराना अथवा गभुराना बोला जाता है ॥

उर लीनै अति चटपटी, सुनि मुरली-धुनि, धाइ।
हौं निकसी हुलसी, सु तौ गौ हुल सी हियैं लाइ ॥ ५६० ॥

( अवतरण )—विप्रलब्धा नायिका, संकेतस्थल में नायक से भेंट न होने पर, लौट आ कर अपना दुःख अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ संकेत-निकुंज से नायक की ] मुरली की ध्वनि सुन कर उर में अति चटपटी ( शीघ्रता, शीघ्र मिलने की अत्युत्कृष्ट अभिलाषा ) लिए हुए [ तथा, इस आशा से कि उससे मिलन होगा, ] हुलसी हुई दौड़ कर मैं [ घर से ] निकली। [ पर अपने भाग्य की हीनता क्या कहूँ, ] वह तो [ मेरे वहाँ पहुँचने के पहिले ही मेरे ] हृदय में हुल ( तलवार, बर्छी इत्यादि की कोंच ) सी लगा कर [ वहाँ से ] चला गया ॥

ब्रजबासिनु कौ उचित धनु, जो धन रुचित न कोइ।
सु चित न आयौ ; सुचितई, कहौ, कहाँ तैं होइ ॥ ५६१ ॥

इस दोहे में जो 'धन' शब्द दूसरी बार पड़ा है, उससे धोखा खा कर टीकाकारों ने न जानें क्या क्या मनमाने अर्थ इस दोहे के कर डाले हैं। किसी किसी ने तो इसके पाठ में भी अपनी कल्पना के अनुसार अंतर कर के कोई न कोई अर्थ पहना दिया है ॥

अनवरचंद्रिका में 'जो धन' के स्थान पर 'नवघन' पाठ बनाया गया है। अमरचंद्रिका में 'रुचित' के स्थान पर 'रुचत' है। हरिप्रकाश टीका में 'जो' के स्थान पर 'सो' तथा 'रुचित' के स्थान

१. कौन ( ४, ५ ) । २. मान्वे ( २ ) । ३. मत ( २ ) । ४. हुलसी निकसी ( २ ) । ५. उर ( २ ), ही ( ५ ) । ६. आवे ( ४ ) ।

पर 'रुचत' रक्खा गया है। लालचंद्रिका में 'जो' के स्थान पर 'सो' मिलता है। प्रभुदयालु पाँडेजी ने 'जो धन रुचित न कोइ' के स्थान पर 'जो धनरुचितन कोइ' लिखा है। श्रीयुत मिश्रबंधु महाशयों ने भी पाँडेजी ही का पाठ शुद्ध माना है, पर 'धनरुचितन' के शब्दों को पृथक् पृथक् लिखा है। लाला भगवानदीनजी ने भी पाँडेजी ही का पाठ ग्रहण किया है, पर पदच्छेद इस प्रकार रक्खा है—'जो धनरुचि तन कोय'॥

हमारी चार प्राचीन पुस्तकों में वही पाठ है, जो इस संस्करण में रक्खा गया है, और पहिले अंक की पुस्तक में यह दोहा है ही नहीं॥

'जो धन रुचित न कोइ', इस खंड-वाक्य में 'धन' शब्द 'धन्य' का अपभ्रंश है। इसका शब्दार्थ यहाँ धन्यभागी, और लक्ष्यार्थ महा अभागी, है। 'जो धन रुचित न कोइ' का अर्थ यह होता है—जो किसी ही महा अभागी को रुचित (रुचा हुआ) नहीं है, अर्थात् जो किसी ही अभागी को नहीं रुचता। अथवा इस खंड-वाक्य का इस प्रकार अर्थ किया जाय—जो-धन-रुचित न (जिस धन से नहीं रुचा हुआ) 'कोइ' (कोई ही) है॥

इन दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार उक्त खंड-वाक्य का अर्थ कर लेने पर दोहे में कोई उलझन नहीं रह जाती, और उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है॥

(अवतरण)—कोई भक्त व्रजवासी किसी संसार में लिप्त तथा सुचित्तता प्राप्त न होने पर झीखते हुए अन्य व्रजवासी से कहता है—

(अर्थ)—व्रजवासियों का [जो] उचित (परमोपार्जनीय) धन है [अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र अथवा उनकी भक्ति], 'जो धन रुचित न कोइ' (जो किसी ही धन्यभागी, अर्थात् महा अभागी, को नहीं रुचता), [अथवा] 'जो-धन-रुचित न कोइ' (जिस धन से न रुचा हुआ कोई ही है), सो [तेरे] चित्त में नहीं आया, [तो फिर] कहो, 'सुचितई' (चित्त की स्वस्थता) कहाँ से [प्राप्त] हो [क्योंकि बिना उसके मानसिक स्वस्थता की प्राप्ति असंभव है]॥

हमारी समझ में पहिला अर्थ अधिक श्रेष्ठ है, अतः उसी के अनुसार इस दोहे का पदच्छेद किया गया है॥

---

**हठु न हठीली करि सकैं यह पावस-ऋतु पाइ।**
**आन गाँठि घुटि जाइ, त्यौं मान-गाँठि छुटि जाइ॥ ५६२॥**

(अवतरण)—मानिनी नायिका से सखी का वचन—

(अर्थ)—[इस महा उद्दीपनकारी ऋतु में तेरा मान करना उचित नहीं है। यदि तू करेगी, तो वह स्थिर न रह सकेगा, और तेरी बात ओछी पड़ जायगी। देख, बड़ी बड़ी] हठीली [भी] इस पावस-ऋतु को पा कर हठ नहीं कर सकतीं (अपने मान को, उद्दीपन के कारण, हठात् स्थिर नहीं रख सकतीं); [क्योंकि इस ऋतु में जिस प्रकार] अन्य गाँठ (सन, सूत इत्यादि में पड़ी हुई गाँठ) घुट जाती है (बैठ जाती है,

---

१. सँकति (४)। २. ज्यौं घुटति (२, ३, ५)।

कस जाती है ), उसी प्रकार मान-गाँठ ( मान के कारण हृदय में पड़ी हुई गाँठ ) छुट जाती है ( खुल जाती है ) ॥

वेऊ चिरजीवी, अमर निधरक फिरौ कहाइ।
छिनु बिछुरैं जिनकी नहीं पावस आइ सिराइ ॥ ५६३ ॥

( अवतरण )—प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ यह पावस-ऋतु ऐसी उद्दीपनकारिणी तथा वियोगियों को दुःखदायिनी है कि इसमें क्षण मात्र के वियोग से प्राण बचना दुस्तर है; सो ऐसी ] पावस-ऋतु में क्षण मात्र बिछुड़ने से जिनकी आयु सिरा नहीं जाती ( समाप्त नहीं हो जाती ), वे [ लोग ] भी [ ऋषियों तथा देवतों की भाँति ] चिरजीवी ( बहुत काल तक जीने वाले ) [ तथा ] अमर ( कभी न मरने वाले ) कहला कर निधड़क ( निःशंक ) फिरा करो [ क्योंकि जब वे पावस-ऋतु में वियोग होने पर भी जीवित ही रह गए, तो फिर अब उनके ऐसे न मरने वालों को कौन मार सकता है ] ॥

नायिका का तात्पर्य यह है कि आप तो कहते हैं कि तू घबरा मत, मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, पर इस पावस-ऋतु में तो क्षण मात्र के वियोग से भी प्राण का बचना असंभव है ॥

भेटत बनै न भावतौ, चितु तरसतु अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर भूषन, बसन, हथ्यार ॥ ५६४ ॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आया है। नायिका का चित्त उससे भेटने को तरस रहा है, पर गुरुजनों की लज्जा से वह उसको भेट नहीं सकती। अतः उसके भूषण, वसन इत्यादि को ठिकाने से रखने के व्याज से छाती में लगा लगा कर प्रियतम-मिलन-सुख का अनुभव करती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ परदेश से आए हुए प्रियतम से भेटने के निमित्त तो इसका ] चित्त अति प्यार से तरस रहा है, [ पर गुरुजनों की लज्जा से ] 'भावता' ( प्रियतम ) भेटते नहीं बनता। [ अतः वह उसे भेटने के अभाव में उसके ] भूषणों, वसनों [ तथा ] हथियारों को [ यत्न-पूर्वक रखने के व्याज से ] छाती में लगा लगा कर रखती है ॥

वाही दिन तैं ना मिट्यौ मानु, कलह कौ मूलु।
भलैं पधारे, पाहुने, ह्वै गुड़हर कौ फूलु ॥ ५६५ ॥

( अवतरण )—एक दिन नायक, नायिका से यह कह कर कि मुझे कहीं पाहुने जाना है, बाहर गया, और रात भर न आया। प्रातःकाल जब वह लौटा, तो उसकी आँखों में जागने की लाली, कपोलों पर पीक-लीक की लाली एवं माथे पर महावर की लाली इत्यादि रति-चिह्न देख कर

१. बिछुरत ( ३, ५ )। २. आउ ( ३ )। ३. निसि ( २ )।

पर 'रुचत' रक्खा गया है। लालचंद्रिका में 'जो' के स्थान पर 'सो' मिलता है। प्रभुदयालु पाँडेजी ने 'जो धन रुचित न कोइ' के स्थान पर 'जो धनरुचितन कोइ' लिखा है। श्रीयुत मिश्रबंधु महाशयों ने भी पाँडेजी ही का पाठ शुद्ध माना है, पर 'धनरुचितन' के शब्दों को पृथक् पृथक् लिखा है। लाला भगवानदीनजी ने भी पाँडेजी ही का पाठ ग्रहण किया है, पर पदच्छेद इस प्रकार रक्खा है—'जो धनरुचि तन कोय'॥

हमारी चार प्राचीन पुस्तकों में वही पाठ है, जो इस संस्करण में रक्खा गया है, और पहिले अंक की पुस्तक में यह दोहा है ही नहीं॥

'जो धन रुचित न कोइ', इस खंड-वाक्य में 'धन' शब्द 'धन्य' का अपभ्रंश है। इसका शब्दार्थ यहाँ धन्यभागी, और लक्ष्यार्थ महा अभागी, है। 'जो धन रुचित न कोइ' का अर्थ यह होता है—जो किसी ही महा अभागी को रुचित (रुचा हुआ) नहीं है, अर्थात् जो किसी ही अभागी को नहीं रुचता। अथवा इस खंड-वाक्य का इस प्रकार अर्थ किया जाय—जो-धन-रुचित न (जिस धन से नहीं रुचा हुआ) 'कोइ' (कोई ही) है॥

इन दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार उक्त खंड-वाक्य का अर्थ कर लेने पर दोहे में कोई उलझन नहीं रह जाती, और उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है॥

(अवतरण)—कोई भक्त ब्रजवासी किसी संसार में लिप्त तथा सुचित्तता प्राप्त न होने पर खीझते हुए अन्य ब्रजवासी से कहता है—

(अर्थ)—ब्रजवासियों का [जो] उचित (परमोपार्जनीय) धन है [अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र अथवा उनकी भक्ति], 'जो धन रुचित न कोइ' (जो किसी ही धन्यभागी, अर्थात् महा अभागी, को नहीं रुचता), [अथवा] 'जो-धन-रुचित न कोइ' (जिस धन से न रुचा हुआ कोई ही है), सो [तेरे] चित्त में नहीं आया, [तो फिर] कहो, 'सुचितई' (चित्त की स्वस्थता) कहाँ से [प्राप्त] हो [क्योंकि बिना उसके मानसिक स्वस्थता की प्राप्ति असंभव है]॥

हमारी समझ में पहिला अर्थ अधिक श्रेष्ठ है, अतः उसी के अनुसार इस दोहे का पदच्छेद किया गया है॥

---

**हठु न हठीली करि सकैं यह पावस-ऋतु पाइ।**
**आन गाँठि घुटि जाइ, त्यौं मान-गाँठि छुटि जाइ॥ ५६२॥**

(अवतरण)—मानिनी नायिका से सखी का वचन—

(अर्थ)—[इस महा उद्दीपनकारी ऋतु में तेरा मान करना उचित नहीं है। यदि तू करेगी, तो वह स्थिर न रह सकेगा, और तेरी बात ओछी पड़ जायगी। देख, बड़ी बड़ी] हठीली [भी] इस पावस-ऋतु को पा कर हठ नहीं कर सकतीं (अपने मान को, उद्दीपन के कारण, हठात् स्थिर नहीं रख सकतीं); [क्योंकि इस ऋतु में जिस प्रकार] अन्य गाँठ (सन, सूत इत्यादि में पड़ी हुई गाँठ) घुट जाती है (बैठ जाती है,

१. सकति (४)। २. ज्यौं घुटति (२, ३, ५)।

कस जाती है ), उसी प्रकार मान-गाँठ ( मान के कारण हृदय में पड़ी हुई गाँठ ) छुट जाती है ( खुल जाती है ) ॥

वेऊ चिरजीवी, अमर निधरक फिरौ कहाइ।
छिनु बिछुरैँ जिनकी नहीँ पावस आउ सिराइ॥ ५६३॥

( अवतरण )—प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की उक्ति नायक से—

( अर्थ )—[ यह पावस-ऋतु ऐसी उद्दीपनकारिणी तथा वियोगियों को दुःखदायिनी है कि इसमें क्षण मात्र के वियोग से प्राण बचना दुस्तर है; सो ऐसी ] पावस-ऋतु में क्षण मात्र बिछुड़ने से जिनकी आयु सिरा नहीँ जाती ( समाप्त नहीँ हो जाती ), वे [ लोग ] भी [ ऋषियों तथा देवताओं की भाँति ] चिरजीवी ( बहुत काल तक जीने वाले ) [ तथा ] अमर ( कभी न मरने वाले ) कहला कर निधड़क ( निःशंक ) फिरा करो [ क्योंकि जब वे पावस-ऋतु में वियोग होने पर भी जीवित ही रह गए, तो फिर अब उनके ऐसे न मरने वालों को कौन मार सकता है ] ॥

नायिका का तात्पर्य यह है कि आप तो कहते हैँ कि तू घबरा मत, मैँ शीघ्र ही लौट आऊँगा, पर इस पावस-ऋतु मेँ तो क्षण मात्र के वियोग से भी प्राण का बचना असंभव है ॥

भेटत बनै न भावतौ, चितु तरसतु अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर भूषन, बसन, हथ्यार॥ ५६४॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आया है। नायिका का चित्त उससे भेंटने को तरस रहा है, पर गुरुजनों की लज्जा से वह उसको भेट नहीँ सकती। अतः उसके भूषण, वसन इत्यादि को ठिकाने से रखने के व्याज से छाती मेँ लगा लगा कर प्रियतम-मिलन-सुख का अनुभव करती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ परदेश से आए हुए प्रियतम से भेटने के निमित्त तो इसका ] चित्त अति प्यार से तरस रहा है, [ पर गुरुजनों की लज्जा से ] 'भावता' ( प्रियतम ) भेटते नहीँ बनता। [ अतः वह उसे भेटने के अभाव में उसके ] भूषणों, वसनों [ तथा ] हथियारों को [ यत्न-पूर्वक रखने के व्याज से ] छाती में लगा लगा कर रखती है ॥

वाही दिन तैँ ना मिट्यौ मानु, कलह कौ मूलु।
भलैँ पधारे, पाहुने, ह्वै गुड़हर कौ फूलु॥ ५६५॥

( अवतरण )—एक दिन नायक, नायिका से यह कह कर कि मुझे कहीँ पाहुने जाना है, बाहर गया, और रात भर न आया। प्रातःकाल जब वह लौटा, तो उसकी आँखों में जागने की लाली, कपोलों पर पीक-लीक की लाली एवं माथे पर महावर की लाली इत्यादि रति-चिह्न देख कर

१. बिछुरत ( ३, ५ )। २. आउ ( ३ )। ३. निसि ( २ )।

नायिका ने मान किया। इस बात को यद्यपि कई दिन हो चुके हैं, पर उसने अभी मान छोड़ा नहीं है। नायिका प्रौढ़ा धीरा है, अतः अपना मान प्रकट नहीं करती, पर नायक से उदासीन तथा अनमनी रहती है, जिसके कारण कभी कभी कुछ कलह भी हो जाया करता है। नायक उसकी इस वृत्ति से घबरा कर सखी से पूछता है कि यह क्या बात है। तब सखी उत्तर देती है कि इस कलह के कारण आप ही हैं, क्योंकि आप ही उस दिन पहुनाई के बहाने गए, और गुड़हर का फूल बन कर, अर्थात् नयन, ललाट इत्यादि को लाल किए हुए, आए। बस, उसी दिन से इसने मन ही मन मान ठान रक्खा है, और वही मान इस कलह का मूल है, क्योंकि जिस घर में गुड़हर का फूल जाता है, उसमें कलह का होना अनिवार्य है। सखी का अभिप्राय यह है कि नायक समझ जाय कि नायिका ने मेरे ही अपराध से मान ठान रक्खा है, और उसको मना ले—

( अर्थ )—हे पाहुने ( यह मिथ्या कहने वाले कि मुझे पाहुने जाना है ), [ तुम जो ] गुड़हर के फूल बन कर ( अपने नयनों, कपोलों तथा ललाट को लाल किए हुए ) [ उस दिन ] 'भले' ( खूब ) आए, [ बस ] उसी दिन से [ नायिका का ] मान, [ जो कि ] कलह ( बात बात में झगड़े ) का मूल [ है ], नहीं मिटा [ क्योंकि गुड़हर का फूल जहाँ जाता है, वहाँ कलह होता ही है ] ॥

गुड़हर के फूल के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह जिस घर में रहता है, उसमें कलह होता है ॥

'पाहुने' संबोधन का प्रयोग इस दोहे में कुछ विलक्षण रीति से हुआ है, और यही इसके यथार्थ अर्थ के समझने में आने में बाधा डालता है। इसके विषय में यों समझना चाहिए कि जैसे यदि कोई मनुष्य विद्या का उपार्जन करने के बहाने घर से जाय, और चोरी इत्यादि कर के लौट आवे, तो बहुधा व्यंग्यभाषी लोग उसको 'आइए, विद्यार्थीजी' अथवा 'आइए, पंडितजी' कह कर संबोधित करेंगे, वैसे ही सखी पहुनाई के व्याज से अन्य स्त्री के यहाँ जाने वाले इस नायक को पाहुने शब्द से संबोधित करती है ॥

मोहिँ लजावत, निलज ए हुलसि[1] मिलत[2] सब गात।
भानु-उदै की ओस लौँ मानु न जानति[3] जात[4] ॥ ५६६ ॥

( अवतरण )—सखी ने नायिका से कहा है कि यद्यपि मैंने कई बार तुझको मान करने का उपयोग समझा दिया है, तथापि बड़े लज्जा की बात है कि पहिले तो तू मान ठानती है, पर नायक को देखते ही ऐसी मोह में आ जाती है कि उससे लिपट जाती और मान छोड़ देती है। यह सुन कर नायिका उसको उत्तर देती है—

( अर्थ )—[ मैं क्या करूँ, मेरे ] ये सब निर्लज्ज अंग [ नायक को देखते ही उससे बहुत ] हुलस ( उमँग ) कर मिलते हैं, [ और ] मुझे [ तुझसे ] लज्जित करते हैं। भानु के उदय [ के समय ] की ओस की भाँति मान को जाते हुए [ मैं ] नहीं जान पाती ॥

इस दोहे का भाव २४८-संख्यक दोहे के भाव से मिलता है ॥

---

1. उलसि ( ३ ) । 2. मिलै ( २ ) । 3. निज ( ५ ) । 4. जान्यो ( ३, ५ ) ।

सोरठा

तो तन अवधि-अनूप रूपु लग्यौ सब जगत कौ।
मो दृग लागे रूप, दृगनु लगी अति चटपटी ॥ ५६७ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका को देख कर मोहित हो गया है, और अब उसके देखे बिना बेचैन है। अतः उसने यह दोहा पत्रिका में लिख कर उसके पास भेजा है—

( अर्थ )—तेरे अवधि-अनूप ( अवधि के अनूप, हद के अनूप ) तन में सब जगत् का रूप लग गया है ( तेरे सुंदर शरीर के बनाने में विधाता ने जगत् भर की सुंदरता लगा दी है ), मेरे दृग [ तेरे ] रूप से लग गए हैं ( अनुरक्त हो गए हैं ), [ और फिर इन ] दृगों में अति चटपटी ( फिर फिर देखने के निमित्त विकलता ) लग गई है॥

इस दोहे में लगने क्रिया के तीन जगह तीन अर्थ हैं—( १ ) 'रूपु लग्यौ सब जगत कौ' में 'लग्यौ' का अर्थ व्यय हो गया है। ( २ ) 'मो दृग लागे रूप' में 'लागे' का अर्थ आसक्त हो गए हैं। ( ३ ) 'दृगनु लगी अति चटपटी' में 'लगी' का अर्थ व्याप्त हो गई है॥

दोहा

रहैं निगोड़े नैन डिगि[2], गहैं[1] न चेत अचेत।
हौं कसु कै रिस के करौं, ये निसुके[3] हँसि देत ॥ ५६८ ॥

**निगोड़े**=गोड़रहित अर्थात् पादहीन, पंगु। जब स्त्रियाँ किसी व्यक्ति, अथवा पदार्थ, का नाम उसको कोसती हुई लेती हैं, तो उसके साथ निगोड़े, दईमारे, दाढ़ीजार इत्यादि शब्दों को, विशेषण रूप से, लगा देती हैं॥ **निसुके**—इस शब्द का अर्थ मानसिंह ने 'निर्प्रीते' लिखा है। 'निर्प्रीते' का अर्थ प्रीतिरहित अर्थात् मुझसे प्रीति न रखने वाले अथवा मेरा शील न रखने वाले हो सकता है। और किसी टीकाकार ने 'निसुके' पाठ नहीं रक्खा है। किसी ने 'निरखैं', किसी ने 'निसिखे', किसी ने 'नसिखे', और किसी ने 'निसखे' पाठ रक्खा है, और प्रत्येक ने अपने अपने पाठ के अनुसार अर्थ किया है। हमारी समझ में 'निसुके' पाठ ठीक है, क्योंकि बिहारी के आदि टीकाकार मानसिंह ने यही पाठ ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त हमारी अन्य एक प्राचीन पुस्तक में भी यही पाठ है। मानसिंह ने जो 'निसुके' का अर्थ किया है, वह अवश्य चिंतनीय है। हमारी समझ में 'निसुके' शब्द संस्कृत 'निस्वक' शब्द का अपभ्रंश है। 'निस्वक' का अर्थ 'निज संपत्ति-विहीन' है। अतः 'निसुके' का अर्थ निर्धन, दरिद्र, रंक इत्यादि मानना चाहिए, और इस शब्द को भी 'निगोड़े' शब्द की भाँति, कोसने के निमित्त, स्त्रियों की बोलचाल का शब्द समझना चाहिए॥

( अवतरण )—मान सिखलाती हुई सखी से नायिका कहती है—

( अर्थ )—[ ये मेरे ] निगोड़े नयन डिग [ ही ] करे रहते हैं ( मैं लाख चाहती हूँ कि ये नीचे हुए स्थिर रहें, जैसे कि मान के समय इनको रहना चाहिए, परंतु ये, पादहीन होने पर भी, नायक के सामने आने पर, चंचल हो कर उसकी ओर चले ही जाते हैं ), [ और ये ] अचेत ( बुद्धिहीन ) चेत ( चेतावनी, शिक्षा ) नहीं गहते ( ग्रहण

१. गहैं ( २ )। २. गहि ( ३, ५ )। ३. निसखे ( २ )।

करते )। मैं [ तो तेरे शिक्षानुसार ] 'कसु' ( बल, क़ाबू ) कर के ( बड़ी कठिनता से, अर्थात् यद्यपि ऐसा करने में मुझे कष्ट होता है, तथापि तेरे अनुरोध से ) [ इनको ] रिस के ( क्रोध के अर्थात् क्रोध भरे हुए से ) करती हूँ ( बनाती हूँ ), [ पर ] ये 'निसुके' ( प्रियतम के दर्शन के निमित्त ललाए हुए ) हँस देते हैं ॥

इस दोहे में अनेक पाठांतर हैं। हमारी पहिली तथा चौथी पुस्तकों में यह दोहा नहीं है। जिन तीन पुस्तकों में यह है, उनमें भी इसके पाठों में अंतर हैं; जो कि पादटिप्पणी में दिखाए गए हैं। बहुधा टीकाकारों ने 'रहँ' के स्थान पर 'दहँ', 'डिगि' के स्थान पर 'ये' एवं 'निसुके' के स्थान पर 'निसिखे' पाठ रक्खा है। इन पाठांतरों से अर्थ निःसंदेह सरल हो जाता है, पर हमारी तीन प्राचीन पुस्तकों में से किसी में यह पाठ नहीं है, अतः उन तीनों पुस्तकों के मिलाने से जो पाठ उचित प्रतीत हुआ, वह इस संस्करण में रक्खा गया है। कृष्ण कवि की टीका के पाठ से इस पाठ में केवल 'निसुके' शब्द में अंतर पड़ता है। कृष्ण कवि की टीका में 'निसुके' के स्थान पर 'निसखे' पाठ है, और 'कै' तथा 'के' के स्थानों पर 'करि' तथा 'को' ॥

मोहूँ सौं बातनु लगैं लगी जीभ[1] जिहिं नाइ।
सोई[2] लै उर लाइयै, लाल, लागियतु पाइ ॥ ५६६ ॥

नाइ = नाम ॥

( अवतरण )—नायिका से बातें करते करते कहीं नायक के मुँह से किसी सपत्नी अथवा अन्य स्त्री का नाम निकल पड़ा है, जिससे नायिका, उसके प्रति नायक का प्रेम अनुमानित कर के, कुछ रुष्ट सी हो गई है। नायक, उसको प्यार से अंक में भर कर, उसका रोष निवारण करना चाहता है। इस पर नायिका उससे कहती है—

( अर्थ )—हे लाल, [ मुझसे आपके ] पाँव लगा जाता है ( पाँव लग कर बिनती की जाती है ) [ कि ] मुझसे भी बातों में लगने पर ( बातें करते समय ) [ आपकी ] जीभ जिसके नाम से लगी हुई है, उसी को ले कर छाती से लगाइए [ मुझे छोड़ दीजिए ] ॥

नावक-सर से[3] लाइ कै, तिलकु[4] तरुनि इतै[5] ताँकि[6]।
पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥ ५७० ॥

नावक-सर—फ़ारसी भाषा में 'नाव' अथवा 'नाय' नल को कहते हैं। उसमें क्षुद्रवाचक 'क' लगा कर 'नावक' शब्द बना है, जिसका अर्थ नलिका अर्थात् छोटा नल हुआ। इस शब्द का प्रयोग फ़ारसी में एक ऐसे बाण के अर्थ में किया जाता है, जो नलिका के द्वारा चलाया जाता है। यह नलिका लोहे की होती है। इसमें बारूद तथा छोटे छोटे बाण भर दिए जाते हैं। इस नलिका में एक स्थान पर छिद्र होता है। उसमें अग्नि का संचार करने पर, बारूद के प्रभाव से, उसमें के बाण निकल कर, बंदूक की गोली की भाँति, बड़ी दूर

१. जीभि ( ५ )। २. सो ( ३ )। ३. नैंक ( २ )। ४. इति ( ३, ५ )। ५. ताकि ( ३, ४, ५ )। ६. झूमि ( २ )।

तक चोट करते हैं। इन बाणों के चलाते समय लक्ष का अनुसंधान, अर्थात् उसकी दूरी, ऊँचान निचान तथा दिशा, का तर्क, करना पड़ता है। इसी कारण कवि ने 'ताँकि' (तर्क कर के) का प्रयोग किया है। जब इस नलिका में अग्नि दी जाती है, तो रंजक के उड़ने से एक प्रकाश सा होता है, जिस पर विचार कर के कवि ने 'पावक-झर सी झमकि कै' कहा है। यहाँ झरोखे को कवि ने नलिका, नायिका के रूप के प्रकाश को अग्नि-संचार की चमक एवं नायक पर दृष्टि की चोट को नावक-सर का लगना माना है॥ **तिलकु**=तिल मात्र, क्षण मात्र। क्षण मात्र से कवि यह व्यंजित करता है कि नायिका नावक चलाने में ऐसी दक्ष है कि उसको लक्ष का अनुसंधान करने में विलंब नहीं लगा, और देखते ही तर्क कर के अचूक बाण मार गई॥ **ताँकि**=तर्क कर के, मेरी स्थिति का पूरा अंदाजा कर के। 'ताँकि' शब्द 'तर्क' शब्द से बना है। जब किसी संयुक्त वर्ण में से एक वर्ण का लोप होता है, तो प्रायः उसके पूर्व का वर्ण सानुस्वार हो जाता है, जैसे 'वक्र' से 'बंक', 'कर्कट' से 'कंकड़' इत्यादि। फिर इसी अनुस्वार के स्थान पर अर्द्धचंद्र प्रयुक्त होता है, जैसे 'बंक' से 'बाँक' तथा 'कंकड़' से 'काँकड़'॥ **पावक-झर**=आग की लपट॥ **झमकि कै**=शीघ्रता-पूर्वक अपना प्रकाश दिखला कर॥

**(अवतरण)—नायिका झरोखे में से नायक पर कटाक्ष कर के हट गई है। नायक उन कटाक्षों से घायल हो कर उससे मिलने के निमित्त विकल है, अतः अपनी दशा नायिका की सखी अथवा दूती से कह कर उससे मिलाने की प्रार्थना व्यंजित करता है—**

**(अर्थ)—[वह] तरुणी झरोखा झाँक कर [एवं] क्षण मात्र रत (मेरी ओर) अनु-संधान कर के, अग्नि की ज्वाला सी झमक कर, [मुझ पर] नावक बाण से 'लाइ कै' (लगा कर, मार कर) गई (हट गई)॥**

---

**सुख सौं बीती सब निसा, मनु सोए मिलि[1] साथ।**
**मूका मेलि गहे[3], सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ॥ ५७१॥**

**मूका**=भीत का वह छेद, जिसमें से उजाले अथवा हवा का संचार होता है॥

**(अवतरण)—उपपति नायक तथा परकीया नायिका पड़ोसी हैं। उनके घरों के बीच केवल एक भीत मात्र का अंतर है, जिसमें एक मूका भी है। एक रात को उस मूके में हाथ डाल कर दोनों ने एक दूसरे के हाथ पकड़ लिए, और स्पर्श-सुख में मगन हो कर हाथ पकड़े ही पकड़े रात बिता दी। सखी-वचन सखी से—**

**(अर्थ)—मूके में [हाथ] डाल कर [दोनों ने जो एक दूसरे के हाथ] पकड़े, सो हाथ [फिर] हाथ से क्षण मात्र नहीं छोड़े, [एवं वैसे ही हाथ पकड़े पकड़े] सारी रात [ऐसे] सुख से बीत गई, मानो [दोनों एक] साथ मिल कर सोए [थे]॥**

---

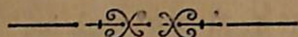
**बाम बाँह[4] फरकति[5]; मिलैं जौ हरि जीवनमूरि।**
**तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥ ५७२॥**

---

१. जनु (३, ५)। २. इक (२), एक (४)। ३. गए (३, ५)। ४. बाहु (२, ३, ५)। ५. फरकत (२, ३, ५)।

( अवतरण )—नायिका का पति विदेश से आने वाला है। इसकी सूचना उसकी बाईं बाँह, फड़क कर, दे रही है। अतः वह शुभ संवाद देने वाली ऐसी बाँह को पुरस्कार देने की प्रतिज्ञा करती है—

( अर्थ )—[ हे मेरी ] बाईं बाँह ! [ तू जो इस समय ] फड़क रही है, [ उससे प्रियतम का शुभागमन सूचित होता है। इस सूचना के अनुसार ] यदि [ मेरे ] 'जीवनमूलि', ( प्राणों के आधार ) हरि ( श्रीकृष्णचंद्र ) [ मुझे आ ] मिलें, तो [ मैं इस शुभ सूचना के पुरस्कार में तुझे यह परम सुख दूँगी कि ] दाहिनी [ बाँह ] को दूर रख कर तुझी से [ उनका ] आलिंगन करूँगी ॥



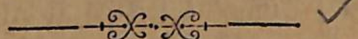
छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी-बँधे नील, छबीले बार ॥ ५७३ ॥

( अवतरण )—नायक ने नायिका के केश खुले तथा बँधे, दोनों रूपों में देखे हैं, और दोनों ही रूप उसको एक दूसरे से अधिक मनोहर लगे हैं। अतः इनके देखने से उसके मन की जो व्यवस्था हुई, उसका वर्णन वह सखी से करता है—

( अर्थ )—[ उसके ] छुटे हुए सटकारे ( साटी के से लंबे, पतले तथा लचकीले ) [ तथा ] सुकुमार ( कोमल ) [ बाल तो ] जगत् से [ मन को ] छुटा देते हैं ( अर्थात् उनको देख कर फिर मन जगत् की किसी और वस्तु में नहीं लगता ), [ और उसके ] वेणी-बँधे ( चोटी गूँथे हुए ) नीले [ तथा ] छबीले बाल मन को बाँध लेते हैं ( अपने पर आसक्त कर लेते हैं ) [ भाव यह कि उसके बाल दोनों ही अवस्था में परम सुंदर और मनोहर लगते हैं ] ॥

दोहे के उत्तरार्द्ध में जो 'बार' तथा 'मनु' शब्द बाँधत क्रिया के कर्ता तथा कर्म रूपों से आए हैं, वही पूर्वार्द्ध में जो 'छुटावत' क्रिया है, उसके भी कर्ता तथा कर्म हैं ॥

'छुटावत' क्रिया का कर्ता जो 'बार' होता है, उसके विशेषण 'सटकारे' तथा 'सुकुमार' हैं, क्योंकि खुले हुए बालों की सटकारता तथा सुकुमारता ही पर विशेषतः ध्यान जाता है। इसी प्रकार वेणी गूँथे हुए बालों की नीलिमा ही पर ध्यान अधिक आकर्षित होता है, अतः 'बेनी-बँधे बार' के विशेषण 'नील, छबीले' रक्खे गए हैं ॥



इहिँ बसंत न खरी, अरी, गरम न सीतल बात।
कहि, क्यौँ झलके देखियत पुलक, पसीजे गात ॥ ५७४ ॥

( अवतरण )—नायिका सखियों में बैठी है, और उपपति नायक उसके सामने आ गया है। उसे देख कर नायिका को स्वेद तथा पुलक सात्त्विक हुए हैं। इन भावों से कोई सखी उसका अनुराग लक्षित कर के कहती है—

१. छुटाँवैं ( २, ३, ५ ) । २. खरी ( ४ ) । ३. गरमु ( ४ ) । ४. हुलसे ( ४ ) । ५. पुलकि ( २, ४ ) ।

(अर्थ)—अरी, इस वसंत ऋतु में 'बात' (वायु) न [तो] खरी (बहुत) गरम है, [और] न [बहुत] शीतल [ही]। [अतः इस समय पसीने अथवा पुलक के होने की संभावना विना किसी गुप्त कारण के नहीं है। सो इस नायक को देख कर ही तुझे स्वेद और पुलक हो गए हैं, जिससे तेरा अनुराग लक्षित होता है। यदि ऐसा नहीं है, तो तू ही] कह, [तेरे] पुलक झलके हुए [तथा] गात्र पसीजे हुए क्यों देखे जाते हैं॥

चित पितमारक-जोगु गनि[1] भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ[3] जिय जोइसी[4] समुझैं[5] जारज-जोगु॥ ५७५॥

(अवतरण)—यह दोहा हास्य रस का है। कवि किसी ज्योतिषी की व्यवस्था उसकी हँसी उड़ाता हुआ कहता है—

(अर्थ)—[ज्योतिषीजी के जब लड़का हुआ, और उन्होंने उसकी जन्मकुंडली बना कर ग्रह-संस्था पर विचार किया, तो पहिले तो उस कुंडली में] पितृमारक (पिता को मार डालने वाले)-योग की गणना कर के [उनके] चित्त में सुत होने पर [प्रसन्नता के स्थान पर] 'सोगु' (शोक) हुआ। [परंतु] फिर [उस लड़के के जन्म में] जारज-योग (पितातिरिक्त किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न होने का योग) समझ कर ज्योतिषीजी [अपने] जी ही जी में [संकुचित तथा अप्रसन्न होने के बदले] हुलसे (उमगे, हर्षित हुए)॥

चमचमात[6] चंचल नयन बिच घूँघट-पट[7] झीन।
मानहु सुरसरिता[8]-बिमलजल उछरत[9] जुग मीन॥ ५७६॥

(अवतरण)—सखी नायिका के नेत्रों की प्रशंसा नायक से कर के उसकी रुचि बढ़ाती है—

(अर्थ)—[उसके] चंचल नयन झीने (पतले, महीन) घूँघट-पट (घूँघट के कपड़े) के बीच में से (भीतर से) [ऐसे] चमचमाते (चमकते हुए हिलते) हैं, मानो सुरसरिता (गंगा) के विमल (स्वच्छ) जल में दो मीन (मछली) उछलते हैं॥

रहि मुँहु फेरि कि हेरि[10] इत; हित-समुँहौ[11] चितु, नारि।
डीठि-परस[12] उठि पीठि के[13] पुलकैं, कहैं[14] पुकारि॥ ५७७॥

(अवतरण)—नायिका उपपति को देख कर, अपनी अनुरागाकृति छिपाने के लिये, सखियों

१. पितुमारक (३), पितुमारिग (४)। २. गुनि (४)। ३. अति हुलस्यौ (३, ५), मनु हुलस्यौ (४)। ४. जोतिसी (२), जोयसी (३)। ५. समझ्यौ (२)। ६. चलत चमकि (२)। ७. घूँघुट (४)। ८. सुरसलिता (३, ४, ५)। ९. उछलत (३, ४, ५)। १०. हेरियत (३, ५), हेरिहौं (४)। ११. समुझौ (४)। १२. परसि (२, ३, ५)। १३. कै (२, ४)। १४. कहति (३, ५)।

तथा नायक की ओर से मुहँ फेर कर खड़ी हो गई है। पर कोई सखी उसकी पुलकावली से उसका अनुराग लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—[ चाहे तू ] मुँह फेर कर रह ( स्थित हो ) अथवा इधर ( हम लोगों की ओर ) देख [ तेरा अनुराग छिपाए छिप नहीं सकता ]। हे नारि, [ तेरी ] पीठ के पुलके ( पुलक-समूह ) [ नायक की ] दृष्टि के स्पर्श से उठ कर [ तेरे ] चित्त का हित-समुहों ( प्रेमोन्मुख अर्थात् प्रेम की ओर ढला हुआ ) होना पुकार कर ( प्रकाश-रूप से ) कहते हैं॥

बिछुरैं जिए, सकोच इहिं बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए लजौंहैं नैन॥ ५७८॥

( अवतरण )—नायक परदेश से आया है। नायक नायिका, दोनों के हृदय में इस बात की लज्जा है कि हम लोग जो संयोग-दशा में यह कहा करते थे कि वियोग में हम न जिएँगे, वह मिथ्या हो गया। इसी लज्जा से दोनों कुछ बोल नहीं सकते। बस, दोनों दौड़ कर नीची आँखें किए हुए लिपट गए। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—बिछुड़ने पर [ भी ] जीते रहे, इस लज्जा से [ दोनों से कुछ ] वचन बोलते नहीं बनता। [ बस, ] दोनों लजौंहे ( लज्जा से नीचे ) नयन किए हुए दौड़ कर [ एक दूसरे की ] छाती से लग गए॥

मोहिं करत कत बावरी, करैं[1] दुराउ[2] दुरैं न।
कहे देत रँग राति के रँग-निचुरत से नैन॥ ५७९॥

( अवतरण )—खंडिता नायिका का वचन शठ नायक से—

( अर्थ )—मुझे [ तुम मीठी मीठी, मिथ्या बातें कर के ] बावली ( झूठी बातों से धोखा खाने वाली ) क्यों बनाते हो ( बनाया चाहते हो )। [ तुम्हारे ] दुराव ( छिपाव ) करने से [ रात के आनंद ] छिपते नहीं। [ तुम्हारे ] रंग निचुड़ते से ( भली भाँति लाल ) नयन रात के रंगों ( आनंद-क्रीड़ाओं ) को कहे देते हैं ( स्पष्ट रूप से प्रकाशित किए देते हैं )॥

छिपैं[5] छिपाकर[6] छिति छुवैं तम ससिहरि[8] न, सँभारि।
हँसति हँसति चलि, ससिमुखी, मुख तैं आँचरु[9] टारि॥ ५८०॥

( अवतरण )—अभिसारिका नायिका नायक के पास जा रही है। मार्ग में उसको चंद्रास्त हो गया और अँधेरा छा गया है, जिससे वह संकेतस्थल की ओर, जो कि कदाचित् किसी निर्जन

१. बनै ( ३, ५ )। २. बाउरी ( ३ )। ३. करत ( ३, ५ )। ४. दुराव ( ४ )। ५. छिप्यौ ( २ ), छपे ( ४ )। ६. छपाकर ( ४ )। ७. छगौ ( २ )। ८. ससहरि ( २ ), ससिहर ( ३, ५ )। ९. अंचल ( २ )।

तथा सघन वन में है, बढ़ने से हिचकिचाने लगी है। यह देख कर उसके संग की दूती, उसके हृदय में ओज बढ़ाने तथा ढाढ़स बँधाने के निमित्त उसके रूप की प्रशंसा करती हुई, उससे बेखटक आगे चलने का अनुरोध करती है—

( अर्थ )—'छिपाकर' ( क्षपाकर, चंद्रमा ) के छिप जाने के कारण तम ( अंधकार ) के पृथ्वी को छूने ( छा लेने ) से [ तू ] मत 'ससिहर' ( डर ), [ प्रत्युत ] सँभाल ( १. अपने रूप के उत्कर्ष का स्मरण कर। २. अपने को सँभाल ले, चैतन्य हो जा ), [ और ] हे शशिमुखी, [ अपने ] मुख से घूँघट हटा कर [ १. जिसमें कि फिर चंद्रमा निकल आवे। २. जिसमें कि मार्ग भली भाँति दिखलाई दे ] हँसती हँसती ( १. मुख को हास्य-युत कर के, जिसमें कि मार्ग में प्रकाश हो जाय। २. हँसी खुशी से, जिसमें कि मार्ग गड़ाय नहीं ) [ बेखटके ] चली चल ॥

इस दोहे में कवि ने बड़ी चातुरी दिखलाई है। एक ही वाक्य से दूती नायिका के रूप की प्रशंसा कर के उसके हृदय में गर्व भी उत्पन्न करती है, जिसमें कि उसका मन आगे बढ़ने से कदराय नहीं, क्योंकि हृदय में गर्व व्याप्त हो जाने पर कदराई नहीं रह जाती, और उसको अँधेरे में सँभल कर तथा प्रसन्नचित्त हो चलने की शिक्षा भी देती है॥

---

**अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।**
**ज्यौँ त्यौँ सबकौँ सेइबौ एकै नंदकिसोरु॥ ५८१॥**

बादि = वृथा॥

( अवतरण )—कोई ज्ञानी भक्त, जो कि संसार भर को श्रीकृष्णमय समझे हुए है, अपना सिद्धांत मन से कहता है—

( अर्थ )—[ संसार भर के भिन्न भिन्न देव-उपासक अर्थात् वैष्णव, शैव, शाक्त इत्यादि तथा भिन्न भिन्न मतवादी अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि मत वाले ] अपने अपने मत में लगे हुए ( अपने अपने सिद्धांत का समर्थन करते हुए ) वृथा शोरा मचाया करते हैं ( वाद-विवाद किया करते हैं )। [ सच्चा सिद्धांत तो यह है कि ] सबको ज्यों त्यों ( किसी न किसी प्रकार, किसी न किसी रूप से ) एक नंदकिशोर ही की सेवा करना है [ अर्थात् चाहे किसी देव की कोई सेवा करे, पर वास्तव में वह सेवा नंदकिशोर ही की होती है, क्योंकि अखिल ब्रह्मांड नंदकिशोरमय है ]॥

---

**लहि[1] सूनैं[2] घरँ[3] करु गहत दिठादिठी[4] की ईठि।**
**गड़ी सु चित नाहीं करति करि ललचौँहीं डीठि॥ ५८२॥**

( अवतरण )—नायक नायिका में केवल देखादेखी की मैत्री है; अभी विशेष परिचय नहीं हुआ है। एक दिन नायक ने नायिका को सूने घर में पा कर उसका हाथ पकड़ लिया, जिस पर नायिका ने, अपनी आँखें ललचौंहीं कर के, स्त्री-जाति की स्वाभाविक लज्जा तथा इस भय से कि कोई आ न

---

१. लखि ( २ )। २. सूनौ ( २ )। ३. घरु ( २ )। ४. दिखादिखी ( २, ४ )।

जाय, 'नहीं नहीं' की। नायिका की वह चेष्टा नायक के जी मैं गड़ गई और उसको उससे मिलने के निमित्त उत्सुक कर रही है। अतः वह इस व्यवस्था को किसी दूती अथवा नायिका की सखी से कहता है, जिसमैं वह मिलाने का उद्योग करे। 'दिठादिठी की ईठि' तथा 'करि ललचौंहीं दीठि' से वह यह व्यंजित करता है कि मुझसे उससे पहिले से कुछ परिचय भी है, और उसको भी मुझसे मिलने की अभिलाषा है, अतः तुझको इस कार्य मैं विशेष कठिनता न पड़ेगी—

( अर्थ )—'दिठादिठी' ( देखादेखी ) की 'ईठि' ( मैत्री, जानपहिचान ) से ( के कारण ) [ ढिठाई कर के एक दिन उसको ] सूने घर मैं पा कर [ उसका ] हाथ पकड़ते हुए वह ललचौंहीं ( लालच-भरी ) दृष्टि कर के 'नाहीं' करती हुई [ मेरे ] चित्त मैं गड़ गई॥

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीँ आरसी लखि रीझति रिझवारि॥ ५८३॥

रिझवारि=रूप गुण पर रीझने की योग्यता रखने वाली॥

( अवतरण )—नायिका, नायक के ध्यान मैं निमग्न हो हो कर, तद्रूप हो रही है, और नायक ही की मनोवृत्ति सी उसकी भी मनोवृत्ति हो गई है। अतः जिस प्रकार नायक उसको देख कर रीझता है, उसी प्रकार वह अपना रूप आरसी मैं देख कर रीझती है। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—प्रियतम के ध्यान से गही गही ( ग्रस्त हो हो कर ) [ यह ] नारी [ भृंगी-ग्रस्त कीट की भाँति ] वही हो रही है ( अपने को प्रियतम ही समझने लगी है ), [ अतः यह ] 'रिझवारि' अपने ही को आरसी ( दर्पण ) मैं देख कर आप ही रीझती ( प्रसन्न होती ) है॥

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उतपातु॥ ५८४॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—यदि बुरा [ मनुष्य ] बुराई छोड़ दे, तो चित्त बहुत डरता है, जिस प्रकार चंद्रमा को कलंक-रहित देख कर लोग उत्पात गिनते ( संभावित करते ) हैं॥

ज्योतिष का मत है कि जब संसार मैं कोई बड़ा उपद्रव होने को होता है, तो चंद्रमा निष्कलंक दिखाई देता है॥

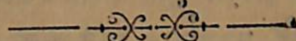
मरिबे कौ साहसु ककै बढ़ै बिरह की पीर।
दौरति ह्वै समुँही ससी, सरसिज, सुरभि-समीर॥ ५८५॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका की दशा सखियाँ आपस मैं कहती हैं—

१. रहिबे की ( ३, ५ )। २. रिझवति ( ३, ४ )। ३. छितु ( २, ४ )। ४. लोक ( ३, ५ )। ५. कै ( २ )। ६. समुहे ( ४ )।

(अर्थ)—[यह] विरह की पीड़ा के बढ़ने पर मरने का साहस (हिम्मत) कर कर के, शशि, कमल [तथा] सुगंधित वायु से (के) सन्मुख हुई (हो कर) दौड़ती फिरती है॥

शशि इत्यादि विरहिणी को ताप देते हैं। अतः नायिका समझती है कि इनके सामने अधिक होने से, तापाधिक्य के कारण, प्राण निकल जाएँगे, और मैं विरह-व्यथा से छुट्टी पा जाऊँगी॥

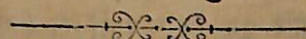


**कब की ध्यान-लगी लखौं, यह घरु लगिहै काहि।**
**डरियतु भृंगी-कीट लौं मति वहई है जाइ॥ ५८६॥**

**भृंगी** = एक पंख वाला कीड़ा, जो अन्य छोटे छोटे कीड़ों को पकड़ कर अपनी वल्मीक में रखता और उनके चारों ओर घूम घूम कर इतना भनभनाता है कि उसके भय से वे छोटे कीड़े उसी के ध्यान में तल्लीन हो कर उसी का रूप धारण कर भृंगी ही हो जाते हैं। इसका वर्णन योग और साहित्य में बहुधा आया है॥

(अवतरण)—पूर्वानुरागिनी नायिका, घर बार तथा खाने पीने की सुधि भूली हुई, बड़ी देर से नायक के ध्यान में लगी हुई है। उसकी हितकारिणी सखी उसे समझा कर आपे में लाया चाहती है। सखी का अभिप्राय यह है कि यह खाए पिए और घर के काम काज देखे, जिसमें इसका अनुराग खुलने न पावे, और हम लोग इसको नायक से मिलाने का यथोचित उपाय करें—

(अर्थ)—[मैं तुझको] कब की (बड़ी देर से) [नायक के] ध्यान में लगी हुई देखती हूँ, [जिससे यह] डर होता है [कि] कहीं [तू] भृंगी-कीट (भृंगी के द्वारा पकड़े गए कीड़े) की भाँति वही (जिसके ध्यान में लगी हुई है) न हो जाय। [ऐसी अवस्था में तू बतला तो सही कि] यह [तेरा] घर बार किसको लगेगा (किसके सहारे चलेगा, क्योंकि तू तो तू रहेगी ही नहीं। अतः तुझको उचित है कि अपने को सँभाले)॥

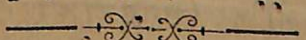


**बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख, बैराग।**
**मृगनैनी सैन न भजै, लखि बेनी के दाग॥ ५८७॥**

**सैन**—यह शब्द संज्ञा से बना है। इसका अर्थ इंगित अर्थात् इशारा है। यह विशेषतः आँखों के इशारे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लक्षणा शक्ति से इसका अर्थ आँख अथवा पलक भी होता है। बोलचाल में भी लोग कहते हैं कि 'वह सैन नहीं भाँजता', अर्थात् पलक नहीं गिराता॥

(अवतरण)—मुग्धा खंडिता नायिका का वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

(अर्थ)—[प्रियतम के अंग में अन्य स्त्री की] वेणी के चिह्न [उपटे हुए] देख कर [यह] मृगनयनी सैन (पलक) नहीं भाँजती (गिराती), [और] 'अनख' (आमर्ष) [तथा] 'बैराग' (उदासीनता) से भरी [एक ही स्थल पर पुतली सी] खड़ी खड़ी 'बिलखी' (दुखी) हुई [एकटक] देख रही है॥



१. लखै (३, ५)। २. लागहि (५)। ३. जिन (४)।

**अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।**
**वह चितवनि औरै कछू, जिहिँ बस होत सुजान ॥ ५८८ ॥**

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि बाह्य सौंदर्य मैं तो संसार की अनेक वस्तुएँ एक ही सी ज्ञात होती हैं, पर सुजान लोग जिसमैं कोई विशेष आंतरिक भाव होता है, उसी से अनुरक्त होते हैं। जैसे कि बड़े तथा कोरदार दृगों वाली अनेक स्त्रियाँ संसार मैं होती हैं, पर सुजान लोग सभी से अनुरक्त नहीं होते। उन्हें तो अनुरक्त करने वाली एक विशेष प्रकार की चितवन होती है; जो किसी ही किसी की आँखों मैं होती है। यह दोहा ऐसे स्थान पर पढ़ने के योग्य है कि जब कोई राजा अथवा धनी यह सोचे कि हम धन दे कर अमुक गुणी को वश कर लेंगे, पर वह गुणी उसके स्वभाव से प्रसन्न न हो कर उसके यहाँ न रहे, प्रत्युत किसी और के स्वभाव तथा सन्मान से संतुष्ट हो कर उसके यहाँ निवास करे—

( अर्थ )—अनियारे ( कोरदार ) [ तथा ] दीर्घ दृगों में ( के कारण ) [ संसार में ] कितनी तरुणियाँ एक ही सी नहीं हैं ! [ परंतु सबकी चितवनें एक सी नहीं होतीं ] वह चितवन कुछ और ही ( किसी विशेष प्रकार की और किसी ही किसी में ) होती है, जिससे सुजान ( गुणीजन ) वशीभूत होते हैं ॥

---

**झुकि झुकि झपकौंहैं पलनु, फिरि फिरि जुरि, जमुहाइ।**
**[1]बीँदि [2]पिआगम, नीँद-मिसि, दीँ सब [3]अली उठाइ ॥ ५८९ ॥**

जुरि = अँगड़ाई ले कर ॥ बीँदि = जान कर, अनुमान कर के ॥

( अवतरण )—प्रौढ़ा वासकसज्जा नायिका की चातुरी का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ इसने ] प्रियतम का आगम [ प्रेमाधिक्य के कारण अपने हृदय में ] 'बीँदि' ( अनुमानित कर ), झपकते हुए से पलकों से ( सज्जित ) झुक झुक कर, [ और ] फिर फिर ( बारंबार ) अँगड़ाई ले ले कर [ तथा ] जँभा जँभा कर, 'नीँद-मिसि' ( नींद के बहाने, अर्थात् इस बात को झूठे ही दिखला कर कि मुझको नींद आती है ), सब सखियाँ [ अपने पास से ] उठा दीं [ और अपने शय्यागृह में एकांत कर लिया ] ॥

बिहारी ने 'पल' शब्द का प्रयोग संस्कृत के अनुसार, पुल्लिंगवत् किया है। पर भाषा मैं 'पल' तथा 'पलक' शब्दों का स्त्रीलिंग-प्रयोग होता है ॥

---

**ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन।**
**दीरघ [3]होहिँ न नैंक हूँ, फारि निहारैँ नैन ॥ ५९० ॥**

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि ओछे मनुष्य चाहे कितने ही ऊँचे बनें, पर बड़े नहीं हो सकते—

( अर्थ )—[ चाहे ] 'सतर' हो कर ( तनेन हो कर, ऐंठ कर ) 'गैन' ( गगन, आकाश )

---

१. पिय कौं आगम ( २ ), जानि पियागम ( ४ )। २. सखीँ ( २ )। ३. होँइ ( २, ४ )।

में लग जायँ, [ पर ] ओछे ( क्षुद्र मनुष्य ) बड़े नहीं हो सकते। [ जैसे ] फाड़ फाड़ कर देखने से नयन किंचिन्मात्र भी बड़े नहीं हो जाते ॥

गयौ अबोलौ बोलि प्यौ आपुहिँ पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुनु की लखि सकुचौंहीं दीठि ॥ ५६१ ॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक को बुलाने के लिए दूती भेजा था, सो वह नायक से रमण कर के और उसको साथ ले कर आई है। रमण करने के कारण दोनों की आँखें सकुचौंहीं हैं, जिससे नायिका ने रमण करना अनुमान कर के मौन ठान लिया, और उनकी ओर देखती भी नहीं। यही वृत्तांत सखी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ इसने ] आप ही ( स्वयं, बड़े चाव से ) 'बसीठि' ( दूती ) भेज कर नायक को बुला कर [ उसके आने पर ] मौन धारण कर लिया है, [ और ] दोनों ( नायक तथा दूती ) की सकुचौंहीं ( लज्जित ) दृष्टि देख कर [ अपनी ] दृष्टि [ उनसे ] चुराई ( रोष से नीची कर ली ) ॥

दुखहाइनु चरचा नहीं आनन आनन आन।
लगी फिरैं ढूका दिए कानन कानन कान ॥ ५६२ ॥

**दुखहाइनु**—इस शब्द का अर्थ, प्रभुदयालु पाँडे को छोड़ कर, प्रायः और सब टीकाकारों ने 'दुखदाइनि' कर दिया है। पर 'दुखहाइनु' का अर्थ 'दुखदाइनि' नहीं है। इसका अर्थ 'दुःख से हती हुई' है। इसका प्रयोग स्त्रियाँ 'दईमारी' की भाँति कोसने में करती हैं ॥ **ढूका**—छिप कर किसी की बात सुनने को ढूका देना अथवा ढूका लगाना कहते हैं ॥

( अवतरण )—दूती नायिका से नायक के पास, निकुंज में, चलने को कहती है। नायिका चवाइनों से दुःखित हो रही है। अतः उसको उत्तर देती है कि इस समय चलने का अवसर नहीं है, आजकल अवाव बहुत फैल गया है, किंचित् वह पटा जाय, तो मैं चलूँ—

( अर्थ )—[ इन ] दुखहाइनों [ अर्थात् चवाइनों ] के लिए मुख मुख में आन ( दूसरी, मेरी चर्चा छोड़ कर अन्य ) चर्चा नहीं है। [ ये ] कानन कानन ( वन वन ) में कान दिए ( लगाए ) ढूका ( परखी ) लगी फिरती हैं ॥

हितु करि तुम पठयौ, लगैं वा बिजना की बाइ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना-न्हाइ ॥ ५६३ ॥

( अवतरण )—नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से नायिका को जो स्वेद सात्विक हुआ, उसका वर्णन सखी नायक से कर के नायिका का प्रेमाधिक्य व्यंजित करती है—

( अर्थ )—तुमने [ जो पंखा ] हित कर के ( प्रेम से ) [ उसके पास ] भेजा, [ सो ]

१. आपे ( १ ), आपै ( ४ )।

उस 'बिजना' ( व्यजन, पंखे ) की 'बाइ' ( वायु ) लगने से [ यद्यपि उसके ] तन की 'तपति' ( तपन ) [ तो तुमसे प्रेमोपहार पाने के आनंद से ] टली, [ पर ] तो भी ( तपन के टल जाने पर भी ) [ वह सात्त्विक के ] पसीने से नहीं चूली ॥

ध्यानु आनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिन राति ।
पलकु कँपति, पुलकति पलकु, पलकु पसीजति जाति ॥ ५९४ ॥

( अवतरण )—नायिका की स्मृति दशा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—प्राणपति ( प्राण के स्वामी, प्रियतम ) को ध्यान में [ अपने ] पास ला कर [ वह ] दिन रात प्रसन्न रहती है, 'पलकु' ( पल मात्र, कभी ) काँपती, 'पलकु' ( कभी ) पुलकती ( रोमांचित होती ), [ और ] 'पलकु' ( कभी ) पसीजती ( पसीने से भीगती ) जाती है ॥

'जाति', इस शब्द से यह व्यंजित होता है कि कंप, पुलक तथा स्वेद रात दिन पारी पारी से होते ही रहते हैं ॥

'पलकु' शब्द यहाँ क्रिया-विशेषण-रूप से प्रयुक्त हुआ है। ऐसे क्रिया-विशेषण संस्कृत में भी द्वितीयांत प्रयुक्त होते हैं ॥

सकै सताइ न तमु बिरहु, निसि दिन सरस, सनेह ।
रहै वहै[1] लागी दृगनु[2] दीपसिखा सी देह ॥ ५९५ ॥

( अवतरण )—प्रोषितपतिका नायिका का संदेश ले कर कोई आया है, और कहता है कि उसकी तो आपके विरह में दारुण दशा हो रही है, जैसा मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ; अब आप जो कहिए, वह जा कर मैं उससे कहूँ । नायक यह सोच कर कि एक तो वह बेचारी अपने विरह-दुःख के मारे यों ही विकल हो रही है, उस पर यदि मुझे दुःखित तथा कातर सुनेगी, तो फिर न जानें उस पर क्या बीतेगी, अपने दुःख को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत कहता है कि मैं तो उसके ध्यान में ऐसा मग्न रहता हूँ कि मुझे विरह-दुःख व्याप्त ही नहीं होने पाता । इस कथन से नायक और भी दो अभिप्राय व्यंजित करता है—एक तो यह कि मैं उसको क्षण मात्र भूलता नहीं, और दूसरा यह कि उसको भी मेरी ही भाँति धैर्य धारण कर के मेरे ध्यान से विरह-दुःख का निवारण करना चाहिए—

( अर्थ )—[ मुझे ] तम [ अर्थात् ] विरह सता ( दुःख दे ) नहीं सकता, [ क्योंकि ] रात दिन वही ( उसी की ) सनेह ( नेह अर्थात् स्नेह-युत ), सरस ( रसीली ) देह दीपक-शिखा ( दीपक की टेम ) की भाँति [ मेरे ] दृगों में लगी रहती है ( मेरी आँखों के अति समीप उपस्थित रहती है ) ॥

बिरह-जरी लखि जीगननु[3] कह्यौ न डहि[4] कै बार ।
अरी, आउ भजि भीतरी; बरसत[5] आजु अँगार ॥ ५९६ ॥

---

१. रहैं ( ३ ) । २. उही ( ३ ), उहैं ( ५ ) । ३. जियगननु ( ३, ५ ) । ४. आहि ( ४ ) । ५. नरषत ( ३, ५ ) ।

( अवतरण )—विरहिणी नायिका को वर्षा ऋतु मैं, अधिक उद्दीपन होने के कारण, जुगनू अंगारे से जान पड़े। अतः उसने सखी से कहा कि आज पानी के बदले अंगारे बरस रहे हैं, तू भीतर भाग आ। उसकी यह दशा सखी नायक से निवेदित करती है—

( अर्थ )—जुगनुओं को देख कर [ उस ] विरह से जली हुई ने [ और भी ] 'डहि' ( दह कर, दुःख पा कर ) [ मुझसे ] के बार नहीं कहा ( अनेक बार कहा ) [ कि ] अरी, 'भीतरी' ( भीतर ) भाग आ, [ क्योंकि ] आज अंगारे बरस रहे हैं ॥

फिरि घर कौं नूतन पथिक चले चकित-चित भागि।
फूल्यौ देखि पलासु बन, समुही समुझि दवागि ॥ ५६७ ॥

( अवतरण )—वसंत ऋतु मैं जब जंगलों मैं पलाश फूलता है, तो दूर से देखने वालों को जान पड़ता है कि दवाग्नि लगी हुई है। इसी दृश्य का वर्णन कवि करता है, और फूले हुए पलाश-वन मैं दवाग्नि के भ्रम होने की पुष्टि यह कह कर करता है कि इस भ्रम का होना कुछ मेरी कल्पना मात्र नहीं है, प्रत्युत, देखो, ऐसे पथिक, जिन्होंने पहिले कभी फूला हुआ पलाश-वन नहीं देखा था, इस दृश्य को देख कर ऐसे भ्रम मैं पड़ गए हैं कि आगे नहीं बढ़ते और लौट कर घर भाग जाते हैं—

( अर्थ )—[ देखो, ] जंगल में पलाश फूला हुआ देख कर, [ और उसे ] 'समुही' ( सामने आई हुई ) दवाग्नि समझ कर, नए ( अनुभव-शून्य ) पथिक लौट कर चकित-चित्त ( भ्रम-भरे चित्त से ) घर को भाग चले ॥

गड़ी कुटुम की भीर मैं रही बैठि दै पीठि।
तऊ पलकु परि जाति इत सलज, हँसौंहीं डीठि ॥ ५६८ ॥

( अवतरण )—नायिका अपने कुटुंबियों मैं है, और उसका उपपति वहाँ किसी कार्यवश आ गया है। उसे देख कर वह मुँह फेर कर बैठ गई है, पर सस्मित तथा लजीली दृष्टि से क्षण मात्र नायक को देख लेती है। उसके इसी प्रेम तथा चातुरी की प्रशंसा नायक अपने मन मैं करता है—

( अर्थ )—[ अहा ! देखो, इसका प्रेम मुझ पर कैसा गूढ़ है, और यह कैसी चतुर है कि यद्यपि यह ] कुटुंब की भीड़ में गड़ी ( घिरी ) हुई [ मेरी ओर ] पीठ दे कर बैठ गई है, तथापि [ इसकी ] लज्जा-भरी, मुसकिराती हुई दृष्टि इस ओर ( मेरी ओर ) पल मात्र पड़ [ ही ] जाती है ॥

नाउँ सुनत हीँ ह्वै गयौ तनु औरै, मनु और।
दबै नहीँ चित चढ़ि रह्यौ अबै चढ़ाऐँ[1] त्यौर ॥ ५६९ ॥

( अवतरण )—आकृतिलक्षिता नायिका से सखी की उक्ति—

( अर्थ )—[ नायक का ] नाम सुनते ही [ तो तेरा ] तन [ पुलकादि के कारण ] और ही [ सा ] हो गया, [ और ] मन [ भी ] और [ ही ] ( दूसरे ही प्रकार का, अर्थात्

१. चढ़ायौ ( ३ ), चढ़ाओ ( ५ )।

अपने वश से बाहर)। [तो फिर] अब [तेरे इस] तेवर चढ़ाने से [तेरे] चित्त पर चढ़ा हुआ [नायक] दब (छिप) नहीं सकता॥

दुसह सौति-सालैँ, सु हिय गनति न नाह-बियाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु फिरै अछेह उछाह॥ ६०० ॥

(अवतरण)—नायिका के पति के एक और विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। पर इस घटना से उसको किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं होता, प्रत्युत इस गर्व से कि मेरे रूप तथा गुण ऐसे हैं कि नायक मेरे वश से अन्य के वश में नहीं जा सकता वह वैसी ही उत्साह-भरी फिरती है। सखी-वचन सखी से—

(अर्थ)—सौत की [जो] दुःसह सालें (बर्छी इत्यादि के गड़ने की सी पीड़ा) [होती] हैं, उनको [यह अपने] हृदय में, [अपने] पति के [अन्य] विवाह में (के अवसर पर), [कुछ भी] नहीं गिनती, [प्रत्युत] रूप [तथा] गुण का गर्व धारण किए अछेह (अव्यवहित) उछाह (उत्साह) से फिरती है॥

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि[2] किसोरी दरसि कै[3], खरैँ[4] लजाने[5] लाल॥ ६०१ ॥

(अवतरण)—जिस समय इंद्र के कोप से व्रजवासियों की रक्षा करने के निमित्त श्रीकृष्णचंद्रजी ने हाथ पर गोवर्द्धन धारण कर रक्खा था, उस समय श्रीराधिकाजी उनको दिखाई दीं। उनके दर्शन से, कंप सात्त्विक के कारण, श्रीकृष्णचंद्र का हाथ, जिस पर वह गोवर्द्धन धारण किए हुए थे, कुछ डिग गया, जिससे वह पहाड़ डगमगाने लगा। इस डगमगाहट से व्रजवासियों को घबराया हुआ देख कर श्रीकृष्णचंद्र को बड़ी लज्जा हुई। लज्जा के दो कारण थे—प्रथम तो यह विचार कि इस कंप से हम लोगों का गूढ़ प्रेम लक्षित हो जायगा, और दूसरे यह भावना कि हमारे भक्तों को ऐसा भय उपस्थित हुआ। ऐसे गूढ़ प्रेमी तथा भक्तवत्सल भगवान् का ध्यान कवि इस दोहे से करता है—

(अर्थ)—हाथ के 'डिगत' (डिगते हुए, डिगने के समय, डिगने के कारण) [गोवर्द्धन] गिरि के 'डिगुलात' (डगमगाते ही) सब व्रज (व्रजवासियों) को बेहाल (विह्वल, व्याकुल) देख कर, किशोरी (श्रीराधिकाजी) को देख कर कंपित हो जाने से, लाल (श्रीकृष्णचंद्र) खरे (बहुत) 'लजाने' (लज्जित हुए)॥

और सबै हरषी हँसतिँ, गावतिँ भरी उछाह।
तुहीँ[6], बहू, बिलखी फिरै क्यौँ देवर कैँ ब्याह॥ ६०२ ॥

---

१. डगुलात (३), कर लेत गहि (४)। २. कँपति (४)। ३. परसि (२)। ४. कैं (२, ३), कौ (४), के (५)। ५. लजाए (३, ५)। ६. तू दुलहिन (२)।

( अवतरण )—नायिका अपने देवर से अनुरक्त है। अतः उसको उसके विवाह-उत्सव के अवसर पर दुःख होता है, जिससे सखी उसकी प्रीति लक्षित कर के कहती है—

( अर्थ )—और ( घर तथा पड़ोस की ) सभी [ स्त्रियाँ तो ] हर्षित हुई हँसती हैं, [ और ] उछाह से भरी हुई [ व्याहुले गीत ] गाती हैं। [ पर ] हे बहू, देवर के व्याह में [ एक ] तू ही क्यों बिलखी ( उत्साह-रहित सी, दुखी सी ) फिरती है॥

थोड़े दिनों की व्याही हुई दुलहिनों को सखियाँ भी प्रायः 'बहू' कह कर संबोधित करती हैं॥

बाल छबीली तियनु मैं बैठी आपु छिपाइ।
अरगट हीं[1] पानूस सी परगट होति[2] लखाइ॥ ६०३॥

**आपु**=अपनापा, निज स्वरूप॥ **अरगट**=अलगंट, पृथक्॥ **पानूस** ( फ़ा० फ़ानूस )=वह काच का घेरा, जिसमें मोमबत्ती इत्यादि जलाई जाती है। हिंदी में इसका नाम कमल अथवा कँवल है। फ़ानूस शब्द का अर्थ, यहाँ, लक्षण लक्षणा से, फ़ानूस में स्थित दीपक होता है; जैसे 'पंजाब बड़ा बहादुर है' कहने से पंजाब निवासी पुरुष समझे जाते हैं॥

( अवतरण )—नायिका की सखी अथवा दूती नायक से उसके अनुपम रूप का वर्णन करती है कि उसकी छबि ऐसी निराली है कि वह बड़ी बड़ी सुंदर स्त्रियों के बीच में भी फ़ानूस से घिरे हुए दीपक की भाँति सबसे अलग ही दिखाई देती है—

( अर्थ )—[ अनेकानेक बड़ी बड़ी ] छबीली ( सुंदर, चमक दमक वाली ) स्त्रियों के बीच में [ भी ] 'आपु' ( निज रूप को ) छिपा कर बैठी हुई [ वह ] बाला फ़ानूस [ के दीपक ] सी [ अपने चारों ओर के आवरण से ] 'अरगट' ( अलग ) ही 'परगट' ( प्रकट, स्पष्ट ) 'लखाइ' ( लक्षित ) होती है॥

इस दोहे में सखी के कहने का वही भाव है, जिस भाव से ऐसे वाक्य कहे जाते हैं कि 'अजी, वह लाखों में अलग दिखाई देते हैं'॥

एरी, यह तेरी, दई, क्यौं हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह-भरैं हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ॥ ६०४॥

**हिय** ( ह्रद )—यह शब्द यहाँ श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ चित्त और दूसरा नीचा स्थान, अर्थात् गड्ढा, है। इन्हीं दोनों अर्थों के बल से इसमें श्लिष्टपद-रूपक किया गया है, अर्थात् 'हिय' का अर्थ हृदय-रूपी गड्ढा माना गया है॥

( अवतरण )—मानिनी नायिका से सखी का वचन—

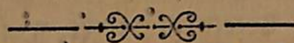
( अर्थ )—अरी [ सखी ], हे दैव ( बड़े आश्चर्य की बात है )! तेरी यह [ विलक्षण ] प्रकृति ( बान ) किसी प्रकार नहीं जाती ( छूटती )। [ तुझको नायक के द्वारा ] नेह ( १. प्रीति। २. तेल, घृत इत्यादि ) से भरे हुए हृदय-रूपी पात्र में रक्खा जाता

---

१. हूँ ( ३, ५ )। २. होइ ( २ )।

है, तथापि [ तू ] रूखी ( १. प्रीति के लोच से रहित । २. चिकनाई से रहित ) ही दिखाई देती है ॥

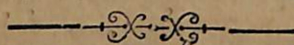
चिकनाई-भरे पात्र में रखने पर भी रूखी ही रहना, यही विलक्षणता इस दोहे में कही गई है ॥



इहिँ काँटैँ मो पाइ गड़ि लीनी मरति¹ जिवाइ।
प्रीति जनावत³ भीति सौं मीत जु काढ़्यौ आइ ॥ ६०५ ॥

( अवतरण )—नायिका किसी नायक पर अनुरक्त है, और जी ही जी में दुखित है ; क्योंकि उसको यह ज्ञात नहीं है कि वह नायक भी उसे चाहता है अथवा नहीं । एक दिन नायिका के पाँव में काँटा गड़ गया, जिसको उस नायक ने निकाला । निकालते समय नायक की चेष्टा से यह भय प्रकट हुआ कि कहीं नायिका को काँटा निकालने में कष्ट न हो । इस भाव से नायिका ने नायक की प्रीति लक्षित कर ली, अतः उसका वह संशय-दुःख छूट गया, और मिलने की आशा हो गई । यही वृत्तांत वह अपनी किसी अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ मुझे कष्ट होने की ] भीति ( डर ) से [ सशंकित भावयुत होने के कारण अपनी ] प्रीति जनाते हुए 'मीत' ( मित्र ) ने जो [ उसको ] आ कर काढ़ा ( निकाला ), [ सो ] इस काँटे ने मेरे पैर में गड़ कर [ मुझे इस संशय-दुःख से कि नायक मुझसे प्रीति करता है वा नहीं ] मरते मरते जिला लिया ॥



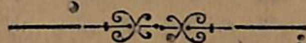
नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली⁴ छैल ।
फिरि⁵ फिरि भूलि वहै गहै प्यौ⁶ कँकरीली गैल ॥ ६०६ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका, दोनों कहीं जा रहे हैं । मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते चलते चिकना हो गया है, और दूसरा भाग कँकड़ीला है । नायक, प्रेम के मारे, सुकुमारी नायिका को तो अच्छी डुरहुरी पर लिवाए जाता है, और स्वयं उसके साथ साथ चलने के कारण कँकड़ीले भाग पर चलता है, जिससे उसके पाँव में कंकड़ियाँ चुभती हैं । उसकी चेष्टा से यह बात ज्ञात कर के नायिका, प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित हो कर, सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है । नायक, उसका कहना मान कर, कुछ दूर लों इस प्रकार सिमट कर चलता है कि उसको कंकड़ियाँ न गड़ें, पर नायिका का वह नाँक चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया है कि वह फिर जान बूझ कर उसी कँकड़ीले मार्ग पर इस प्रकार चलने लगता है, मानो वह भूल कर ऐसा करता है, जिसमें कि नायिका को यह समझने का अवसर न प्राप्त हो कि वह जान बूझ कर उसके चिढ़ाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है, और वह फिर उसी प्रकार नाँक चढ़ा कर सीबी करे । यही वृत्तांत कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ वह ] छैल छबीली ( सजी धजी सुंदर ) [ नायिका प्रियतम के ] 'जितै'

१. लगि ( २ ) । २. मरत ( ३, ५ ) । ३. जनाउत ( ३, ५ ) । ४. छबीले ( ५ ) । ५. त्यौं त्यौं ( २ ) । ६. पिय ( ३, ५ ) ।

( जिस ओर से ) [ चलने के कारण ] नाँक चढ़ा कर सीबी ( दुःख-सूचक सीत्कार ) करती है, प्रियतम् फिर फिर ( वारंवार ) भूल कर ( भूला हुआ सा हो कर ) वही कँकड़ीली गैल ( डुरहुरी ) गहता है ॥

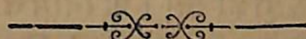


नटि न, सीस साबित भई लुटी सुखनु की मोट।
चुप करि ए चारी करति सारी-परी सलोट ॥ ६०७ ॥

( अवतरण )—अन्यसंभोग-दुःखिता नायिका दूती की साड़ी में सिलवटें पड़ी हुई देख कर कहती है—

( अर्थ )—[ बस, अब तू ] नट नहीं ( मुकर मत ), [ तेरे ] सिर [ मेरे ] सुखों की लुटी हुई 'मोट' ( मोटरी, गठरी ) साबित ( प्रमाणित ) हो गई ( अर्थात् मेरे सुख की गठरी जो लुट गई है, वह तूने ही लूटी है, यह बात प्रमाणित हो गई )। ये [ तेरी ] साड़ी में पड़ी हुई सिलवटें 'चुप करि' ( चुपके चुपके, विना बोले ही ) चारी ( चुगली ) करती हैं [ अतः अब तेरे मुकरने से कोई लाभ नहीं हो सकता ]॥

'चुप करि' का अर्थ तू चुप रह भी हो सकता है ॥



जिहिँ भामिनि भूषनु रच्यौ चरन-महावर भाल।
उहीँ मनौ अँखियाँ रँगीँ ओठनु कैँ रँग, लाल ॥ ६०८ ॥

( अवतरण १ )—नायक प्रातःकाल सापराध आया है। नायिका ने जब उससे कहा कि आज आप रात भर किसके साथ जागे हैं, जो आँखें लाल हो रही हैं, तो नायक ने उत्तर दिया कि नहीं, हम जागे तो नहीं हैं। उस पर नायिका, उसके भाल पर के महावर पर उसका ध्यान दिलाती हुई, व्यंग्य से कहती है कि यदि आपकी आँखें जागने से लाल नहीं हुई हैं, तो यह अनुमान होता है कि जिस भामिनी ने अपने चरण के महावर से तुम्हारे भाल को लाल कर दिया है, उसी ने अपने ओठों के रंग से तुम्हारी आँखें रँग दी हैं—

( अर्थ १ )—जिस भामिनी ( क्रोधवती स्त्री ) ने [ अपने ] चरण के महावर से [ तुम्हारे ] भाल पर भूषण रचा है ( बनाया है ), हे लाल, मानो उसी ने [अपने] ओठों के रंग से [ तुम्हारी ] आँखें रँग दी हैं [ यदि तुम्हारी आँखें जागने के कारण लाल नहीं हैं, जैसा कि तुम कहते हो ]॥

इस दोहे का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने ऊपर लिखे हुए अर्थ से मिलता जुलता हुआ सा किया है। पर इस अर्थ में उत्प्रेक्षा केवल इतनी ही बात पर होती है कि यदि आँखें जागने से लाल नहीं हैं तो मानो ओठों के रंग से रँगी गई हैं। यह उत्प्रेक्षा कुछ विशेष चमत्कृत नहीं ज्ञात होती, और दोहे के अवतरण में जो बातें माननी पड़ती हैं, वे भी कुछ विशेष चुभती हुई सी नहीं हैं, अतः जागी हुई लाली पर पान की पीक की लाली की उत्प्रेक्षा करना खंडिता के वाक्य में कुछ

---

१. नट न ( ३, ५ ) । २. रहि ( ३, ५ ) । ३. करत ( ३, ५ ) । ४. परें ( ३, ५ ) । ५. तिहीँ ( ३, ५ ) ।

विशेष चमत्कारजनक नहीं है । इसलिए इस दोहे का अर्थ नीचे लिखे हुए प्रकार से यदि किया जाय, तो अच्छा है ॥

( अवतरण २ )—नायक प्रातःकाल नायिका के यहाँ आया है । उसके भाल पर महावर लगा हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि उसने नायिका की सौत को, अथवा अन्य किसी स्त्री को, पाँव पड़ कर मनाया था । उसकी आँखों में भी पीक की लाली लगी है । अतः नायिका कहती है कि जिस भामिनी के चरण में तुमने अपने भाल से महावर लगाया, अर्थात् भाल से महावर नहीं लगाया जाता पर तुमने उसका इतना सन्मान किया कि हाथ के बदले उसके पाँव में सिर से महावर लगाया, उसी भामिनी ने उस सन्मान के बदले में तुम्हारी आँखों को हाथ से अंजित न कर के ओठों से लाल रँग दिया । भाल में पाँव पड़ने से लगे हुए महावर को नायिका व्यंग्य से पाँव में महावर लगाने के कारण लगा हुआ कहती है, और सिर के द्वारा महावर लगाया जाना कह कर व्यंग्य से महावर का सिर के द्वारा फैलाया जाना विदित करती है । 'भामिनि' शब्द से वह व्यंजित करती है कि वह सहन करने वाली नहीं है । अतः उसने अपने पाँव के महावर के फैला देने का यथोचित बदला तुम्हारी आँखों में भद्दी पीक-लीक लगा कर तुमको दे दिया—

( अर्थ २ )—हे लाल, [ तुम्हारे नेत्रों में पान की पीक बड़े भद्दे रूप से लगी है ] मानो जिस भामिनी ( १. सुंदर स्त्री । २. लड़ाका स्त्री ) के निमित्त [ आपने अपने ] भाल से पैर का महावर भूषण रचा ( १. भूषित किया । २. भद्दा कर दिया, फैला दिया ), उसी ने [ उसके बदले में तुम्हारी ] आँखें [ अपने ] ओठों के रंग से रँग दीं ( १. रँग कर सुंदर कर दीं । २. रंग से लीप पोत दीं ) ॥

———

तूँ मोहन-मन गड़ि रही गाढ़ी गड़नि, गुवालि ।
उठै सदा नटसाल ज्यौं[२] सौतिनु[३] कैं उर सालि ॥ ६०९ ॥

( अवतरण )—दूती नायिका से नायक के प्रेम की प्रशंसा कर के उसके हृदय में प्रीति बढ़ाया चाहती है—

( अर्थ )—हे ग्वालिनी, तू गड़ [ तो ] गाढ़ी गड़न से ( गहरे धसाव से ) मोहन के मन में रही है, [ पर ] सदा नटसाल ( नष्टशल्य ) सी साल ( पीड़ा दे ) उठती है [ अपनी ] सौतों के हृदय में ॥

इस दोहे में विलक्षणता यह है कि गड़ने की क्रिया तो नायक के मन में होती है, और खटकने की सौतों के उर में ॥

———

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ[५] चलि जाहिं ॥ ६१० ॥

( अवतरण )—सखी नायिका को समझाती है कि नायक की ओर ऐसी विवशता से देखने

१. मैं ( ५ ) । २. लौं ( २ ), सी ( ४ ) । ३. सौतिनि ( २ ), सौतिन ( ३, ५ ) । ४. कौं ( २, ४ ) । ५. हीं ( ३, ५ ) ।

लगना उचित नहीं है, तुझे अपने को नैंक लिए दिए रहना चाहिए। नायिका उसको उत्तर देती है—

( अर्थ )—[ मैं क्या करूँ, ] नयन मेरे वश में नहीं हैं। ये मुँहज़ोर ( लगाम को खींचने पर भी न रुकने वाले ) तुरंग ( घोड़े ) की भाँति लज्जा-रूपी लगाम को नहीं मानते, [ और ] खींचते हुए ( खींचते खींचते, लज्जा के कारण रोकते रोकते ) भी [ नायक की ओर ] चले [ ही ] जाते हैं ॥

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित[1] प्यौ पाइ।
पीठि दिऐँ निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ॥ ६११ ॥

( अवतरण )—मध्या नायिका की बेखटक नायक का स्वरूप देखने की चातुरी का वर्णन कोई सखी किसी अन्य सखी से करती है—

( अर्थ )—हाथ की मुँदरी ( मुद्रिका, अँगूठी ) की आरसी ( दर्पण ) में प्रियतम को प्रतिबिंबित ( छाया डाले हुए ) पा कर ( अर्थात् प्रियतम की छाया आरसी में पड़ी हुई देख कर ) [ देख, यह ] पीठ दिए ( उनकी ओर पीठ किए ) एकटक दृष्टि लगा कर ( बड़े ध्यान से ) निधड़क ( बेखटक अर्थात् इस बात की शंका से रहित हो कर कि यदि कोई मुझे प्रियतम को एकटक देखते देख लेगा, तो मुझे संकुचित होना पड़ेगा ) देख रही है ॥

इती भीर हूँ भेदि कै, कितैं[3] हूँ है, इत आइ[2]।
फिरै डीठि जुरि डीठि सौँ सबकी डीठि बचाइ ॥ ६१२ ॥

( अवतरण )—नायक किसी मेले इत्यादि के अवसर पर भीड़ में खड़ा है, और नायिका भी वहीं कुछ दूर पर है। नायिका की दृष्टि सारी भीड़ में से होती हुई घूम फिर कर नायक की ओर जाती है, और सबकी आँखें बचा कर उसकी दृष्टि से मिल कर लौटती है। नायिका के इसी प्रेमाधिक्य तथा अवलोकन-चातुरी का वर्णन नायक अपने किसी अंतरंग मित्र से करता है—

( अर्थ )—इतनी भीड़ को भी भेद ( वेध, फाड़ ) कर, किसी न किसी ओर से हो कर ( घूम फिर कर ), इधर ( मेरी ओर ) आ कर [ उसकी ] दृष्टि, [ और ] सबकी दृष्टि बचा कर, [ कैसे स्नेह तथा चातुरी से मेरी ] दृष्टि से मिल कर लौट जाती है ॥

लाई, लाल, बिलोकियै, जियै[4] की जीवन-मूलि[5]।
रही भौन के कोन[6] मैं सोनजुही सी फूलि ॥ ६१३ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका की प्रतीक्षा करता हुआ कुंजभवन में बैठा कुछ अचेत सा हो

१· प्रतिबिंब्यौ ( २, ४ ) । २· आइ ( २ ), जाइ ( ४ ) । ३· कितऊ ( ३ ) । ४· जी ( २ ) । ५· जीवनि ( २, ४ ) । ६· कौंन ( २ ) ।

गया है। इतने ही मैं दूती नायिका को ले कर आई है, और नायक को सावधान करती हुई कहती है—

( अर्थ )—हे लाल ! [ नेंक सावधान हो कर, और आँखें खोल कर ] देखिए, [ मैं आपके ] जीव की संजीवनी जड़ी ( आपके प्राणों की परमप्रिय नायिका ) ले आई हूँ। [ देखिए, वह इस ] भवन के कोने में सेतजुही [ की लता ] की भाँति फूल रही है ॥

---

ओठु उँचै, हाँसी-भरी दृग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा न पी लियौ, पियत तमाकू, लाल ॥ ६१४ ॥

( अवतरण )—नायिका ने नायक को तमाकू पीते देखा है, और उसकी उस समय की चेष्टा पर मोहित हो गई है। अतः वह अपनी अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—लाल ने तमाकू पीते समय ओठ को ऊँचा कर के, हँसी भरी हुई दृगों [ तथा ] भौंहों की [ मोहिनी ] चाल से, क्या मेरा मन [ भी तमाकू के साथ ] नहीं पी लिया ( अवश्य ही पी लिया ) ॥

---

जे तब होत दिखादिखी भई अमी इक आँक।
दगैं तिरीछी डीठि अब ह्वै बीछी कौ डाँक ॥ ६१५ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका से कहीं बाटबाट में भेंट हुई थी, और दोनों ने दोनों की ओर तिरछी आँखों से कटाक्ष किए थे। उस समय तो दोनों को एक दूसरे की वे तिरछी दृष्टियाँ बड़ी अच्छी लगी थीं, क्योंकि उनसे एक को दूसरे का प्रेम लक्षित हुआ था। पर अब विरह में वे तिरछी चितवनें दोनों को विकल कर रही हैं। यही वृत्तांत सखियाँ आपस में कहती हैं—

( अर्थ )—जो [ दोनों की तिरछी दृष्टियाँ ] तब [ अर्थात् ] 'दिखादिखी' ( देखा देखी ) होते समय 'इक आँक' ( एकदम, सर्वथा ) [ दोनों को ] 'अमी' ( अमृत ) हुई थीं ( अमृत सी मीठी लगी थीं ), [ सो ] अब [ विरह में वे ही ] तिरछी चितवनें बिच्छू का डंक हो कर [ दोनों को ] दगती ( दागती, जलाती, पीड़ा देती, अर्थात् अपने स्मरण से उत्तप्त करती ) हैं ॥

इस दोहे में 'जे' शब्द बहुवचन है। अतः 'डीठि' शब्द भी बहुवचन हुआ। इसलिए 'बीछी कौ डाँक' एकवचन पद के स्थान पर 'बीछी के डाँक' बहुवचन पद, अथवा 'जे' के स्थान पर 'जो', होता, तो बहुत अच्छा होता। इसी विचार से कई एक टीकाकारों ने 'जे' के स्थान पर 'जो', और कई एक ने 'बीछी कौ डाँक' के स्थान पर 'बीछी के डाँक' पाठ रक्खा है। पर हमारी चार प्राचीन पुस्तकों में 'जे' तथा 'बीछी कौ डाँक', ये ही पाठ हैं, अतः इस संस्करण में ये ही रक्खे गए हैं ॥

---

नैंकौ उहिँ न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल।
उर तैं बासु छुट्यौ नहीं बास छुटैं हूँ, लाल ॥ ६१६ ॥

---

१. वहि ( २ ), ऊ ( ३, ५ )। २. लाल ( ३, ५ )। ३. माल ( ३, ५ )।

( अवतरण )—नायक ने नायिका को कोई सुगंधित माला दी है। वह माला, नायक की दी हुई होने के कारण, नायिका को ऐसी प्रिय है कि उसकी सुगंधि के जाते रहने पर भी वह उसको अपनी छाती से अलग नहीँ करती। यह वृत्तांत कोई सखी, उसका प्रेमाधिक्य व्यंजित करती हुई, नायक से कहती है—

( अर्थ )—हे लाल! जो माला तुमने [ उसको ] हर्ष-पूर्वक दी है, वह [ उसने अभी तक ] नैंक भी ( क्षण मात्र के लिए भी ) जुदी ( अपने तन से अलग ) नहीँ की। [ उसकी ] बास ( सुगंधि ) के छूटने पर भी ( जाते रहने पर भी ) [ उसका ] 'बास' ( निवास ) [ उसके ] उर से नहीँ छूटा॥

बिहँसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चूम्यौ मुँहु चूमि॥ ६१७॥

( अवतरण )—नायक नायिका, दोनोँ गुरुजनोँ मैँ हैँ। नायक ने स्नेह से अपने पुत्र का मुख चूमा। यह देख कर नायिका ने उस पुत्र को अपने पास बुला कर और यह समझ कर कि इसके मुख मैँ प्रियतम का अधरामृत लगा है उसका मुख चूमा, और उस अधरामृत का सुख अनुभव कर के हर्षित हुई। गुरुजनोँ मैँ होने के कारण उस समय न तो नायक ही उसका मुख चूम सका और न वही नायक का, अतः नायक के मुख चूमने के अभाव मैँ उसने नायक का जुठारा हुआ पुत्र ही का मुख चूम कर आनंद पाया, जैसे कि कोई गुरुभक्त गुरु के जूठन को खा कर आनंदित होता है। यह वृत्तांत कोई सखी देख कर और नायिका का भाव लक्षित कर के किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—'बिहँसि' ( मुसकिरा कर ) [ अपने पुत्र को पास ] बुला [ और ] 'उत' ( नायक की ओर ) देख [ वह ] प्रौढ़ा स्त्री रस ( आनंद ) से घूम कर ( मतवाली हो कर ) [ उस ] पुत्र का 'पिय-चूम्यौ' ( प्रियतम से चूमा गया हुआ ) मुँह चूम [ सात्त्विक से ] पुलक कर ( रोमांचित हो कर ) पसीजती ( पसीने से तर होती ) है॥

देख्यौ अनदेख्यौ कियैँ, अँगु अँगु सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मैँ सकुचि बैठी चितै लजाइ॥ ६१८॥

( अवतरण )—नायक ने नायिका के जो हाव भाव देखे हैँ, उनका वर्णन नायिका की किसी अंतरंगिनी सखी अथवा अपने किसी अंतरंग मित्र से करता है—

( अर्थ )—[ वह ] 'देख्यौ अनदेख्यौ कियैँ' ( अपने द्वारा मेरे देखे जाने को अनदेखा किए हुए, अर्थात् मुझे देख कर भी ऐसी चेष्टा बनाए हुए कि मानो उसने मुझे देखा ही नहीँ है ), [ अपने ] सब अंग अंग [ पट को इधर उधर विचला कर एवं अँगड़ाई इत्यादि ले कर मुझे ] दिखला कर, [ और फिर मेरी ओर ] 'चितै' ( देख कर )[ मानो उसने अभी

१. कियौ ( २ )।

मुझको देखा है, अपने ] तन में पैठती हुई सी ( ऐसी संकुचित हो कर सिमिटती हुई कि मानो वह अपने ही शरीर में स्वयं पैठ रही है ) लजा कर बैठ गई ॥

पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं एकै तुँहीं, बिहंग ॥ ६१६ ॥

परेवा=पारावत, कबूतर ॥

( अवतरण )—कोई भोजन-वस्त्र-उपार्जन के निमित्त परदेश में पड़ा हुआ मनुष्य, कबूतर को कबूतरी के साथ सुख से कंकड़ियाँ चुगते देख कर, कहता है—

( अर्थ )—हे परेवा विहंग ( पक्षी ), 'पुहुमि' [ पृथ्वी ] में एक तू ही सुखी है, [ क्योंकि तेरा ] पट ( वस्त्र ) [ तो तेरा ] पंख ही है [ जो कि तेरे पास ही उपस्थित है, तेरा ] 'भखु' ( भक्ष्य, भोजन का पदार्थ ) कंकड़ ही है [ जो कि सब ठौर प्राप्य है, और तेरी ] सपर ( पक्षयुत, सब स्थानों में तेरे साथ जाने की योग्यता रखने वाली ) परेई ( कबूतरी ) [ तेरे ] संग में है ॥

अरे, परेखौ को करै, तुँहीं बिलोकि बिचारि।
किहिँ नर, किहिँ सर राखियै खरैं बढ़ैं परिपारि ॥ ६२० ॥

परेखौ—यह शब्द संस्कृत शब्द 'प्रेक्ष' से बना है। 'प्रेक्ष' का अर्थ देखना है, पर यह शब्द किसी व्यतीत दशा पर दृष्टि डालने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषा में 'परेखा' शब्द किसी व्यतीत बात, अथवा किसी व्यक्ति के किए हुए बर्ताव, को सोच कर दुखी होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है ॥ परिपारि—यह संस्कृत शब्द 'पालि' से 'परि' उपसर्ग लगा कर एवं 'ल' के स्थान पर 'र' आदेश कर के बनाया गया है। 'पालि' का अर्थ किनारा, घेरा, मर्यादा इत्यादि है ॥

( अवतरण )—संसार के बहुत बड़े मनुष्यों के मर्यादा-हीन व्यवहार पर कवि की प्रास्ताविक उक्ति मन से अथवा किसी मित्र से—

( अर्थ )—अरे [ मन अथवा मित्र, बड़े मनुष्यों के मर्यादा-हीन बर्ताव का ] परेखा कौन करने बैठे, तू ही [ संसार के व्यवहार को ] विचार देख ; किस नर [ तथा ] किस सर ( ताल ) से 'खरैं' ( बहुत ) बढ़ने पर 'परिपारि' ( मर्यादा ) रक्खी जाती है ( अर्थात् बहुत बढ़ जाने पर सभी मनुष्य तथा ताल मर्यादा भंग कर डालते हैं ) ॥

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर ॥ ६२१ ॥

( अवतरण )—भक्त का वचन श्रीकृष्णचंद्र से—

( अर्थ )—हे नागर नंदकिशोर, यदि [ कहीं ] तुमने मेरी करनी की ओर 'नीकैं कै'

१. सुपरि ( २ ) । २. भूमि ( ४ ) । ३. पर ( २ ) । ४. परैं ( ३, ५ ), बड़ैं ( ४ ) । ५. वारि ( २, ४ ) ।

( भली भाँति, अर्थात् उसके भली बुरी होने की परीक्षा करने की यथार्थ दृष्टि से ) देखा, तो [ मैं तुम्हारी ] बलिहारी ही [ गया ], [ मेरी गति ] भली ही बैनी ( सर्वथा बिगड़ी ) [ अर्थात् तुम मेरी भली बुरी करनी पर ध्यान न दो, मैं जैसा हूँ वैसे ही को अपनी कृपा मात्र से तार दो ] ॥

चाह भरीं, अति रस भरीं, बिरह भरीं सब बात ।
कोरि सँदेसे दुहुनु के चले, पौरि लौं जात ॥ ६२२ ॥

( अवतरण )—नायक विदेश जाने के निमित्त नायिका से बिदा हो कर अभी पौरी तक भी नहीं पहुँचने पाया है कि दोनों को ऐसा विरह व्याप्त हो गया कि उनकी सब क्रियाएँ, चेष्टाएँ इत्यादि चाह, रस तथा दुःख से भर गईं, और नायक के पौरी तक पहुँचते ही पहुँचते दोनों ओर से करोड़ों संदेश आने जाने लगे । सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ नायक के परदेश जाने के निमित्त नायिका से विदा हो कर ] पौरी तक जाते जाते ( पहुँचते पहुँचते ) [ ही दोनों की ] सब बातें ( क्रियाएँ, चेष्टाएँ इत्यादि ) चाह ( मिलने की अभिलाषा ), अत्यंत रस ( स्नेह ) [ तथा ] विरह ( विरह-दुःख ) से भर गईं, [ और इतने ही समय के बिछोह में ] दोनों के कोटि ( अनगिनती ) संदेश चले ( आने जाने लगे ) ॥

सुनि पग-धुनि चितई[1] इतै न्हाति दियैं ही[2] पीठि ।
चकी, झुकी[3], सकुची, डरी, हँसी लजी[4] सी डीठि ॥ ६२३ ॥

झुकी = निहुर गई ॥

( अवतरण )—नायिका किसी नदी अथवा सरोवर में स्नान कर रही थी । इतने ही में नायक भी वहाँ आ गया । नायिका की पीठ नायक की ओर थी । उसने, पैर की आहट पा कर पीठ दिए ही हुए किंचिन्मात्र ग्रीवा फेर कर नायक को देखा और चकी, झुकी इत्यादि । उसकी इन्हीं चेष्टाओं का वर्णन नायक उसकी सखी अथवा किसी दूती से करता है—

( अर्थ )—[ उस ] स्नान करती हुई [ नायिका ] ने [ मेरे ] पाँव की आहट सुन कर पीठ दिए ही हुए 'इतै' ( इस ओर अर्थात् मेरी ओर ) देखा, [ और ] चकित हुई [ कि मैं वहाँ कहाँ से पहुँच गया ], झुकी ( निहुर गई ) [ जिसमें उसके उरोज न दिखाई दें ], सकुची ( सिमिट गई ), डरी [ कि अन्य कोई तो नहीं देखता है, और ] लजाई हुई सी दृष्टि से हँसी ॥

कर लै, सूँघि, सराहि[5] हूँ रहे सबै गहि मौनु ।
गंधी अंध, गुलाब कौ गवईं गाहकु कौनु ॥ ६२४ ॥

१. चितयौ ( ५ ) । २. ही ( ३ ), ई ( ४, ५ ) । ३. झखी ( २ ) । ४. लजौहीं ( २ ) । ५. सराहि के ( २ ) ।

( अवतरण )—किसी गुणी की अनूक्ष लोगोँ मैं अपना गुणग्राहक पाने की चेष्टा पर अन्योक्ति—

( अर्थ )—अरे अंधे ( निर्बुद्धि ) गंधी ! इस 'गवईँ' ( ग्रामीण मंडली ) में [ तेरे ] गुलाब ( गुलाब-जल ) का कौन ग्राहक [ बैठा ] है। [ तू अपना समय यहाँ वृथा नष्ट करता है, देख तो सही कि तेरे गुलाब-जल को ] हाथ में ले, सूँघ [ और ] सराह ( प्रशंसा कर ) कर भी [ ये ] सबके सब चुप्पी लगा गए हैं [ किसी ने गाँठ से पैसा खोल कर फूटे मुँह से भी यह न कहा कि मुझे इसमें से इतना दे दो, और दाम ले लो ] ॥

मिलि चलि, चलि मिलि, मिलि चलत[1] आँगन[2] अथयौ भानु।
भयौ मुहूरत भोर कौ[3] पौरिहिं[4] प्रथम मिलानु ॥६२५॥

मुहूरत ( मुहूर्त ) = दो घड़ी का काल। भाषा में इसका अर्थ प्रायः किसी कार्य के निमित्त ज्योतिष-द्वारा स्थिर किया हुआ शुभ समय होता है ॥

( अवतरण )—नायक के विदेश जाने का मुहूर्त प्रातःकाल में है। वह उस समय नायिका से बिदा हो कर चला। पर दोनों के प्रेमाधिक्य के कारण मिल मिल कर चलने तथा दो एक पग चल कर फिर मिलने में इतना विलंब लग गया कि आँगन ही में संध्या हो गई, जिससे नायक को अपने उस प्रातःकाल के प्रस्थान-मुहूर्त का पहिला पड़ाव पौरि ही में करना पड़ा। इसी प्रेमाधिक्य का वर्णन कोई सखी किसी अन्य सखी से करती है—

( अर्थ )—[ नायक को नायिका से ] भेंट कर [ एक दो पग ] चल, [ और इस ] चलने के पश्चात् [ फिर ] भेंट—[ इस प्रकार ] मिल कर ( बिदा हो कर )—चलते हुए [ इतना विलंब लगा कि सारा दिन बीत गया, और ] आँगन [ ही ] में सूर्य अस्त हो गया। [ अतः उसके ] प्रातःकाल के मुहूर्त ( प्रस्थान-मुहूर्त ) का पहिला 'मिलानु' ( डेरा, पड़ाव ) पौरी ( ड्योढ़ी ) ही में हुआ ॥

पचरँग-रँग-बँदी खरी[5] उठै[6] ऊगि मुख-जोति।
पहिरैं चीर चिनौटिया चटक चौगुनी होति ॥ ६२६ ॥

ऊगि—किसी वस्तु के धूमिल से प्रकाशित हो जाने को उगना कहते हैं ॥ चीर चिनौटिया = चूनरी। चिनवट अर्थात् चुनट दे कर रँगे जाने के कारण एक विशेष प्रकार की रँगावट के चीर को चूनरी कहते हैं। इन्हीं को चिनौटिया अथवा चुनौटिया चीर भी कहते हैं ॥

( अवतरण )—सखी अथवा दूती, नायिका की शरीर-द्युति की इस ब्याज से प्रशंसा कर के कि उसकी झलक चीर पर पड़ने से चीर का रंग चटकीला हो जाता है, नायक के हृदय में रुचि उपजाती है—

( अर्थ )—[ उसके शरीर पर ] धारण करने से चिनौटिया चीर ( चूनरी ) पर

१. मिलि मिलि चलि चलि (४)। २. अँगना (२)। ३. कैं (३)। ४. पोरी (४)। ५. दिये (४)। ६. उठी (२)।

[ उसकी शोभा की झलक पड़ने के कारण ] चौगुनी चटक हो जाती है ( आ जाती है ), [ क्योंकि उस चूनरी की ] पँचरंगे रंग की बेंदी ( पाँचों रंग में से प्रत्येक रंग की बुँदकी ) [ उसके ] मुख की ज्योति से अत्यंत 'झगि' उठती है ( पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाती है, अधिक चटकीली हो जाती है ) ॥

हँसि ओठनु-बिच, करु उचै, कियैं निचौंहैं नैन।
खरैं अरैं प्रिय कैं प्रिया लगी बिरी[1] मुख दैन[2] ॥ ६२७ ॥

( अवतरण )—विश्रब्धनवोढ़ा नायिका को नायक का अब इतना विश्वास हो गया है कि वह उसके विशेष हठ करने पर अपने हाथ से उसे पान खिलाने लगी है। इसी विश्वास तथा पान खिलाते समय की चेष्टा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ अब वह नवोढ़ा इतना विश्वास करने लगी है कि ] प्रियतम के बहुत अड़ने ( हठ करने ) पर, [ अपने ] ओठों [ ही ] में हँस कर ( मुसकिरा कर ), कर ( हाथ ) ऊँचा कर के [ और ] नेत्र निचौंहैं ( नीचे की ओर ) किए हुए, [ उसके ] मुख में [ पान की ] बीड़ी देने लगी है ॥

वारौं, बलि, तो दृगनु पर अलि, खंजन, मृग, मीन।
आधीडीठि[3]-चितौनि जिहिं[4] किए लाल आधीन ॥ ६२८ ॥

( अवतरण )—दूती नायिका के नेत्रों की प्रशंसा करती हुई नायक के उस पर अनुरक्त होने का वृत्तांत उसको सुनाती है—

( अर्थ )—[ हे लाड़ली, मैं तुझ पर ] बलि [ जाऊँ ], [ मैं ] तेरे दृगों पर अलि, खंजन, मृग [ तथा ] मीन वार दूँ, जिन [ नेत्रों ] से आधी दृष्टि की चितवन के द्वारा [ तूने ] लाल [ अपने ] अधीन कर लिए ॥

जात सयान अयान है, वे ठग काहि ठगैं न।
को ललचाइ न लाल के लखि ललचौंहैं नैन ॥ ६२९ ॥

( अवतरण )—शिक्षा देती हुई सखी से नायिका कहती है कि कुछ मैं ही नायक के नेत्रों पर ललचा कर मुग्ध नहीं हो गई हूँ, बड़ी बड़ी सयानियाँ भी उनके ललचा कर देखने पर ठग जाती हैं, और उन पर मोहित हो जाती हैं—

( अर्थ )—लाल के ललचौंहैं ( अपनी ओर लालच से देखते हुए ) नयन देख कर कौन ललचाता नहीं ( मोहित नहीं होता )। वे ठग किसको नहीं ठग लेते, [ इनके आगे बड़े बड़े ] सयाने ( सज्ञान ) अयाने ( अज्ञान ) हो जाते हैं ॥

---

१. बिरी ( २ )। २. लगे ( २ )। ३. दीठि ( ५ )। ४. त्यौं ( २ )

लखि लखि अँखियनु अधखुलिनु, आँगु मोरि, अँगिराइ।
आधिक उठि, लेटति लटकि, आलस-भरी जम्हाइ ॥ ६३० ॥

( अवतरण )—रति-श्रमित नायिका के प्रातःकाल जागने के समय की शोभा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ हे सखी ! देख, यह हमारी प्यारी सखी रात के रति-श्रम से ] आलस्य-भरी हुई जँभा कर [ कैसी शोभा से ] अधखुली आँखों से [ इधर उधर ] देख देख कर [ कि कहीं नायक तो यहाँ उपस्थित नहीं है ], शरीर को मोड़ ( उमेठ ) कर [ और ] अँगड़ा कर, [ शय्या पर ] 'आधिक' ( कुछ ) उठ कर [ और फिर ] लटक ( झुक ) कर लेट जाती है ॥

---

प्रेमु अडोलु डुलै नहीं, मुँह बोलैं अनखाइ।
चित, उनकी मूरति बसी; चितवनि माँहि लखाइ ॥ ६३१ ॥

( अवतरण )—लक्षिता नायिका का अनुराग लक्षित कर के सखी ने कुछ छेड़ छाड़ की, जिस पर अनुराग छिपाने के निमित्त नायिका कुछ खिझला उठी। तब सखी कहती है—

( अर्थ )—[ तेरा ] अडोल ( अटल, दृढ़ ) प्रेम [ तेरे ] मुख से अनखा कर बोलने [ मात्र ] से, डुल ( टल ) नहीं सकता। [ तेरे ] चित्त में उनकी मूर्ति बस गई है, [ यह बात तेरी ] चितवन में ( से ) लक्षित होती है [ क्योंकि तेरी दृष्टि उस ओर जाते ही कुछ और ही सी हो जाती है ] ॥

---

नाक मोरि, नाहीं ककै नारि निहोरैं लेइ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ ॥ ६३२ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका को अपने हाथ से पान खिलाता है। उस समय के नायिका के कुट्टमित हाव तथा नायक की छेड़ छाड़ का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—नाक मोड़ कर ( मड़ोर कर ) [ तथा ] नहीं नहीं कर के नारी ( नायिका ) 'निहोरैं' ( उपकार करने की प्रार्थना से ) [ प्रियतम के द्वारा दी जाती हुई बीड़ी अपने मुख में ] लेती है, [ और ] प्रियतम [ उसके ] दोनों ओठों को उँगलियों से छूता हुआ [ उसके ] मुँह में [ पान की ] बीड़ी देता है ॥

---

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीजि लपटाइ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि छुटत झुठी ह्वै जाइ ॥ ६३३ ॥

---

१. अँखियाँ ( ३, ४, ५ ) । २. अधखुलीं ( २ ) । ३. ऍंड़ाइ ( २ ), अँगुराइ ( ३, ५ ) । ४. आधिक सी उठि उठि लटति ( ३, ५ ) । ५. आरस ( ३ ) । ६. करै ( २ ) । ७. गयौ कंप ( ४ ) । ८. लैंयौं ( ३ ), लीने ( ४ ) । ९. मूठि ( ३, ५ ) । १०. की ( २ ) ।

(अवतरण)—नायक नायिका होली के खेल मैं परस्पर गुलाल की मूठैं भर भर कर चलाते हैं। पर कुछ गुलाल तो कंप सात्त्विक से गिर जाता है, और कुछ स्वेद से हाथ मैं लिपट रहता है। अतः दोनौं की मूठैं छूटने पर रीती सी प्रतीत होती हैं। यह वृत्तांत देख कर दोनौं के प्रेम की प्रशंसा करती हुई सखियाँ आपस मैं कहती हैं—

(अर्थ)—[फाग के खेल में] गुलाल से भर कर (भली भाँति पूर्ण कर के) ली हुई मूठ भी छूटने पर झूठी ही जाती हैं (ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें गुलाल लिया ही नहीं गया था)। [क्योंकि पारस्परिकदर्शन-जनित सात्त्विक से] कुछ [गुलाल तो] कंप के कारण गिर जाता है, [और] कुछ [स्वेद से] पसीज कर हाथ में लिपट कर रह जाता है [अतः मूठ खुलने पर एक का गुलाल दूसरे पर नहीं पड़ता]॥

देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैंकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिनु फारि॥ 634॥

(अवतरण)—परकीया नायिका अपने द्वार अथवा खिड़की की टट्टी की खौरन को अँगुलियों से सरका कर बाहर खड़े हुए नायक को देख रही है। पर नायक का ध्यान किसी अन्य कौतुक मैं लगा हुआ है। नायिका की कोई अंतरंगिनी सखी उसका ध्यान उस ओर आकर्षित करती हुई कहती है—

(अर्थ)—[तुम] कुछ कौतुक इस ओर [भी] देखते हो [अथवा उसी ओर ध्यान दिए हुए हो], किंचित् निहार कर (दृष्टि दे कर) [इधर तो] देखो। [वह बेचारी तुम्हें देखने के लिए] कब की (कब से) टट्टी को अँगुलियों से फाड़ कर एकटक (निरंतर, बिना पलक गिराए देखती हुई) डटी हुई है (एक ही स्थान पर स्थित है)॥

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि॥ 635॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका को नायक की पत्रिका मिलने से जो अकथनीय हर्ष हुआ है, उसका वर्णन कोई सखी किसी अन्य सखी से, नायिका की चेष्टा का कथन करती हुई, करती है—

(अर्थ)—[देख, इस नायिका का कैसा विलक्षण प्रेम है कि वह] प्रियतम की पत्रिका पा कर [मारे प्रेम के विह्वल हो उसको] हाथ में ले कर, चूम, [आदर से] सिर पर चढ़ा, छाती से लगा [और] भुजाओं से भेट कर [बड़े चाव से] देखती, [बड़े उत्साह से] बाँचती [एवं फिर बहुत सँभाल कर] समेट कर (तहिया कर, मोड़ कर) रख लेती है॥

1. नैन (2)। 2. टग (3, 4)। 3. लिखी (4)।

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझैँ बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि ॥ ६३६ ॥

( अवतरण )—पूर्वानुरागिनी नायिका की जड़ता दशा का वर्णन सखियाँ आपस मैं करती हैं—

( अर्थ )—[ देखो, हमारी यह लाड़ली सखी कैसी ] 'चकी' ( चकराई हुई ) [ तथा ] 'जकी' ( जकड़ी हुई, स्तंभित ) सी हो रही है, [ और स्वयं पहिले का सा हँसना बोलना तो दूर रहा, हम लोगों के ] बूझने ( पूछने, छेड़ छाड़ करने ) पर [ भी ] नीठि ( बड़ी कठिनता से ) बोलती है। [ जान पड़ता है कि इसकी ] दृष्टि कहीँ लग गई है ( यह किसी पर अनुरक्त हो गई है ), अथवा किसी की दृष्टि [ इसको ] लग गई है ॥

भावरि-अनभावरि-भरे करौ कोरि बकवादु।
अपनी अपनी भाँति कौ छुटै न सहजु सवादु ॥ ६३७ ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि चाहे किसी को अच्छा लगे अथवा बुरा, पर अपना अपना प्राकृतिक स्वभाव छूटता नहीँ—

( अर्थ )—[ किसी के स्वभाव के विषय मैं ] 'भावरि-अनभावरि' ( पसंद अथवा नापसंद होने के भाव ) से भरे हुए [ लोग चाहे ] करोड़ बकवाद ( वृथा की कहा सुनी ) किया करो, [ पर ] अपनी अपनी भाँति ( रीति, प्रकार ) का सहज ( प्रकृति-सिद्ध ) सवाद ( स्वाद, रुचि ) नहीँ छूटता ॥

बकवाद शब्द का प्रयोग यहाँ बिहारी ने पुल्लिंगवत् किया है। यह शब्द 'वाक्य-वाद' से बना है, और इसका अर्थ ऐसा वादविवाद है, जिसमैं वृथा वाक्यों ही पर झगड़ा किया जाय। संस्कृत मैं यह शब्द पुल्लिंग ही होता है, पर भाषा मैं यह स्त्रीलिंग माना जाता है ॥

दूरौ खरे समीप कौ लेत मानि मन मोदु।
होत दुहुनु के दृगनु हीँ बतरसु, हँसी-बिनोदु ॥ ६३८ ॥

( अवतरण )—नायक नायिका दूर दूर खड़े हैं, पर आँखों की सैन से बातचीत एवं हँसी-विनोद कर के ऐसे आनंद मैं मग्न हैं, मानो दोनों समीप ही हैं। कोई सखी उनके आनंद को लक्षित कर के किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—दोनों के दृगों ही मैं ( दृगों की सैनों ही से ) बतरस ( बातों का आनंद ) एवं हँसी का विनोद ( हास परिहास की क्रीड़ा ) हो रहा है। [ अतः दोनों ] दूर खड़े हुए भी समीप [ होने ] का मोद ( आनंद ) मन मैं मान लेते हैं ॥

१. कोटि ( २ )। २. दूरि हु ( २ ), दूरौ ( ३, ५ )।

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फ़रके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥ ६३९॥

( अवतरण )—नायिका विनोदार्थ सोने का बहाना कर के, मुँह पर कपड़ा डाल कर और आँखें मूंद कर के लेट रही थी। नायक ने यह सोच कर कि 'देखूँ तो सही कि यह वास्तव में सो गई है अथवा मुझे छकाने के लिए बहाना किए हुए है' उसका मुँह खोल कर देखा। नायक के ऐसा करने पर नायिका से बहाने की निद्रा में रहा न गया। इसी विनोद का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ उसका ] मुख खोल कर प्रियतम के देख रहने पर [ उससे ] 'मिस-सैन' ( बहाने की नींद ) में रहा नहीं गया। [ उसके ] ओठ फड़क उठे, पुलक ( रोमांच ) उठ आए, [ एवं ] नयन खुल कर [ प्रियतम के नयनों से ] जुड़ ( मिल ) गए॥

पिय-मन रुचि-ह्वैबौ कठिनु, तन-रुचि होहु सिँगार।
लाखु करौ, आँखि न बढ़ैं, बढ़ैं बढ़ाएँ बार॥ ६४०॥

( अवतरण )—किसी नासमझ राजा अथवा धनी के विषय में कोई गुणी, किसी अनभिज्ञ अथवा नपुंसक पर अन्योक्ति कर के, कहता है—

( अर्थ )—प्रिय ( प्रियतम ) के मन में रुचि ( चाह ) का होना कठिन है ( अर्थात् हमारे प्रभुजी के मन में हमारा आदर होना दुस्तर है ), तन की शोभा शृंगार-द्वारा [ चाहे कितनी ही ] बढ़ जाय ( अर्थात् हम गुणों से भूषित हो कर चाहे कितने ही श्रेष्ठ हो जायँ ), [ क्योंकि कोई ] लाख [ यत्न ] करो, [ पर ] आँखें नहीं बढ़तीं ( अर्थात् प्रभुजी की आँखों में गुण-ग्राहकता तथा उदारता नहीं बढ़ सकती ) बाल बढ़ाने से [ भले ही ] बढ़ें ( अर्थात् हमारे श्रम करने से हमारे गुण चाहे कितने ही बढ़ें )॥

यह अन्योक्ति वैसी ही है, जैसी यह कि—"का पर करौं सिँगार, पिया मोर आँधर"॥

मनमोहन सौँ मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुंजबिहारी सौँ बिहरि, गिरधारी उर धारि॥ ६४१॥

( अवतरण )—कोई भक्त महात्मा अपने मन से कहता है कि रे मन, जो कुछ तुझे करना है, वह सब श्रीवृंदावनविहारी ही के संबंध में कर, विना उनके संबंध के कोई क्रिया न कर—

( अर्थ )—[ रे मन, यदि तुझको किसी पर मोह करना है, तो तू ] श्रीमनमोहन से मोह कर [ क्योंकि और जितने मोहोत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अंत को फीके जँचते हैं, पर मनमोहन का मोह सदा चटकीला होता जाता है ], [ यदि तेरी इच्छा शोभा देखने की है, तो ] तू श्रीघनश्याम को देख [ क्योंकि वह शोभा की अवधि हैं, और उनकी शोभा से मन कभी नहीं भरता ], [ यदि तेरी लालसा विहार करने की है, तो तू ] कुंजविहारी से

१. लखि पिय ( ३ )। २. होउ ( ४ )।

विहार कर [ क्योंकि और विहारों से चित्त को अंत में उपराम हो जाता है, पर उनके नित्य नए विहार चित्त को सदैव उत्साहमय तथा आनंदित बनाए रखते हैं ], [ और यदि तेरी अभिलाषा किसी को हृदय में धारण करने की है, तो तू ] गिरधारी को उर में धर, [ क्योंकि वह परम भक्तवत्सल एवं शरणागत का पालन करने वाले हैं । उन्होंने गोवर्द्धन धारण कर के इंद्र के कोप से व्रजवासियों की रक्षा की है ] ॥

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँहु चूम्यौ ढिग जाइ ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ ॥ ६४२ ॥

( अवतरण )—नायिका ने कुछ प्रणय-मान किया था । उसके न मानने पर नायक सोने का बहाना कर के लेट रहा । नायिका ने, उसको सोया समझ कर और यह सोच कर कि मैं मान भी न छोड़ूँ और मुख-चुंबन का सुख भी प्राप्त कर लूँ, पास जा कर, उसका मुँह चूमा । नायक बहाने से तो सोया ही था, बस फिर उसके मुँह चूमने पर, यह सोच कर कि कहाँ तो यह बुलाए नहीं बोलती थी और कहाँ मुँह चूम रही है, हँस पड़ा, जिससे नायिका खिसिया गई । तब नायक ने उसके गले में गलबाहीं डाल दी, और नायिका भी उससे लिपट गई । यही वृत्तांत नायिका अपनी किसी अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ हे सखी ! कल रात को बड़ी विलक्षण क्रीड़ा हुई ] मैंने, [ उस ] 'मिसहा' ( बहाना करने वाले, छली ) को सोया हुआ समझ, पास जा कर [ उसका ] मुँह चूमा । [ मेरे मुँह चूमते ही वह ] हँस पड़ा, [ जिससे मैं ] खिसिया गई ( लज्जित हो गई ), [ क्योंकि कहाँ तो मैं उसके मनाने से नहीं मानी थी, और कहाँ मैंने स्वयं उसके पास जा कर उसका मुँह चूमा । मेरे खिसियाने पर उसने मेरा ] गला पकड़ लिया ( मुझे आश्वासन देने के निमित्त गलबाहीं डाल दी ), [ तब मैं, अपना खिसियानपन मिटाने के निमित्त, उसके ] गले से लिपट रही ॥

नीठि नीठि उठि बैठि हूँ प्यौ प्यारी परभात ।
दोऊ नींद भरैं खरैं, गरैं लागि, गिरि जात ॥ ६४३ ॥

( अवतरण )—रात्रि की रति-क्रीड़ा से श्रमित दंपति के प्रातःकाल जागने के दृश्य का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ आलस्य के कारण ] प्रातःकाल नीठि नीठि ( किसी न किसी प्रकार ) उठ बैठ कर भी प्रियतम [ तथा ] प्रियतमा, दोनों भली भाँति नींद से भरे हुए होने के कारण [ परस्पर ] गले लग कर [ फिर शय्या पर ] गिर जाते हैं ( ढुलक पड़ते हैं ) ॥

१. समझि ( ३, ५ ) । २. जाइ ( २ ) । ३. गले ( ५ ) ।

**तनक झूठ न सवादिली कौनै बात परि जाइ।**
**तिय-मुख रति-आरंभ की नहिँ झूठियै मिठाइ॥ ६४४॥**

सवादिली = स्वादुता, मिठास॥

( अवतरण )—नायक अपने अंतरंग सखा अथवा मन से कहता है कि संसार में झूठ से बात का स्वाद जाता रहता है, पर रत्यारंभ में स्त्री के मुख की झूठी ही 'नहीँ नहीँ' मीठी लगती है—

( अर्थ )—कौन बात ( किस बात ) में किंचिन्मात्र [ भी ] झूठ पड़ जाने से ( मिल जाने से ) [ उसकी ] 'सवादिली' नहीँ जाती रहती ( नष्ट हो जाती ), [ अर्थात् सभी बातें किंचिन्मात्र भी झूठ के मेल से फीकी पड़ जाती हैं, पर ] स्त्री के मुख से रत्यारंभ की झूठी ही 'नहीँ नहीँ' मिठाती है ( स्वादु लगती है )॥

---

**नहिँ अन्हाइ, नहिँ जाइ घर, चितु चिहुँट्यौ तकि तीर।**
**परसि, फुरहरी लै फिरति बिहँसति, धँसति न नीर॥ ६४५॥**

फुरहरी = शीत, भय, आनंद इत्यादि के कारण जो कुछ कंप तथा पुलक सा शरीर में हो जाता है॥

( अवतरण )—नायिका जहाँ स्नान कर रही है, वहाँ नायक भी आ गया है। अतः नायिका, उसे देखने के लालच से शीत का व्याज कर के, नहाने में विलंब करती है, और फुरहरी ले ले कर लौट पड़ती है, जिसमें उसका मुँह तीर की ओर हो, और वह नायक को देख सके। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—न [ तो यह ] नहाती है, [ और ] न घर को जाती है। [ इसका ] चित्त [ नायक से विभूषित ] तीर में [ उसको ] ताक कर 'चिहुँट्यौ' ( चिपका, लगा ) है। [ देख, यह शीत के व्याज से जल को ] स्पर्श कर, फुरहरी ( कंप तथा पुलक ) ले कर ( जान बूझ कर अपने शरीर में उत्पन्न कर के ) हँसती हुई लौट आती है, [ और ] जल में नहीँ धँसती ( पैठती )॥

---

**सटपटाति सैँ ससिमुखी मुख घूँघट-पटु ढाँकि।**
**पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखौं झाँकि॥ ६४६॥**

सैँ—यह शब्द 'सी ही' अथवा 'से ही' का लघु रूप बन गया है। 'सी ही' अथवा 'से ही' से 'सीही' अथवा 'सेही', और 'सीयै' अथवा 'सेयै' से 'स्यै' बना है। 'स्यै' के यकार के लोप तथा अर्द्धचंद्र के आगम से उसी का 'सैँ' रूप हो गया है। काव्य-भाषा में बहुधा निरनुनासिक शब्दों का उच्चारण सानुनासिक किया जाता है॥

( अवतरण )—नायक को खिड़की में से देख कर जिस मनोमोहिनी चेष्टा से नायिका हट गई है, उसका वर्णन नायक उसकी सखी से अथवा स्वगत करता है—

---

१. निसवादिली ( २, ४ ), न सवादली ( ३ ), निसवोदिली ( ५ )। २. क्यौँ न ( ३, ५ )। ३. लौँ ( ३, ५ )। ४. सी ( ४ )। ५. कहँ ( ३ )। ६. औझकौं ( ३ ), औझका ( ५ )।

( अर्थ )—[ वह ] शशिमुखी सटपटाती हुई सी ही ( भय, अभिलाषा तथा संकोच से यह संशय करती हुई सी ही कि झाँकूँ या न झाँकूँ, अर्थात् यद्यपि उसके हृदय में झाँकने के विषय में हिचक थी, तथापि ) [ अपने ] मुख पर घूँघट का पट ढाँप कर, [ और ] पावक की झर ( लपट ) सी झमक कर ( शीघ्रता-पूर्वक लपलपा कर ) झरोखे में से झाँक गई ॥

'सटपटात सैं' पद को सप्तम्यंत 'मुख' शब्द का विशेषण मान कर भी इस दोहे का अर्थ लग सकता है। उस दशा में दोहे के पूर्वार्द्ध का अर्थ यह होगा—वह शशिमुखी सटपटाते से मुख पर घूँघट-पट ढाँप कर ॥

इस दोहे का उत्तरार्द्ध ज्यों का त्यों ४७०-संख्यक दोहे का भी उत्तरार्द्ध है ॥

ज्यौँ कर, त्यौँ चिकुटी चलति; ज्यौँ चिकुटी, त्यौँ नारि।
छबि सौँ गति सी लै चलति चातुर कातन-हारि ॥६४७॥

गति—इस शब्द का अर्थ २९१-संख्यक दोहे की टीका में किया गया है। गति लेना वाक्य-व्यवहार में गति नाचने को कहते हैं ॥

( अवतरण )—नायक नायिका को चरखा कातते देख कर उसकी मोहिनी चेष्टा का वर्णन स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ अहा ! ] जिस प्रकार ( जिस लय से, जिस मंदता अथवा शीघ्रता से ) [ इसका दाहिना ] हाथ [ चरखे के घुमाने में चलता है ], उसी प्रकार [ इसके बाँए हाथ की ] चुटकी [ रुई की पिउनी को सरकाती ] चलती है, [ और ] जिस ढंग से चुटकी [ चलती है ], उसी प्रकार [ उसकी ] नारि ( ग्रीवा ) [ भी चलती अर्थात् हिलती है ]। [ यह ] चतुर कातने वाली [ चरखा क्या कातती है, अपनी इस ] छबि ( सुंदर चेष्टा ) से [ नाचने की ] गति सी ले चलती है ॥

बुधि अनुमान, प्रमान स्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछँम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिँ जाइ ॥६४८॥

अनुमान=तर्क कर के किसी वस्तु का निर्द्धारण करना ॥ प्रमान ( प्रमाण )=वेद, शास्त्र इत्यादि अथवा किसी मनुष्य के वचन को किसी विषय में मान लेना ॥ स्रुति—इस शब्द में श्लेष है ; ब्रह्म-पक्ष में इसका अर्थ वेद है, और कटि-पक्ष में कान अथवा सुनना ॥ पर—इस शब्द को अन्य टीकाकारों ने ब्रह्म के साथ मिला कर 'परब्रह्म' पाठ माना है, इसी से उनके अर्थों में गड़बड़ पड़ती है। वस्तुतः यह शब्द स्वतंत्र है। इसका अर्थ यहाँ जोड़, प्रतिद्वंद्वी अथवा पर्याय है। 'सूछम कटि पर ब्रह्म की' का अर्थ ब्रह्म की प्रतिद्वंद्विनी, अर्थात् ब्रह्म के समान, सूक्ष्म कटि होता है ॥

( अवतरण )—नायक अथवा सखी नायिका से, उसकी प्रसन्नता के लिए, उसकी कटि की सूक्ष्मता की प्रशंसा करती है—

( अर्थ )—[ तेरी ] सूक्ष्म कटि ब्रह्म की पर ( प्रतिद्वंद्विनी ) अलक्ष है, [ वह चर्म-दृष्टि

१. चुटकी ( २ )। २. उनमान ( २, ३, ५ )। ३. कियैं ( २ )। ४. सूछिम ( ३, ५ )। ५. गति ( २ )।

से ] देखी नहीं जाती। [ जिस प्रकार बुद्धि के द्वारा यह तर्क करने पर कि यदि ब्रह्म है नहीं, तो यह संसार कैसे ठहरा हुआ है, और श्रुति में जो ब्रह्म का अस्तित्व बतलाया गया है, उसको प्रमाण मानने से ब्रह्म की सत्ता स्थापित होती है, उसी प्रकार ] बुद्धि के द्वारा [ यह ] अनुमान [ करने से कि यदि कटि है नहीं, तो ऊपर तथा नीचे के धड़ के भाग जुड़े कैसे हैं, तथा ] कान का [ अर्थात् जो लोगों को कहते सुना है कि तेरे भी कटि है, उसका ] प्रमाण करने से ( मानने से ) किसी प्रकार [ तेरी कटि ] ठहरती है ( तेरी कटि की सत्ता सिद्ध होती है ) ॥

खिचैं मान अपराध हूँ चलि गे बढ़ैं अचैन।
जुरत डीठि, तजि रिस खिसी, हँसे दुहुनु के नैन ॥ ६४९ ॥

( अवतरण )—सखी सखी से नायक नायिका के प्रेमाधिक्य का वर्णन करती है—

( अर्थ )—[ नायिका के नेत्र ] मान से [ तथा नायक के नेत्र ] अपराध से खिंचे ( परस्पर देखने से रोके जाते ) हुए होने पर भी, [ परस्पर न देखने के ] अचैन ( बेचैनी ) के बढ़ने से, [ एक के नयन दूसरे की ओर ] चले गए, [ और ] दृष्टि के मिलते [ ही ] दोनों के नयन, 'रिस' ( रोष ) [ तथा ] 'खिसी' ( लज्जा ) [ अर्थात् नायिका के नेत्र रोष एवं नायक के नेत्र लज्जा ] छोड़ कर, हँस पड़े ॥

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
प्यालैं ओठ, प्रिया-बदन रह्यौ लगाएँ नैन ॥ ६५० ॥

आसव = टपकाई हुई मदिरा ॥

( अवतरण )—नायिका का रूप देख कर नायक ऐसा मोहित हो गया है कि उससे मद्य-पान करते नहीं बनता। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ नायक ] सौंदर्य-रूपी सुधा के आसव से [ ऐसा ] छक गया ( आतृप्त पी कर मस्त हो गया ) है [ कि उससे ] आसव ( सामान्य मद्य ) पीते नहीं बनता। [ वह ] प्याले पर ओठ [ एवं ] प्रिया के वदन पर नयन लगाए हुए रह गया है ( स्थगित हो गया है ) ॥

यौं दलमलियतु, निरदई, दई, कुसुम सौ गातु।
करु धरि देखौ, धरधरा उर कौ अजौं न जातु ॥ ६५१ ॥

धरधरा = धड़कन ॥

( अवतरण )—सखी नायिका की सुकुमारता तथा नायक की प्रबलता का वर्णन कर के नायक

१. जुरति, ( २, ५ ) । २. सब कैं ( २ ), सबु जगु ( ४ ) । ३. प्यालौ ( २, ३, ५ ) । ४. निरदई ( ४ ) । ५. अजौं न उर कौ ( २ ) ।

के हृदय मैं उत्साह बढ़ाती है, और "कर धरि देखौ इत्यादि" वाक्य से उसको फिर नायिका के पास चलने पर उद्यत किया चाहती है—

(अर्थ)—हे निर्दयी, [तुमसे] दैव [बचावे], [भला कहीं] कुसुम सा [कोमल] गात इस प्रकार (इस निर्दयता से) दला मला जाता है [कि जैसे तुमने उसके सुकुमार शरीर को दलमल डाला है]। [नैक उसकी छाती पर] हाथ रख कर देखो [तो सही कि उसके] उर का धरधरा अभी तक नहीं जाता (मिटता) है॥

---

कितीं न गोकुल कुलबधू, किहिँ न काहि सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन॥६५२॥

(अवतरण)—सखी नायिका को शिक्षा देती है कि तू उत्तम कुल की वधू है, तुझे वंशी-ध्वनि सुन कर इस प्रकार विकल हो दौड़ पड़ना उचित नहीं है। नायिका उसको उत्तर देती है कि गोकुल मैं कुछ एक मैं ही कुलवधू नहीं हूँ, प्रत्युत अनेकानेक कुलवधुएँ हैं, और तेरी भाँति सबने सब-को शिक्षा भी दी है। पर तू यह तो बतला कि उन शिक्षा देने वालियों तथा पाने वालियों मैं से कौन ऐसी है, जिसने मुरली के स्वर मैं लीन हो कर कुल की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। इस वाक्य से नायिका सखी पर कटाक्ष भी करती है कि तू भी तो अन्य शिक्षा देने वालियों की भाँति कुल-मर्यादा का उल्लंघन कर चुकी है। अतः तुझ पर यह कहावत—"परउपदेस-कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं, ते नर न घनेरे"—चरितार्थ होती है—

(अर्थ)—गोकुल मैं कितनी कुलवधुएँ नहीं हैं (अर्थात् सब कुलवधू ही तो हैं, और तू भी उन्हीं मैं है), [और] किसने किसको शिक्षा नहीं दी (अर्थात् सबने तेरे समेत सबको अपने अपने अवसर पर शिक्षा भी दी), [पर तू यह तो बतला कि] मुरली के स्वर मैं लीन (आसक्त) हो कर किसने (तेरे सहित किस शिक्षा देने अथवा पाने वाली ने) कुल-गली (कुल की रीति) नहीं छोड़ी॥

---

खलित बचन, अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-जोति।
अरुन बदन छबि मदन की खरी छबीली होति॥६५३॥

खलित (स्खलित) = रीते, अर्थशून्य॥ ललित = काँपती हुई अथवा सुंदर॥

(अवतरण)—अन्यसंभोग-दुःखिता नायिका की उक्ति दूती से—

(अर्थ)—अर्थशून्य वचन, अधखुले (रतिश्रम से अलसाए हुए) दृग, पसीने के कण (बूँद) की ललित (काँपती हुई अथवा सुंदर) चमक [एवं] अरुण वदन से [तुझ पर] मदन की छवि (काम-क्रीड़ा से उपजी हुई शोभा) बड़ी छबीली (सुंदर) हो रही है॥

यह दोहा खंडिता नायिका का वचन नायक-प्रति अथवा सखी-वचन लक्षिता-प्रति भी हो सकता है॥

---

१. काहि (२, ४)। २. को (२), किहिं (४)। ३. मद-छकी (४)।

**बहकि न इहिँ बहिनापुली, जब तब, बीर, बिनासु ।**
**बचै न बड़ी सबील हूँ चील-घोँसुवा माँसु ॥ ६५४ ॥**

सबील—यह शब्द अरबी भाषा का है। इसका अर्थ रीति, पंथ इत्यादि है। यहाँ इसका अर्थ उपाय समझना चाहिए॥

( अवतरण )—नायिका की चतुर पड़ोसिन ने उससे बहनापा जोड़ लिया है, और इस नाते से नायक को अपने घर बुलाती है। नायिका की चतुर सखी उसको सचेत करने के निमित्त कहती है—

( अर्थ )—[ तू ] इस बहनापे से बहक मत, हे बीर ! [ इसमें ] जब तब ( कभी न कभी ) विनाश ( तेरे हित का नाश ) [ भरा ] है, [ क्योंकि ] बड़ी सबील ( उपाय ) से भी चील के घोंसले में मांस नहीँ बचता ॥

---

**लहि रति-सुखु लगियै हियैँ लखी लजौँहीँ नीठि ।**
**खुलति न, मो मन बँधि रही वहै अधखुली डीठि ॥ ६५५ ॥**

( अवतरण )—नायिका की रत्यंत-समय की मोहिनी चेष्टा का स्मरण कर के नायक उसकी सखी से कहता हुआ फिर मिलने की अभिलाषा व्यंजित करता है—

( अर्थ )—[ उसने ] रति-सुख ले कर [ मेरे ] हृदय में लगी ही हुई [ जो मुझे ] लजौंहीं [ रीति से ] नीठि ( किसी न किसी प्रकार; अर्थात् यद्यपि लज्जा से उसकी आँखें सामने नहीँ होती थीं, तथापि उनको बरबस कुछ सामने कर के ) देखा, [ सो उसकी ] वही अधखुली दृष्टि मेरे मन में [ ऐसी ] बँध रही है ( मन को ऐसा जकड़े हुए है ) [ कि ] खुलती नहीँ ( मन को अवकाश नहीँ मिलने देती ) ॥

---

**कियौ सयानी सखिनु सौँ, नहिँ सयानु यह, भूल ।**
**दुरै दुराई फूल लौँ क्यौँ पिय-आगम-फूल ॥ ६५६ ॥**

( अवतरण )—परकीया आगतपतिका नायिका ने अपने मित्र का आगमन सखियों से छिपा रक्खा है। पर उसकी प्रफुल्लता से लक्षित कर के कोई सखी कहती है—

( अर्थ )—[ तूने ] सयानी ( चतुर ) सखियों से [ जो सयान अर्थात् मित्र का आगमन छिपाने का चातुर्य ] किया, यह सयान नहीँ, भूल है। [ भला ] प्रीतम के आगमन की प्रफुल्लता [ सुगंधित ] फूल की भाँति छिपाई ( छिपाने से ) कैसे छिप सकती है ॥

---

**आयौ मीतु बिदेस तैँ काहू कह्यौ पुकारि ।**
**सुनि हुलसीँ, बिहँसीँ, हँसीँ दोऊ दुहुनु निहारि ॥ ६५७ ॥**

---

१. निबहि इहि नपु अली ( ३ ), नबहि इहि नपु अली ( ५ ) । २. दिन ( ३, ५ ) । ३. मित्र ( २ ) । ४. कहति ( ३ ), करत ( ५ ) । ५. बिघसी ( २ ) ।

**बिहँसीं** = विशेष रूप से हँसीं, अर्थात् इस रीति से हँसीं कि जैसे कोई कुछ छिपी हुई बात को समझ कर हँसता है ॥ **हँसीं** = प्रसन्नता-पूर्वक हँसीं ॥

( अवतरण )—दो परकीया नायिकाएँ एक ही नायक से अनुरक्त हैं, और दोनों में मैत्री भी है। पर दोनों को एक दूसरे के अनुराग का वृत्तांत निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। नायक विदेश गया हुआ था, जिससे दोनों दुखी रहती थीं, अतः दोनों को एक दूसरे पर उसी के विरह में दुःखित होने का संदेह था। एक दिन दोनों साथ ही बैठी हुई थीं कि इतने में किसी ने इनके मित्र का नाम ले कर किसी से पुकार कर कहा कि अमुक व्यक्ति आ गए। यह सुन कर दोनों हुलस उठीं, जिससे वे, एक दूसरे का प्रेम लक्षित कर के, अपना लक्षित कर लेना व्यंजित करती हुई, मुसकिराईं, और फिर आपस में समझ बूझ कर प्रसन्नता से हँसीं। यही वृत्तांत कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—किसी ने [ किसी अन्य से ] पुकार कर [ इनके ] मित्र को विदेश से आया हुआ कहा ( इनके मित्र का नाम ले कर कहा कि अमुक व्यक्ति विदेश से आ गया )। [ यह ] सुन कर [ दोनों ] हुलसीं ( उल्लासित हुईं ), [ जिससे दोनों ने एक दूसरे का अनुराग लक्षित कर लिया, और ] विहँसीं ( अपना लक्षित कर लेना व्यंजित करती हुई हँसीं ), [ और फिर ] दोनों दोनों को देख कर ( दोनों दोनों की चेष्टा से आपस में समझ बूझ कर ) [ प्रसन्नता-पूर्वक ] हँस दीं ॥

---

**जद्यपि सुंदर, सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह।**
**तऊ प्रकासु करै तितौ, भरियै जितैं सनेह ॥ ६५८ ॥**

( अवतरण )—मानिनी नायिका को सखी समझाती है कि नायक से स्नेह करने ही में तेरी शोभा है—

( अर्थ )—दीपक-रूपी देह यद्यपि सुंदर, सुघड़ ( अच्छी गढ़न वाली ) [ और ] फिर 'सगुन' ( १. बत्ती-सहित। २. शुभगुण-संपन्न ) भी हो; तथापि [ उसमें इन सब बातों से प्रकाश नहीं हो सकता, वह ] प्रकाश उतना ही करती है ( १. उतना ही उजाला उसमें होता है। २. उतनी ही शोभा उसमें होती है ), जितने स्नेह ( १. तेल। २. प्रेम ) से [ उसको ] भरा जाता है ॥

---

**पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिँ कपोल ठहरात।**
**अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात ॥ ६५९ ॥**

( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है—

( अर्थ )—[ उस नायिका के हृदय में विरह-ताप ऐसा बढ़ा हुआ है कि उसके ] आँसू [ उबल कर ] पलकों में प्रकट हो, बरुनियों से बढ़ कर [ अधिकता के कारण ] कपोल पर नहीं ठहरते, [ और ] छाती पर पड़ कर, क्षण मात्र छनछना कर ( छन छन शब्द, अर्थात् ऐसा शब्द जैसा तप्त तवे पर पानी की बूँदों के पड़ने से होता है, कर के ) छिप जाते हैं ( अलक्ष हो जाते हैं ) ॥

इस दोहे मैं कवि किसी पात्र मैं उबाले जाते हुए जल की व्यवस्था दृष्टि मैं रख कर नायिका के बहते हुए आँसुआँ का वर्णन करता है। जब जल अग्नि से तप्त हो कर उबलता है, तो वाष्प-स्वरूप हो कर पात्र के ढकने मैं जा लगता है, और फिर उसकी बारी पर से हो कर उसके पेटे पर टपकने लगता है, और यदि अधिक टपकता है, तो पेटे पर न ठहर कर चूल्हे मैं गिर कर छनछनाता हुआ जल जाता है॥

फिरि सुधि-दै, सुधि द्याइ प्यौ; इहिँ निरदई निरास।
नई नई बहुरयौं; दई! दई, उसासि उसास॥ ६६०॥

**निरास**—इस शब्द के यहाँ दो अर्थ लिए गए हैं—(१) निराश, अर्थात् आशा-रहित। इस अर्थ मैं इस शब्द को स्त्रियाँ अब भी कोसने की रीति पर 'निरसिया' रूप से प्रयुक्त करती हैं, और इसी रीति पर इसका प्रयोग इस दोहे मैं हुआ है। (२) नीर-अशन अर्थात् नीर से जीवन-निर्वाह करने वाला, अथवा नीर-आश अर्थात् नीर की आशा, प्रतीक्षा, करने वाला। इन दोनों व्युत्पत्तियों से इसका अर्थ पपीहा ग्रहण किया गया है। पर इन दोनों व्युत्पत्तियों मैं 'नी' की दीर्घ 'ई' को ह्रस्व करना पड़ता है; इस प्रकार का स्वरों का हेर फेर प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिए कोई अनुचित व्यापार नहीं है, विशेषतः छंदों मैं। इन दोनों अर्थों मैं से पहिला अर्थ दूसरे अर्थ, अर्थात् पपीहा, का विशेषण है। ऐसा ही प्रयोग बिहारी ने १० अंक के दोहे मैं भी 'चिहुटिनी' शब्द का किया है॥

(अवतरण)—नायिका अपनी वियोग-व्यथा मैं बेसुध पड़ी हुई थी, जिससे उसको वेदना का अनुभव नहीं होता था, और उसकी उसासैं मंद पड़ गई थीं। इतने ही मैं पपीहा पीउ पीउ बोल उठा, जिसके होरे से वह चैतन्य हो गई, और पीउ पीउ शब्द से उसके हृदय मैं प्रियतम की सुधि जाग उठी, जिससे विरह-व्यथा फिर व्याप्त हो गई, और उसासैं उभर आईं। उसकी यही दशा कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

(अर्थ)—[यह बेचारी वियोगिनी तो अपने दुःख से बेसुध पड़ी हुई थी, पर] इस निर्दयी 'निरास' (अभागे पपीहा) ने [पीउ पीउ बोल कर अपने होरे से उसको] फिर से सुधि (चैतन्यता) दे कर, [और पीउ पीउ शब्द से] प्रियतम की सुधि (स्मृति) दिला कर, हे दैव! नई हुई (नमित, मंद पड़ी हुई) उसास 'बहुर्यौं' (फिर भी) नई (नूतन, नए सिरे से) उसास दी (उभार दी)॥

समै-पलट[1] पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ इहिँ कपूत कलिकाल॥ ६६१॥

**कपूत**—भाषा मैं 'कपूत' शब्द 'कुपुत्र' के अर्थ मैं प्रयुक्त होता है। पर इस दोहे मैं यह शब्द 'कुपुत्र' का अपभ्रंश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'कलिकाल' के निमित्त कुपुत्र विशेषण कुछ विशेष चिपकता हुआ नहीं है। अतः इसके दो अर्थ यहाँ हो सकते हैं—एक तो वह जो लाला भगवानदीनजी ने किया है, अर्थात् 'कु-पूत' (बुरे प्रकार से पवित्र, अर्थात् अपवित्र) और दूसरा दुष्प्रकृति। 'प्रकृति' शब्द का

१. पलटि (२, ३)।

प्राकृत रूप 'पउति' होता है, जिसके अपभ्रंश 'पोत' शब्द का प्रयोग बिहारी ने ४६१-संख्यक दोहे में किया है। उसी 'पउति' का 'पूत' भी अपभ्रंश माना जा सकता है॥

( अवतरण )—ईश्वर को अपने ऊपर करुणा न करने का उलाहना देते हुए कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि समय के फेर से सबके स्वभाव बदल जाते हैं—

( अर्थ )—समय की पलट ( फेर ) से [ सबकी ] प्रकृति ( स्वभाव ) पलट ( बदल ) जाती है, [ और ऐसा ] कौन [ है, जो ] अपनी चाल नहीं तज देता। [ देखो, ] इस दुष्प्रकृति कलिकाल में करुणाकर ( करुणा का आकर, अर्थात् परम दयालु ईश्वर ) भी अकरुण ( दयाहीन ) हो गया है [ अतः हम लोगों की पुकार नहीं सुनता, जैसा कि और युगों में सुना करता था ]॥

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै, कै अलसौंहीं देह॥ ६६२॥

( अवतरण )—नायिका, अपनी किसी सपत्नी की आँखों को उनींदी सी एवं देह को अलसाई हुई सी देख अथवा सुन कर, इस अनुमान से दुखित हुई है कि नायक उसको अधिक प्यार करता है, और रात को उसी के यहाँ रहा है। उसे दुखित देख कर उसकी हितकारिणी सखी समझाती है कि तेरी सपत्नियाँ बड़ी धूर्त हैं; इन सबने अपनी आँखों को उनींदी सी एवं देह को आलस्य-भरी सी बना बना कर अपने प्रियतम की प्यारी होने की मिथ्या धूम मचा रक्खी है, जिसमें तू यह सुन सुन कर कुढ़े, और नित्य मान-कलह करे, तो फिर प्रियतम का चित्त शनैः शनैः तुझसे फिर जाय, और उनकी बन पड़े, इत्यादि। सो तू इन धूर्ताओं के धोखे में आ कर वृथा दुखित मत हो। इस दुःख में तेरा अनहित है। सच्ची बात और उनका गुप्त अभिप्राय भली भाँति समझ कर तू इस दुःख का परित्याग कर। भला तू यह तो समझ कि यदि तेरी किसी एक सौत की ऐसी चेष्टा होती, तो किसी प्रकार तेरा अनुमान ठीक भी हो सकता था, पर जब सभी की आँखें उनींदी सी तथा देह अलसाई हुई सी हो रही है, तो यह कैसे संभव हो सकता है कि प्रियतम सभी के साथ रात भर रहा हो। अतः ये सबकी सब धूर्त तथा मिथ्या चेष्टा बनाए हुए प्रमाणित होती हैं—

( अर्थ )—इन्होंने ( तेरी धूर्त सौतों ने ), बिना प्रियतम के स्नेह ही के [ अपनी ] आँखों को उनींदी सी कर कर के ( बरबस बना बना कर ) [ एवं ] देह को आलस्य-भरी सी कर के ( बना कर ), [ अपने ] सुहाग ( सौभाग्य, अपने ऊपर प्रियतम के स्नेह होने के सौभाग्य ) का 'सोरु' ( शोर, विख्याति, धूम ) [ गाँव भर में ] डाल रक्खा है ( मचा रक्खा है ) [ अतः तू इनकी धूर्तता से सचेत रह, और वृथा दुखित हो कर इनको अपनी कुटिल नीति से कृतकार्य न होने दे ]॥

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखैं बनैं न देखतैं, अनदेखैं अकुलाँहि॥ ६६३॥

१. सोहाग ( ३ )। २. इनदोंहीं ( ३, ५ )। ३. अँखियाँ ( २ )। ४. दुखियाँनि ( २ )। ५. देखत ( २ )। ६. देखतैं ( २, ३ )।

( अवतरण )—नायिका की उक्ति अंतरंगिनी सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, मैं क्या करूँ, मेरी ] इन दुःखिनी आँखों के लिए सुख सिरजा ही ( बनाया ही ) नहीं गया है ; [ इन बेचारियों से ] 'देखैं' ( देखने पर, अर्थात् नायक के दृष्टिगोचर होने पर ) [ लज्जावश ] देखते ही नहीं बनता, [ और ] 'अनदेखैं' ( न देखने से, अर्थात् नायक के दृष्टिगोचर न होने पर ) [ ये देखने की लालसा से ] व्याकुल होती हैं ॥

लगी अनलगी सी जु बिधि करी खरी कटि खीन ।
किए मनौ वैं[1] हीं कसरें[2] कुच, नितंब अति पीन ॥ ६६४ ॥

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की कटि की क्षीणता तथा कुचों और नितंबों की पीनता की प्रशंसा करती है कि जितनी उसकी कटि क्षीण है, उतने ही उसके कुच तथा नितंब पीन हैं, अर्थात् उसकी कटि की क्षीणता तथा कुचों और नितंबों की पीनता यथायोग्य बनाई गई हैं—

( अर्थ )—[ उसकी ] कटि जो विधि ( ब्रह्मा ) ने लगी अनलगी सी ( उसके शरीर में लगी हुई अर्थात् विद्यमान है अथवा नहीं लगी हुई अर्थात् अविद्यमान है, इस बात में संदेह उपजाती हुई सी ) खरी ( अति ) क्षीण ( पतली ) बनाई, [ सो ] मानो उन्हीं कसरों ( कमियों, कटि में जो सामग्री कम लगी, उन्हीं बचतों ) से कुच [ और ] नितंब अति पीन ( बड़े ) किए ( बनाए ) ॥

छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ ।
सबु दिनु पिय-खंडित अधर दरपन[3] देखैंत[4] जाइ ॥ ६६५ ॥

( अवतरण )—रात्रि को चुंबन-समय नायिका के अधर पर नायक का दंतक्षत लग गया है। नायिका प्रेम तथा गर्व के कारण उस क्षत लगे हुए अधर को दर्पण देख देख कर कभी तो खोलती है, कभी छूती है, और कभी छिपा लेती है। देखने तथा छूने से उसके दो अभिप्राय हैं—प्रथम तो प्रियतम के चिह्न को देख तथा स्पर्श कर के मुदित होना, और दूसरे सखियों तथा सपत्नियों का ध्यान उस ओर आकर्षित करना, जिसमें कि वे जानें कि प्रियतम रात को इसके साथ रहा है। छिपा लेने से वह अपनी लज्जा व्यंजित करती है, जिससे देखने वालियों को यह निश्चित हो जाय कि उसके अधर पर यह क्षत प्रियतम के दाँतों ही का है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो इसको इसे छिपाने की कोई आवश्यकता न थी। सखी-वचन सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, यह तो प्रियतम के प्रेम में ऐसी मग्न और इतराई हुई है कि इसका ] सारा दिन प्रियतम-द्वारा खंडित ( काटे हुए ) अधर ( नीचे के ओठ ) को दर्पण में देखते हुए [ बीत ] जाता है। [ यह दर्पण देख देख कर ] क्षण भर [ तो उसको ] खोलती है, क्षण भर छूती है, [ और फिर ] क्षण भर छिपा रखती है [ बस, इन्हीं कामों में लगी रहती है ] ॥

१. यैं ( २ ), नैं ( ३ ), वे ( ४, ५ ) । २. कसरि ( २ ) । ३. दर्पन ( २ ) । ४. देखति ( ३, ५ ) ।

मुँहु पखारि, मुड़हरु[1] भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूँटेनु तैं नारि सरोवर न्हाइ ॥ ६६६ ॥

( अवतरण )—नायिका के स्नान करते समय की चेष्टा नायक अपने किसी अंतरंग सखा को दिखलाता हुआ कहता है—

( अर्थ )—[ देखो, वह ] नारी मुँह धो कर, मुड़हर ( साड़ी अथवा ओढ़नी का वह भाग, जो सिर पर रहता है ) भिगो कर, सिर पर सजल ( जल-समेत ) हाथों को छुआ कर [ और ] 'मौरु' ( मौलि, मस्तक ) ऊँचा कर के [ कैसी शोभा से ] घुटनों से ( घुटनों के बल स्थित हो कर ) सरोवर में नहाती है ॥

—⁂—

कोरि जतन कोऊ करौ[2], तन की तपनि[3] न जाइ।
जौ लौं भीजे चीर लौं रहै न प्यौ[4] लपटाइ ॥ ६६७ ॥

( अवतरण )—विरह से उत्तप्त प्रौढ़ा नायिका का वचन, सखी से—

( अर्थ )—[ हे सखी, ] कोई करोड़ यत्न किया करो, [ पर मेरे ] शरीर की [ काम-जनित ] तपन [ तब तक ] जाने वाली नहीं, जब तक भीगे हुए वस्त्र की भाँति प्रियतम [ मुझसे ] लिपट नहीं रहता ( रहेगा ) ॥

भीगा हुआ वस्त्र शरीर में ऐसा लिपट जाता है कि उसमें और शरीर में भेद नहीं रह जाता, और ऐसा वस्त्र शरीर में लपेट लेने से ठंढक भी पड़ती है। अतः नायिका यह उपमा दोनों अभिप्रायों से देती है, अर्थात् हृदय को शीतल करने वाला प्रियतम इस प्रकार न लिपट जाय, जैसे गीला कपड़ा ठंढक पहुँचाता हुआ शरीर में एकमएक हो कर लिपट जाता है ॥

—⁂—

चटक न छाँड़तु[5] घटत हूँ सज्जन-नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न, बरु फटै, रँग्यौ चोल-रँग चीरु ॥ ६६८ ॥

चोल-रँग—चोल एक प्रकार की लकड़ी होती है, जिसे औटा कर लाल रंग निकाला जाता है। इस रंग में कुछ लाख का रस तथा तेल इत्यादि मिला कर पक्का रंग बनाया जाता है, जिसको चोल का रंग कहते हैं। इसी रंग से खारुआ इत्यादि रँगे जाते हैं। इस रंग में तेल का भी मेल होता है, इसी लिए कवि ने प्रेम, अनुराग इत्यादि न कह कर 'नेहु', ( १. अनुराग। २. तेल ) शब्द रक्खा है ॥

( अवतरण )—कवि की प्रास्ताविक उक्ति है—

( अर्थ )—सज्जन का गंभीर ( गहरा, पक्का ) स्नेह ( १. प्रेम। २. तेल ) [ स्नेह-पात्र मित्र के ] घटते हुए भी ( हीन अवस्था को प्राप्त होते हुए भी, अर्थात् निर्धन, निर्बल होते हुए भी ) [ अपनी ] चटक ( प्रेम के रंग की उत्कर्षता ) नहीं छोड़ता ( अर्थात् मित्र की हीन दशा में भी सज्जन का प्रेम उस पर वैसा ही चटक रंग का रहता है ), [ जैसे ] चोल

१. मुँहतरु ( ३, ५ )। २. मन ( २ )। ३. तपति ( २, ३ )। ४. पिउ ( २ )। ५. छोड़तु ( २, ४ )।

के रंग से रँगा हुआ कपड़ा फीका नहीं पड़ता ( उसके ऊपर के स्निग्ध रंग की चटक नहीं जाती ), चाहे फट [ भले ही ] जाय ॥

दुसह बिरह दारुन दसा, रहै न और उपाइ।
जात जात ज्यौं राखियतु प्यौ कौ नाउँ सुनाइ ॥ ६६९ ॥

( अवतरण )—नायिका की व्याधि दशा का वर्णन सखी सखी से करती है—

( अर्थ )—[ अब उसके ] कठिनता से सहे जाने के योग्य विरह की [ बड़ी ] दारुण ( भयानक ) अवस्था है ( हो रही है )। [ उसका प्राण शरीर में ] और [ किसी ] उपाय से नहीं रहता [ दिखाई देता ]। [ अब तो उसका ] जाता जाता जीव प्रियतम का नाम सुना कर ( प्रियतम का नाम पुकार कर, जिसमें कि वह जाने कि प्रियतम आ गए हैं ) रक्खा जाता है ( जाने से रोका जाता है ) ॥

फिरि फिरि दौरत देखियत, निचले नैंक रहैं न।
ए कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन ॥ ६७० ॥

कजरारे = काजल के रंग से रँगे हुए। यह विशेषण कवि ने यहाँ इसलिए प्रयुक्त किया है कि क़ज़्ज़ाक़ों के वस्त्र बहुधा काले रंग के हुआ करते हैं ॥ कजाकी ( क़ज़्ज़ाक़ी )—क़ज़्ज़ाक़ तुर्की भाषा में डाकू को कहते हैं। क़ज़्ज़ाक़ी का अर्थ डाकूपना, अर्थात् डाकुओं का सा धावा, हुआ ॥

( अवतरण )—परकीया नायिका अपनी अटारी अथवा खिड़की पर बैठी हुई अपने उपपति को देखने की अभिलाषा से चारों ओर चंचल नयन चला रही है। सखी यद्यपि जानती है कि उसके नयन इसी कारण चंचल हैं, तथापि परिहास करती हुई उसके नयनों को डाकू बना कर कहती है—

( अर्थ )—[ तेरे नयन ] पुनः पुनः दौड़ते देखे जाते हैं, [ और ] तनिक भी 'निचले' ( निश्चल ) नहीं रहते। [ सो ] ये कजरारे ( काजल से रँगे हुए ) नयन [ अब ] किस पर 'कजाकी' ( डाकुओं का सा धावा ) कर रहे हैं [ उस नायक बेचारे का मन तो पहिले ही लूट चुके हैं ] ॥

को छूट्यौ इहिं जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥ ६७१ ॥

( अवतरण )—जो मनुष्य ऐसे फँसाव में पड़ा हो कि उसमें से निकलना तो असंभव हो, पर उसमें से निकलने के निमित्त वह हाथ पाँव मारता और घबराता हो, उसको ढाढ़स देने के लिए कोई यह अन्योक्ति हरिण पर रख कर कहता है, अथवा अपने मन को धैर्य देने के निमित्त कोई स्वगत कहता है—

---

१. राखिये ( २ )। २. पिय ( २, ४ )। ३. देखिये ( २ )। ४. अकुलाइ ( २, ४ )। ५. चहै ( २ )। ६. अरुझतु ( २ )। ७. जाइ ( २, ४ )।

(अर्थ)—इस जाल (फँसावड़े) में पड़ कर कौन छूटा है ; हे कुरंग (१. हिरण। २. बुरे रंग वाले, बुरी रुचि वाले), [तू] क्यों [वृथा] अकुलाता (छटपटाता) है। [देख,] ज्यों ज्यों [तू] सुलझ कर (फँसावड़े से निकल कर) भागा चाहता है, त्यों त्यों [और भी अधिक] उलझता जाता है (फँसता जाता है)॥

अब तजि नाउँ उपाव कौ, आए पावँस-मास।
खेलु न रहिबौ खेम सौं केम-कुसुम की बास॥ ६७२॥

(अवतरण)—प्रोषितपतिका नायिका का वचन सखी से—

(अर्थ)—[अब तक तो तूने अनेक उपायों से मेरे प्राणों की रक्षा की। पर] अब उपाय का नाम [भी] तज दे, [क्योंकि अब] पावस (वर्षा ऋतु) के महीने आ गए। [अब] 'केम' (कदंब) के फूलों की बास (सुगंधि) से (कदंब के फूलों की सुगंधि के मारे) 'खेम' (क्षेम, कुशल) से रहना खेल नहीं है॥

हमारी तीन प्राचीन पुस्तकों में 'आयौ पावस-मास' पाठ है, और २-संख्यक पुस्तक में 'आयौ सावन मास' है। पर 'आयौ' क्रिया एकवचन है, और 'पावस-मास' पद बहुवचन-वाची। 'पावस' एक ऋतु का नाम है, जिसमें दो महीने, अर्थात् सावन और भादौं, होते हैं, अतः 'पावस-मास' पद को बहुवचन ही गिनना समीचीन है। प्रतीत होता है कि इसी विचार से २-संख्यक पुस्तक में 'पावस' के स्थान पर 'सावन' पाठ कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त बिहारी ने जिस परिपाटी का निर्वाह सतसैया भर में किया है, उसके अनुसार 'पावस-मास' पद यदि एकवचन माना जाय, तो उसको उकारांत होना चाहिए। पर इस दोहे में 'पावस-मास' पद उकारांत हो नहीं सकता, क्योंकि इसका तुकांत 'बास' आया है, जो कि स्त्रीलिंगवत् प्रयुक्त हुआ है, तथा करणकारक-रूप से आया है, अतः उकारांत नहीं है। बिहारी ने अकारांत एकवचन शब्द के कर्ता तथा कर्मकारकों के रूपों के उकारांत लिखने की परिपाटी अपनी सतसैया भर में निबाही है, अतः इस एक दोहे में उसका भंग होना केवल लेखक का प्रमाद मात्र मानना समुचित है। इसी विचार से, इस संस्करण में 'आयौ' के स्थान पर 'आए' पाठ रक्खा गया है, और प्राचीन ग्रंथों के पाठ पाद-टिप्पणी के द्वारा प्रकाशित कर दिए गए हैं॥

लसै मुरासा तिय-स्रवन यौं मुकतनु दुति पाइ।
मानहु परस कपोल कैं रहे स्वेद-कन छाइ॥६७३॥

मुरासा=जड़ाऊ कर्ण-भूषण विशेष। यह शब्द किसी प्रकार 'मुद्रा' शब्द से बना प्रतीत होता है। एक इसी प्रकार के छोटे कर्ण-भूषण को मुरकी भी कहते हैं। हरिचरणदास ने 'मुरासा' शब्द को कदाचित् अरबी शब्द मुरस्सा का विकृत रूप मान कर उसका अर्थ जड़ाऊ किया है, और इस दोहे में न्यूनपद दूषण बतलाया है। पर यह उनका भ्रम मात्र है, क्योंकि यदि यह शब्द 'मुरस्सा' शब्द का रूपांतर हो भी, तो भी उसके प्रयोग

१. भाजि (३, ५)। २. उपाय (३), उपाइ (४, ५)। ३. आयौ (२, ३, ४, ५)। ४. सावन (२)। ५. कमल (३, ५)। ६. लसे (४, ५)। ७. मरासौं (४)। ८. मुकता (२)।

में न्यूनपद दूषण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लक्षणा शक्ति से यह एक जड़ाऊ कर्ण-भूषण विशेष का नाम पड़ गया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि यह दोहा बिहारी का नहीं है, पर इस कथन का कोई प्रमाण नहीं बतलाया है। यह दोहा हमारी चार प्राचीन पुस्तकों में विद्यमान है, जिनमें एक सन् १७७२ की लिखी हुई है, अतः हमारी समझ में यह दोहा मिलाया हुआ नहीं प्रतीत होता। अनवरचंद्रिका में 'मुरासा' के स्थान पर पाठ ही 'मुरस्वा' पाया जाता है, और प्रभुदयालु पाँडेजी ने भी 'मुरासा' का अर्थ 'मुरस्वा' ही माना है॥

( अवतरण )—सखी नायक से मुरासे की शोभा का वर्णन कर के नायिका के कपोलों का सौंदर्य तथा सुख-स्पर्श व्यंजित करती है—

( अर्थ )—[ उस ] स्त्री के कान में मुरासा ( जड़ाऊ कर्ण-भूषण विशेष ) मोतियों से द्युति ( झलक, चमक ) पा कर यों ( इस प्रकार ) लसता ( सुशोभित होता ) है, मानो [ सुंदर तथा सुख-स्पर्श ] कपोल के स्पर्श से [ उस पर, सात्त्विक होने के कारण, ] स्वेद-कण ( बिंदु ) छा रहे हैं ( आच्छादित हो रहे हैं )॥

—⊱⊰—

मिलि परछाँहीँ जोन्ह सौँ रहे दुहुनु के गात।
हरि राधा इक संग हीँ चले गली महिँ जात॥ ६७४॥

( अवतरण )—गलियों में कहीं परछाहीं होती है, और कहीं चाँदनी। सखी सखी से श्रीकृष्णचंद्र तथा श्रीराधिकाजी के शरीर की श्यामता तथा गौरता की प्रशंसा करती हुई कहती है कि हरि तथा राधा गली में एक साथ ही चले जा रहे हैं, पर किसी को यह लक्षित नहीं होता कि दोनों साथ हैं; क्योंकि जहाँ परछाहीं होती है, वहाँ श्रीकृष्णचंद्र का शरीर उसमें मिल जाता है; अतः जो वहाँ उनको देखता है, वह केवल राधिकाजी ही को देख पाता है, और जहाँ चाँदनी होती है, वहाँ श्रीराधिकाजी का शरीर उसमें मिल जाता है, अतः जो उनको वहाँ देखता है, वह केवल श्रीकृष्णचंद्र ही को देख पाता है—

( अर्थ )—[ हे सखी, यह बड़ी विलक्षण बात है कि ] हरि [ तथा ] राधा एक साथ ही गली में चले जा रहे हैं, [ पर देखने वालों को एक ही एक दिखाई देते हैं; क्योंकि ] दोनों के गात्र ( शरीर ) परछाहीं [ और ] चाँदनी से ( में ) मिल रहे हैं ( मिलते जाते हैं )॥

—⊱⊰—

बिधि, बिधि कौन[1] करै[2]; टरै नहीँ परैँ[3] हूँ पानु[4]।
चितै, कितै तैँ[5] लै धर्‌यौ इतौ[6] इतैँ[7] तनु[8] मानु[9]॥ ६७५॥

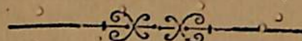
( अवतरण )—सखी का वचन मानिनी नायिका से—

१. मैं ( २ )। २. मैं ( २ )। ३. कौनि ( २, ४ )। ४. करे टरे ( ४, ५ )। ५. परे ( ३, ४, ५ )। ६. पान ( २, ३, ५ )। ७. चितैँ कितैँ ( ३ ), चित्र कैते ते ( ५ )। ८. इतैँ ( ३ ), इते ( ४, ५ )। ९. इते ( २, ४, ५ )। १०. तनु ( ३, ५ )। ११. मान ( २, ३, ५ )।

(अर्थ)—[ तेरा मान ऐसा गुरु है कि नायक के ] पाँव पड़ने से भी नहीं टलता। हे दैव ! [ अब कोई ] कौन विधि ( रीति, यत्न, उपाय ) करे। [ नैंक तू इधर तो ] देख, तूने इतना ( अधिक अथवा बड़ा ) मान इतने [ छोटे ] तन में 'कितै' ( कहाँ ) ले धरा है ( समा लिया है ) ॥

'चितै' शब्द से सखी नायिका को अपनी ओर दिखला कर हाथ से मान के प्रमाण का आधिक्य तथा उसके तन की सूक्ष्मता बतलाती है ॥

इस दोहे के अर्थ में प्रायः सभी टीकाकारों ने बड़ी गड़बड़ की है ॥



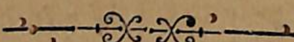
**मोरचंद्रिका, स्याम-सिर चढ़ि[1] कत करति[2] गुमानु।**
**लखिबी[3] पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु ॥ ६७६ ॥**

चंद्रिका—इस शब्द के विषय में ४१९-संख्यक दोहे की टीका द्रष्टव्य है ॥

( अवतरण )—सखी श्रीकृष्णचंद्र को स्वच्छंद वन-विहार में निरत देख कर मोरचंद्रिका से यह दोहा कहती हुई श्रीराधिकाजी के मान की धमकी दे कर उनको उनके पास ले जाना चाहती है। 'सुनियतु' शब्द से व्यंजित होता है कि उसका यह धमकी देना उसकी बनावट मात्र है। उसने अपने झूठे ठहरने के बचाव के निमित्त पहिले ही से कह दिया है कि राधिकाजी का मान सुना जाता है, जिसमें नायक वहाँ जाने पर उनको मान में न देख कर उसको झूठी न ठहरा सके—

( अर्थ )—हे मोरचंद्रिका, [ तू ] श्याम के सिर चढ़ कर ( १. सिर पर स्थापित हो कर। २. श्रीकृष्णचंद्र-द्वारा सम्मानित हो कर ), क्यों 'गुमानु' ( अभिमान, घमंड ) करती है। [ तू शीघ्र ही ] पाँवों पर लुटकती देखी जायगी, [ क्योंकि ] राधिकाजी का मान सुना जाता है ॥

यह दोहा मोरचंद्रिका पर अन्योक्ति भी हो सकता है। जहाँ कोई किसी राजा के सन्मान पर गर्व करे, वहाँ इस अभिप्राय से यह कहा जा सकता है कि तू इस राजा के सन्मान पर क्या गर्व करता है, इस राजा से भी बड़े बड़े राजे संसार में हैं, जिन्हें प्रसन्न करने के निमित्त यह राजा स्वयं उनके पाँव पड़ता है ॥



**चिरजीवौ जोरी, जुरै[4] क्यौँ न सनेह गँभीर।**
**को घटि[5], ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥ ६७७ ॥**

( अवतरण १ )—इधर तो श्रीराधिकाजी को मान करने की प्रकृति है, और उधर श्रीकृष्णचंद्र की अपराध करने की कुबान नहीं छूटती। एक दिन श्रीराधिकाजी के मान कर के न मानने पर श्रीकृष्णचंद्र भी माप मान कर अलग बैठ गए, और राधिकाजी इधर अलग भौंहैं चढ़ाए बैठी रहीं। इन्हें हँसाने तथा समझाने के निमित्त कोई सखी किसी अन्य सखी से, उन दोनों को सुना कर, बड़ी चातुरी से, यह द्व्यर्थात्मक श्लिष्ट वाक्य कहती है। उसके वाक्य का पहला अर्थ यह होता है—

१. चढ़िए ( ४ ) । २. धरति ( ३, ५ ) । ३. लखबी ( २ ) । ४. जुरैं ( ३, ५ ) । ५. क्यौं घटि ( ५ ) ।

(अर्थ १)—[यह] जोड़ी चिरजीवी हो। [वह] गहरे स्नेह से क्यों न जुड़े, [क्योंकि इन दोनों में से] घट कर कौन है (अर्थात् दोनों ही बराबर श्रेष्ठ हैं)। यह [तो] वृषभानुजी [ऐसे महापुरुष] की बेटी हैं, [और] वह हलधर (बलदेवजी) [ऐसे प्रभावशाली पुरुष] के भाई॥

इस अर्थ से सखी दोनों की शिष्टजनोचित प्रशंसा करती हुई कहती है कि ये दोनों ही परम श्रेष्ठ हैं। अतः ये यद्यपि क्षण मात्र के निमित्त परस्पर रुष्ट हो गए हैं, तो क्या हुआ—इनमें गंभीर प्रेम शीघ्र ही जुड़ जायगा, जैसा कि उत्तम पुरुषों में होता है। इस कथन से वह दोनों को बढ़ावा दे कर उनका मान तथा माष छुड़ाना चाहती है॥

(अवतरण २)—ऊपर लिखे हुए अर्थ से तो सखी ने प्रशंसा की, पर सखियाँ मुँहलगी तथा ढीठ तो होती ही हैं, अतः वह नीचे लिखे हुए दूसरे अर्थ से, उन दोनों को तप्त तथा उग्र-प्रकृति कह कर यह व्यंजित करती है कि ऐसे नित्य के मान तथा माष से गंभीर स्नेह का जुड़ना असंभव है, अतः एक का इतना शीघ्र शीघ्र मान करना और दूसरे का अपराध करने की कुबान न छोड़ना और उस पर भी माष मानना अनुचित है—

(अर्थ २)—[इन दोनों की] जोड़ी चिरजीवी हो। [यह जोड़ी] गंभीर (चिरस्थायी) स्नेह से क्यों न जुड़े (अर्थात् चिरस्थायी स्नेह से कैसे जुड़ सकती है); [क्योंकि इन दोनों में से] घट कर कौन है (दोनों ही तो एक से उग्र-स्वभाव तथा असहनशील हैं), ये तो वृषभानु (वृष के सूर्य) की बेटी [अतः तद्गुण अर्थात् प्रचंडता तथा प्रदीप्तता से संपन्न] हैं, [और] वे हलधर (अर्थात् शेषनाग के अवतार) के भाई [अतः उनकी उग्रता तथा असहनशीलता से युक्त] हैं॥

(अवतरण ३)—ऊपर लिखे हुए दूसरे अर्थ से दोनों के क्रोध, कुबान तथा असहनशीलता के कारण प्रेम के टूटने की संभावना व्यंजित करती हुई सखी अब तीसरे अर्थ से परिहास कर के उनको ऐसे स्वभाव के कारण पशु कहती हुई व्यंजित करती है कि न तो यह समझाने से अपने रोष की प्रकृति ही छोड़ती हैं, और न वह कहने सुनने तथा डाट डपट से अपने अवगुण ही। फिर भला इनमें सज्जनों जैसा गंभीर स्नेह कैसे जुड़े। इनमें पशुओं का सा क्षणिक प्रेम भले ही हो, पर गंभीर प्रेम का जुड़ना तो असंभव ही है। इस अर्थ से भी सखी परिहास-पूर्वक यह शिक्षा देती है कि दोनों को यदि प्रेम का चिरस्थायी रखना अभीष्ट है, तो अपनी अपनी दुष्प्रकृति छोड़ देनी चाहिए—

(अर्थ ३)—[इन दोनों की] जोड़ी चिरजीवी हो। [यह जोड़ी] गंभीर (चिरस्थायी) स्नेह से क्यों न जुड़े (अर्थात् चिरस्थायी स्नेह से कैसे जुड़ सकती है), [क्योंकि इन दोनों में से] घट कर कौन है (दोनों ही तो एक ही से पशुवृत्ति, हठी हैं, अर्थात् समझाने बुझाने से नहीं मानते)। यह तो वृषभानुजा (वृषभ अर्थात् बैल की अनुजा अर्थात् बहिन) हैं, [और वह] हलधर (बैल) के भाई (अर्थात् दोनों गाय बैल हैं)॥

औरै गति, औरै बचन, भयौ बदन-रँगु औरु।
द्योसक तैं पिय-चित चढ़ी कहैं चढ़ैं हूँ त्यौरु॥ ६७८॥

---

१. चढ़ी है (३), चढ़े हूँ (४)।

(अवतरण)—कुछ दिनों से नायक नायिका से अधिक प्रेम करने लगा है, जिसे छिपाने के लिए नायिका त्योरी चढ़ाए रहती है। पर उसकी आकृति से यह लक्षित कर के सखी कहती है—

(अर्थ)—[तेरी] और ही [प्रकार की] गति (चाल ढाल), और ही [ढंग के] वचन [तथा] और [ही] हुआ (बदला हुआ) वदन (मुख) का रंग, [ये सब] तेरा] तेवर चढ़ने पर भी कहते (प्रकाशित करते) हैं [कि तू] दो एक दिन से प्रियतम के चित्त पर चढ़ रही है (अर्थात् प्रियतम के जी को भा गई है)॥

बेंदी भाल, तँबोल[१] मुँह[२], सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे, राजै खरी, एई[३] सहज सिँगार॥ ६७९॥

(अवतरण)—नायिका स्नान कर के सहज शृंगार से स्थित है। उस समय की उसकी शोभा सखी नायक से कह कर उसको उसके पास लाया चाहती है—

(अर्थ)—भाल पर बेंदी, मुख में तांबूल, सिर पर भीगे हुए बाल [और] आँजे हुए दृग, इन्हीं सहज शृंगारों से [वह इस समय] खरी (पूर्ण रूप से) राजती (सुशोभित) है॥

अंग अंग-प्रतिबिंब परि दरपन[४] सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥ ६८०॥

(अवतरण)—सखी नायिका के शरीर की विलक्षण अमलता की प्रशंसा कर के नायक के हृदय में रुचि तथा उसे देखने का कौतूहल उपजाया चाहती है—

(अर्थ)—[उसके] दर्पण-सदृश सब शरीर में एक अंग का प्रतिबिंब दूसरे अंग में [और फिर उस दूसरे अंग का प्रतिबिंब उस पहिले अंग में, इसी प्रकार अनंत बार बिंब प्रतिबिंब] पड़ कर (पड़ने से) [उसके] भूषण दुहरे, तिहरे, चौहरे (अर्थात् असंख्य) जाने जाते हैं॥

एक दर्पण के सामने दूसरा दर्पण रखने से उन दोनों के मध्य की वस्तु, अपने बिंब, प्रतिबिंब तथा प्रति-प्रतिबिंब इत्यादि का संग्रह उन दर्पणों में होने के कारण, असंख्य दिखाई देती है। यही बात उसके दर्पण से अंगों के मध्यवर्ती भूषणों के विषय में इस दोहे में कही गई है॥

सघनकुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना[५] कैं[६] तीर॥ ६८१॥

(अवतरण)—श्रीकृष्णचंद्र के मथुरा चले जाने पर उनके विरह में कातर कुछ गोपियाँ बैठी, आपस में बातचीत करती हैं। उनमें से कोई कहती है—

---

१. तमोर (२)। २. मुख (२)। ३. साजें (२)। ४. दर्पन (२)। ५. कालिंदी (३, ५)। ६. की (२, ३, ५)।

( अर्थ )—[ हे सखी ! ] श्रीयमुनाजी के उस तीर पर [ जहाँ श्रीकृष्णचंद्र के साथ विविध विहार किए गए थे ] अब भी ( उनके उपस्थित न रहने पर भी ) मन [ उनके स्मरण में निमग्न हो कर ] वही ( जैसा उनकी उपस्थिति में रहता था, वैसा ही ) हो जाता है, [ अतः ] सघन कुंज की छाया [ तथा ] सुरभि-समीर [ जो विरह में दुःखद तथा तापकर होते हैं ] सुखद [ तथा ] शीतल [ हो जाते हैं ] ॥

मोहूँ भरोसौ, रीझिहै उझकि झाँकि इक बार ।
रूप-रिझावनहारु वह, ए नैना रिझवार ॥ ६८२ ॥

रूप-रिझावनहारु= रूप के द्वारा रिझाने वाला । इस पद में तृतीया-तत्पुरुष समास है ॥

( अवतरण )—दूती ने जब नायक के अनुराग की कहानी तथा उसके रूप की प्रशंसा पर नायिका को विशेष ध्यान देते न देखा, तो उसने सोचा कि बातों से यहाँ काम चलना कठिन है, किसी उपाय से दोनों की चार आँखें करा देना चाहिए । सौंदर्य का प्रभाव बड़ा विलक्षण होता है, और अपने आँखों देखने की कुछ बात ही और है । यह सोच कर वह नायिका से कहती है कि नायक इस समय इसी गली में तो खड़ा है, तू नैक झाँक कर देख तो सही—

( अर्थ )—मुझे [ तो ] भरोसा है, [ तू ] एक बार [ ही ] उझक के झाँक कर ( झरोखे में से उसे देख कर ) रीझ जायगी । [ क्योंकि ] वह [ तो ] रूप ( सौंदर्य ) के द्वारा रिझाने वाला ( लुभा लेने वाला ) है, [ और ] ये [ तेरे ] नयन रिझवार ( सौंदर्य पर रीझने वाले, सौंदर्य के गुणग्राहक ) हैं ॥

नायिका के नेत्रों का विशेषण कवि बड़ी लोक-व्यवहार-चातुरी से रखता है । जब किसी पदार्थ का बेचने वाला किसी धनी के यहाँ जाता है, तो प्रायः वह अपना पदार्थ दिखलाने के समय कहता है कि "देखिए तो सही, यह क्या अच्छी वस्तु है, आप तो स्वयं इसके गुण के ज्ञाता हैं, मैं आपसे इसकी अधिक प्रशंसा क्या करूँ, आप ही ऐसे गुणज्ञ इस पर रीझते हैं ॥"

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति ।
ऐँचि छुड़ावति[3] करु, इँची[1] आगैं आवति जाति ॥ ६८३ ॥

( अवतरण )—परकीया नायिका, प्रथम मिलाप के समय नायक के हाथ पकड़ने पर, जो चेष्टा कर रही है, उसकी प्रशंसा अंतरंगिनी सखी स्वगत करती है—

( अर्थ )—[ वाह, वाह ! हमारी प्रवीण सखी इस समय कैसे प्यारे भाव कर रही है । ] भौंहों से [ तो वह ] डराती है ( अर्थात् भौंहों को तो वह बनावटी रोष से भर कर नायक पर यह भाव प्रकट करती है कि मुझे जो तुम पकड़ते हो, वह अच्छा नहीं है ), [ और ] मुँह से नटती है ( 'नहीं नहीं' कहती है ), [ पर ] आँखों से लिपटती है ( ऐसी चेष्टा करती है, जिससे प्रतीत होता है कि उसकी आँखें नायक के रूप पर लुभा कर उससे

१. एक ही ( ४ ) । २. वे ( २ ) । ३. छुड़ावत ( ३, ५ ) ।

लिपट रही है ), [ और ] खींच कर हाथ को [ तो ] छुड़ाती है ( अर्थात् हाथ छुड़ाने के व्याज से खींचातानी करती है ), [ पर उस खींचातानी में स्वयं ] खिंची हुई [ शनैः शनैः ] आगे आती जाती है ( नायक की ओर खिसकती आती है ) ॥

इस दोहे की नायिका की क्रियाएँ बड़ी चातुरी की हैं। उसका खिंच कर नायक के समीपतर होते जाना वैसा ही है, जैसा किसी बड़ी नाव में लंबी रस्सी से बँधी हुई किसी छोटी नाव का, उस पर के मनुष्यों द्वारा रस्सी के छुड़ाने के निमित्त खींचने पर, बड़ी नाव के समीप होते जाना ॥

रुक्यौ साँकरैं[1] कुंज-मग, करतु झाँझि[2], झकुरातु[3]।
मंद मंद मारुत-तुरँगु खूँदतु[4] आवतु[5] जातु[6] ॥ ६८४ ॥

रुक्यौ = अवरुद्ध हुआ, सघन कुंज तथा संकीर्ण मार्ग के कारण नायिका को बचा कर निकलने का दाँव न पाता हुआ। यदि किसी बहुत पतली गली में कोई खड़ा हो, और उसमें कोई खिड़ैल घोड़ा खूँद करता हुआ आने जाय, तो वह उसकी टापों से अवश्य ही भली भाँति कुचल जायेगा, क्योंकि स्थान की संकीर्णता के कारण न तो उसको ही बचने का ठौर मिल सकता है, और न घोड़े ही को उसे बचा कर आने जाने का मार्ग। यही बात नायिका अपने विषय में कहती है कि मार्ग के संकीर्ण होने के कारण इधर उधर स्थान न पाता हुआ पवन-रूपी तुरंग आता जाता मुझे खूँदे डालता है ॥ साँकरें = संकीर्ण ॥ झाँझि = झाँझ, झँझ, झंझट, अड़ियलपन। यदि सामान्यतः दौड़ता हुआ घोड़ा किसी को रौंदता हुआ निकल जाय, तो उसके ऊपर दो ही एक टाप पड़ने की संभावना होती है। पर यदि वह घोड़ा झँझ और खूँद करता हुआ जाय, तो उस पर टापों का प्रहार बहुत तथा बड़ा प्रबल होगा। पवन-रूप घोड़े का झाँझ करते हुए आना जाना कह कर नायिका उसके द्वारा अपना भली भाँति विदलित होना व्यंजित करती है ॥ झकुरातु = यह क्रिया झकोर शब्द से बनी है। इसका अर्थ झकोर लेता, झूमता इत्यादि है। यहाँ घोड़े के पक्ष में इसका अर्थ आगे के दोनों पाँवों को उठाता और पटकता समझना चाहिए ॥ खूँदतु = कुचलता है, रौंदे डालता है। घोड़े के संबंध से इसका अर्थ यहाँ खूँद से रौंदे डालता है होगा। इस शब्द का विशेष अर्थ ५४२-संख्यक दोहे की टीका में द्रष्टव्य है ॥

( अवतरण )—विप्रलब्धा नायिका को, संकेत-निकुंज में नायक को न पाने से, बड़ा ताप हुआ है, और सघन कुंज में आता जाता शीतल, मंद, सुगंध समीर ऐसा दुःखद लगता है, जैसा घोड़े की टापों से कुचला जाना। अतः वह, उसका रूपक घोड़े से कर के, सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ हे सखी, इस संकेतित सघन निकुंज में प्रियतम को न पा कर मुझे बड़ा ही दुःख हो रहा है। ] कुंज के संकीर्ण मार्ग में अवरुद्ध, झँझ करता हुआ तथा बल-पूर्वक झोंका लेता हुआ पवन-रूपी तुरंग मंद मंद आता जाता [ मुझे ] खूँदे ( कुचले, विदलित किए ) डालता है ॥

जदपि लौंग ललितौ, तऊ तूँ न पहिरि इक आँक।
सदा साँक बढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी[7] नाक ॥ ६८५ ॥

---

१. मैं ( २ ) । २. झाझि ( ४ ) । ३. झौरातु ( ३ ), झुकरातु ( ४ ), झकुरोबि ( ५ ) । ४. खूँदनि ( २ ) । ५. आवत ( २, ३, ५ ) । ६. जात ( ३ ), जाति ( ५ ) । ७. रही ( ३, ५ ) ।

( अवतरण )—मान ठानने के समय स्त्रियाँ गहने उतार डालती और मैले कुचैले वस्त्र धारण कर लेती हैं। पर नासिका का शून्य रखना सौभाग्यवती स्त्रियों को वर्जित है, अतः नाक के वेध में, मान के समय भी, वे सींक अथवा लवंग-फूल इत्यादि डाल लेती हैं। इस दोहे की मानिनी नायिका ने लवंग-फूल डाल रक्खा है। नायक शठ है। वह मीठी बातें कर के अपना अपराध छिपाना तथा नायिका का मान छुड़ाना चाहता है। वह नायिका पर यह नहीं विदित होने देना चाहता कि मैं तेरा मान ठानना समझ गया हूँ। वह उसके लवंग धारण करने को मानो शोभार्थ समझता है, और उसकी नाक के चढ़ी हुई होने का कारण उस लवंग-फूल की गड़गड़ाहट मानता है। इस तरह जान बूझ कर अनजान बनने से उसका अभिप्राय यह है कि नायिका यह समझे कि यदि यह अपराधी होता, तो मेरे लवंग धारण करने और नाक चढ़ाने पर डर जाता, और इस प्रकार निःशंक हो कर बातें न करता, क्योंकि चोर का चित्त सदा खटकता रहता है। इन्हीं विचारों से नायक नायिका से कहता है—

( अर्थ )—[ हे प्यारी, ] यद्यपि [ यह ] लवंग-फूल [ तेरी नासा में ] ललित ( सुंदर ) भी [ लगता ] है, तथापि तू [ इसको ] 'इक आँक' ( निश्चय कर के ) न पहन ( मत पहना कर ), [ क्योंकि इसके पहनने से इसकी झार के कारण तेरी कोमल ] नाक चढ़ी सी रहती है, [ जिससे मेरे मन में ] सदा शंका ( अर्थात् तेरे मान ठाने हुए होने की भीति ) चढ़ी ही रहती है ॥

—— ——

बरजैं[1] दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै, न सकाइ।
टूटत[2] कटि दुमची-मचक[3], लचकि लचकि बचि जाइ ॥ ६८८ ॥

दूनी=और भी अधिक ॥ हठ=हठ पर ॥ चढ़ै=चढ़ती है। हमारी चार प्राचीन पुस्तकों में 'चढ़ै' के स्थान पर 'बढ़ै' पाठ है, और एक-संख्यक पुस्तक में यह दोहा है ही नहीं। एक बहुत प्राचीन सटीक सतसई में, जो कि हमको अब मिली है, 'चढ़ै' पाठ मिलता है। इसके अतिरिक्त और सब सटीक ग्रंथों में भी 'चढ़ै' ही पाठ है। अर्थ के विचार से भी 'चढ़ै' पाठ अच्छा है, अतः इस संस्करण में वही पाठ रक्खा गया है ॥

दुमची—झूले पर खड़े हो कर कटि को लचका कर पेंग बढ़ाने के निमित्त झोंका देने की क्रिया को दुमची कहते हैं ॥

( अवतरण )—अज्ञातयौवना नायिका, उमंग से पेंग मार मार कर, झूल रही है, और हित-कारिणी सखी के वारण करने पर न तो, अज्ञातयौवना होने के कारण, संकुचित होती है, और न, झूलने के उत्साह के कारण, डरती ही है। प्रत्युत वारण करने पर और भी उमंग से हठ-पूर्वक दुमची देती है, जैसा कि थोड़ी अवस्था वाले मनुष्यों का प्रायः स्वभाव होता है कि वे किसी कार्य से वर्जित किए जाने पर हठात्, और भी विशेषता से उस कार्य में प्रवृत्त होते हैं। कोई सखी उसकी यह व्यवस्था तथा उसकी कटि का सौकुमार्य तथा लचकीलापन नायक से वर्णित कर के उसको उस समय की शोभा देखने के निमित्त उत्सुक किया चाहती है—

( अर्थ )—[ उसकी इस समय की बेखटक झूला झूलने की स्वाभाविक शोभा देखने ही योग्य है। वह ] न [ तो मचकी लेने में अंगों के खुल जाने इत्यादि से ]

१. तूँ बरजैं दूनी बढ़ै ( ३, ५ )। २. टूटति ( १, ४ ), टूटैत ( ५ )। ३. मचिकि ( २ ), माचिक ( ५ )।

संकुचित होती है, [ और ] म [ सुकुमार कटि के पीड़ित होने अथवा झूले से गिर पड़ने से ] डरती है। [ हितकारिणी सखियों के ] वारण करने पर दूनी ( और भी अधिक ) हठ पर चढ़ती है ( हठ कर के झूलती और झोंका देती है )। [ उसकी ] कटि दुमचीं की मचक से [ परम क्षीण तथा सुकुमार होने के कारण टूट ही जाती, पर ] टूटते टूटते लचक लचक कर बच जाती है [ जैसे कोई लचकीली छड़ी इत्यादि अत्यंत झुकने, मुड़ने और झकझोरे जाने पर भी टूटने से बच जाती है ] ॥

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काकौ मनु बाँधै न यह जूरा-बाँधनहारि ॥ ६८७ ॥

( अवतरण )—नायिका के जूड़ा बाँधते समय की मनोहारिणी चेष्टा देख कर नायक स्वगत कहता है—

( अर्थ )—भुजाओं को [ पीछे की ओर ] उलटे हाथों से बालों को समेट [ और ] खओं ( पखुरों, भुजमूलों ) पर सिर का वस्त्र टाल कर ( हटा कर ) यह जूड़ा बाँधने वाली किसका मन नहीं बाँधती ( अपने पर आसक्त नहीं कर लेती ) ॥

पूछैं क्यौं रूखी परति, सगिबगि गई सनेह।
मनमोहन-छबि पर कटी, कहै कँट्यानी देह ॥ ६८८ ॥

कटी—कटनी बोलचाल में अत्यंत आसक्त होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे "अमुक व्यक्ति को देख कर हम तो कट गए," अर्थात् अत्यंत आसक्त हो गए ॥

( अवतरण )—उपपति नायक को देख कर नायिका के शरीर में स्वेद तथा रोमांच सात्विक हो आए हैं। पर सखियों के यह पूछने पर कि "तेरी यह दशा क्यों हो गई है", वह रूखा सा मुँह बना कर कुछ अंटसंट कह देती है, जिस पर कोई मुँहलगी चतुर सखी, उसकी चेष्टा से सच्ची बात लक्षित कर के, कहती है—

( अर्थ )—[ नायक को देखते ही तो तू ] स्नेह ( १. प्रेम। २. तेल ) में सगबग ( लतपत ) हो गई ( अर्थात् उसके स्नेह के कारण पसीने से भीग गई ) है, [ फिर तू ] पूछने पर रूखी क्यों पड़ती है। [ तू ] मनमोहन ( मन के मोहने वाले श्रीकृष्णचंद्र ) की छबि पर कट गई है ( आसक्त हो गई है ), [ यह बात तेरी ] 'कँट्यानी' ( कंटकित, रोमांचित ) देह कहती ( प्रकट करती ) है ॥

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु परयौ प्रभात ॥ ६८९ ॥

१. कुच ( २, ३, ५ )। २. जूरौ ( २ )। ३. प्रगटी ( ३, ५ )। ४. कहती ( ३, ५ )। ५. ओढ़यौ ( ३, ५ )।

( अवतरण )—सखी अथवा दूती नायक की नील छवि पर पीत पट की शोभा का वर्णन कर के नायिका के चित्त में अनुराग उत्पन्न किया चाहती है—

( अर्थ )—[ नायक के ] श्याम [ तथा ] सलोने ( सुंदर, चमकीले ) गात्र पर ओढ़ने से पीत पट [ ऐसा ] शोभित होता है, मानो नीलमणि के पर्वत पर प्रातःकाल आतप ( घाम ) पड़ा हुआ है ॥

भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे बिराजि ।
इंदुकला कुज मैं बसी मनौ राहु-भय भाजि ॥ ६९० ॥

**लाल बेंदी**=रोली अथवा सिंदूर की गोल टिप्पी ॥ **ललन**=हे लालन, हे ललन ॥ **आखत** ( अक्षत )=बिना टूटे चावल, जो कि पूजा इत्यादि में काम आते हैं । अक्षतों की आकृति चंद्र की पतली कलाओं से बहुत मिलती है । किसी शुभ अवसर पर मस्तक में तिलक लगा कर उस पर अक्षत चिपका दिए जाते हैं ॥ **कुज**=भौम अर्थात् मंगल ग्रह, जिसका रंग लाल है । यह पृथ्वी से इतनी दूर है कि यदि उसके पास चंद्रमा चला जाय, तो पृथ्वी की छाया उस पर नहीं पड़ सकती, क्योंकि सूर्यबिंब पृथ्वी से बहुत बड़ा है, अतः पृथ्वी की छाया सूर्य के विरुद्ध दिशा में सूचिकाकार पड़ती है, और सूर्य तथा पृथ्वी की बड़ाई, छुटाई तथा दूरी के अनुसार एक परिमित दूरी से अधिक दूरस्थ पदार्थों पर वह छाया नहीं पड़ती । इसके अतिरिक्त मंगल क्रूर ग्रह है, अतः यह भी कहना संगत है कि राहु उसके समीप जाते डरता है । देवकीनंदन की टीका में यह लिखा भी है कि "जोतिष-मत में कह्यौ है, मंगल को राहु डरात है" ॥ **भाजि**—इस शब्द का अर्थ अन्य टीकाकारों ने भाग कर लिखा है, पर हमारी समझ में इसका अर्थ विभक्त हो कर करना अधिक संगत है, क्योंकि राहु का भय चंद्र की कलाओं को नहीं होता, प्रत्युत पूर्ण चंद्र को । अतः यह कहना विशेष समीचीन है कि राहु के भय से विभक्त हुई चंद्र की कलाएँ मंगल में बसी हैं । इस अर्थ में राहु से बचने के निमित्त चंद्रमा का दो कार्य करना सिद्ध होता है—एक तो उसका कलाओं में विभक्त हो जाना, क्योंकि उसकी कलाओं पर राहु का आक्रमण नहीं होता ; दूसरे उसका कलाओं में विभक्त हो कर मंगल ग्रह में बसना, क्योंकि मंगल ग्रह के समीप पृथ्वी की छाया अधिक दूरी के कारण नहीं जाती ; अथवा यह कहिए कि मंगल के पास राहु भय से नहीं जाता ॥

( अवतरण )—नायिका ऋतुस्नान कर के गौरी, गणेश इत्यादि के पूजन से निवृत्त हो, मस्तक पर लाल तिलक धारण किए, विराजमान है । उस तिलक में पूजन के अक्षत भी लगे हुए हैं । सखी नायक के पास जा कर उसकी शोभा का वर्णन करती हुई, तिलक को मंगल तथा अक्षतों को चंद्र की कलाएँ ठहरा कर एक ग्रह-संस्था विशेष पर ध्यान दिला संयोगोपयोगी समय सूचित करती है—

( अर्थ )—हे ललन, [ उसके ] भाल पर लाल बेंदी में अक्षत [ ऐसे ] विराजमान हैं, मानो चंद्र की कलाएँ राहु के भय से विभक्त हो कर मंगल ग्रह में [ आ ] बसी हैं ॥

इस उत्प्रेक्षा से सखी नायक का ध्यान मंगल ग्रह में चंद्र की अंतरदशा पर दिलाती है, जिसके केंद्रस्थ अर्थात् प्रथम, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम स्थानों पर होने से दार-पुत्रादि-सौख्य की प्राप्ति होती है । यथा—

१. आखत ( ३, ५ ) । २. कुंज ( ३, ५ ) । ३. दुरी ( ३, ५ ) ।

कुजस्थान्तर्गते चन्द्रे स्वोच्चे स्वक्षेत्रकेन्द्रगे ॥
भाग्यवाहनकर्मेशलग्नाधिपसमन्विते ॥ ७० ॥
करोति विपुलं राज्यं गन्धमाल्याम्बरादिकम् ॥
तडागं गोपुरादीनां , पुण्यधर्मादिसंग्रहम् ॥ ७१ ॥
विवाहोत्सवकर्माणि . दारपुत्रादिसौख्यकृत् ॥
पितृमातृसुखाकारि . गृहे लक्ष्मीकटाक्षकृत् ॥ ७२ ॥

( बृहत्पाराशरहोरा-शास्त्र, पूर्व खंड, अध्याय ३६ )

सखी मंगल के अंतरगत चंद्रमा की कलाओं का नायिका के भाल पर होना कह कर इस ग्रह-संस्था का केंद्रस्थ होना भी लक्षित कराती है, क्योंकि स्त्री का स्थान सातवाँ है, जो कि केंद्र के चार स्थानों में से एक है। इसी प्रकार का कथन ७०७वें दोहे में भी है॥

---

**अंग अंग छबि की लपट उपटति[1] जाति अछेह ।**
**खरी पातरीऊ, तऊ लगै भरी सी देह ॥ ६६१ ॥**

( अवतरण )—सखी नायिका के शरीर की द्युति का वर्णन नायक से करती है—

( अर्थ )—[ उसके ] अंग अंग में छवि की लपट ( चमक, ओप ) अछेह ( निरंतर ) उपटती ( उभरती ) जाती है। [ अतः यद्यपि उसकी ] देह अति दुबली भी है, तथापि भरी सी ( गदकारी सी ) लगती है ( प्रतीत होती है )॥

---

**दृग थिरकौंहैं, अधखुलैं, देह-थकौंहैं ढार ।**
**सुरत सुखित सी देखियति[2] दुखित गरभ कैं भार ॥ ६६२ ॥**

थिरकौंहैं ( स्थिरकोन्मुख ) = स्थिर हुए से। यहाँ 'थिरकौंहैं' शब्द थिरकने से बना हुआ नहीं है, प्रत्युत स्थिर शब्द में 'क' प्रत्यय हो कर बना है॥

( अवतरण )—कोई रसिक किसी गर्भिणी स्त्री की चेष्टा का वर्णन करता है—

( अर्थ )—[ यह ] गर्भ के बोझ से दुखित, थिरकौंहैं ( स्थिर हुए से ), अधखुले दृगों से [ एवं ] देह के थके हुए से ढंग से सुरत-कर के सुखित [ स्त्री ] सी दिखाई देती है॥

---

**बिहँसति, सकुचति सी, दिऐँ[3] कुच-आँचर-बिच बाँह ।**
**भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोबर माँह ॥ ६६३ ॥**

( अवतरण )—स्नान कर के सरोवर में से निकलती हुई नायिका की मनोहारिणी चेष्टा पर लुब्ध हो कर नायक, उसे अपने अंतरंग सखा को दिखाता हुआ, कहता है—

( अर्थ )—[ देखो, वह कैसी शोभा के साथ ] सरोवर में स्नान कर के, कुचों [ और ] अंचल के बीच में बाँह दिए हुए [ जिसमें उसके कुच भीगे हुए वस्त्र में से दिखाई न दें ],

---

१. उपटी जात ( ३ ), उपटी जाति ( ५ )। २. देखियै ( २ ), देखियत ( ५ )। ३. हियैं ( २, ४ )

बिहँसती (मुसकिराती) [और] सकुचाती हुई सी, भीगे हुए वस्त्र से (भीगा हुआ वस्त्र पहने हुए), तट को (तट की ओर) चली॥

बरन, बास, सुकुमारता, सब बिधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ॥ ६६४॥

(अवतरण)—सखी नायक से नायिका के शरीर की हलकी ललाई, सुगंधि तथा कोमलता का वर्णन करती है—

(अर्थ)—[उसके] गात्र में गुलाब की 'पँखुरी' (पंखड़ी) लगी हुई (चिपकी हुई) जानी नहीं जाती (लक्षित नहीं होती)—[वह] 'बरन' (वर्ण, रंग), बास (सुगंधि) [तथा] सुकुमारता (कोमलता), [इन] सब [ही] विधियों (व्यवस्थाओं) से [उसके गात्र में] समा रही है (मिल रही है)॥

रंच न लखियति पहिरि यौं कंचन सैं तन, बाल।
कुँभिलानैं जानी परै उर चंपक की माल॥ ६६५॥

(अवतरण)—सखी नायिका से उसके सुनहरे रंग की प्रशंसा करती है—

(अर्थ)—हे बाल, [तेरे] कंचन से शरीर में चंपे की माला पहनने पर [शरीर के रंग में ऐसी मिल जाती है कि] 'यौं' (इसी दशा में; जैसी है वैसी ही, अर्थात् बिना कुँभलाए) 'रंच' (तनिक भी) लक्षित नहीं होती, [पर] कुँभलाने पर हृदय पर जान पड़ती है (दिखाई देती है)॥

गोधन, तूँ हरष्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ॥ ६६६॥

**गोधन**=गोवर्द्धन। कार्त्तिक-शुक्ल-प्रतिपदा के दिन किसान लोग, अपने अपने द्वारों पर, गोबर से गोवर्द्धन की प्रतिमा बना कर, बड़े समारोह से उसकी पूजा करते और उत्सव मनाते हैं। पूजा कर चुकने के पश्चात् वे अपने गाय-बैलों को उसी प्रतिमा पर खड़ा कर के पूजते हैं, जिससे वह प्रतिमा रौंद उठती है॥

(अवतरण)—किसी व्यक्ति के सन्मान पा कर अभिमान करने पर कोई यह दोहा, गोवर्द्धन पर अन्योक्ति कर के, उसको सुनाता है—

(अर्थ)—[हे] गोवर्द्धन, तू हृदय में हर्षित हुआ (गर्व से आनंद मनाता हुआ) [अपने को] एक घड़ी भर (थोड़ी देर) [भले ही] पुजवा ले (सन्मानित करा ले)। [पर इस पुजवाने की व्यवस्था तुझे थोड़ी ही देर में अपने] सिर पर पशुओं (गाय-

१. लखियत (३, ५)। २. ये (३, ५), यों (४)। ३. कुम्हिलानैं (२)। ४. परति (२)। ५. चंपे (२, ४)। ६. हरषे (२)। ७. निधरक (२, ४), घरीक (३)। ८. लेहु (३, ५)।

बैलों ) के पाँवों के पड़ते ( पड़ने पर ) [ ही ] समझ पड़ेगी ( ज्ञात हो जायगी ) [ कि ऐसे सन्मान पर गर्व करने का क्या परिणाम होता है ] ॥

मुहुँ धोवति, एड़ी घसति, हसति, अनगवति तीर ।
धसति न इंदीवरनयनि कालिंदी कैं नीर ॥ ६९७ ॥

**अनगवति**=अन् + अगवति, अर्थात् अगुवाती नहीं । अगुवाना कोई काम करने के निमित्त उद्यत होने, अथवा किसी काम को करने लग जाने, को कहते हैं। व्रज में अनगाना अभी तक जान बूझ कर विलंब लगाने के अर्थ में बोला जाता है, जैसे "अरी ! तू अनगाइ कहा रही है, या कामैं करि क्यौं नायं लै।" कई टीकाकारों ने जो 'अनगवति' का अर्थ 'अनंगवती' लिख दिया है, वह सर्वथा अग्राह्य है ॥ **इंदीवरनयनि**—नायिका नायक की ओर, टकटकी बाँध कर, अपने अंजन-रंजित दृगों से देख रही है, इसी लिए यह विशेषण उसके निमित्त रक्खा गया है । टकटकी बाँध कर देखने से नायिका का अनुराग व्यंजित होता है ॥

( अवतरण )—नायिका यमुना-स्नान करने आई है । नायक भी वहाँ उपस्थित है । अतः वह मुँह धोने इत्यादि के ब्याज से तीर पर विलंब लगा रही है, और स्नान करने के निमित्त यमुना में नहीं पैठती, जिसमें पीठ नायक की ओर न हो, और इसी ब्याज से उसे नायक को देर तक देखते रहने का अवसर प्राप्त हो । उसकी यह मानसिक व्यवस्था तथा क्रिया-विदग्धता कोई सखी लक्षित कर के किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ देख, यह नायिका कभी तो ] मुँह धोती है, [ कभी ] एड़ी घिसती है, [ और कभी ] हँसती है । [ इसी प्रकार चातुरी की अनेक क्रियाएँ कर के ] तीर पर अनगा रही है ( टालमटूल कर रही है, जान बूझ कर देर लगा रही है ) । [ यह ] इंदीवरनयनी ( नील कमल के समान अनिमेष नेत्रों वाली ) कालिंदी ( यमुना ) के नीर में नहीं धँसती ( पैठती ) ॥

बढ़त[1] निकसि कुच-कोर-रुचि, कढ़त गौर भुजमूल ।
मनु लुटि गौ लोटनु चढ़त, चौंटत ऊँचे फूल ॥ ६९८ ॥

**कुच-कोर**=कुच की नोक अर्थात् ढिपनी ॥ **लोटनु**=उदर की बलियों ॥ **चौंटत**=नोचते हुए, तोड़ते समय ॥

( अवतरण )—नायक ने नायिका को किसी वृक्ष की ऊँची डाल में से, हाथ ऊँचा कर के तथा ग्रीवा को पीछे की ओर झुका कर, फूल तोड़ते देखा । हाथ ऊँचा करने तथा ग्रीवा को पीछे की ओर झुकाने से उसके कुच आगे को निकल आए, एवं अंचल के सरकने से भुजमूल तथा उदर कुछ उघर गए । इस अवस्था में उसकी त्रिबली को देख कर नायक का मन हाथ से जाता रहा । यही व्यवस्था वह नायिका की सखी से कह कर उससे मिलने की उत्कंठा व्यंजित करता है—

( अर्थ )—[ उसके ] ऊँचे फूलों को चौंटते समय कुचों की कोरों की शोभा के

१. बढ़ति ( ४ ) ।

निकल कर ( उभर कर ) बढ़ते हुए [ तथा ] गोरे गोरे भुजमूलों के उघर जाते ( खुल जाते ) हुए [ मेरा ] मन लोटों ( उदर की बलियों ) पर चढ़ते हुए लुट गया ॥

अहे, दहेंड़ी जिंनि धरै, ज़िंनि तूँ लेहि उतारि।
नीकैं है छींकैं छुवै, ऐसैंई रहि, नारि ॥ ६६६ ॥

( अवतरण )—छींके पर दहेंड़ी रखते समय की नायिका की चेष्टा नायक को बड़ी प्यारी लगी है। वह चाहता है कि उसी अवस्था में उसे कुछ देर देखता रहे, अतः वह उससे कहता है—

( अर्थ )—अरी, तू दहेंड़ी को [ छींके पर ] मत रख, [ और ] उतार [ भी ] मत ले [ क्योंकि इन दोनों ही क्रियाओं के कर लेने पर तेरी यह प्यारी चेष्टा न रहेगी ]। [ तू ] छींके को छुए हुए ही 'नीकैं' ( अच्छे ढंग से ) है, [ अतः ] हे नारी, [ तू ] 'ऐसैंई' ( इसी मनोमोहिनी अवस्था में, इसी सुंदर चेष्टा से ) रह ( कुछ देर तक स्थित रह ) ॥

न्हाइ, पहिरि पटु उटि, कियौ बेंदी-मिसि परनामु।
दृग चलाइ घर कौं चली बिदा किए घनस्यामु ॥ ७०० ॥

( अवतरण )—नायिका यमुना-स्नान करती थी, और श्रीकृष्णचंद्र भी वहाँ खड़े उसको देखते और बाँसुरी टेरते थे। जब तक नायिका नहाने-धोने में लगी रही, तब तक तो दोनों आँखों में सैनमटक्की कर के रीझते-रिझाते रहे; पर चलते समय नायिका ने यह विचारा कि इनका यहाँ डटा रहना अच्छा नहीं, क्योंकि यहाँ अनेक स्त्रियाँ नहाने आती हैं—सभी इनकी मोहिनी मूर्ति पर रीझेंगी, और ये भी ऐसे रिझवार हैं कि बहुतों से लगन लगा लेंगे। इस विचार से उसने, पट इत्यादि पहनने के पश्चात्, घर चलते समय, बेंदी लगाने के बहाने इनको प्रणाम कर के, आँखों की सैन-द्वारा वहाँ से बिदा कर दिया। यह वृत्तांत लक्षित कर के कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है—

( अर्थ )—[ देख, यह कैसी चतुर है कि इसने ] स्नान कर के [ और ] पट पहन सुसज्जित हो, बेंदी [ लगाने ] के व्याज से [ हाथों को मस्तक पर ले जा कर ] प्रणाम किया, [ एवं ] आँखों को चला कर ( उपयुक्त सैन कर के ) घनश्याम ( श्रीकृष्णचंद्र को ) बिदा किए हुए ( यमुना-तट से हटा कर ) घर चली ॥

हिंदुओं में प्रणाम करने के लिए दोनों हाथों को मस्तक के समीप ले जाने की चाल है। अतः एक हाथ का बेंदी लगाने के निमित्त और दूसरे का घूँघट हटाने अथवा आरसी देखने के निमित्त मस्तक पर ले जाना समझना चाहिए ॥

ज्यौं ह्वैहौं, त्यौं होउँगौ हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है मो तारिबौ, गुपाल ॥ ७०१ ॥

१. जिन० ( ५ )। २. छीको ( २ ), छींकौ ( ३ ), छीको ( ४ ), छींकी ( ५ )। ३. छियौ ( २ ), छुवे ( ४, ५ )। ४. हीं ( २ )। ५. किए ( २ )। ६. चलत ( ३, ५ ), चलाति ( ४ )। ७. होहुँ ( २ )।

(अवतरण)—कवि अथवा कोई भक्त श्रीकृष्णचंद्र के वृंदावनविहारी गोपाल-स्वरूप का उपासी है। वह अपनी भावना के अनुसार भगवान् को अति कोमलांग समझ कर उनको श्रम नहीं दिया चाहता। इधर वह, अपनी परम दीनता के कारण, अपने को अत्यंत अधम तथा ऐसा महान् पातकी समझता है कि अपने को तारना भगवान् के लिए भी अति कठिन काम मानता है। अतः वह, सच्चे प्रेम तथा निरपेक्ष भक्ति की उच्च भावना के अनुसार, अपने कष्ट के निवारण के निमित्त भी, अपने भक्ति-भाजन को इतने कठिन काम में हठ कर के प्रवृत्त होने देना नहीं चाहता। भक्ति-भाव से मुग्ध हो कर वह इनका सर्वशक्तिमान् होना भी भूल जाता है—

(अर्थ)—हे हरि! मैं अपनी चाल (क्रिया-प्रणाली) से जैसा हूँगा (होने वाला हूँगा), वैसा हूँगा (हो लूँगा अर्थात् अपने भले बुरे कर्म के जो फल होंगे, उन्हें भोग लूँगा)। मेरा तारना (कर्मबंधन से छुड़ाना) अति कठिन है, [तुम इस काम में] हठ मत करो (हठ कर के प्रवृत्त मत हो), [क्योंकि इसमें तुमको बड़ा श्रम होगा। इसके अतिरिक्त अपने कर्मों की अधमता के विचार से मुझे संदेह है कि आपसे भी कदाचित् यह काम न हो सके]॥

**परसत, पोंछत लखि रहतु, लगि कपोल कैं ध्यान।**
**करैं लै प्यौ पाटल, बिमल प्यारी-पठैए पान॥ ७०२॥**

पाटल=गुलाबी॥

(अवतरण)—नायिका ने नायक के पास सुंदर-गुलाबी रंग लिए हुए पान, प्रेमोपहार-रूप से, भेजे हैं। नायक उनको पा कर, सादृश्य के कारण नायिका के कपोलों के ध्यान में निमग्न हो, उन्हें स्पर्श करता तथा उन पर हाथ फेरता हुआ देखता रह जाता है! उसकी यह दशा पान ले जाने वाली सखी किसी अन्य सखी से, उसके प्रेम का आधिक्य व्यंजित करती हुई, कहती है—

(अर्थ)—[नायक के प्रेम का वर्णन मैं क्या करूँ,] प्यारी के भेजे हुए गुलाबी [तथा] विमल पानों को हाथ में ले कर प्रियतम [उसके] कपोलों के ध्यान में लग कर (निमग्न हो), [उनको] स्पर्श करता [तथा] पोंछता हुआ, देखता रह जाता है॥

**बामा, भामा, कामिनी कहि बोलौ, प्रानेस।**
**प्यारी कहत खिसात नहिँ पावस चलत बिदेस॥ ७०३॥**

बामा (वामा)—इस शब्द का अर्थ सुंदर स्त्री है। पर वाम का अर्थ टेढ़ा भी होता है, अतः इसका अर्थ कुटिला भी हो सकता है। इस दोहे में नायिका, इस शब्द को साभिप्राय प्रयुक्त कर के, इसका अर्थ कुटिला लेती है॥ भामा=क्रोधवती स्त्री। इस शब्द को भी नायिका ने साभिप्राय प्रयुक्त किया है॥ कामिनी=कामयुक्त स्त्री। यहाँ इस शब्द का अर्थ स्वार्थिनी लिया गया है, और यह भी साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है॥

(अवतरण)—नायक वर्षा ऋतु में विदेश चलने को उद्यत है, और नायिका को 'प्यारी' शब्द से संबोधित कर के धैर्य देता है। उसके 'प्यारी' शब्द प्रयुक्त करने पर नायिका कहती है—

---

१. सरसत (२)। २. नंदलाल लालच-भरे ताकत तिया न आन (४)। ३. पठयो (३)।

( अर्थ )—हे प्राणेश ( प्राणों के ईश ), [ तुम मुझको अब प्यारी कह कर मत संबोधित करो, प्रत्युत ] वामा ( कुटिला ), भामा ( लड़ाकी ), कामिनी ( स्वार्थिनी ) [ इत्यादि शब्द ] कह कर बोलो ( संबोधित करो )। क्या पावस ऋतु में विदेश चलते समय [ तुम मुझे ] प्यारी कहते खिसियाते नहीं ( लज्जित नहीं होते ) [ कि मेरे हृदय में और तथा मुँह में और है। तुम्हें इस अवसर पर प्यारी कहते अवश्य लज्जित होना चाहिए, क्योंकि प्यारी का कोई प्राण लेना नहीं चाहता। पर तुम तो वर्षा ऋतु में विदेश जा रहे हो, जिससे मेरा मरण निश्चित है। अतः तुम्हें इस अवसर पर मुझे कुटिला, लड़ाका, स्वार्थिनी शब्दों से संबोधित करना चाहिए, क्योंकि तुम ऐसी ही तो मुझे समझते हो, तभी तो मेरे प्राण हरण करने वाले कार्य पर उद्यत हो। 'वामा' इत्यादि शब्दों से संबोधित करने से मेरी ओर जो सच्ची भावना तुम्हारे हृदय में है, वही मुख से भी विदित होगी, और तुमको 'मुँह में और, पेट में और' वाले बन कर लज्जित न होना पड़ेगा ] ॥

उठि, ठकु ठकु एतौ कहा पावस कैं अभिसार।
जानि परैगी देखियौ दामिनि घन-अँधियार ॥ ७०४ ॥

( अवतरण )—नायिका पावस-निशा में अभिसार करने के निमित्त कृष्णाभिसारिका के ठाट ठाट रही है, अर्थात् श्याम साड़ी इत्यादि से सुसज्जित हो रही है, जिससे विलंब हो रहा है। अतः दूती, जो उससे शीघ्र अभिसार कराने के निमित्त उत्सुक है, कहती है—

( अर्थ )—उठ ( शीघ्र चलने पर उद्यत हो ), पावस के अभिसार में इतने ठकठक बखेड़े, विधिवत् कृष्णाभिसारिका के पूरे ठाट ठाटने ) की क्या आवश्यकता है। [ एक तो तूने जो शृंगार कर लिया है, उतना ही बहुत है, और दूसरे चारों ओर ऐसे बादल छाए हुए हैं कि तू ] 'देखियौ' ( देखी जाने पर भी ) [ अपनी दामिनी सी द्युति के कारण इस ] घन के अँधेरे में बिजली जान पड़ेगी ॥

कैवा आवत इहिँ गली रहौं चलाइ, चलैं न।
दरसन की साधै रहैं, सूधे रहैं न नैन ॥ ७०५ ॥

( अवतरण )—परकीया नायिका नयन भर कर नायक की छवि देखने की अभिलाषा में है, परंतु लज्जा वश डट कर देख नहीं सकती—उसकी अभिलाषा जी की जी ही में रह जाती है। अपनी यही व्यवस्था वह अंतरंगिनी सखी से कहती है—

( अर्थ )—'कैवा' ( कई बार ) [ ऐसा होता है कि नायक के ] इस गली में 'आवत' ( आने पर ) [ मैं अपने नयनों को ] चला कर ( नायक की ओर देखने पर उद्यत कर के )

१. देखियौं ( २, ३ )। २. रहौ ( २ )। ३. साधैं ( २ ), सौंधैं ( ३, ५ )। ४. रही ( २ )। ५. होहिँ ( ३, ५ )।

रह जाती हूँ (हार जाती हूँ), [पर ये उस ओर लज्जा-वश] नहीं चलते। [अतः मुझे] दर्शन की साध (श्रद्धा, अभिलाषा) ही रहती है (बनी रहती है), [क्योंकि मेरे] बयन [नायक से सामना होने पर] सीधे (उसके सामने, अथवा मेरे वश में) नहीं रहते॥

बेसरि-मोती, धनि तुहीँ; को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिन राति॥ ७०६॥

(अवतरण)—नायक किसी नायिका पर अनुरक्त हो कर उसके अधरामृत-पान की अभिलाषा में आतुर हो रहा है। अतः, बेसर-मोती को उसके अधर पर विलास करते देख, उससे ईर्षा-सूचक वचन, नायिका को सुना कर अपनी अभिलाषा व्यंजित करता हुआ, कहता है—

(अर्थ)—हे बेसर के मोती! तू ही धन्य है। [तेरे] कुल [तथा] जाति की कौन जाँच करता है [कि तू, कुल तथा जाति के अनुरोध से, इस योग्य है अथवा नहीं कि इस परम सुंदरी के अधर-पान का अधिकारी हो सके। यदि इस बात की जाँच होती, तो तू इस योग्य न ठहरता, क्योंकि तेरी उत्पत्ति तो सीप से है, जो कि कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है, और जाति में तू एक हड्डी का टुकड़ा मात्र है]। [इस सुंदर] स्त्री के ओठ का रस [जो मुझ ऐसे उच्च कुल तथा श्रेष्ठ जाति वाले को भी अप्राप्य है] दिन रात निधड़क (निःशंक, अर्थात् इस बात की शंका से रहित हो कर कि कहीं कोई देख न ले, और मैं हटा दिया जाऊँ) पिया कर॥

यह दोहा किसी नीच तथा कुजाति मनुष्य के उच्च पद पर पहुँचने पर अन्योक्ति भी हो सकता है॥

तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ैँ बिनोद[1]।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु[3] पूरन बुधु[2] गोद[4]॥ ७०७॥

हीरा-जरी=हीरे के नग से जड़ी हुई॥ सुत-सनेह=पुत्र-स्नेह से॥ बिधु पूरन=पूर्ण चंद्र ने॥ बुधु=एक ग्रह विशेष, जो कि चंद्रमा का पुत्र माना जाता है। इस ग्रह का रंग सामान्यतः हरित कहा गया है। परंतु मत्स्यपुराण में जन्म के समय इसका 'चंद्र-सन्निभ' होना लिखा है। यथा—

तारोदराद्विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभः॥
सर्वार्थशास्त्रविद्धीमान् हस्तिशास्त्रप्रवर्तकः॥ २॥
(मत्स्यपुराण, २४वाँ अध्याय)

कदाचित् यही देख कर केशवदासजी ने भी नाक के मोती की उपमा चंद्र-सुत अर्थात् बुध से दी है। यथा—

किधौं गोद चंदजू कैं खेलै सुत चंद कौ
(कविप्रिया, प्रभाव १५, छंद ५५)

---

१. बिनोदु (४)। २. बुध (४)। ३. बिधु (४)। ४. गोदु (४)।

( अवतरण )—सखी नायक से नायिका की हीरा-जड़ी बेंदी की शोभा की प्रशंसा करती हुई उत्प्रेक्षा-द्वारा उससे मिलने का अति-उपयुक्त अवसर व्यंजित करती है—

( अर्थ )—[ इस समय उस ] स्त्री के मुख पर हीरा-जड़ी बेंदी देख कर [ देखने वालों के ] विनोद ( आनंद ) बढ़ते हैं। [ उसकी शोभा ऐसी शुभ तथा सुहावनी लगती है, ] मानो पूर्ण चंद्रमा ने सुत-स्नेह से बुध को [ अपनी ] गोद में लिया है [ अतः इस समय उससे मिलने में आपको विविध आनंद, सौख्य तथा पुत्र-प्राप्ति का लाभ है ]॥

इस उत्प्रेक्षा से चतुर सखी, एक ग्रह-संस्था विशेष पर ध्यान दिलाती हुई, नायिका के सौंदर्य का वर्णन करती है। उसका अभिप्राय यह है कि जो आनंद तथा सुख ऐसी ग्रह-संस्था में होता है, वही इस समय इसके मिलने में सुलभ है। इस ग्रह-संस्था के विषय में ज्योतिष का यह वचन है—

चन्द्रस्यान्तर्गते सौम्ये केन्द्रलाभत्रिकोणगे ॥
स्वर्क्षे नवांशके सौम्ये तुङ्गे वा बलसंयुते ॥ ३९ ॥
धनागमं राजमानं प्रियवस्त्रादिलाभकृत् ॥
विद्याविनोदसद्गोष्ठी ज्ञानवृद्धिः सुखावहः ॥ ४० ॥
संतानप्राप्तिं संतोषं वाणिज्याद्धनलाभकृत् ॥
वाहनच्छत्रसंयुक्तं नानालंकारभूषितम् ॥ ४१ ॥

( बृहत्पाराशरहोरा, पूर्व खंड, अध्याय ३८ )

इस ग्रह-संस्था का होना तो सखी ने "लियौ बिधु पूरन बुधु गोद" कह कर व्यंजित किया, और इस संस्था का केंद्र में होना स्त्री-मुख में हीरा-जड़ी बेंदी का होना कह कर कह दिया, क्योंकि स्त्री का स्थान सातवाँ माना जाता है, जो कि केंद्र-गत है। इसी प्रकार का कथन ६१० अंक के दोहे में भी है॥

गोरी गदकारी परैं हँसत[1] कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गवाँरि यह[2] सुनकिरवा[3] की आड़॥ ७०८॥

सुनकिरवा ( स्वर्णकीटक )—यह एक प्रकार का सुनहला परदार कीड़ा होता है। इसके पर पाँखी के परों के आकार के तथा बड़े चमकीले, हरे रंग के होते हैं, जिनको काट काट कर स्त्रियाँ गोल अथवा लंबी बेंदियाँ बना लेती हैं। इनको लोग कारचोब के काम में भी सिलवाते हैं॥

( अवतरण )—किसी ग्राम-वधूटी की स्वाभाविक शोभा का वर्णन कोई रसिक स्वगत करता है—

( अर्थ )—[ अहा! ] यह गोरी गदकारी ( गुदगुदे, अर्थात् कुछ मांसिल, शरीर वाली ) गँवारी ( ग्राम-वधूटी ) हँसते समय [ अपने ] कपोलों पर गाड़ ( गड्ढा ) पड़ जाने से [ तथा ] सुनकिरवा [ के पंख ] की आड़ ( आड़ी बेंदी ) से ( के कारण ) कैसी लसती ( शोभा देती ) है॥

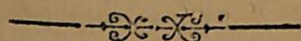
---

१. हँसति ( २ )। २. इह ( ३, ५ )। ३. सुनकिरवा ( २, ५ ), सनिकिरवा ( ३ )।

जौ लौँ लखौँ न, कुल-कथा तौ लौँ ठिक ठहराइ।
देखैँ आवत देखि हीँ, क्यौँ हूँ रह्यौ न जाइ ॥ ७०९ ॥

( अवतरण )—उक्त कुलोपयुक्त आचरण—लज्जा, परपुरुष को न देखना इत्यादि—की शिक्षा देती हुई सखी से नायिका कहती है—

( अर्थ )—[ तेरी यह ] कुलोचित [ आचरण की ] कहानी तभी तक ठीक ठहरती है ( उचित जान पड़ती है, अथवा हृदय में ठहरती है ), जब तक [ मैं नायक को ] नहीं देखती। [ पर नायक के ] देखने पर देखे ही आता है ( देखते ही बन पड़ता है ), [ और बिना देखे ] किसी प्रकार रहा नहीं जाता ॥



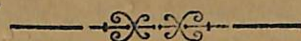
सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जयसाहिजू, फ़ते तिहारैं हाथ ॥ ७१० ॥

जयसाहि=बिहारी कवि के आश्रयदाता, आमेरगढ़ के महाराज जयसिंह। उनको बादशाह के दरबार से 'शाही' की उपाधि मिली थी। 'जयशाही' का शब्दार्थ विजय पर शाही, अर्थात् प्रभुत्व रखने वाले, हो सकता है, और बिहारी ने इस दोहे में बादशाह की जय का उनके हाथ में, अर्थात् उनके वश में, होना कहा है, अतः 'जयसाहि' शब्द का प्रयोग यहाँ साभिप्राय है ॥

( अवतरण )—कवि राजा जयशाही की स्तुति करता है—

( अर्थ )—[ यद्यपि ] सेना [ तथा ] सयानपने ( युद्ध-कौशल ) [ इत्यादि ] के सब ही सामान ( सामग्री ) शाह ( दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ) के साथ [ उपस्थित ] हैं, [ तथापि, ] हे बाहुबली ( अपनी भुजाओं के द्वारा बली ) जयशाहीजी, [ बादशाह की ] फ़तह ( विजय ) तुम्हारे [ ही ] हाथ में है ॥

इस दोहे में कई एक पक्षियों के नाम मुद्रालंकार की रीति पर आए हैं—( १ ) सामाँ ( श्यामा )=पक्षी विशेष, जिसको लोग उसकी मीठी बोली सुनने के निमित्त पालते हैं। ( २ ) सेन ( श्येन )=एक प्रकार का बाज़। ( ३ ) सँयान ( सचान, संचान )=बहरी। ( ४ ) बै=बया पक्षी, जो खेल सिखलाने के लिए पाला जाता है। ( ५ ) साहि ( शाहीं )—फ़ारसी में शाहीं एक प्रकार के बाज़ को कहते हैं। ( ६ ) फते ( फ़तहबाज़ )—फ़ारसी में फ़तहबाज़ एक प्रकार के बड़े बाज़ को कहते हैं ॥



यौँ दल काढ़े बलक तैँ तैँ, जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैँ परैँ ज्यौँ हरि गाइ, गुवाल ॥ ७११ ॥

( अवतरण )—कवि राजा जयसिंह की शूरता तथा कार्य-कुशलता की स्तुति करता है—

( अर्थ )—हे जयसिंह भूपाल, तूने [ बादशाही ] दलों ( सेनाओं ) को [ जो कि शत्रुओं

१. लखैँ ( ३ ), लखे ( ४, ५ )। २. ठिक तौ लौँ ( ३, ४, ५ )। ३. हूँ ( २ )।

से घिर गए थे ] बलक ( बलख ) से इस प्रकार [ सकुशल ] निकाला, जिस प्रकार अघासुर के उदर में पड़ने पर गायों [ तथा ] ग्वालों को हरि ( श्रीकृष्णचंद्र ) ने [ निकाला था ] ॥

सन् १६४७ ईसवी में शाहजहाँ के आज्ञानुसार औरंगज़ेब ने, जो कि उस समय दक्खिन का सूबेदार था, बलख पर चढ़ाई की थी। उसके साथ मिर्ज़ा राजा जयशाही भी थे। उस चढ़ाई में सफलता प्राप्त नहीं हुई, और शत्रुओं के आक्रमणों से ऐसी विपत्ति उपस्थित हुई कि औरंगज़ेब को ऑक्टोबर मास के आरंभ में वहाँ से लौटना पड़ा, और वह २७ ऑक्टोबर को काबुल पहुँच गया। पर उसकी सेना मिर्ज़ा राजा जयशाही के साथ पीछे रह गई, जो, बड़ी कठिनता तथा आपत्तियाँ झेलने के पश्चात्, १० नवंबर को काबुल पहुँची। सेना को बर्फ़ तथा शत्रुओं से बचा कर निकाल लाने में जयशाही ने बड़ी ही बुद्धिमानी तथा वीरता दिखलाई थी ॥

घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिँ असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैँ राखी, जयसाहि ॥ ७१२ ॥

( अवतरण )—यह दोहा तथा इसके पूर्व के दो दोहे, ये तीनों परस्पर संबद्ध हैं। पहिले ( ७१०-संख्यक ) दोहे से कवि जयसिंह के शौर्य तथा चातुर्य की सामान्यतः प्रशंसा कर के दूसरे ( ७११-संख्यक ) से उनके एक विशेष अवसर के शौर्य तथा चातुर्य को लक्षित कर के उनकी प्रशंसा करता है, और फिर इस दोहे से, उक्त अवसर विशेष पर के कार्य से प्राणदान पाए हुए तुर्कों तथा हिंदुओं की विधवा होने से बची हुई स्त्रियों के द्वारा, उनको आशीर्वाद दिलवाता है, क्योंकि ग्रंथ-समाप्ति है, और ऐसे अवसर पर नृप-स्तुति तथा उनको आशीर्वाद देना समीचीन ही है—

( अर्थ १ )—हे जयशाही ! [ जब तू बलख से बादशाही सेना बचा कर ले आया, तो उसमें जो मुसलमान तथा हिंदू सैनिक थे, उनकी स्त्रियाँ विधवा होने से बच गईं, अतः ] घर घर तुर्किनियाँ [ तथा ] हिंदुनियाँ [ तेरी ] सराहना कर के—[ कि वाह रे ! ] जयशाही, तूने [ हमारे ] पतियों की रक्षा कर के [ हमारी ] चादर [ तथा ] चूड़ी रख ली ( हमको विधवा होने से बचा लिया )—[ तुझको ] असीस ( आशीर्वाद ) देती हैं ॥

( अर्थ २ )—[ बलख से निकाल लाने के कारण ] घर घर तो तुर्किनियाँ [ तथा ] हिंदुनियाँ [ तुझको ] सराह कर असीस देती हैं। [ क्योंकि उनके ] पतियों को बचा कर, हे जयशाही, तूने [ उनकी ] चादर [ तथा ] चूड़ी रख लीं ( उनको विधवा होने से बचा लिया ) ॥

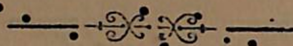
विधवा होने पर मुसलमानों की स्त्रियाँ चादर तथा हिंदुओं की स्त्रियाँ चूड़ी उतार डालती हैं ॥

हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥ ७१३ ॥

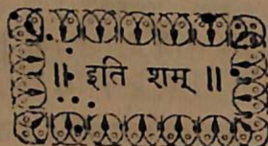
( अवतरण )—ग्रंथ की समाप्ति पर ऊपर लिखे हुए तीन दोहों से नृप-स्तुति कर के तथा नृप को आशीर्वाद दिलवा कर अब इस दोहे से कवि ग्रंथ-निर्माण का कारण, निर्माण कराने वाले का नाम, अपना नाम तथा ग्रंथ का नाम विदित करता है—

( अर्थ )—[ राजा ] जयशाही का हुक्म पा कर, श्रीहरि ( श्रीकृष्णचंद्र ) [ तथा ] श्रीराधिकाजी के प्रसाद ( प्रसन्नता, कृपा ) से, [ मुझ ] बिहारी [ नामक कवि ] ने [ यह ] अनेक सवादों ( रसों ) से भरी हुई सतसई [ नाम की पुस्तक ] करी ( बनाई, रची ) ॥

यह दोहा हमारी पाँच प्राचीन पुस्तकों में से केवल दो में, अर्थात् तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में, है, और वास्तव में ये ही दोनों पुस्तकें मूल और माननीय भी हैं। इनमें से तीसरी पुस्तक, मानसिंह की टीका-सहित, संवत् १७७२ ( वैशाख-कृष्ण-द्वितीया ) की लिखी हुई है। मानसिंह ने इस दोहे की टीका में लिखा है कि बिहारी ने सात सौ तेरह दोहे बनाए हैं। यह दोहा ७१३ के अंतर्गत भी आ जाता है, और मानसिंह की टीका भी इस पर है, अतः इसके बिहारी-कृत होने में संशय नहीं, यद्यपि, हरिप्रकाश तथा लालचंद्रिका के अतिरिक्त, अन्य किसी टीकाकार के ग्रंथ में, अथवा बिना टीका के किसी हस्तलिखित ग्रंथ में, यह हमको नहीं मिला ॥



ग्रह ऋषि निधि ब्रजचंद पाइ अनुकूल बरष बर।
ऋषिपंचमी पुनीत, सुक्ल भादों, रवि बासर ॥
सोभा लखत नसीम-बाग, कसमीर-कुआँर की।
करि रचना यह रुचिर 'बिहारी-रत्नाकर' की ॥
निज छप्पनवें बयग्रंथि-दिन हरष्यौ रतनाकर-हियौ।
श्रीजगदंबा-अवधेस्वरी-करकमलनि अर्पित कियौ ॥



## उपस्करण—१

[ बिहारी-रत्नाकर-स्वीकृत दोहों की अकारादि-क्रम सूची ]

# विज्ञप्ति

इस उपस्करण में बिहारी-रत्नाकर-स्वीकृत दोहों की अकारादि क्रम से सूची दी जाती है, जिसमें पाठकों को कोई दोहा विशेष खोज निकालने में सुबिता हो। इसमें अन्य छपी हुई टीकाओं के क्रमों के अनुसार भी दोहों के अंक कोष्ठों में दे दिए गए हैं, जिसमें उक्त टीकाओं में भी दोहे सरलता से निकाले जा सकें॥

यद्यपि भूमिका में बिहारी-रत्नाकर को मिलाकर सब ५२ टीकाओं का कथन किया गया है, पर उनमें से केवल ये १४ टीकाएँ छपी हैं —

(१) कृष्ण कवि की टीका, (२) हरिप्रकाश-टीका, (३) लाल-चंद्रिका (४) शृंगार-सप्तशती, (५) रस-कौमुदी, (६) पं० प्रभुदयालुजी की टीका, (७) बिहारी-बिहार, (८) पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रजी की टीका, (९) गुलदस्तए-बिहारी, (१०) संजीवन-भाष्य, (११) बिहारी-बोधिनी, (१२) गुजराती टीका, (१३) पं० रामवृक्ष की टीका और, (१४) बिहारी-रत्नाकर॥

अतः इस सूची में इन्हीं १४ टीकाओं के अंक देना उचित प्रतीत हुआ। शेष टीकाएँ दुष्प्राप्य हैं; उनके अंक सामान्यतः पाठकों के निमित्त व्यर्थ होते। मानसिंह की टीका के अंक केवल 'बिहारी-रत्नाकर' के क्रम में स्वल्प परिवर्तन दिखाने के निमित्त दिए गए हैं॥

प्रथम कोष्ठ में दोहों के आदि के शब्द अकारादि क्रम से दिए गए हैं, और द्वितीय कोष्ठ में मानसिंह की टीका के अंक। शेष सात कोष्ठों में मुद्रित टीकाओं के अनुसार दोहों के अंक हैं॥

कृष्ण कवि की टीका में, जो नवलकिशोर-प्रेस से निकली है, बीच बीच के कई दोहे छोड़ दिए गए हैं। हमने जो अंक इस सूची में दिए हैं, वे उक्त टीका की कई प्रतियों के मिलान से शुद्ध करके, अतः छपी हुई पुस्तक के अंकों से हमारे अंकों में कहीं कहीं १-२ तथा कहीं कहीं ८-१० अंकों का अंतर पड़ गया है। पाठक छपी हुई पुस्तक में दोहा खोजते समय ५-७ दोहे आगे पीछे देख लें। कवि सवितानारायणजी की गुजराती टीका के दोहों का क्रम कृष्ण कवि की टीका के क्रम के अनुसार ही है॥

गुलदस्तए-बिहारी, बिहारी-बोधिनी तथा श्रीरामवृक्षजी की टीका, इन तीनों ग्रंथों में हरिप्रकाश-टीका का क्रम है॥

बिहारी-बिहार, स्वर्गीय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका तथा संजीवन-भाष्य में लाल-चंद्रिका का क्रम स्वीकृत किया गया है॥

शृंगार-सप्तशती में सामान्यतः लाल-चंद्रिका का क्रम है, किंतु उसमें कुछ ऐसा हेर-फेर पाया जाता है कि उसके अंकों के निमित्त एक पृथक् कोष्ठ रखना उचित समझ पड़ा। इसी कारण पं० प्रभुदयालुजी की टीका का कोष्ठ भी अलग रक्खा गया है, यद्यपि उसमें सामान्यतः कृष्ण कवि की टीका के क्रम ही का अनुकरण है॥

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| [ अ ] | | | | | | | | |
| अँगुरिनु उचि | ५८५ | ५०५ | ५०८ | ३१८ | २०६ | २०२ | ५०२ | ० |
| अंग अंग छवि | ६६१ | ६६१ | ८५ | १५४ | ५३१ | ४४७ | ८२ | ० |
| अंग-अंग-नग | ७० | ६६ | ६७ | १४७ | ५२६ | ४४५ | ६६ | ० |
| अंग अंग-प्रतिबिंब | ६८० | ६८० | ८६ | १५३ | ५३० | ४४६ | ८३ | ६१ |
| अजौं तर्‌यौना | २० | २० | ६५४ | १२३ | ६४० | ६३६ | ६४८ | २६६ |
| अजौं न आए | २०३ | २०३ | ४१७ | ४८१ | १३० | १२३ | ४१० | ० |
| अति अगाधु | ४११ | ४११ | ५६२ | ६४१ | ६०३ | ५६५ | ५८६ | २७० |
| अधर धरत | ४२० | ४२० | १६० | २३ | ६ | ७ | १५६ | ० |
| अनत बसे | २८६ | २८६ | ३७५ | ४०१ | १८८ | १८४ | ३६८ | ० |
| अनरस हूँ | ३३७ | ३३७ | ४०३ | ४४६ | ३७५ | ३६६ | ३६६ | २६८ |
| अनियारे, दीरघ | ५८८ | ५८८ | ६५५ | ८१ | ३७१ | ३६३ | ६४६ | २६६ |
| अनी बड़ी उमड़ी | २२६ | २२६ | ६१० | ६३१ | ६५६ | ६५४ | ६०४ | ० |
| अपनी गरजनु | ४०६ | ४०६ | ३२ | २१० | ३५१ | ३४२ | ३१ | १०४ |
| अपने अँग के | २ | २ | ६ | २६ | २० | २१ | ६ | ४६ |
| अपनैं अपनैं मत लगे | ५४५ | ५८१ | ६४३ | ७१० | ६८३ | ६७७ | ६३७ | ० |
| अपनैं कर गुहि | २०४ | २०४ | ३१७ | ३६५ | ५५७ | ५४८ | ३१२ | ० |
| अब तजि नाउँ | ६७२ | ६७२ | ५४० | ५७५ | ५७६ | ५६६ | ५३४ | ० |
| अर तैं टरत | ३ | ३ | १० | ५२ | ४५६ | ४६७ | १० | ४५ |
| अरी, खरी सटपट | ४५६ | ४५६ | ३४३ | ३१४ | १६२ | १५६ | ३३७ | ० |
| अरुन-बरन | ४१८ | ४१८ | २४० | १५८ | ५१२ | ५२६ | २३६ | ० |
| अरुनसरोरुह | ४८७ | ४८७ | ५४५ | ० | ५७८ | ५७१ | ५३६ | २६० |
| अरे, परेखौ | ६२० | ६२० | ६८३ | ६५० | ६१५ | ० | ६७७ | ० |
| औंरै परै न | ५२६ | ५२६ | ४७६ | ४६३ | ३८६ | ३८० | ४६६ | ० |
| अलि, इन लोइन-सरनु | ४५० | ४५० | ६१० | २२६ | २६० | २५६ | १०८ | १२ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अहे, कहै न | २७९ | २७९ | ३९९ | २९२ | १५० | १४७ | ३९३ | ० |
| अहे, दहेंड़ी | ६९९ | ६९९ | ० | ६९८ | २२३ | २२१ | ७०१ | ६३ |
| [ आ ] | | | | | | | | |
| आप आपु | १३६ | १३६ | ३५९ | ४४९ | ३७९ | ३५० | ३५२ | २४४ |
| आज कछू | ५२३ | ५२३ | ३०४ | ४१५ | १८७ | १८९ | २६९ | ० |
| आड़े दै आले | २८२ | २८२ | ४३९ | ४९७ | ३८१ | ३७२ | ४३२ | २०० |
| आपु दियौ | २९० | २९० | ३३१ | ४६४ | १८४ | १९५ | ३२४ | ० |
| आयौ मीतु | ६५७ | ६५७ | ४८६ | ५४६ | १४९ | १४६ | ४७९ | ० |
| आवत जात | १७४ | १७१ | ५४९ | ५८३ | ५८२ | ५७५ | ५४५ | २६४ |
| [ इ ] | | | | | | | | |
| इक भींजैं, चहलैं | ४६७ | ४६१ | ६८७ | २८ | ६०९ | ६०२ | ६८१ | २७१ |
| इत आवति | ३१७ | ३१७ | ४४४ | ४९९ | ४१८ | ४०८ | ४३७ | ० |
| इत तैं उत | २०६ | २०६ | १३३ | १९८ | २८६ | २८३ | १२९ | ० |
| इती भीर हूँ | ६१२ | ६१२ | ९७ | ६० | ५७ | ५० | ९५ | २३५ |
| इन दुखिया | ६६२ | ६६३ | १२१ | २४८ | २५० | २६७ | ११८ | १७ |
| इहिँ काँटैं | ६०४ | ६०५ | ३४ | २३५ | ४७ | ८७ | ३३ | १३६ |
| इहिँ द्वैहीँ | ३०६ | ३०६ | २१२ | ८३ | ४७४ | ४८७ | २०८ | ० |
| इहिँ बसंत न | ५७४ | ५७४ | २७५ | ५६१ | ८९ | ७९ | २७० | २३२ |
| इहीँ आस | ४३७ | ४३७ | ५९८ | ६५६ | ६३२ | ६२६ | ५९२ | ३१० |
| [ उ ] | | | | | | | | |
| उठि, ठकु ठकु | ७०४ | ७०४ | ३४६ | ५७७ | १५६ | १५४ | ३३९ | ० |
| उड़ति गुड़ी | ३७४ | ३७३ | १३६ | २१३ | २५५ | २४६ | १३२ | १०८ |
| उनकौ हितु | ४४७ | ४५७ | ३१५ | २१४ | २८९ | २८६ | ३१० | २१६ |
| उन हरकी | १२८ | १२८ | १६९ | १८३ | २८८ | २८५ | १६५ | २१७ |
| उयौ सरद-राका-ससी | २३१ | २३१ | २६४ | ३११ | २३७ | ० | २५९ | २६१ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उर मानिक की | ३३६ | ३३९ | २२७ | १३० | ५७२ | ५१६ | २२३ | ० |
| उर लीनै अति | ५६० | ५६० | १६३ | २७७ | ३१० | ० | १५८ | ० |
| उरु उरुझ्यौ | ५५४ | ५५४ | २४ | २०५ | २८७ | २८४ | २४ | ० |
| [ ऊ ] | | | | | | | | |
| ऊँचैं चितै | ३७५ | ३७४ | २७६ | ६१३ | ७३ | ६६ | २७१ | ० |
| [ ए ] | | | | | | | | |
| एरी, यह तेरी | ६०३ | ६०४ | ४०१ | ४३८ | ८० | ७० | ४६३ | १८२ |
| [ ऐ ] | | | | | | | | |
| ऐंचति सी चितवनि | ३२१ | ३२० | १०४ | ७१ | ६३ | ४७६ | १०२ | ० |
| [ ओ ] | | | | | | | | |
| ओछे बड़े न | ५६० | ५६० | ६६४ | ० | ६०० | ५६३ | ६६१ | ० |
| ओठु उँचै, हाँसी-भरी | ६१४ | ६१४ | ५०७ | ६५२ | २८२ | २७६ | ५०१ | ० |
| [ औ ] | | | | | | | | |
| औंधाई सीसी | २१८ | २१७ | ४३४ | ५१६ | ३८२ | ३७३ | ४२७ | १८६ |
| और सबै हरषी | ६०१ | ६०२ | ६१८ | ६१५ | ७६ | ६८ | ६१३ | २३७ |
| औरै-ओप | ४ | ४ | ४४ | ३८० | ८८ | ९८ | ४३ | ० |
| औरै गति, औरै बचन | ६७८ | ६७८ | ३१६ | ० | ८१ | ७२ | ३१४ | ० |
| औरै भाँति | ८६ | ८६ | ४५६ | ५१२ | ४१५ | ४०५ | ४५२ | ० |
| [ क ] | | | | | | | | |
| कंचनतन-धन-बरन | ३५६ | ३५६ | ७६ | १४६ | ५२२ | ४३६ | ७३ | ० |
| कंज-नयनि मंजनु | ७८ | ७८ | ४१० | ६४ | ६० | ५३ | ४० | ० |
| कत कहियत | ५२० | ५२० | ३५१ | ४०७ | १७६ | १७५ | ३४४ | ० |
| कत बेकाज | ४४६ | ४४६ | ३७१ | ३६७ | १६८ | १६५ | ३६४ | १८१ |
| कत लपटैयतु | ४६६ | ४६६ | ३५० | ४११ | १६२ | १८७ | ३४३ | १६१ |
| कत सकुचंत | २८६ | २८६ | ३७४ | ४०३ | १६० | १८५ | ३६७ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कनकु कनक तैं | २३० | १६२ | ६८६ | ६५१ | ६४८ | ६४३ | ६८० | २७३ |
| कन दैबौ सौंप्यौ | २६५ | २६५ | ६५० | १९१ | ६५१ | ६४६ | ६४४ | १०० |
| कपट सतर भौंहैं | ४१२ | ४१२ | ३६४ | ४२६ | १०५ | १०४ | ३८८ | ० |
| कब की ध्यान | ५८६ | ५८६ | २५८ | २६६ | ६७ | ५८ | १५४ | १०५ |
| कब कौ टेरतु | ६६ | ७१ | ५७२ | ६६६ | ६९१ | ६८५ | ५६६ | ६ |
| कर कै मीड़ै | ५१६ | ५१६ | ४६३ | ५०५ | ४६२ | ४१३ | ४५६ | १८३ |
| करतु जातु जेती | ४५२ | ४५२ | ३२४ | २१५ | २६५ | २६१ | ३१६ | ० |
| करतु मलिन | ३३४ | ३३४ | ७४ | १५२ | ५२५ | ४४१ | ७१ | ० |
| कर-मुँदरी की | ६११ | ६११ | ३६ | ३५३ | ३४७ | ३३७ | ३८ | ० |
| कर लै, चूमि | ६३५ | ६३५ | ४७६ | ५४२ | ४०५ | ३६६ | ४७२ | १३५ |
| कर लै, सूँघि | ६२३ | ६२४ | ६०० | ६६३ | ६४६ | ६४१ | ५८४ | ० |
| कर समेटि | ६८७ | ६८७ | १३८ | ३५ | ४४३ | ४५५ | १०४ | ६४ |
| करी बिरह ऐसी | १४० | १४० | ४३३ | ५१६ | ४२४ | ४१४ | ४२६ | १८५ |
| करु उठाइ | ७०१ | ४२४ | २३२ | ३४७ | ५०३ | ५१७ | २२८ | ० |
| करे चाह सौं | ५४२ | ५४२ | २०३ | ७६ | ३३ | ३३ | १६६ | ० |
| करौ कुबत जगु | ६२४ | ४२५ | ६४६ | ७०३ | ६६३ | ६८७ | ६४३ | ० |
| कहत, नटत | ३२ | ३२ | १६५ | ६२ | ५८ | ५१ | १६१ | ० |
| कहत सबै कबि | ११६ | ११८ | ११३ | २४६ | २६४ | २६१ | ११२ | १६ |
| कहत सबै, बैंदी | ३२७ | ३२७ | १८७ | ४१ | ४४५ | ४५७ | १८३ | ५४ |
| कहति न देवर की | ८५ | ८५ | ६२६ | ५६५ | १५ | १५ | ६२४ | ० |
| कहलाने एकत | ४८८ | ४८६ | ५३२ | ५६५ | ५६६ | ५६१ | ५२६ | २५४ |
| कहा कहौं वाकी | १११ | ११० | ४७१ | २७७ | २६८ | २६५ | ४६४ | ० |
| कहा कुसुमु | ५१२ | ५१२ | ८१ | १४५ | ५१६ | ४३२ | ७८ | ८० |
| कहा भयौ जौ | ५७ | ५७ | ४७८ | ५०६ | ३६७ | ३८७ | ४७१ | १५० |
| कहा लड़ैते दृग | १५४ | १५४ | २५१ | २८० | २२७ | २५२ | २४७ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कहा लेहुगे | ४६ | ४६ | ४१५ | ४४३ | ३५२ | ३६४ | ४०८ | ० |
| कहि पठई जिय | २५४ | २५४ | ४६० | ५४८ | ६५ | ६५ | ४८३ | ० |
| कहि, लहि कौनु | १३३ | १३३ | ७१ | १४१ | ५२० | ४२५ | ० | ० |
| कहे जु बचन | ५३७ | ५३७ | ४२७ | ४६४ | ३६४ | ४११ | ४२० | ० |
| कहैं यहै श्रुति | ४२६ | ४२६ | ६६२ | ६३४ | ६०८ | ६०१ | ६६० | २६३ |
| कागद पर लिखत | ६० | ६० | ४८० | ५३८ | ४०२ | ३६४ | ४७३ | १३४ |
| कारे-बरन डरावने | ५१५ | ५१५ | ३७ | ६१३ | ४५ | ४६ | ३६ | ० |
| कालबूत दूती | ४०७ | ३९९ | ६७५ | ३०७ | ३२२ | ३१४ | ६६६ | ० |
| किती न गोकुल | ६५२ | ६५२ | १६१ | २२ | ७ | ८ | १५७ | ० |
| किय हाइलु | २१२ | २१२ | १६७ | १११ | ५१० | ५२४ | १६३ | ० |
| कियौ जु, चिबुक | ५१८ | ५१८ | ३२० | ३८१ | १०८ | १०७ | ३१५ | ० |
| कियौ सबै जगु | ४६५ | ४६५ | ५४६ | ५८१ | ५८१ | ५७४ | ५४० | ६६३ |
| कियौ सयानी | ६५६ | ६५६ | ४८५ | ५४५ | १४४ | १४१ | ४७८ | ० |
| कीजै चित सोई | ६१७ | ६२१ | ६२२ | ६६६ | ६६६ | ६६३ | ६१७ | ० |
| कीनैं हूँ कोरिक | १८ | १८ | ३५ | १७७ | २८० | २७७ | ३४ | १०७ |
| कुंज-भवनु तजि | ८४ | ८४ | ६२ | ३७४ | ५४८ | ५३९ | ६२ | ० |
| कुच-गिरि चढ़ि | २६ | २६ | २२४ | ६४ | ४८४ | ४६७ | २२० | ० |
| कुटिल अलक | ४४२ | ४४२ | १८२ | ३७ | ४४२ | ० | १७८ | २४ |
| कुढँगु कोपु तजि | ४०४ | ४०४ | ५३७ | ५७१ | ५७३ | ५६६ | ५३१ | ० |
| केसर केसरि-कुसुम | १६७ | १९९ | ३६ | २८८ | १६७ | १६२ | ३५ | ० |
| केसरि कै सरि क्यों | १०२ | १०२ | ७८ | १३६ | ५३५ | ४३१ | ७५ | ० |
| केवा आवत इहिँ | ७०५ | ७०५ | १२७ | ० | ३४३ | ३४० | १२१ | ० |
| कैसैं छोटे नरनु | ११७ | १३१ | ६६१ | ६२४ | ५६६ | ५६२ | ६५५ | ० |
| कोऊ कोरिक | ८७ | ६१ | ६३६ | ७०६ | ६६७ | ६६२ | ६३१ | ० |
| को कहि सकै बड़ेनु | ४३१ | ४३१ | ५६५ | ६६० | ६१६ | ६१२ | ५८६ | ३०८ |

| दोहों की अकारादि-सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| को छुट्यौ इहिं | ६७१ | ६७१ | ५८३ | ६६४ | ६३८ | ६३४ | ५७७ | ३०७ |
| को जानै, ह्वैहै | १५१ | १५० | १३४ | १८८ | २३१ | २६८ | १३० | ० |
| कोरि जतन कीजै | ३६८ | ३६७ | ३१० | २८४ | ७५ | ६७ | ३०५ | ० |
| कोरि जतन कोऊ करौ, तन | ६६७ | ६६५ | २७ | ३३० | ४०८ | ३९७ | २७ | १८४ |
| कोरि जतन कोऊ करौ, परै | ३४४ | ३४१ | ६९८ | ६२५ | ५९५ | ५८८ | ६७२ | २७४ |
| कौंहर सी एड़ीनु की | ४४ | ४४ | २३९ | ११० | ५०९ | ५२३ | २३५ | ० |
| कौड़ा आँसू-बूँद | २३० | २२७ | ११२ | ५२२ | ४०३ | ३९१ | ११० | ० |
| कौन भाँति रहिहै | ३१ | ३१ | ५५८ | ६९३ | ६८८ | ६८२ | ५२७ | ० |
| कौनु सुनै | ६३ | ६३ | ४३४ | ५११० | ३६० | ३८१ | ४४७ | २०१ |
| क्यौं बसियै | ४०७ | ४०५ | १४३ | २१९ | २७५ | २७२ | १३९ | १०६ |
| क्यौंहूँ सहबात न | ३१० | ३०९ | ४०२ | ४४७ | २७६ | ३६८ | ३६५ | ० |
| [ ख ] | | | | | | | | |
| खरी पातरी | १४ | १४ | २५७ | ४३४ | ३६७ | ३५७ | २५३ | ० |
| खरी लसति | ४४० | ४४० | २६३ | १४६ | ४९२ | ५०५ | २१९ | ० |
| खरैं अदब | ३६० | ३६० | ३२७ | ४५४ | ३६१ | ३५२ | ३८० | ० |
| खल-बढ़ई | ४४४ | ४४४ | ३२३ | २१६ | २६४ | [illegible] | ३१८ | ० |
| खलित बचन | ६५३ | ६५३ | ५२६ | ३६० | २१९ | २१६ | ५२० | ० |
| खिंचे मान अपराध | ६४९ | ६४९ | ४१६ | ४६१ | १०२ | १०१ | ४०९ | ० |
| खिन खिन मैं | २०२ | २०२ | १४९ | २५६ | ३१३ | ३०५ | १४५ | ० |
| खेलन सिखए | ४५ | ४५ | ५२ | ५१ | ४५८ | ४६९ | ५१ | ३२ |
| खौरि-पनिच | १०४ | १०४ | १८३ | ४९ | ४५३ | ४६५ | १७९ | ० |
| [ ग ] | | | | | | | | |
| गड़ी कुटुम | ५९८ | ५९८ | ९८ | ६९ | ४३८ | ४२८ | ९६ | ० |
| गड़े बड़े छबि-छाक | ४४८ | ४४८ | २७३ | १००७ | १७६ | १७८ | ३६६ | ० |
| गढ़-रचना | ३१६ | ३१६ | ६९० | ४७ | ५९६ | ५८९ | ६८४ | २९६ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पांडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गदराने तन | ९३ | ९३ | ५६२ | ५९८ | २५८ | २२९ | ५०६ | ० |
| गनती गनिबे | २७५ | २७५ | ४२७ | ५३१ | ४३१ | ४२० | ४३० | ० |
| गली अँधेरी | २५३ | २५३ | २६३ | ३२७ | २२१ | २१८ | ३८१ | ० |
| गहकि, गाँसु | ६५ | ६५ | ३५६ | ३८४ | २०० | ० | ३३९ | ० |
| गहिली, गरबु | ३१३ | ३१३ | २५३ | ४४२ | ३६६ | ३६० | २४९ | २७५ |
| गहै न नेकौ | ३५८ | ३७७ | ५९१ | ६७२ | ६४२ | ० | ५८५ | ० |
| गह्यौ अबोलौ | ५९१ | ५९१ | ३८० | ५३३ | ११९ | १३८ | ३७३ | ० |
| गोड़ैं ठाढ़ैं | ४६१ | ४६२ | १२ | ९ | ४६८ | ५१२ | १२ | ० |
| गिरि तैं ऊँचे | २५१ | २५१ | ६६५ | ६१८ | ६२६ | ६१९ | ६५९ | २७६ |
| गिरै कंपि | ६३३ | ६३३ | ५५९ | ५५८ | ५६२ | ५५३ | ५५३ | २२४ |
| गुनी गुनी | ३५१ | ३५१ | ६८० | ६३६ | ६१० | ६०३ | ६७३ | २७८ |
| गोधन, तूँ | ६९६ | ६९६ | ६०२ | १७ | ६२९ | ६२३ | ५९२ | ३०३ |
| गोप अथाइनु | १७७ | १७६ | ३४८ | ३०८ | ३५७ | १५५ | ३४१ | २४० |
| गोपिनु कैं | २९३ | २९३ | ४८४ | ५२६ | ६५५ | ६५० | ४७७ | ० |
| गोपिनु सँग | २९१ | २९१ | ५७ | १९ | १० | ९ | ५६ | ० |
| गोरी गदकारी | ७०८ | ७०८ | ० | ५८७ | ५४३ | ५३४ | ६९८ | ० |
| गोरी छिगुनी | ३३८ | ३३८ | २३० | १२५ | ४९६ | ५०९ | २२६ | ० |
| [ घ ] | | | | | | | | |
| घन-घेरा | ४८५ | ४८५ | ५९४ | ५७९ | ५७७ | ५७० | ५३८ | २५९ |
| घर घर तुरकिनि | ७१२ | ७१२ | ६९२ | ० | ७०५ | ६९८ | ६०६ | ० |
| घरु घरु डोलत | १४९ | १५१ | ६७४ | ६६८ | ६०६ | ५९८ | ६६८ | ० |
| घाम घरीकु | १२७ | १२७ | १७३ | ३६३ | ४८ | ८६ | १६९ | २२६ |
| [ च ] | | | | | | | | |
| चकी जकी सी | ६२६ | ६२६ | १२२ | २०१ | ४२९ | ४१८ | ११९ | ० |
| चटक न छाँड़तु | ६९८ | ६९८ | ६८२ | ६१९ | ५९१ | ५८४ | ६७९ | ० |
| चमक तमक | ७६ | ७६ | २९२ | ३३८ | ५४५ | ५३६ | २८७ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चमचमात | ५७६ | ५७६ | २०२ | ८२ | ४६८ | ४८१ | १९८ | ९६ |
| चलत चलत | १७२ | १७२ | ४८३ | ४८० | १३३ | १२७ | ४५६ | १८८ |
| चलत देत | ५५१ | ५५१ | ५३ | ४७४ | १३९ | १३३ | ५२ | २३६ |
| चलत पाइ | १५६ | १५६ | ६०७ | ६२७ | ७०२ | ६६६ | ६०१ | ० |
| चलतु घेरु | ४६० | ४६० | १३७ | १९३ | २४६ | २३७ | १३३ | ० |
| चलन न पावतु | ८८ | ८७ | २२५ | १०४ | ४९७ | ५११ | ३२१ | ९० |
| चलित ललित | ४०३ | ४०३ | ५४२ | ३६४ | ५५५ | ५४६ | ५३६ | ० |
| चलौ चलैं | ५३९ | ५३९ | ४१० | ४४५ | ३७४ | ३६५ | ४०१ | ० |
| चल्यौ जाइ | ४३९ | ४३९ | ६०४ | ६७५ | ६२२ | ६१५ | ५९८ | ३०५ |
| चाले की बातैं | १३४ | १३४ | २३ | ३१९ | २९ | २९ | २३ | ० |
| चाह भरीं | ६२२ | ६२२ | ५२२ | ४८३ | १३७ | १३१ | ४१५ | २२३ |
| चितई ललचौंहैं | १२ | १२ | १०१ | १७६ | ५४ | ९३ | ९८ | ० |
| चित पितमारक | ५७५ | ५७५ | ६१५ | ६४९ | ६५३ | ६४८ | ६१० | ० |
| चितवत जितवत | ५१७ | ५१७ | १७२ | ६०५ | ५१ | ९० | १६८ | २१८ |
| चितवनि भोरे | ३०५ | ३०५ | ९६ | २५५ | ३१२ | ३०४ | ९४ | ० |
| चितवनि रूखे | २९ | २९ | ३९३ | ४२३ | ३५८ | ३४९ | ३८७ | ० |
| चितु तरसतु | २६२ | २६२ | ५१९ | २८३ | १२८ | ० | ५१३ | १८७ |
| चितु दै देखि | ५४७ | ५४७ | ६५७ | २६५ | ६२१ | ६१४ | ६५१ | २६५ |
| चितु वितु बचतु | १७५ | १७५ | १५६ | २३३ | २७८ | २७५ | १५२ | १५१ |
| चिर जीवौ | ६७७ | ६७७ | ३८९ | ८ | २२६ | २२३ | ३८३ | ० |
| चिलक चिकनई | १९४ | १९६ | १०७ | २५१ | ३१४ | ३०६ | १०५ | ६५ |
| चुनरी स्याम | ३९६ | ३९६ | ९३ | २५७ | ३१८ | ३१० | ९० | ६६ |
| चुवतु स्वेद | ३६२ | ३६० | ५६१ | ५८२ | ५८८ | ५८१ | ५५५ | २४५ |
| [ छ ] | | | | | | | | |
| छकि रसाल | ४९६ | ४९६ | ५२७ | ५६० | ५६५ | ५५७ | ५२१ | २५१ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पांडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| छुवौं नेहु | ४५७ | ४५७ | ४५१ | ५०४ | १२७ | १३६ | ४४४ | १८६ |
| छला छबीले | १५३ | १५३ | २२ | १७६ | १११ | ११० | २२ | १०६ |
| छला परोसिनि | ३८१ | ३७६ | ३७६ | ४७५ | ११६ | ११५ | ३७२ | ० |
| छाले परिबे कें | ४८३ | ४८३ | २२७ | १५६ | ५३६ | ५३० | २४३ | ५८ |
| छिनकु उघारति | ६६५ | ६६५ | २८ | ३७६ | ११० | १०६ | २८ | ० |
| छिनकु चलति | ३८६ | ३८५ | ३३७ | ५६६ | २४४ | २३५ | ३३० | ० |
| छिनकु, छबीले | ५०४ | ५०४ | १६८ | २६५ | ३३६ | ० | १६४ | ० |
| छिपैं छिपाकर | ५८० | ५८० | २४५ | ३१३ | १५८ | १५३ | ३३८ | ० |
| छिप्यौ छबीलो | ५३८ | ५३८ | १६६ | ११६ | ४६० | ५०३ | १६२ | ३७ |
| छिरके नाह | १५३ | १५३ | ४६५ | ३६७ | ५५४ | ५४५ | ४८८ | ० |
| छुटत मुठिनु | ३५२ | ३५२ | ५५६ | ५५५ | ५६१ | ५५२ | ५५० | २१९ |
| छुटन न पैयतु | ३२५ | ३२५ | १४२ | २१७ | ३५३ | ३४४ | १३८ | ० |
| छुटी न सिसुता की | ७१ | ७० | ८ | २४ | १७ | १८ | ८ | ६७ |
| छुटे छुटावत | ५७३ | ५७३ | १८१ | ३६ | ४४१ | ४५३ | १७७ | ० |
| छुटै न लाज | ५२४ | ५२४ | १६ | ७८ | ३४ | ३४ | १६ | ० |
| छ्वै छिगुनी | १५६ | १५६ | १७४ | २३६ | २२५ | २२० | १७० | ० |
| [ ज ] | | | | | | | | |
| जंघ जुगल | २१० | २१० | २३६ | १०७ | ५०६ | ५२० | २३२ | ० |
| जगतु जनायौ | ४२ | ४१ | ६४७ | ६६६ | ६७० ७२६ | ६६५ | ६४१ | ० |
| जज्यौं उझकि | ५०२ | ५०३ | ५५७ | ३५६ | ५५८ | ५४६ | ५५१ | ० |
| जटित नीलमनि | १४२ | १४३ | २१३ | ८५ | ४७२ | ४८५ | २०६ | ५७ |
| जदपि चवाइनु | ३३६ | ३३६ | १७० | ८४ | ६५ | ५६ | १६६ | ० |
| जदपि तेज | १४४ | १४५ | ४६४ | ५५० | १५१ | १४८ | ४८७ | ० |
| जदपि नाहिं | ३२४ | ३२४ | २६१ | ३३६ | ७२१ | ० | २८६ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जदपि लौंग | ६८५ | ६८५ | २१४ | ८७ | ४७३ | ४८६ | २१० | ० |
| जद्यपि सुंदर | ६५८ | ६५८ | ६८२ | २२५ | ३२७ | ३१९ | ६५६ | २८७ |
| जनमु जलधि | ३७७ | ३७६ | ५९० | ० | ६४१ | ६३७ | ५८४ | ३०१ |
| जपमाला, छापैं | १४५ | १४१ | ६४२ | ६८० | ६६९ | ६६३ | ६३६ | ३ |
| जब जब वै | ६१ | ६२ | १५१ | ५१० | ४१० | ४०० | १४७ | १६ |
| जम-करि-मुँह-तरहरि | २१ | २१ | ६३५ | ६५८ | ६६८ | ६६४ | ६३० | ० |
| जरी-कोर | ३०४ | ३०४ | १९६ | १३१ | ४९१ | ५०४ | १९५ | ० |
| जसु अपजसु | १५७ | १५७ | १२८ | २३७ | २६८ | २६५ | १२४ | १३ |
| जहाँ जहाँ ठाढ़ौ | १८२ | १८२ | १५२ | ७ | ४१२ | ४०२ | १४८ | ० |
| जाकैं एकाएक | ५७३ | ३७१ | ६७९ | ६६९ | ६१८ | ६१० | ६७३ | ० |
| जात जात बितु | २३५ | २३५ | ६३७ | ६८६ | ६७६ | ६७० | ६३२ | ० |
| जात सयान | ६२९ | ६२९ | ३३ | २३६ | २७६ | २७३ | ३२ | १३७ |
| जाति मरी बिछुरी | २७७ | २७७ | ३२९ | ५३२ | २४९ | २४० | ७१३ | १११ |
| जालरंध्र-मग | २६३ | २६३ | ५१४ | २२४ | ३२६ | ३१८ | ५०८ | ० |
| जिन दिन देखे | २५५ | २५५ | १८७ | ६५५ | ६३१ | ६२५ | ५८१ | ३०९ |
| जिहिँ निदाघ | २४४ | २४४ | ४३५ | ५२३ | ३८३ | ३७४ | ४२८ | २०३ |
| जिहिँ भामिनि | ६०७ | ६०८ | ३५३ | ४२२ | १७५ | १७१ | ३४६ | ० |
| जुरे दुहुनु के | १९६ | १९८ | १६७ | ६६ | ६१ | ५४ | १६३ | ० |
| जुवति जोन्ह | ७ | ७ | ३४७ | ३१५ | १६० | १५७ | ३४० | ६८ |
| जे तब होत | ६१५ | ६१५ | १४७ | २०८ | ४७० | ४८३ | १४३ | १९० |
| जेती संपति | १०९ | १११ | ६७२ | ६२२ | ५९३ | ५८६ | ६६६ | ० |
| जोग-जुगति | १२ | १३ | २०७ | ५४ | ४५७ | ४६८ | २०३ | २७ |
| जो तिय तुम | ५५८ | ५५८ | ३८८ | ४१७ | १९४ | ० | ३८२ | ० |
| जोन्ह नहीं | २३४ | २३४ | ६८४ | ५८९ | ४२० | ४१० | ६७८ | ० |
| जो सिर धरि | ४३० | ४३० | ६५६ | ६७४ | ६१४ | ६०७ | ६५० | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जौ चाहत | ३६७ | ३६६ | ६५३ | ६४४ | ३६५ | ३५६ | ६४७ | १३८ |
| जौ न जुगति | ७५ | ७५ | ६८९ | १८६ | ५४७ | ५२८ | ६८३ | ११२ |
| जौ लौं लखौं | ७०६ | ७०६ | २६० | २३१ | १०४ | १०३ | २५६ | ११० |
| जौ वाके तन | १४१ | १४२ | ४६५ | २७६ | ३०८ | ३०३ | ४५८ | २०२ |
| ज्यों कर, त्यों | ६६१ | ६५७ | ५०१ | ६०७ | ५४१ | ५३२ | ४६५ | ० |
| ज्यों ज्यों आवति | ५४३ | ५४३ | १४० | ३९६ | १५४ | १५१ | १३६ | ० |
| ज्यों ज्यों जोवन | ११२ | ११२ | १६ | १०५ | २२ | २३ | १६ | ४० |
| ज्यों ज्यों पटु | ३५३ | ३५३ | ५५५ | ५२६ | ५६३ | ५५४ | ५४९ | ६९ |
| ज्यों ज्यों पावक | ३५४ | ३५४ | ० | ५५२ | १४८ | १४५ | ७१४ | १५४ |
| ज्यों ज्यों बढ़ति | ४६२ | ४६२ | ५५७ | ५८० | ५७९ | ५७२ | ५४१ | ० |
| ज्यों ह्वैहौं, त्यौं | ४२३ | ८०१ | ५७६ | ७१२ | ६६२ | ६८६ | ५७० | ० |
| [ झ ] | | | | | | | | |
| झटकि चढ़ति | १६२ | १६४ | १४४ | १६५ | २८५ | २८२ | १४० | ११३ |
| झीने पट में | १६ | १६ | १८५ | १३७ | ४८२ | ४६५ | १८१ | ० |
| झुकि झुकि | ५८९ | ५८९ | ३४२ | ३१७ | १५३ | १५० | ३३५ | २२७ |
| झूठे जानि | ३४५ | ३४५ | १७१ | ५८ | ४६१ | ४७२ | १६७ | ० |
| [ ट ] | | | | | | | | |
| टटकी धोई | ४७८ | ४७७ | ४९९ | ६४७ | २४३ | २३३ | ४९२ | ९१ |
| टुनहाई | ३४८ | ३४८ | ३३८ | २६९ | १२४ | १२० | ३३१ | ० |
| [ ड ] | | | | | | | | |
| डगकु डगति सी | १३९ | १३९ | १०३ | २५० | ३१५ | ३०७ | १०० | ० |
| डर न टरै | ३१८ | ३१८ | १३५ | १६३ | २७७ | २७४ | १३१ | १२७ |
| डारी सारी नील की | ५० | ५० | १४६ | १२७ | ४६४ | ४७५ | १४२ | ३१ |
| डारे ठोढ़ी-गाढ़ | २७ | २७ | २२१ | ९६ | ४८५ | ४९८ | २१७ | ९५ |
| डिगत पानि | ६१० | ६०१ | २६५ | १३ | ६६१ | ६५६ | २६० | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| डीठि न परत | ३३३ | ३३३ | ७३ | १५१ | ५२८ | ४४४ | ९० | ० |
| डीठि-वरत | १९१ | १९२ | १६६ | ६५ | ५९ | ५२ | १६२ | ० |
| [ ढ ] | | | | | | | | |
| ढरे ढार | २३२ | २३२ | ११५ | २०० | २६३ | २६० | ११३ | ० |
| ढीठि परोसिनि | २८४ | २८३ | ५१८ | ४७३ | ११८ | ११७ | ५१२ | ० |
| ढीठ्यौ दै | २८६ | २८७ | ५२० | १७४ | २८ | २१३ | ५१४ | ० |
| ढोरी लाई | ५२२ | ५२२ | २५९ | २६४ | ३३७ | ३२८ | २५५ | ० |
| [ त ] | | | | | | | | |
| तंत्री-नाद | ६४ | ६४ | ६६७ | ६१७ | ५६७ | ५६० | ६६४ | २८० |
| तच्यौ आँच | ३७६ | ३७८ | २६९ | ५२४ | ४२८ | ० | २६४ | १९२ |
| तजतु अठान | १७१ | १७० | ४६६ | १८९ | ७१७ | ० | ४६ | ० |
| तजि तीरथ | २०१ | २०१ | ३१४ | ४ | ६८२ | ६७६ | ३०९ | ० |
| तजी संक | २१९ | २१८ | २७९ | १९९ | ४२१ | ४१२ | ७१ | ० |
| तनक झूठ | ६४४ | ६४४ | ० | ३३१ | ५४६ | ५३७ | ७०८ | २७९ |
| तन भूषन | २३६ | २३६ | २५५ | १२८ | ५१४ | ४३३ | २५१ | ० |
| तपन-तेज | ३४२ | ३४३ | ५५१ | ५८५ | ५८३ | ५८६ | ५४१ | २६६ |
| तर झरसी | ३२८ | ३२८ | ४८१ | ५४१ | ४०३ | ३९२ | ४७४ | १९१ |
| तरिवन-कनकु | ८२ | ८२ | २१७ | १२६ | ९३ | ८१ | २१३ | ० |
| तरुनकोकनद | १९० | १९९ | ३६४ | ३८७ | १८० | १५७ | ३५७ | ० |
| तिय, कित | ३५६ | ३५६ | ६३१ | ७६ | ४६७ | ४७८ | ६२६ | ३३ |
| तिय-तरसौंहैं | ४८४ | ४८४ | ५४१ | ५६७ | ५७२ | ५६५ | ५३५ | ० |
| तिय-तिथि | २७४ | २७४ | ७ | २५ | १८ | १९ | ७ | १०२ |
| तिय निय हिय | २९७ | २९८ | ४३० | ६१० | २९१ | १७३ | ४२३ | ० |
| तिय-मुख | ७०७ | ७०७ | १८६ | ४९ | ४४८ | ४५९ | १८२ | ५५ |
| तीज-परब | ३१५ | ३१५ | ३१८ | १३३ | ३३३ | ३२५ | ३१३ | ९६ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तुरत सुरत | १८५ | १८५ | ३६१ | ३६३ | १६६ | १७६ | ३५४ | ० |
| तुहूँ कहति | ५४८ | ५४८ | ४११ | ४५६ | ६६ | ६६ | ४०४ | ० |
| तूँ मति माने | २५० | २५० | ६५८ | २८६ | ७८ | ६४ | ६५२ | ० |
| तूँ मोहन-मन | ६०८ | ६०६ | ३४० | २८१ | ३२४ | ३१६ | ३३३ | ० |
| तूँ रहि, हौं, हौं | २६८ | २६८ | २४६ | २८६ | २३२ | २५० | २४५ | ७० |
| तेह-तरेरौ | ११३ | ११३ | ३५८ | ३८५ | १६१ | १८३ | ३५१ | ५६२ |
| तो तन अवधि | ५६७ | ५६७ | २६२ | १६६ | ५३६ | ४५१ | २५८ | ० |
| तो पर वारौं | २५ | २५ | ३३६ | २५६ | ३२३ | ३१५ | ३३२ | ७१ |
| तो रस-राँच्यौ | १६५ | १६७ | २५८ | ४४० | ३६८ | ३५६ | २५४ | ११४ |
| तो लखि मो मन | ५५६ | ५५६ | ६३३ | ६७ | ४८६ | ४६६ | ६२८ | ० |
| तोहीं निरमोही | ३६ | ३६ | ३२७ | २४३ | ३५२ | ३४३ | ३२२ | १२६ |
| तो ही कौ छुटि | ३११ | ३१० | ४०६ | ४५७ | १०७ | १०६ | ४०२ | १५२ |
| तौ अनेक | ४२७ | ४२१ | ६४५ | ७०६ | ६८४ | ६७८ | ६३६ | ० |
| तौ बलियै | ६२५ | ६२१ | ० | ७०८ | ६८६ | ६६० | ७१७ | ० |
| तौ लगु या मन | ३६१ | ३६१ | ६४८ | ६८३ | ६७६ | ६७३ | ६४२ | ० |
| त्यौं त्यौं प्यासे | ४१७ | ४१७ | ११० | १६२ | ५३३ | ४४६ | १०७ | ० |
| त्रिवली नाभि | ८६ | ८८ | १०२ | १६७ | ४१ | ४३ | ६६ | ८६ |
| [थ] | | | | | | | | |
| थाकी जतन | १२५ | १२५ | ४७४ | १८० | ३०६ | ३०१ | ४६७ | १४० |
| थोरैं हीं गुन | ६८ | ६८ | ५७५ | ६६५ | ६६० | ६८४ | ५६८ | ६ |
| [द] | | | | | | | | |
| दच्छिन पिय | २६० | २६० | ३३३ | ४६३ | २०२ | १६८ | ३२६ | ० |
| दिन दस | ४३४ | ४३४ | ५६६ | ६६७ | ६३५ | ६२६ | ५६० | ३१२ |
| दियौ अरघु | २६६ | २६६ | २५० | ३६० | २३३ | २५१ | २४६ | ० |
| दियौ जु पिय | २८० | २८० | ५५३ | ५५४ | ५६० | ५५१ | ५४७ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दियौ, सु सीस | ८१ | ८१ | ६२१ | २७६ | ६८६ | ६८० | ६१६ | ७ |
| दिसि दिसि कुसुमित | ४७६ | ४७६ | ५३० | ५२८ | ५६६ | ५५८ | ५२४ | २५० |
| दीप-उजेरैं | ४६२ | ४६३ | २६० | ३३३ | ३१ | ३१ | २८५ | ० |
| दीरघ साँस | ५१ | ५१ | ६२० | ६६२ | ६८५ | ६७६ | ६१५ | ० |
| दुखहाइनु | ५६२ | ५६२ | २६ | २४४ | ३५५ | ३४६ | २६ | १८ |
| दुचितैं चित | २६४ | २६४ | ६५६ | २२६ | ३४६ | ३३६ | ६५३ | ० |
| दुरत न कुच | १८८ | १८८ | २२६ | ११३ | ४६६ | ५१३ | २२२ | ३७ |
| दुरै न निघरघट्यौ | ४८२ | ४८२ | ३७२ | ४२१ | १३ | १३ | ३६५ | १६३ |
| दुसह दुराज | ३५७ | ३५७ | ६६६ | ६३२ | ६०५ | ५६७ | ६६६ | २८१ |
| दुसह बिरह | ६६६ | ६६६ | ४५८ | ४८५ | ३६३ | ३८२ | ४२१ | ० |
| दुसह सौति | ६०० | ६०० | ३५२ | १६४ | ११२ | १११ | ३१७ | ० |
| दूरि भजत | ४२८ | ४२८ | ६४४ | ६८८ | ६७४ | ६६६ | ६३८ | ० |
| दूर्यौ खरे | ६३८ | ६३८ | १६८ | ५७ | ६४ | ५५ | १६४ | २२१ |
| दृग उरझत | ३६३ | ३६३ | ६३२ | १६२ | २७१ | २७० | ६२७ | १४२ |
| दृग थिरकौंहैं | ६६२ | ६६२ | ५०० | ६०६ | ५४२ | ५३३ | ४६४ | ० |
| दृगनु लगत | ३४६ | ३४६ | ६१२ | ५७ | ४६२ | ४७३ | १०६ | ० |
| दृग मिहचत | १९९ | २०० | ५१६ | ३५१ | २१३ | २०८ | ५१० | १५५ |
| देखत कछु | ६३४ | ६३४ | १२० | २७० | ४२ | ४४ | ११७ | १४१ |
| देखत बुरै | ६० | ८९ | ४६६ | २६४ | २९७ | २९३ | ४६२ | ० |
| देखी सो न जुही | ३३० | ३३० | ७२ | १३२ | ५१७ | ४३७ | ६६ | ० |
| देखौं जागत | ४२२ | ४२३ | ६० | ३१२ | ३४४ | ३३४ | ८७ | ० |
| देख्यौ अनदेख्यौ | ६१८ | ६१८ | १०६ | १६८ | ४४ | ४७ | १०४ | ० |
| देवर-फूल-हने | २४६ | २४६ | ६१७ | ६०६ | ४६ | ४८ | ६१२ | ० |
| देह दुलहिया | ४० | ४० | १५ | ३० | २५ | २६ | १५ | ० |
| देह-लग्यौ | ४६६ | ४६७ | ६६० | २२० | ३२० | ३१२ | ६५४ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दोऊ अधिकाई | ५५६ | ५५६ | ३६० | ४३१ | २६२ | ३५३ | ३८४ | ० |
| दोऊ चाह-भरे | ५८१ | ५४५ | १९७ | ३६५ | २३६ | २२७ | १७२ | ० |
| दोऊ चोर | ५३० | ५३० | ५१५ | ३७० | २१६ | २१० | ५०९ | ० |
| द्वैज-सुधा | ९२ | ९२ | ५६६ | ५८७ | २५० | २४१ | ५६० | ० |
| [ ध ] | | | | | | | | |
| धनि यह द्वैज | ३८७ | ३८५ | ५६७ | ५८८ | ७९ | ६६ | ५६१ | ० |
| धुरवा होहिं न | ५४६ | ५४६ | ५३८ | ५७२ | ३८६ | ३७१ | ५३२ | २५६ |
| ध्यान आनि | ५९४ | ५९४ | २६७ | ४६० | ३४८ | ३३६ | २६२ | ० |
| [ न ] | | | | | | | | |
| नई लगनि | २०५ | २०५ | २१ | १९७ | १८४ | १८० | २१ | ११५ |
| न ए बिससियहि | ३०६ | ३११ | ६९६ | ६२२ | ५९२ | ५८५ | ६९३ | ० |
| न करु, न डरु | ३९५ | ३९५ | ३६६ | ४०६ | १८१ | १८१ | ३६२ | १६४ |
| नख-रुचि-चूरनु | ५५० | ५५० | २२६ | २३० | २७९ | २७६ | २२५ | १२६ |
| नख-रेखा | २४१ | २४० | ३६३ | ४०८ | १७२ | १६६ | ३५६ | ० |
| नख-सिख-रूप | १५८ | १५८ | २१६ | २३८ | २६७ | २६४ | २१५ | १४ |
| न जक धरत | ४०५ | ४०५ | २४६ | १५७ | ५३८ | ५२६ | २४२ | ० |
| नटि न सीस | ६०६ | ६०७ | ३०७ | ३५५ | ८५ | ७५ | ३०२ | ० |
| नस-लाली | ११५ | ११५ | ३४१ | ४६२ | १५२ | १४९ | ३३४ | २१५ |
| नयैं बिरह | ४५६ | ४५६ | ३७७ | ५७३ | १३८ | १३७ | ३७० | ० |
| नर की अरु नल-नीर | ३२० | ३२१ | ० | ६४२ | ६२३ | ६१६ | ७०२ | २८२ |
| नव नागरितन | २२१ | २२० | १७ | ३१ | २१ | २२ | १७ | ४७ |
| नहिं अन्हाइ | ६४५ | ६४५ | ५०३ | ६०० | ५३ | ९२ | ४९७ | ० |
| नहिं नचाइ | ३६४ | ३६४ | ९९ | २५३ | १०६ | १०५ | ९७ | ० |
| नहिं परागु | ३८ | ३८ | ३ | २६८ | ६३० | ६२४ | ३ | ३१५ |
| नहिं पावसु | ४७४ | ४७४ | ५८२ | ६७० | ६३९ | ६३५ | ५७६ | ३०४ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नहिँ हरि लौं | ४६४ | ४६४ | ५६ | ३९३ | ३४१ | ३३२ | ५५ | ११६ |
| नाउँ सुनत | ५९९ | ५९९ | ४८ | ३०२ | ७० | ६१ | ४७ | ० |
| नाक चढ़ै | ६०५ | ६०६ | ५१२ | ३०० | २३४ | २२४ | ५०७ | ७२ |
| नाक मोरि | ६३२ | ६३५ | ५१० | ३४९ | २४७ | २३६ | ५०४ | १६० |
| नागरि बिबिध | ५०६ | ५०६ | ६०३ | ३६६ | ३३१ | ३२२ | ५९७ | ० |
| नाचि अचानक | ४६६ | ४६६ | ४९१ | ११ | ४०७ | ३९८ | ४८४ | ० |
| नावक-सर | ५७० | ५७० | १५७ | ८० | २३८ | २२९ | १५३ | ० |
| नासा मोरि | ४०६ | ४०६ | ६०० | ४८ | ४५४ | ४६४ | १९६ | ७२ |
| नाह गरजि | २१५ | २१५ | ५८१ | ६३७ | ६६० | ६५५ | ५७५ | ० |
| नाहिँन ए | ४८८ | ४८८ | ५३४ | ५६४ | ५६८ | ५६० | ५२८ | २५३ |
| निज करनी | ४२५ | ४२६ | ५८० | ७०५ | ६९८ | ६९२ | ५७४ | ० |
| नित प्रति एकत हीँ | २३८ | २३८ | ३१२ | ९ | ९ | १० | ३०७ | २३ |
| नित संसौ हंसौ | १२४ | १२४ | ४४८ | ५१५ | ४२५ | ४१५ | ४४१ | ० |
| निपट लजीली | ३७० | ३६८ | ५२३ | ३६१ | ३१८ | ३१४ | ५१७ | १५७ |
| निरखि नवोढ़ानारि | २९६ | २९६ | ११ | १७३ | २७ | २८ | ११ | ० |
| निरदय नेहु | ३७२ | ३७० | ४०६ | २१८ | ३५४ | ३४५ | ३९९ | १२८ |
| निसि अँधियारी | २०७ | २०७ | ३४३ | ३१२ | १६१ | १५८ | ३३६ | ० |
| नीकी दई | १० | ११ | ५७३ | ६९१ | ६८७ | ६८१ | ५६७ | ५ |
| नीकौ लसतु | १०५ | १०५ | १८४ | ३९ | ४४४ | ४५६ | १८० | ० |
| नीच हियैं | ४९१ | ४९१ | ६७७ | ६२३ | ५९४ | ५८७ | ६७१ | ० |
| नीचीयै नीची | २५७ | २५७ | ० | ७५ | ४६५ | ४७६ | ७०५ | ० |
| नीठि नीठि उठि | ६४३ | ६४३ | २९५ | ३७२ | २०८ | २०४ | २९० | १५६ |
| नेहु न नैननु कौं | ३७ | ३७ | १२३ | १७८ | २५९ | २५७ | १२० | ० |
| नैंकु उतै | ५०० | ५०० | २७१ | ३५७ | ३५७ | ३४८ | २६६ | ० |
| नैंकु न जानी | ११४ | ११४ | ४६४ | २७८ | ३०१ } ४२३ } | २९७ | ४५७ | १९३ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नैंकु न झुरसी | ९८ | ९८ | ४४५ | ५१३ | २९३ | २८६ | ४३८ | ० |
| नैंकु हँसौंहीं | १०० | १०० | २२० | १०३ | ४८३ | ४९६ | २१६ | ० |
| नैंकौ उहिं न | ६१६ | ६१६ | १४८ | ३०३ | ३३८ | ३३० | १४४ | ० |
| नैन लगे | ३७३ | ३७२ | ११७ | २२७ | ५७ | ७१ | ७०६ | २२ |
| नैना नैंकु न | १६० | १६० | १३९ | २४० | २६२ | २५९ | १२५ | १५ |
| न्हाइ पहिरि | ७०० | ७०० | ४२ | ६०४ | ५० | ८९ | ४१ | ० |
| [प] | | | | | | | | |
| पँचरँग-रँग-बेंदी | ६२६ | ६२६ | १८८ | १३४ | ४५२ | ४६३ | १८४ | ० |
| पग पग मग | ४६० | ४६० | २४१ | ११३ | ५१३ | ५२७ | २३७ | ० |
| पट की ढिग | २१४ | २१४ | ३०३ | ३६० | ६४ | ८५ | २९८ | २३८ |
| पट सौं पोंछि | ५५५ | ५५५ | ३५२ | ४१९ | १७४ | १७० | ३४५ | १६७ |
| पटु पाँखै | ६१९ | ६१९ | ५९९ | ६६५ | ६३४ | ६२८ | ५९३ | ३१४ |
| पतवारी माला | ३८५ | ३९१ | ६३९ | ६८६ | ६७२ | ६६७ | ० | ० |
| पति रति की | २४ | २४ | २८६ | ३३७ | ३६ | ३६ | २८१ | २२८ |
| पति-रितु-औगुन | ४१६ | ४१६ | ६९२ | ४२८ | ३५९ | ३५० | ६८६ | ० |
| पत्रा हीं तिथि | ७३ | ७३ | ० | १०२ | ४८९ | ५०२ | ७०० | ३६ |
| परतिय-दोषु | २६४ | २६४ | ६१४ | ६३९ | ६५२ | ६४७ | ६०९ | ० |
| परसत पोंछत | ७०२ | ७०२ | १५९ | ३०४ | ४३९ | ४२७ | १५५ | ० |
| पर्‍यौ जोरु | १२९ | १२९ | ३०० | ३४० | २०७ | २०३ | २९५ | १५८ |
| पल न चलैं | ५३४ | ५३४ | १३९ | २९९ | ६९ | ६० | १३५ | १२९ |
| पलनु प्रगटि | ६५९ | ६५९ | ४४१ | ४८७ | ४२६ | ४१६ | ४३४ | ० |
| पलनु पीक | २२ | २२ | ३५४ | ३८३ | १६५ | १६२ | ३४७ | १६५ |
| पल सोहैं | ४९८ | ४९८ | ३४९ | ४१० | १७३ | १६८ | ३४२ | १६९ |
| पहिरत हीं | ५१३ | ५१३ | २७२ | १४४ | ४९३ | ५०६ | २६७ | ० |
| पहिरि न भूषन | ३३५ | ३३५ | ७५ | ११६ | ५२६ | ४४२ | ७२ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पांडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पहुँचति डटि | १७८ | १७७ | ३० | ६८ | ६२ | ५७ | ३० | ० |
| पहुला-हारु | २४७ | २४८ | ४६८ | ५६६ | ५४४ | ५३५ | ४६१ | ० |
| पाइ तरुनिकुच | २३७ | २३७ | ५८५ | १२६ | ६४४ | ६३६ | ५७६ | ० |
| पाइ महावरु | ३५ | ३५ | २३८ | १०६ | ५०८ | ५२२ | २३४ | ४३ |
| पाइल पाइ | ४४१ | ४४१ | ६५२ | ४३ | ५१८ | ६२० | ६४६ | ३०२ |
| पार्‍यौ सोरु | ६६२ | ६६२ | ३८४ | ६११ | २६ | [illegible] | ३७७ | ० |
| पावक-झर तैं | ४०२ | ४०२ | ४२६ | ५७० | ३८७ | ३७ | ४१६ | २०४ |
| पावक सौं | ७६ | ७६ | ३५७ | ६६८ | १७० | १६६ | ३५० | १६६ |
| पावस-घन-अँधियार | ४८६ | ४८६ | ५३६ | ५६८ | ५७१ | ५६४ | ५३० | २५७ |
| पिय कैं ध्यान | ५८३ | ५८३ | ४७५ | २०२ | ३४३ | ३३८ | ४६८ | ० |
| पिय तिय सौं | ४३ | ४३ | १६५ | ६६ | ४७८ | ४६१ | १६१ | ० |
| पिय-प्रानन की | २७८ | २७८ | ४२५ | ४६६ | १२३ | १२१ | ४५८ | ० |
| पिय-बिछुरन | १५ | १५ | ६७३ | ५३७ | ३५ | ३५ | ६६७ | ० |
| पिय-मन रुचि | ६४० | ६४० | २५२ | २६७ | ३२५ | ३१७ | २४८ | २८३ |
| पीठि दियै हीं | ३५० | ३५० | ५५४ | ५५३ | ५५६ | ५५० | ५४८ | ७४ |
| पूछें क्यौं रूखी | ६८१ | ६८८ | ४३ | २८५ | ७१ | ६२ | ४२ | ९ |
| पूस-मास सुनि | १४६ | १४६ | ४० | ४७७ | १३१ | १२४ | ३६ | २२६ |
| प्यासे दुपहर | ३६७ | ३६६ | ५६४ | ० | ६०१ | ५६४ | ५८८ | ० |
| प्रगट भए | १०१ | १०१ | ० | ६६७ | ७६० | ६६४ | ७१८ | ० |
| प्रजर्‍यौ आगि | ५५३ | ५५३ | ४५२ | ४८६ | ४३७ | ४१७ | ४४५ | ० |
| प्रतिबिंबित | १६८ | १६७ | ६०६ | ६३० | ७०४ | ० | ६०० | ० |
| प्रलय-करन | ५२६ | ५४१ | ६२८ | १२ | ६६२ | ६५७ | ६२३ | ० |
| प्रानप्रिया हिय | २६७ | २६७ | ३६६ | ४७४ | १७१ | १६७ | ३५६ | १६७ |
| प्रीतम-दृग | ४२२ | ४२२ | ५१७ | ३५२ | २११ | २०७ | ५११ | १५६ |
| प्रेमु अडोलु | ६३१ | ६३१ | ४५ | २२२ | ७२ | ६३ | ४४ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंहकी टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| [ फ ] | | | | | | | | |
| फिरत जु अटकत | ५९८ | ५९८ | ३३४ | ४१६ | १८९ | १८६ | ३२७ | ० |
| फिरि घर कौं | ५९७ | ५९७ | ५२८ | ५६२ | ५६७ | ५५६ | ५९२ | २५२ |
| फिरि फिरि चितु | ११ | १० | १३२ | १३८ | २८१ | २७८ | १२८ | ११७ |
| फिरि फिरि दौरत | ६७० | ६७० | ५१ | ५३ | ४६३ | ४७४ | ५० | २३९ |
| फिरि फिरि बिलखी | १३८ | १३८ | ५५ | ६४१ | ९६ | ० | ५४ | ० |
| फिरि फिरि बूझति | २२० | २१९ | १५४ | २४२ | ४१९ | ४०९ | १५० | १२५ |
| फिरि सुधि दै | ६६० | ६६० | ४४२ | ५७८ | ३९१ | ३८३ | ४३५ | ० |
| फूलीफाली | ४५८ | ४५८ | २५४ | ३१० | १५५ | १५२ | २५० | ० |
| फूले फदकत | २४७ | २४७ | १६४ | ८३ | ४६६ | ४७७ | १६० | ० |
| फेरु कछू | १४३ | १४४ | ९६ | १८२ | ३१९ | ३११ | ९३ | ० |
| [ ब ] | | | | | | | | |
| बंधु भए | ६२ | ६१ | ५७४ | ६६४ | ६८९ | ६८३ | ५६८ | ७ |
| बड़े कहावत | २२९ | २२९ | २२८ | २८२ | ४९४ | ५०७ | २२४ | ० |
| बड़े न हूजै | १९६ | १९१ | ६६४ | ६३५ | ६४९ | ६४४ | ६५८ | २८४ |
| बढ़त निकसि | ६९८ | ६९८ | २३१ | ३६३ | ५५६ | ५४७ | २२७ | ७७ |
| बढ़त बढ़ंत | ३३१ | ३३१ | ६६८ | ६४३ | ६२४ | ६१७ | ६६२ | ० |
| बतरस-लालच | ४७१ | ४७२ | ५११ | ३५६ | २५४ | २४५ | ५०५ | ११८ |
| बन-तन कौं | १४७ | १४७ | १५० | २३२ | २७२ | २६९ | १४६ | ० |
| बन-बाटनु | ४७५ | ४७५ | ५२९ | ५२७ | ३९२ | ३८४ | ५२३ | ० |
| बर जीते सर | ६७ | ६७ | २०५ | ५५ | ४६० | ४७१ | २०१ | ० |
| बरजैं दूनी हठ | ६८६ | ६८६ | ५४३ | ३६९ | ५५० | ५४१ | ५३७ | ० |
| बरन, बास | ६९४ | ६९४ | ७९ | ९१ | ४७६ | ४८९ | ७६ | ० |
| बसि सकोच | ७४ | ७४ | ४३२ | ० | २९२ | २८८ | ४२५ | ० |
| बसै बुराई | ३८० | ३८१ | ६९१ | ६३३ | ६०७ | ५९९ | ६८५ | २८८ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्णकवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बहकि न इहिँ | ६५४ | ६५४ | ६७१ | २७३ | २३१ | ० | ६७० | ० |
| बहकि बड़ाई | २८१ | २८२ | ५८८ | ६५८ | ३७० | ३६२ | ५८२ | ० |
| बहके, सब जियें | ६ | ६ | ४७ | २४५ | ३५६ | ३४७ | ४६ | ० |
| बहु धन, लै | ४८० | ४७६ | ६१६ | ६१२ | ६५४ | ६४६ | ६११ | ० |
| बाढ़तु तो उर | ५४६ | ४४६ | १३ | ४७२ | २३ | २५ | ० | ३६ |
| बाम बाँह | ५७२ | ५७२ | ४६२ | ५४४ | [illegible] | १३६ | ४८५ | १६३ |
| बामो, भामा | ५०३ | ५०३ | ४२४ | ५७६ | १२५ | १२६ | ४१७ | १७१ |
| बाल, कहा | १६९ | १६८ | ९६ | [illegible] | १२ | ११ | ५८ | १५० |
| बाल छबीली | ६०२ | ६०३ | ८७ | १५० | ५२४ | ४२६ | ८४ | ० |
| बाल-बेलि | २६१ | २१६ | ४६७ | २८७ | २६६ | २६२ | ४६० | १६५ |
| बालमु बारैं | १८७ | १८७ | २८५ | ४६८ | २०३ | १६६ | २८० | १२० |
| बिकसित-नवमल्ली | १७६ | १७५ | ५६२ | ५१८ | ३८४ | ३७५ | ५५६ | २४६ |
| बिषम वृषादित | ३६८ | ३६७ | ५९३ | ६७७ | ६०२ | ० | ५८७ | ० |
| बिछुरैं जिए | ५७८ | ५७८ | ४९३ | ५५१ | १४७ | १४४ | ४८६ | २२० |
| बिथुर्यौ जावकु | ५०७ | ५०७ | ३८२ | ४७१ | ११५ | ११४ | ३७५ | ० |
| बिधि, बिधि कौन | ६७५ | ६७५ | ३९८ | ४३९ | २५३ | २४४ | ३९२ | ० |
| बिनती रति | १३० | १३० | २९९ | ३४१ | २०९ | २०५ | २९४ | २३० |
| त्रिय सौतिनु | १२२ | १२२ | ३१६ | ४६७ | १०९ | १०८ | ३११ | ० |
| बिरह-जरी | ५९६ | ५९६ | ४४३ | ४९२ | ३८५ | ३७६ | ४३६ | १९४ |
| बिरह-बिकल | ५४१ | ५२६ | ४८२ | ५३९ | ४२४ | ३९३ | ४७५ | २०५ |
| बिरह-बिथा-जल | ४१२ | ४१४ | ३३२ | ५३५ | ३९८ | ३८८ | ३२५ | ० |
| बिरह-बिपति-दिनु | ४५५ | ४५५ | ४५० | ५०२ | ४३२ | ४२१ | ४४३ | ० |
| बिरह सुकाई | ३२९ | ३२९ | ४४९ | ५०० | २९६ | २८६ | ४४२ | ० |
| बिलखी डभकौहैं | १२७ | १२६ | ४१८ | ४३६ | १३४ | १२८ | ४११ | ० |
| बिलखी लखै | ५८७ | ५८७ | ३७६ | ४२४ | ११७ | ११६ | ३६६ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पांडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बिहँसति, सकुचति | ६६३ | ६६३ | ५०५ | ६०२ | ५५२ | ५४३ | ४६६ | ७६ |
| बिहँसि बुलाइ | ६१७ | ६१७ | २६ | १६६ | ३६ | ३६ | २६ | ० |
| बुधि अनुमान | ६४८ | ६४८ | २३५ | ६८२ | ६८० | ६७४ | २३१ | ० |
| बुरौ बुराई | ५८४ | ५८४ | ० | ६५३ | ६१६ | ६०८ | ७०४ | २८६ |
| बैंदी भाल, तँबोल | ६७६ | ६७६ | २५६ | १३५ | २५२ | २४३ | २५२ | ७५ |
| बेधक अनियारे | २७ | २७ | २१० | ८६ | ४७१ | ४८४ | २०६ | ३५ |
| बेसरि-मोती-दुति | १७३ | १७३ | २११ | ८८ | २४३ | २३३ | २०७ | ६६ |
| बेसरि-मोती, धनि | ७०६ | ७०६ | ५८४ | ६० | ४७५ | ४८८ | ५७८ | ३०० |
| बैठि रही अति | १३१ | ५२ | ५३३ | ५६६ | ५७० | ५६२ | ५२७ | २५५ |
| ब्रजबासिनु | ५४४ | ५६१ | ६२६ | ६६० | ६७७ | ६७१ | ६२१ | ० |
| [ भ ] | | | | | | | | |
| भई जु छवि | १७६ | १७६ | ६६ | ११५ | ५०० | ५१४ | ६८ | ० |
| भए बटाऊ | २७२ | २७२ | ३२६ | ४१२ | १४० | १३२ | ३२१ | ० |
| भजन कह्यौ | ३६५ | ३७१ | ६२३ | ६८५ | ६७१ | ६६६ | ६१८ | ४ |
| भाल-लालबेंदी-छए | ३५५ | ३५५ | १६० | ४२ | ४४६ | ४५८ | १८६ | ५२ |
| भाल लाल बेंदी, ललन | ६६० | ६६० | १८६ | ४४ | ४४६ | ४६० | १८५ | ५३ |
| भावकु उभरौंहौं | २५२ | २५२ | ६ | २७ | २४ | २५ | ६ | ० |
| भावरि-अनभावरि-भरे | ६३७ | ६३७ | ६७१ | ६५४ | ६१७ | ६०६ | ६६५ | ० |
| भूषन-भारु | ३२२ | ३२२ | २४४ | १५६ | ५३७ | ५२८ | २४० | ४८ |
| भृकुटी-मटकनि | ३०० | ३०२ | १४१ | १६१ | ४१४ | ४०४ | १३७ | ० |
| भेटत बनै न | ५६४ | ५६४ | १८ | ३२६ | १४६ | १४३ | १८ | ११६ |
| भौ यह पैसोई | ५१६ | ५१६ | ४५७ | ५३० | ७२० | २२८ | ४५० | ० |
| भौंह उँचै, आँचरु | २४२ | २४२ | ५०३ | ७० | ३१६ | ३०८ | १०१ | ६७ |
| भौंहनु त्रासति | ६८३ | ६८३ | २८६ | ३३२ | ४३ | ४५ | २८४ | ० |
| [ म ] | | | | | | | | |
| मंगलु बिंदु सुरंगु | ४१ | ४२ | १६१ | १२४ | ४५१ | ४६२ | १८७ | ८२ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मकराकृति गोपाल | १०३ | १०३ | ५७० | १६ | ४ | ४ | ५६४ | ० |
| मन न धरति | २३६ | २३६ | १५५ | २७५ | २३० | २४६ | १५१ | १३१ |
| मनमोहन सौं | ६४१ | ६४१ | ६४१ | ३०५ | ६७८ | ६७२ | ६३५ | २३१ |
| मनु न मनावन | ४५४ | ४५४ | ३९५ | ४५२ | २२४ | २२२ | ३८९ | १३२ |
| मरकत-भाजन-सलिल | १८६ | १८६ | ३६२ | ३९४ | १६६ | १६२ | ३५५ | १७५ |
| मरतु प्यास | ४३५ | ४३५ | ५९७ | ६५८ | ६३७ | ६३१ | ५९१ | ३१३ |
| मरनु भलौ | १४८ | १४८ | ४६२ | ५१७ | ४३२ | ४२२ | ४५५ | १९६ |
| मरिबे कौ | ५८५ | ५८५ | ४३१ | ४८९ | ४३४ | ४२३ | ४२४ | ० |
| मरी डरी | ५६ | ५६ | ४६१ | ५०८ | ४३० | ४१९ | ४५४ | ० |
| मलिन देह | १६४ | १६३ | ४८८ | ५४७ | १४३ | १४० | ४८१ | १३० |
| मानहु बिधि | ४१३ | ४१३ | ८८ | ११७ | ५१५ | ४३६ | ८५ | ६२ |
| मानहु मुँह-दिखरावनी | २८८ | २८८ | १४ | १७२ | २६ | २२७ | १४ | ७८ |
| मानु करत | २७३ | २७३ | ३९१ | ४३५ | ३६४ | ३५५ | ३८५ | ० |
| मानु तमासौ | ५३९ | ५३९ | ५२४ | ३५८ | ७१९ | २१५ | ५१८ | ० |
| मार-सुमार-करी | ३०८ | ३०८ | ४४० | ५३३ | ३८८ | ३७९ | ४३३ | १९७ |
| मार्यौ मनुहारिनु | ४६८ | ४६८ | ६१ | ४६६ | ४३६ | ४२६ | ६० | ८१ |
| मिलि चंदन-बेंदी | १८१ | १८० | ५२२ | ४५ | ४५० | ४६१ | ५१६ | ५६ |
| मिलि चलि | ६२४ | ६२५ | ४२३ | ४८४ | १३६ | १३० | ४१६ | २२२ |
| मिलि परछाँहीं | ६७४ | ६७४ | ३१३ | १८ | १६४ | १९१ | ३०८ | ० |
| मिलि बिहरत | ४९७ | ४९७ | ५४८ | ५८२ | ५८० | ५७३ | ५४२ | २६२ |
| मिसि हीं मिसि | ५३१ | ५३१ | ४९६ | ३२० | १६३ | १६० | ४८९ | ० |
| मीत, न नीति | ४७७ | ६८१ | ६८१ | ६४६ | ६०४ | ५९६ | ६७५ | ० |
| मुखु उघारि | ६३९ | ६३९ | ५०२ | ३५५ | २१५ | २२५ | ४९६ | ० |
| मुँह मिठासु | ३२३ | ३२३ | ३८६ | ४२७ | २०४ | २७० | ३७९ | ० |
| मुँहु धोवति | ६९७ | ६९७ | ५०६ | ६०३ | ५२ | ६१ | ५०० | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मुँहु पखारि | ६६६ | ६६६ | ५०४ | ६०१ | ५५३ | ५४२ | ४६८ | ० |
| मूड़ चढ़ाएऊँ | ४३६ | ४५१ | ६७० | ६०३ | ६४३ | ६३८ | ६६४ | ० |
| मृगनैनी दृग | २२२ | २२२ | ४८७ | ५४३ | १४१ | १३८ | ४८० | १२४ |
| मेरी भव-बाधा | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| मेरैं बूझत बात | १३७ | १३७ | ३०१ | ३४२ | ६० | ८० | २१६ | २४२ |
| मैं तपाई | २८३ | २८१ | ६२५ | ४१४ | १६३ | १८८ | ६२० | ८ |
| मैं तोसौं | ६६ | ६६ | १४५ | २७४ | २२८ | २४८ | १४१ | ० |
| मैं बरजी | २५६ | २५६ | २४५ | १६० | ५४० | ५३१ | २४१ | ४९ |
| मैं मिसहा सोयौ | ६४२ | ६४२ | ६९५ | ३५४ | २१४ | २०९ | ६१२ | ० |
| मैं यह तोहीं मैं | ४७० | ४७० | २७० | २९३ | ७४ | ६५ | २६५ | १४३ |
| मैं लखि नारी-ज्ञानु | ५५७ | ५५७ | ४५१ | ४८८ | २९५ | ३८५ | ४४६ | १९९ |
| मैं लै दयौ | ५३५ | ५३५ | ४७३ | २५८ | ३०२ | २९८ | ४६६ | २०८ |
| मैं समुझयौ | १६२ | १८१ | ६२४ | ६८१ | ६६६ | ६६१ | ६१९ | ० |
| मैं हो जान्यौ | ६४ | ६४ | १०९ | १८५ | २५७ | २५४ | १०६ | २१ |
| मोरचंद्रिका | ६७६ | ६७६ | ५८६ | २० | ६२८ | ६२२ | ५८० | २९८ |
| मोर-मुकुट | ४१९ | ४१९ | ५६९ | १० | ३ | ३ | ५६३ | ० |
| मोसौं मिलवति | ५०८ | ५०८ | ३०६ | २७६ | ८६ | ७६ | ३०१ | २४१ |
| मोहन-मूरति | १६१ | १६१ | ६३० | ३ | ६६४ | ६५९ | ६२५ | ० |
| मोहिँ करत | ५७९ | ५७९ | ३०८ | ४१८ | ११ | १२ | ३०३ | ० |
| मोहिँ तुम्हैं | ४२६ | ४२७ | ५७७ | ६०४ | ६९४ | ६८८ | ५७१ | ० |
| मोहिँ दयौ | ८३ | ८३ | ३२५ | ४६५ | १८५ | १९६ | ३२० | १२१ |
| मोहिँ भरोसौ | ६८२ | ६८२ | ६५ | ३०६ | ३३९ | ३२९ | ६४ | ७९ |
| मोहिँ लजावत | ५६६ | ५६६ | ४१२ | ४६० | १०१ | १०० | ४०५ | १२२ |
| मोहूँ दीजै | २१६ | २६१ | ५५९ | ५०० | ७०१ | ६६५ | ५५३ | ० |
| मोहूँ सौं तजि | ७५ | ७० | १२६ | १८७ | २६६ | २६३ | ९२ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मोहूँ सौं बातनु | ५६६ | ५६६ | ३६७ | ३६१ | १६६ | १६३ | ३६१ | ०० |
| [ य ] | | | | | | | | |
| यह बरिया | ३६६ | ४०१ | ६३८ | ६८७ | ६७३ | ६६८ | ६३३ | ३ |
| यह बिनसतु | १२१ | १२० | ४७२ | ५१४ | ३०० | २६६ | ४६५ | ० |
| या अनुरागी | ५२ | १२१ | ६३२ | १८३ | ६६५ | ६६० | ६२६ | १०३ |
| याकैं डर | ४८ | ४८ | ४४६ | ५०७ | २६० | २८<br>३०७ | ४३६ | १६८ |
| या भव-पारावार | ४३२ | ४३३ | ६४६ | ६८५ | ६८१ | ६७५० | ६४० | ० |
| यौं दल काढ़े | ७११ | ७११ | ६११ | ६२८ | ६६३ | ६५८ | ६०५ | ० |
| यौं दलमलियतु | ६५१ | ६५१ | २६७ | ३७८ | २२८ | २५३ | २८२ | ५१ |
| [ र ] | | | | | | | | |
| रँगराती | १६५ | १६४ | ४७७ | ५३० | ४०६ | ३६५ | ४७० | १३३ |
| रँगी सुरत-रँग | १८३ | १८३ | २६६ | ३४५ | ६२ | ८३ | २६१ | ६२ |
| रंच न लखियति | ६६५ | ६६५ | ८२ | १५५ | ५३२ | ४४८ | ७६ | ० |
| रनित-भृंग-घंटावली | ३६० | ३८८ | ५६५ | ५६० | ५८६ | ५७६ | ५५६ | २४७ |
| रवि बंदौं | २२४ | २२४ | ६१३ | ६१६ | ६५० | ६४५ | ६०८ | ० |
| रमन कह्यौ | ३१६ | ३१६ | ३०२ | ३४४ | २१० | २०६ | २६७ | ० |
| रस की सी रुख | २४३ | २४३ | ३६२ | ४२६ | १६८ | १६४ | ३८६ | ० |
| रस-भिजए दोऊ | ५१४ | ५१४ | ५५८ | ५५७ | ५६४ | ५५५ | ५५२ | ० |
| रससिँगार-मंजनु | ४६ | ४६ | २०६ | ५० | ४५५ | ४६६ | २०२ | २८ |
| रहति न रन | ८० | ८० | ६०८ | ६२६ | ७०३ | ६६७ | ६०२ | ० |
| रहि न सकी | ३४३ | ३४४ | ५५० | ५८६ | ५८५ | ५७८ | ५४४ | २६५ |
| रहि न सक्यौ | ४४३ | ४४५ | २६१ | १४३ | ५२१ | ४३८ | २५७ | ० |
| रहि मुँहु फेरि | ५७७ | ५७७ | ४६ | ३२३ | ८२ | ७३ | ४८ | ० |
| रहिहैं चंचल | ३६१ | ३६५ | ४२१ | ४७६ | १२६ | १२२ | ४१४ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार सप्तशती | प्रभुदयालु पांडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रही अचल | ५३३ | ५३३ | ० | २६७ | ६८ | ५६ | ७०७ | ० |
| रही दहेंड़ी | २४५ | २४५ | ७८० | [illegible]३ | २४१ | २३२ | २७५ | १४५ |
| रही पकरि | २११ | २११ | २५८ | २६६ | २०५ | २०१ | २७१ | १७६ |
| रही पैज | ५६१ | ५४४ | १७६ | ३२३ | ३४२ | २३३ | १७२ | ० |
| रही रुकी क्यों हूँ | ३६१ | ३७६ | ५६० | ५०१ | ५८६ | ५८२ | ५५४ | २४३ |
| रहौ लट्टू ह्वै | ४७२ | ४७३ | ६४ | २६१ | ३३२ | ३२४ | ६३ | ० |
| रहे बरोठे | २२३ | २२३ | ४८६ | ५४६ | १४५ | १४२ | ४८२ | ० |
| रहैं निगोड़े | ५६८ | ५६८ | ४१३ | ४५८ | १०० | ६८ | ४०६ | १२ |
| रहौ गुही | ४८१ | ४८० | २७७ | १७० | १२२ | ११६ | २७२ | ० |
| रह्यौ ऐंचि | ४०१ | ४०० | ४२६ | ५३४ | १२५ | १३४ | ४२२ | २०६ |
| रह्यौ चकितु | ४१० | ४१० | ३५० | ४०० | १८३ | १८० | ३६३ | ० |
| रह्यौ ढीठु | २०८ | २०८ | २३७ | १०८ | ५०७ | ५२१ | २३३ | ४२ |
| रह्यौ मोहु | ४६३ | ४६३ | ३८ | २५१ | ३१७ | ३०६ | ३७ | ० |
| राति द्यौस | ४५३ | ४५३ | २ | ४५५ | १०३ | १०२ | २ | १४४ |
| राधा हरि | १५५ | १५५ | २७८ | ३४३ | २४५ | २३६ | २७३ | ० |
| रुक्यौ साँकर | ६८४ | ६८४ | ५६३ | ६६४ | ५८७ | ५८० | ५५७ | २४६ |
| रुख रूखी | ४१५ | ४१५ | ४६ | ४३६ | ७२२ | ० | ४५ | ० |
| रूप-सुधा | ६५० | ६५० | ५२५ | १६३ | २२० | २१७ | ५१६ | ० |
| [ ल | | | | | | | | |
| लई सौंह सी | २४६ | २४६ | १६२ | १६० | ३०६ | ० | १५८ | ० |
| लखि गुरुजन | ३४ | ३४ | २७५ | ४५१ | २५६ | २४७ | २७८ | २३४ |
| लखि दौरत | ४६३ | ४६४ | २८७ | ३३४ | ३० | ३० | २८२ | ० |
| लखि लखि | ६३० | ६३० | २६४ | ३७१ | २३५ | २२६ | २८६ | ८४ |
| लखि लोने | ५८ | ५८ | ५० | २७१ | ३२६ | ३२१ | ४६ | ० |
| लगत सुभग | ३४१ | ३४२ | ५५२ | ५८४ | ५८४ | ५७७ | ५४६ | २६७ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| लगी अनलगी | ६६४ | ६६४ | २७३ | १०६ | ५०५ | ५१९ | २०९ | ४१ |
| लग्यौ सुमनु | १९ | १९ | २४८ | ४३२ | ७२३ | ० | २४४ | ० |
| लटकि लटकि | १६३ | १६२ | ६२ | २४१ | २२२ | २१९ | ८९ | ० |
| लटुवा लौं | ५०३ | ५०१ | ० | ६२६ | ६७५ | ० | ६०७ | ० |
| लपटी पुहुप | ३६३ | ३६२ | ५६४ | १६३ | ५६० | ५८३ | ५५८ | २४८ |
| लरिका लैबे | ३८८ | ३८६ | ६२ | २४७ | २८३ | २८१ | ६१ | २३३ |
| ललन-चलनु सुनि चुपु | ४०८ | ४०८ | ४१९ | ४७८ | ७२४ | १२५ | ४१२ | ० |
| ललन-चलनु सुनि पलनु | ३५८ | ३५८ | ४२० | ४८२ | १३२ | १२६ | ४१३ | ० |
| ललन सलोने | ३६४ | ३६३ | ३३० | ४०९ | १८६ | १८२ | २२३ | ० |
| ललित स्याम | २७० | २७० | २२२ | ६५ | ४८७ | ५०० | २१८ | ३४ |
| लसतु सेत | १०७ | १०६ | २१६ | ६२ | १७९ | ४६२ | २१२ | ५८ |
| लसै मुरासा | ६७३ | ६७३ | २१८ | १२० | ४८० | ४९३ | २१४ | ० |
| लहलहाति तनु | ५३२ | ५३२ | २३४ | ३२ | ५०४ | ५१८ | २३० | ० |
| लहि रति-सुखु | ६५५ | ६५५ | २९८ | ३४६ | ४३७ | ३२५ | २९३ | ० |
| लहि सूनैं घर | ५८२ | ५८२ | २८१ | ३२६ | ३२१ | ३१३ | २७६ | ८५ |
| लाई लाल | ६१३ | ६१३ | १७५ | ३२१ | ३४० | ३३१ | १७१ | ० |
| लागत कुटिल | ३५६ | ३५५ | २०९ | ५३ | ३३० | ३२२ | २०५ | ० |
| लाज-गरब | २३ | २३ | ३०९ | ३७३ | ८४ | ८४ | ३०४ | ० |
| लाज गहौ | १२६ | १२६ | ४९७ | १५ | ५५ | ९३ | ४९० | ० |
| लाज-लगाम | ६०९ | ६१० | १३१ | २४७ | २६९ | २६६ | १२७ | १० |
| लाल, अलौलिक | १६६ | १६५ | ४ | २६ | १९ | २० | ४ | ० |
| लाल, तुम्हारे बिरह | ३९ | ३९ | ४६८ | ५०६ | ३०७ | ३०२ | ४३१ | २१० |
| लाल, तुम्हारे रूप | ३९९ | ३९८ | ११९ | २०९ | ३५० | ३४१ | ११५ | १४६ |
| लालन, लहि | १८४ | १८४ | ३६० | ३९५ | १८२ | १०९ | ३५३ | ० |
| लिखन बैठि | ३४७ | ३४७ | ८४ | ६६५ | ५३४ | ४५० | ८१ | ८६ |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| लीनैं हूँ साहस | २१३ | २१३ | ८६ | ६७ | ५२७ | ६४३ | ८६ | ० |
| लै चुभकी | १५२ | १५२ | ५२५ | ३६६ | ५५१ | ५४४ | ५२६ | ० |
| लोपे कोपे | ५२१ | ५२१ | ६२७ | १४ | ६५७ | ६५२ | ६२२ | ० |
| लोभ-लगे | १६३ | १६५ | १२७ | १६६ | २६१ | २५८ | १२३ | ० |
| लौनैं मुँह | २८ | २८ | १६३ | ६८ | ४७७ | ४६० | १८६ | ५६ |
| व | | | | | | | | |
| वारौं, बलि | ६२८ | ६२८ | २०१ | २६३ | ४६६ | ४८२ | १६७ | ३० |
| वाहि लखें | ११० | १०६ | ६८ | १४० | ५१८ | ४३४ | ६७ | ८७ |
| वाही की चित | ३३ | ३३ | ३५५ | ३६६ | २०१ | १६७ | ३४८ | ० |
| वाही दिन तें | ५६५ | ५६५ | ३६६ | ४४८ | ३६० | ३५१ | ३६० | १८० |
| वेई कर, ब्यौरनि | ४५१ | ४३६ | १८० | ३४ | ४६५ | ५०८ | १७६ | ० |
| वेई गड़ि गाड़ैं | ६७ | ६७ | ५८ | ३८२ | १७७ | १७२ | ५७ | १७३ |
| वेऊ चिरजीवी | ५६३ | ५६३ | ५३६ | ५७४ | ५७५ | ५६८ | ५३३ | ३०६ |
| वे ठाढ़े | ३८३ | ३८२ | १०५ | २६१ | ८३ | ७४ | १०३ | ० |
| वे न इहाँ | ४३८ | ४३८ | ६०१ | ६६२ | ६४५ | ६४० | ५६५ | ० |
| वैसीयै जानी | ३६६ | ३६५ | ३६८ | ३६५ | १६७ | १६४ | ३६१ | १७७ |
| [illegible] | | | | | | | | |
| संगति-दोषु | ३०३ | ३०३ | ६६६ | ५६ | ६२७ | ६२१ | ६६० | २६४ |
| संगति सुमति | २२८ | २२८ | ६६७ | ६३८ | ६११ | ६०४ | ६६१ | २८६ |
| संपति केस | ११८ | ११७ | ६६२ | ६२० | ५६८ | ५६१ | ६५६ | २६२ |
| सकत न | १३२ | १३२ | ६० | ४५३ | ३७७ | ३६७ | ५६ | ० |
| सकुचि न | ७२ | ७२ | ४१४ | ४४४ | ३७८ | ३६६ | ४०७ | ० |
| सकुचि सरकि | ४६५ | ४६६ | २६२ | ३३५ | ६५१ | २४२ | २८८ | ६४ |
| सकुचि सुरत | ४६४ | ४६५ | २८८ | ३३६ | ३७ | ३७ | २८३ | ० |
| सबै सताइ | ५६५ | ५६५ | १३० | ४६१ | ७६५ | ० | १२६ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सखि, सोहति | ३१२ | ३१२ | ३८५ | ६ | ८ | ६ | ३६८ | ० |
| सघनकुंज-छाया | ६८८ | ६८१ | १५३ | ५ | ४११ | ४०१ | १४६ | ० |
| सघन कुंज, घन | ३०१ | २६६ | ८३ | ३०६ | १५६ | १५६ | ८० | ० |
| सटपटाति | ६४६ | ६४६ | २५ | ७२ | ६६ | ४८० | २५ | ० |
| सतर भौंह | १०६ | १०८ | ४०८ | ४५६ | ६८ | ६७ | ४०१ | ० |
| सदन सदन के | ५४० | ५४० | ३३६ | ३८६ | १६५ | १६० | ३२६ | ० |
| सनि-कज्जल | ५ | ५ | ६४ | १७५ | ३६८ | ३२० | ६१ | ८३ |
| सनु सूक्यौ | १३५ | १३५ | ५४ | २७५ | ६७ | ६६ | ५३ | ० |
| सब अँग करि | २८४ | २८४ | २०८ | ६३ | ३८ | ३८ | २०४ | ० |
| सब ही त्यौं | ३० | ३० | ११४ | ६१ | ५६ | ४६ | ११२ | १४७ |
| सबै सुहाएई | २७१ | २७१ | ६५१ | ४० | ४४७ | ३०० | ६४५ | ० |
| सबै हँसत | २७६ | २७६ | ६६८ | ६४० | ६१२ | ६०५ | ६६५ | ० |
| समरस-समर-सकोच | ५२७ | ५२७ | २० | २०४ | ३२ | ३२ | २० | ० |
| समै-पलट | ६४७ | ६६१ | ६१६ | ७०६ | ६६५ | ६८६ | ६१४ | ० |
| समै समै | ४३२ | ४३२ | ६६६ | ० | ६२५ | ६१८ | ६६३ | २६१ |
| सरस कुसुम | ३७१ | ३६६ | २४३ | ६५७ | ६३३ | ६२७ | २३६ | ३१६ |
| सरस सुमिल | १७६ | १७८ | ३२८ | ३५० | २१२ | २११ }<br>५५६ } | ७०६ | ० |
| सहज सचिक्कन | ६५ | ६५ | १७६ | ३३ | ४४० | ४५२ | १७५ | ० |
| सहज सेतु | ३४० | ३४० | ० | १२१ | ५१६ | ४३० | ० | ० |
| सहित सनेह | २६५ | २६५ | २७४ | २५४ | २४० | २३१ | २६६ | ० |
| सही रँगीलै | ५११ | ५११ | ३११ | ३७७ | ८७ | ७७ | ३०६ | १७८ |
| साजे मोहन | ४७ | ४७ | १६५ | २२८ | २६५ | २६२ | १२२ | ० |
| सामाँ सेन | ७१० | ७१० | ६०६ | ० | ७०६ | ० | ६०३ | ० |
| सायक-सम | ५५ | ५५ | २०४ | ५३ | ४५६ | ४७० | २०० | ० |
| सालति है | ६ | ६ | २१५ | १२२ | ६८१ | ४६४ | २११ | ० |

| दोहों की अकारादि सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार सप्तशती | प्रभुदयालु पाँडे की टीका | रस-कौमुदी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सीतलता ऽरु | ५६ | ५६ | ६६३ | ६७१ | ६२० | ६१२ | ६५७ | २६० |
| सीरैं जतननु | २६६ | २६६ | ४२६ | ४६५ | ३८० | ३७१ | ५२६ | २११ |
| सीस-मुकट | २६६ | ३०१ | ५६८ | २ | २ | २ | ५६२ | ० |
| सुख सौं बीती | ५७१ | ५७१ | ६८८ | २११ | ३४५ | ३३५ | ६८२ | ० |
| सुघर-सौति-बस | ३४६ | ३४६ | ३२१ | ४६६ | ११३ | ११२ | ३१६ | ० |
| सुदुति दुराई | ९६ | ९६ | ३०५ | ९३ | ९१ | ८२ | ३०० | ० |
| सुनत पथिक | २८५ | २८५ | ४३८ | ४६८ | ४३५ | ४२४ | ४३१ | २०७ |
| सुनि पग-धुनि | ६२२ | ६२३ | २८४ | ५९६ | २३९ | २३० | २७६ | ० |
| सुभरु भर्‌यौ | ५४६ | ५४६ | ३३५ | ४१३ | १९६ | १९१ | ३२८ | १७९ |
| सुरँगु महावरु | २८७ | २८७ | ३८१ | ४०२ | १२१ | ४२ | ३७४ | ० |
| सुरति न ताल | ५५२ | ५५२ | २६६ | २२४ | ३११ | ० | २६१ | ० |
| सूर उदित | २५८ | २५८ | १९४ | १०१ | ४८८ | ५०१ | १९० | ० |
| सोनजुही सी | १९० | १९० | ७० | ११८ | ५०१ | ५१५ | ६९९ | ० |
| सोवत, जागत | २२७ | २२७ | ४५६ | ५२१ | ४१३ | ४०३ | ४४९ | १४८ |
| सोवत लखि | २३३ | २३३ | ३१ | ४३० | ४० | ४० | ७११ | ० |
| सोवत सुपनैं | ११६ | ११६ | ९१ | ५३६ | ४०९ | ३९९ | ८८ | ० |
| सोहतु अँगुठा | २०९ | २०९ | २४२ | ११२ | ५११ | ५२५ | २३८ | ६० |
| सोहत ओढ़ैं | ६८९ | ६८९ | ५७१ | २१ | ५ | ५ | ५६५ | ० |
| सोहति धोती | ४७९ | ४७८ | ८० | २६२ | ३३४ | ३२६ | ७७ | ८८ |
| सोहतु संगु | २६७ | २६७ | ३६५ | ६४८ | ६१३ | ६०६ | ३५८ | २६७ |
| साहैं हूँ | ५०९ | ५०९ | ४०१ | ४२७ | ३६६ | ३५८ | ३९८ | ० |
| स्याम-सुरति | २९२ | २९२ | ४२५ | ५२५ | ६५६ | ६५१ | ४४८ | ० |
| स्यौं बिजुरी | ४४५ | ४४५ | ० | ५०१ | ४०० | ३९० | ७१२ | ० |
| स्वारथु, सुकृतु | ३०२ | ३०० | ५८९ | ६६६ | ६३६ | ६३० | ५८३ | ३११ |
| स्वेद-सलिलु | २५९ | २५९ | २६८ | १७१ | १४ | १७ | २६३ | २२५ |

| दोहों की अकारादि-सूची | मानसिंह की टीका | बिहारी-रत्नाकर | कृष्ण कवि की टीका | हरिप्रकाश-टीका | लाल-चंद्रिका | शृंगार-सप्तशती | प्रभुदयालु पाँड़े की टीका | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| [ ह ] | | | | | | | | |
| हँसि उतारि | ६१ | ६० | ४५० | २६४ | ३०४ | ० | ४६३ | ० |
| हँसि ओठनु | ६२७ | ६२७ | ५०६ | ३४८ | ११४ | ११३ | ५०३ | २१ |
| हँसि, हँसाइ | ३१४ | ३१४ | ४०० | ४२५ | ३६३ | ३५४ | ३६४ | ० |
| हँसि हँसि | १८० | १७६ | ५२१ | ३५६ | २१७ | २१३ | ५१५ | ० |
| हठि, हितु करि | ३८२ | ३८१ | ३८३ | ४५४ | १२० | ४११ | ३७६ | ० |
| हठु न हठीली | ५६२ | ५६३ | ४०७ | ५७३ | ५७५ | ५६७ | ४०० | ० |
| हम हारीं | १०८ | १०७ | ४०४ | ४५० | ६५८ | ६५२ | ३६७ | ० |
| हरषि न | १५० | १४६ | ६८२ | ३२८ | ४६ | ८८ | २७७ | ० |
| हरि कीजति | २४० | २४१ | ६४० | ७०७ | ६६७ | ६६१ | ६३४ | ० |
| हरि-छवि-जल | ३०७ | ३०७ | ११६ | १४२ | २५८ | २५५ | ११४ | ० |
| हरि हरि | १२० | ११६ | ४६० | २८८ | २६६ | २६४ | ४५३ | २० |
| हा हा ! बदनु | ५३ | ५३ | १६२ | ४४१ | ३७२ | ३६१ | १८८ | २१ |
| हितु करि | ५६३ | ५६३ | २७३ | ३०१ | ३०३ | २६६ | २६८ | ० |
| ही औरै सी | ५१० | ५१० | ५३१ | ५२६ | १२६ | १३५ | ५२५ | १५ |
| हुकुमु पाइ | ७१३ | ७१३ | ० | ७११ | ७०७ | ६६६ | ० | ० |
| हेरि हिंडोरैं | ६६ | ६६ | ५ | ३६८ | ५४३ | ५४० | ५ | ० |
| है हिय रहति | ५०१ | ५०२ | ११६ | २२१ | २७४ | २७१ | ११६ | ० |
| होमति सुखु | ५४ | ५४ | ४४७ | १८४ | ३०५ | ० | ४४० | १४ |
| हौं हीं बौरी | २२५ | २२५ | ४५८ | ५२० | ४१६ | ४०६ | ४५१ | २१ |
| हौं रीझी | [illegible] | ८ | ६६ | १३६ | ३३५ | ३२७ | ६५ | २२ |
| ह्याँ तें ह्याँ | ५२५ | ५२५ | १३८ | २१३ | ४१७ | ४०७ | १३४ | ० |
| ह्याँ न चलै | ३३२ | ३३२ | ३६७ | ४०५ | १७८ | १७४ | ३६० | ० |
| ह्वै कपूर-मनि | ३६२ | ३६३ | ७७ | १४८ | २२३ | ४४० | ७४ | ० |

## उपस्करण—२

[ बिहारी-रत्नाकर-स्वीकृत दोहों के अतिरिक्त, बिहारी-सतसई की भिन्न भिन्न प्रतियों में प्राप्य, दोहों का संग्रह ]

# विज्ञप्ति

इस उपप्रकरण में वे दोहे एकत्र कर दिए गए हैं, जो बिहारी-रत्नाकर में तो नहीं स्वीकृत किए गए हैं, पर बिहारी-सतसई की भिन्न भिन्न मूल अथवा सटीक प्रतियों में मिलते हैं। इनमें से कुछ दोहे तो प्रत्यक्ष ही मतिराम, रसलीन इत्यादि कवियों के हैं, और शेष में से पाँच-सात को छोड़ कर अन्य की न तो भाषा बिहारी की परिमार्जित भाषा से मिलती है, और न रचना-प्रणाली उनकी सुगठित रचना-प्रणाली से ॥

इन दोहों की पाठ-शुद्धि में विशेष श्रम नहीं किया गया है। दो-एक पुस्तकों के आधार पर उनके पाठ रक्खे गए हैं। किसी किसी के पाठांतर भी पाद-टिप्पणी में दे दिए गए हैं ॥

# अधिक दोहे

हौं आई सुनि कै सखी, डलिया दाबि दुकूल।
हा! हा! हँसि, देखौं भरत, कौन भाँति के फूल ॥ १ ॥
मोहीं सौं सतराति हौ, आन देहु यह चामु।
हाथ पकरि कै सौंपिहैं कामी कैं कर कामु ॥ २ ॥
चाकौ मनु छाट्यौ हुतौ, हौं दै लाइ टीभ।
बोलत हौं जिहिं बिसु बयौ, निपट पातरी जीभ ॥ ३ ॥
नेहु निबाहैं हीं बनै, सोचें बनै न आन।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै, प्रेमु, न दीजै जान ॥ ४ ॥
याही टेक सों ना तजैं, संचु जीभ जरि जाइ।
मीठौ कहा अँगार कौ, तोहि चकोर चबाइ ॥ ५ ॥
क्यौं कै रूठौ, क्यौं झुकौ, क्यौं कै होउ उदास।
प्रेम-पराए प्रान ए परे रहौ पिय-पास ॥ ६ ॥
आँड़े परिहैं खेलतैं, बुरी भाँति है चाल।
बोली रिस न बसाइयै, हाँसी होइ न, लाल ॥ ७ ॥
बिधुबदनी मोसौं कहत, मैं समुझी निज बात।
नैन-नलिन पिय, रावरे न्यौंइ निरखि नै जात ॥ ८ ॥
मैं तब तूँ बरजी हुती, नहीं रोस कौ काम।
ताती बातैं तैं कहीं, सीरे ह्वै गए स्याम ॥ ९ ॥
कोटि कुटिलता छाँड़ि कै कियौ प्रेम-प्रतिपाल।
टेढ़ी भौंहैं तैं करीं, सूधे ह्वै गए लाल ॥ १० ॥
आनन उघटै अंग अति, कसे कंचुकी लेति।
का पर कोपैं कामिनी काजरु नैननि देति ॥ ११ ॥
कहा बचन बिसु ही गई फिरि चितवनि इहिं ओर।
कुँवर-करेजैं गड़ि रही ए कजरारी कोर ॥ १२ ॥
मानति मोसौं क्यौं नहीं छुई छबीली छाँह।
प्रेम प्रगट भयौ हे सखी, आभा आँखिनि माँह ॥ १३ ॥
प्रेमु दुरायौ ना दुरै, नैना देहिं बताइ।
छैरी कैं मुँह री सखी, क्यौं हुँ न कुम्हड़े माइ ॥ १४ ॥

---

१. ससि। २. तुम साँची यह। ३. निरखत हीं। ४. औंध। ५. अजया। ६. क्यौं रु कुम्हैड़ौ।

ऐसैं अंतर-नेह कौ अंग अंग दुति होति ।
जैसैं पट फानूस कैं दुरै न दीपक-जोति ॥ १५ ॥

मैं समुझाई हौं, सखी, प्रेम न होइ खेलु ।
अपनौ औरौं सीसु हूँ प्रेम-पाँवड़ें मेलु ॥ १६ ॥

तबु मैं तोसौं हौं कह्यौ, माने नाहिँन बैन ।
सोई बसायौ लै हिऐं, हियैहीं लाग्यौ लैन ॥ १७ ॥

कह्यौ न कुरु, मेरैं कहैं दियौ प्रेम पिय नाखि ।
फेरि घरी लौं वो धरै आँसुनि मैं तैं आँखि ॥ १८ ॥

लोइन लोह किन बह्यौ, जौ, अजियैं साँचौ हेत ।
आँसुनि कैं मिसि नैन-मग प्रेमहिँ पानी देत ॥ १९ ॥

आए जोवन कै, सुन्यौ, जो गति कीनी मैन ।
तिया-अंग के भेद सब कसबातीं कहैं नैन ॥ २० ॥

जियत न जिय की जानियै, हठ हीँ सौं ज्यौं लेहुँ ।
कौन रीति यह तियनि की, जियहिँ गैएँ ज्यौं देहुँ ॥ २१ ॥

कछु गहि नाइक हँसि कह्यौ कछू वचन रति-काज ।
पलकनि कौ घूँघटु कियौ प्रिया प्रेम की लाज ॥ २२ ॥

भली बुरी जैसै परौ, बानि न ताकी जाइ ।
अम्रित पियै चकोर वहि, वहै अँगार चवाइ ॥ २३ ॥

लाज छाँरि अँचई सबै, अरु डरु दीनौ नाखि ।
ताही सौं बातनि लगौ, जासौं लागी आँखि ॥ २४ ॥

बिधि हूँ बारक पूछियौ मिलै तु सिर लिखु नाखि ।
तैं हूँ देखीं हैं कहूँ, आँखिनि ऐसी आँखि ॥ २५ ॥

और कछू सूझै नहीं, दई दुहाई मैन ।
धीठी कैं सँग ह्वै गए नैननि लागे नैन ॥ २६ ॥

कटि छोटी, छाती बड़ी, आँख्यैं लागतिँ कान ।
छीवरबारी छोहरीं लेति छुड़ाएँ प्रान ॥ २७ ॥

ताही तिय दै बूझियै, कैहँ पतीजै साँच ।
आँगहिँ लाँघिहि आगि सी, मेटै तन की आँच ॥ २८ ॥

चंदन, चंपक, चंद-रस, चंद चुरयौ तन जाइ ।
बारक आली, आँग सौं आँग्यौ देखि, लगाइ ॥ २९ ॥

---

१. औरैं । २. समरु सजायौं । ३. कहि न कहै मेरौ कह्यौ । ४. अँखिनि । ५. पिय । ६. आयौ जोबन आ मिल्यौ जो गति । ७. कहौं । ८. दै पिवैलाइ ।

चाख्यौ बिरह हियौ हुतौ, रह्यौ जु भीतर लागि।
छिरकैं उठी गुलाब के चूआ की सी आगि॥ ३० ॥

बार बार कहौं बावरी, तनक धीर नहिं तोहिं।
जरी जाति हौं जोन्ह में, लै परछाँहीं मोहिं॥ ३१ ॥

ग्रीषम जारति ही जरी, पावस जारति काहि।
बिरह बिरह की बिरहं की आगि अंग में ताहि॥ ३२ ॥

बूढ़ पखी बसुधा लखी, बहकि उठी सै बार।
पावस जरियै क्यौं नहीं, पानी माँझ अँगार॥ ३३ ॥

सूखि मिरच तनु ह्वै रह्यौ, जौ देखौ ही टोइ।
प्रान उड़ैं घनसार लौं, अवधि घूँघची होइ॥ ३४ ॥

सकुच-सहित बातनि लगी, आननु फेरति नाहिं।
मैना हौं चित-चोर लौं निरखि निरखि नै जाहिं॥ ३५ ॥

कोटि अपछरा वारियै, यौं सुकिया सुखु देइ।
ढीली आँखिनि हीं चितै, गाढ़ैं गाढ़े मनु लेइ॥ ३६ ॥

औगुन अगनित देखियै, पलकौ देहि न नाखि।
नीचैं नीचे कर्म सब, ऊँचैं ऊँचे आँखि॥ ३७ ॥

बुरौ न कोऊ कहि सकै बड़े बंस की कानि।
भलौ भलौ सब कहि उठैं धुवाँ अगर कौ जानि॥ ३८ ॥

अपनै हीं गुन पाइयै, उपकारी जसु लेइ।
वर हूँ कैं हाथी चढ़ैं, टेरू महावत देइ॥ ३९ ॥

नख सिख निरखत हौं तुम्हैं, टेढ़ेई सब गात।
भगत-हृदय में कौन बिधि सूधे ह्वै जु समात॥ ४० ॥

हरि कौ फिर्‌यौ न पैंड़ है, लोभ फिर्‌यौ सब देस।
मनु न भयौ कहुँ ऊजरौ, भए ऊजरे केस॥ ४१ ॥

कर कंपै, लेखिनि डिगै, अंग अंग अकुलाइ।
सुधि आएँ छाती जरै, पाती लिखी न जाइ॥ ४२ ॥

सुरत-अंत पीतम चले, नख लागे हिय नारि।
जौ लै डारी जोन्ह में, तौ गइ चाँदनि मारि॥ ४३ ॥

सरवर की छाती फटी, और कछू दुखु नाहिं।
पारि देखि पंथी धँसैं, नीर-हीन फिरि जाहिं॥ ४४ ॥

---

१. लागि। २. न घुँघची। ३. मित्र। ४. भजहुँ। ५. फटै। ६. पाइ। ७. थके। ८. जाइ।

दुखी, सुखी दिन काटियै, घाम बारि हूँ सोइ।
छाँह न ताकी ताकियै, पेड़ फ़तरौ जोइ॥ ४५॥

डगैं डगैं, छूठी लटैं, लड़ै लटपटे बैन।
तेरौई[2] चहचर करैं नेह-चीकने नैन॥ ४६॥

भौन भीर, गुरजन भरैं, सकैं न कहि कै बैन।
दंपति डडा कटाच्छौ[3] भरि, चौंचरि खेलैं नैन॥ ४७॥

बिधुबदनी, मोसौं कहत कत उपजावत दाहु।
नैन-नलिन फूले जहाँ रबि-बदनी कैं जाहु॥ ४८॥

नैन, स्रवन, मन हरि मिले, अंग न रही सँभार।
रूठन-हारी एक है, सबै मनावन-हार॥ ४६॥

निसि बोलौ नहिं नाह सौं, उदै होत दै भानु।
हीरा हीरा सौं करै, ता पाछैं करु मानु॥ ५०॥

लाख भाँति नेवछ्रु करैं, माँगें महरि न देइ।
मोहन मुखु देखत रहे, जाखु गुरैया लेइ॥ ५१॥

ब्रज-बासिनि कौ बनि गयौ याही मैं सब सूतु।
महकि गुरैया पूजियै गोद गदाधर पूतु॥ ५२॥

बेद भेद जानैं नहीं, नेति नेति कहैं बैन।
ता मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन॥ ५३॥

जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ, जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस॥ ५४॥

सिव, संनकादिकैं, ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिं डीठि।
तामोहन-तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥ ५५॥

मनु मारयौ केतैं मुनिनि, मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पैं राधिका मान गहावति पाइ॥ ५६॥

जिन सिगरी बसुधा रची तत्त्व मिलै कै पाँचु।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाचु॥ ५७॥

देव अदेव सबै जपैं अपनैं अपनैं ऐन।
तामोहन-तन राधिका चितवति आधे नैन॥ ५८॥

गाइ दुहावन हौं गई, लखे खरिक हरि साँझ।
सखी, समर्पन है गई आँखैं अँखिनि माँझ॥ ५६॥

---

१. बिरमियै। २. तेरे यह। ३. बहाकि। ४. गाइयै। ५. जु मुनीनि मन। ६. सबै बस।

कहा हुतौ मोसौं कह्यौ, कंत डारत बहराइ।
गोएँ गुऐ न सुरत-सुख, कोए कहत गुराइ॥ ६०[1]॥

पलकनि दाबत नैन पिय, उघरि उघरि ते जाहिं।
राते माते रूप-रस, कोए सोए नाहिं॥ ६१॥

चलौ चलैं हीं मानिहै, मतैं[2] मतौ नहिं आन।
रह्यौ, रावरी सौंह, है भाइक भौंहनि भान॥ ६२॥

तुम रूठीं, उत जे भुकैं, थकैं हमारे पाइ।
पाथर लागै लोह सौं, रुई बीचि जरि जाइ॥ ६३॥

पिय की पुतरी देखि कै कर-बीरी दइ नाखि।
मोहिं दिखावति देखि[3] यौं आँखिनि मैं की आँखि॥ ६४॥

मनु मिलवति हम सौं नहीं, मानु दिखावति नारि।
नेह-चौंकनी देखियै रूखे, रूठन-हारि॥ ६५॥

ललकि लोल लोचन भए सुनत नाह के बोल।
ऊपर की रिस क्यौं दुरै हाँसी भरे कपोल॥ ६६॥

कामिनि कैं उर रूठनौ, तमकि बढ़ावत भौंह।
कामी कौ साहस यहै—कै हा-हा, कै सौंह॥ ६७॥

बालम, तुम सौं रूठियै, मन सौं कछु न बसाइ।
ज्यौं ज्यौं खैंचौं आप त्यौं, त्यौं त्यौं तुम-तन जाइ॥ ६८॥

आँखिनि सौं आँखैं लगीं, मनु लाग्यौ ता साथ।
जैसैं पंथी पंथ मैं ठगु बेचै ठग-हाथ॥ ६९॥

पाएँ अन पाएँ भलौ, दाताई नरु अंत।
पातु न देइ करील कौं, फूलै तऊ बसंत॥ ७०॥

मानु दुरावति सखिनि हूँ, हँसि हँसि बोलति बैन।
प्रेम-परेखौ हिय कछू, भरि भरि आवत नैन॥ ७१॥

और हँसनि, औरै लसनि, और कसनि कटि-ठौर।
नैन-चुगल काननि लगे, मनु करि डार्‌यौ और॥ ७२॥

बामन लौं पिय छलु कियौ, मैं बलि ज्यौं ता कह्यौ दैन।
प्रेम पैंड़ ऊँ माँगि कै लागे सरबसु लैन॥ ७३॥

मान छुटैगौ मानिनी, पिय-मुख देखि उदोत।
जैसैं लागैं घाम के पाला पानी होत॥ ७४॥

---

१. कहत मोसौं कहत। २. मतौ मतौहीं। ३. है भटू। ४. चिकनें। ५. रूखेंहू अनुहार। ६. दीति।

दुखी, सुखी दिन काटियै, घाम बारि हूँ सोइ।
छाँह न ताकी ताकियै, पेड़ पातरौ जोइ॥ ४५॥

डगैं डगैं, छूटी लटैं, लड़ैं लटपटे बैन।
तेरीई[1] चहचहर करैं नेह-चीकने नैन॥ ४६॥

भौन भीर, गुरजन भरैं, सकैं न कहि कै बैन।
दंपति डडा कटाच्छ[2] भरि, चाँचरि खेलैं नैन॥ ४७॥

बिधुबदनी, मोसौं कहत कत, उपजावति दाहु।
नैन-नलिन फूले[3] जहाँ रबि-बदनी कै जाहु॥ ४८॥

नैन, स्रवन, मन ढरि मिले,[4] अंग न रही सँभार।
रूठन-हारी एक है, सबै मनावन-हार॥ ४९॥

मिसि बोलौ नहिँ नाह सौं, उदै हौन दै भानु।
हीरा हीरा सौं करै, ता पाछैं करु मानु॥ ५०॥

लाख भाँति नेवछ्र करैं, माँगैं, महरि न देइ।
मोहन मुखु देखत रहे, जाखु गुरैया लेइ॥ ५१॥

ब्रज-बासिनि कौ बनि गयौ याही मैं सब सूतु।
गहकि गुरैया पूँजियै गोद गदाधरु पूतु॥ ५२॥

बेद भेद जानैं नहीं, नेति नेति कहैं बैन।
ता[5] मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन॥ ५३॥

जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ, जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस॥ ५४॥

सिव, सनकादिक, ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिँ डीठि।
तामोहन-तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥ ५५॥

मनु मार्यौ केतैं मुनिनि, मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पैं राधिका मान गहावति पाइ॥ ५६॥

जिन सिगरी बसुधा रची तत्त्व मिलै कै पाँच।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच॥ ५७॥

देव अदेव[6] सबै जपैं अपनैं अपनैं ऐन।
तामोहन-तन राधिका चितवति औधें नैन॥ ५८॥

गाइ दुहावन हौं गई, लखे खरिक हरि साँझ।
सखी, समोवन ह्वै गईं आँखें आँखिनि माँझ॥ ५९॥

---

१. बिरमियै। २. तेरे यह। ३. बहाकि। ४. गाइयै। ५. जु मुनीनि मन। ६. सबै बस।

कहा हुतौ[1] मोसौं कह्यौ, कंत डारत बहराइ।
गोएँ गुऐ न सुरत-सुख, कोए कहत गुराइ॥ ६० ॥

पलकनि दाबत बैन पिय, उघरि उघरि ते जाहिं।
राते माते रूप-रस, कोए सोए नाहिं॥ ६१ ॥

चलौ चलैं हौं मानिहै, मतैं[2] मतौ नहिं आन।
रह्यौ, रावरी सौंह, है भाइक भौंहनि भान॥ ६२ ॥

तुम रूठौं, उत वे भुकैं, थकैं हमारे पाइ।
पाथर लागै लोह सौं, रुई बीचि जरि जाइ॥ ६३ ॥

पिय की पुतरी देखि कै कर-बीरी दइ नाखि।
मोहिं दिखावति देखि[3] यौं आँखिनि मैं की आँखि॥ ६४ ॥

मनु मिलवति हम सौं नहीं, मानु दिखावति नारि।
नेह-चौंकनी देखियै रूखै[4] रूठन-हारि॥ ६५ ॥

ललकि लोल लोचन भए सुनत नाह के बोल।
ऊपर की रिस क्यौं दुरै हाँसी भरे कपोल॥ ६६ ॥

कामिनि कैं ज्वर रूठनौ, तमकि बढ़ावत भौंह।
कामी कौ साहस यहै—कै हा-हा, कै सौंह॥ ६७ ॥

बालम, तुम सौं रूठियै, मन सौं कछु न बसाइ।
ज्यौं ज्यौं खैंचौं आप त्यौं, त्यौं त्यौं तुम-तन जाइ॥ ६८ ॥

आँखिनि सौं आँखैं लगीं, मनु लाग्यौ ता साथ।
जैसें पंथी पंथ मैं ठगु बेचै ठग-हाथ॥ ६९ ॥

पाएँ अन पाएँ भलौ, दाताई नर अंत।
पातु न देइ करील कौं, फूलै तऊ बसंत॥ ७० ॥

मानु दुरावति सखिनि हूँ, हँसि हँसि बोलति बैन।
प्रेम-परेखौ हिय कछू, भरि भरि आवत नैन॥ ७१ ॥

और हँसनि, औरै लसनि, और कसनि कटि-ठौर।
नैन-चुगल काननि लगे, मनु करि डार्यौ और॥ ७२ ॥

बामन लौं पिय छलु कियौ, मैं बलि ज्यौं कह्यौ दैन।
प्रेम पैंड़ ह्वै माँगि कै लागे सरबसु लैन॥ ७३ ॥

मान छुटैगौ मानिनी, पिय-मुख देखि[6] उदोत।
जैसैं लागैं घाम के पाला पानी होत॥ ७४ ॥

---

१. कहत मोसौं कहत। २. मतौ मतौहीं। ३. है मट्ट। ४. चिकनैं। ५. रूखैहू अनुहार। ६. दाँसि।

दुखी, सुखी दिन काटियै, घाम बारि हूँ सोइ।
छाँह न ताकी ताकियै, पेड़ फ्तरौ जोइ॥ ४५॥

डगैं डगैं, छूटी लटैं, लहैं लटपटे बैन।
तेरोई चहचर करैं नेह-चीकने नैन॥ ४६॥

भौंन भीर, गुरजन भरे, सकैं न कहि कै बैन।
दंपति डडा कटाच्छ भरि, चाँचरि खेलैं नैन॥ ४७॥

बिधुबदनी, मोसौं कहत कंत, उपजावत दाहु।
नैन-नलिन फूले जहाँ रबि-बदनी कैं जाहु॥ ४८॥

नैन, स्रवन, मन हरि मिले, अंग न रही सँभार।
रूठन-हारी एक है, सबै मनावन-हार॥ ४९॥

निसि बोलौ नहिं नाह सौं, उदै होत दै भानु।
हीरा हीरा सौं करै, ता पाछैं करु मानु॥ ५०॥

लाख भाँति नेवज करै, माँगै, महरि न देइ।
मोहन मुखु देखत रहे, जाखु गुरैया लेइ॥ ५१॥

ब्रज-बासिनि कौ बनि गयौ याही मैं सब सुतु।
गहकि गुरैया पूजियै गोद गदाधर पूतु॥ ५२॥

बेद भेद जानैं नहीं, नेति नेति कहै बैन।
ता मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन॥ ५३॥

जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ, जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पै राधिका सुमन गुहावति सीस॥ ५४॥

सिव, सनकादिकै, ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिं डीठि।
तामोहन-तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥ ५५॥

मनु मार्‌यौ केतैं मुनिनि, मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पै राधिका मान गहावति पाइ॥ ५६॥

जिन सिगरी बसुधा रची तत्त्व मिलै कै पाँच।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच॥ ५७॥

देव अदेव सबै जपैं अपनैं अपनैं ऐन।
तामोहन-तन राधिका चितवति आधैं नैन॥ ५८॥

गाइ दुहावन हौं गई, लखे खरिक हरि साँझ।
सखी, समोर्वन है गईं आँखें आँखिनि माँझ॥ ५९॥

---

१. त्रिरमियै। २. तेरै यह। ३. बहकि। ४. गाइथै। ५. जु मुनीनि मन। ६. सबै बस।

कहा हुतौ मोसौं कह्यौ, कत डारत बहराइ।
गोएँ गुऐ न सुरत-सुख, कोए कहत गुराइ॥ ६० ॥
पलकनि दाबत बैन पिय, उघरि उघरि ते जाहिं।
राते माते रूप-रस, कोए सोए नाहिं॥ ६१ ॥
चलौ चलैं हौं मानिहै, मतैं² मतौ नहिं आन।
रह्यौ, रावरी सौंह, है भाइक भौंहनि भान॥ ६२ ॥
तुम रूठौं, उत वे भुकैं, थकैं हमारे पाइ।
पाथर लागै लोह सौं, रुई बीचि जरि जाइ॥ ६३ ॥
पिय की पुतरी देखि कै कर-वीरी दइ नाखि।
मोहिं दिखावति देखि³ यौं आँखिनि मैं की आँखि॥ ६४ ॥
मनु मिलवति हम सौं नहीं, मानु दिखावति नारि।
नेह-चौंकनी⁴ देखियै रूखौ⁵ रूठन-हारि॥ ६५ ॥
ललकि लोल लोचन भए सुनत नाह के बोल।
ऊपर की रिस क्यौं दुरै हाँसी भरे कपोल॥ ६६ ॥
कामिनि कैं उर रूठनौ, तमकि बढ़ावन भौंह।
कामी कौ साहस यहै—कै हा-हा, कै सौंह॥ ६७ ॥
बालम, तुम सौं रूठियै, मन सौं कछु न बसाइ।
ज्यौं ज्यौं खैंचौं आप त्यौं, त्यौं त्यौं तुम-तन जाइ॥ ६८ ॥
आँखिनि सौं आँखैं लगीं, मनु लाग्यौ ता साथ।
जैसैं पंथी पंथ मैं ठगु बेचै ठग-हाथ॥ ६९ ॥
पाएँ अन पाएँ भलौ, दाताई नर अंत।
पातु न देइ करील कौं, फूलै तऊ बसंत॥ ७० ॥
मानु दुरावति सखिनि हूँ, हँसि हँसि बोलति बैन।
प्रेम-परेखौ हिय कछू, भरि भरि आवत नैन॥ ७१ ॥
और हँसनि, औरै लसनि, और कसनि कटि-ठौर।
नैन-चुगल काननि लगे, मनु करि डार्यौ और॥ ७२ ॥
बामन लौं पिय छलु कियौ, मैं बलि ज्यौं कह्यौ दैन।
प्रेम पैंड़ द्वै माँगि कै लागे सरबसु लैन॥ ७३ ॥
मान छुटैगौ मानिनी, पिय-मुख देखि उदोत।
जैसैं लागैं घाम के पाला पानी होत॥ ७४ ॥

---

१. कहत मोसौं कहत। २. मतौ मतौहीं। ३. है भट्ठ। ४. चिकनें। ५. रूखहूँ अनुहार। ६. दासि।

ज्यौं बिछुरत तनु थकि रह्यौ, लागि चल्यौ चितु गैल।
जैसैं चीर चुराइ लै चलि नहिं सकै चुरैल ॥ ७५ ॥

बलया, पीक, उगारु मुख गिर्‌यौ, सँजोग-निवास।
मार्‌यौ बिरह, मनौं पर्‌यौ पंजर, लोहू, मास ॥ ७६ ॥

धुनि सुनि, सहित सनेह लखि, हेरैं हियौ मुसकाइ।
क्यौं यह बात बनै, सखी! क्यौं जिय कौ दुखु जाइ ॥ ७७ ॥

नहिँ टीकौ, न गुलीबँदौ, नहिँ झुमेल, नहिँ हारु।
सुरति-समै इक नाहियै नख-सिख होति सिँगारु ॥ ७८ ॥

पावस कठिन जु पीर, अबला क्यौंकरि सहि सकै।
तेऊ धरत न धीर, रकत-बीज-सम ऊपजैं ॥ ७९ ॥

मोसौं मति बोलौ हहा, सखि, आए नँदलाल।
मोहन कित, यौं कहि उठति भई बिकल अति बाल ॥ ८० ॥

हनी पूतना अरु दियै जग मुँह मैं दिखराइ।
कहा जानियै, को भयौ प्रगट नंद-घर आइ ॥ ८१ ॥

करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गंधी, मति-अंध तूँ, अतर दिखावत काहि ॥ ८२ ॥

अंत मरैंगे, चलि जरैं चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ए निरधूम अँगार ॥ ८३ ॥

अहो पथिक, कहियौ तुरत गिरधारी सौं टेरि।
दृग-झर लाई राधिका, अब बूड़त ब्रज फेरि ॥ ८४ ॥

कालिह दसहरा बीतिहै, धरि मूरख, जिय लाज।
दुर्‌यौ फिरत कत द्रुमनि मैं नीलकंठ बिनु काज ॥ ८५ ॥

गुरुजन दूजैं ब्याह कौं निसि-दिन रहत रिसाइ।
पति की पति राखति बधू आपुन बाँझ कहाइ ॥ ८६ ॥

चंप-कली कर गहि कुँवरि हुती सखी कौं देति।
वहै बौरी औरैं परी अँगुरी गहि गहि लेति ॥ ८७ ॥

जदपि पुराने बक तऊ सरवर, निपट कुचाल।
नए भए तु कहा भयौ, ए मन हरत मराल ॥ ८८ ॥

जुरत सुरति कै सुरति की खिन खिन हियौ सकात।
त्यौं त्यौं नायक कौमल के कमलाइत है आत ॥ ८९ ॥

---

१. एकै नहीं। २. अवतर। ३. नित उठि ; नित प्रति। ४. जन-हरन।

कहा अरगनी तकत हौ, अहो अनोखे नाह।
अहि कारी प्यारी लगै गरुड़-पच्छ की छाँह॥ ९० ॥
कुच-ढाँपन वाँतु बनै, दुति-सुमेरु हरि लीन।
बदन-दुरावन क्यों बनै, चंद कियो जिहिं दीन॥ ९१ ॥
गति दै, मति दै, हेतु दै, रसु दै, जसु दै दान।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै नेह न दीजै जान॥ ९२ ॥
बिनु बरजे धौं का कहै, बरज्यौ कौं जाइ।
जो जिय में ठाढ़्यौ रहै, तासों कहा बसाइ॥ ९३ ॥
सरत बड़े फूलत सकुचि सब-सुख केलि-निवास।
अपत करै फूलत बहुत मन मैं मानि हुलास॥ ९४ ॥
सतसैया के दोहरा ज्यौं नावक के तीर।
देखत अति छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥ ९५ ॥
मुँदत, खुलत दृग तीय के, हौं, रीझी हीं भइ।
भ्रमित भए पिय जानि कै मानौं ढोरत वाइ॥ ९६ ॥
छपि छपि देखति कुचनि-तन कर सौं अँखियाँ टारि।
नैननि मैं निरखति रहै, भई अनोखी नारि॥ ९७ ॥
सखियनि मैं बैठी रहै, पूछे, प्रीति-प्रकार।
हँसि हँसि आपुस मैं कहैं, प्रकट भयौ है मार॥ ९८ ॥
चित मैं तौ कछु चोप सी, निपट न लाग्यौ नेह।
कहूँ दुरै, देखै कहूँ, कहूँ दिखावै देह॥ ९९ ॥
लट्टू भयौ वासौं रहत वाही सौं भुकि रंग।
मन मोसौं मानी भयौ वाही तिय के संग॥ १०० ॥
होति कहा कहि हो सखी, दंपति की रस-रीति।
वा समए कौ देखि छबि गयौ मदन-मुँह जीति॥ १०१ ॥
नैन परे पिय-रूप मैं, रूप पर्यौ हिय माहिं।
बात परी सब कान मैं, मोहिं परै कल नाहिं॥ १०२ ॥
घूँघट-पट की ओट तैं निडर रहै मति कोइ।
कुही बाज कुलही दियैं अधिक सिकारी होइ॥ १०३ ॥
सूक्यौ बारिज, कुसुम-बन, पुहुप मालती-वृंद।
मधुप कहा जीवन जियै मूली[१] कै मकरंद॥ १०४ ॥

---

१. जेठ-दुपहरी माँह।

मन-मरकत कैं पग खुभ्यौ निपट निरादर-खोभ।
तदपि नचावत सठ, हठी, नीच कलंदर लोभ॥ १०५॥

रह्यौ न काहू काम कौ, सेंत न कोऊ लेत।
बाजू टूटे बाज कौं साहब चारा देत॥ १०६॥

तीन बार लाला, तुम्हैं पठै दई अलि-साथ।
चोरी प्रेम-सुगंधि की उघरि गई तिहिं हाथ॥ १०७॥

फूल आनि दै, गोद लै, पतरि दै घर आव।
लाल, कही बारी नहीं करन-फूल पहिराव॥ १०८॥

गाइ न ए गाइन बड़े, लै बैठे कर बीनें।
ए गाहक करवीन के, रागौ राग नवीन॥ १०९॥

विनग फुही, लपट छुटा, घटा धूम-विस्तार।
एल्लस-रितु प्रानेस बिनु, होत सकार कछार॥ ११०॥

गुंजत अंगुलि दै दसन, लखि कंजनि सकुचाइ।
मूँदति पति-दृग दाहिनै, रति विपरीत लखाइ॥ १११॥

परी दे री सवज, सुनि, तेरी अलक घटोरि।
चढ़ि न सकत है चित्त-नट निपट चीकनी डोरि॥ ११२॥

जे हरि खगपति सीस धरि, हर ध्यावत धरि ध्यान।
ते हरि जेहरि-तर किए तूँ राधे करि मान॥ ११३॥

नैन किरकिरी जौ परै, कर मीँजत जिय जाइ।
देखहु प्रेम सुभाव रसमूरति नैन समाइ॥ ११४॥

परी परी लौं चंदि अटा, निपट परी बढ़ि जोति।
फिरती दीठि दई छिनकु, दीठि विचल चल होति॥ ११५॥

वधू-अधर की मधुरता बरनत मधु न तुलाइ।
लिखत लिखक के हाथ की किलिक ऊख ह्वै जाइ॥ ११६॥

मारे काहू मीत के भूलि गए सब जेब।
आप कहूँ, असा कहूँ, तसवी कहूँ किताब॥ ११७॥

हँसि हँसि रस-दस करि लयौ लँगर छोहरी-दीठि।
निपट कपट उर देखियत आँखिनि हूँ मैं पीठि॥ ११८॥

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल।
हरें कहै, मो हीय मैं बसत बिहारी लाल॥ ११९॥

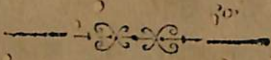
बारनि कौ बुरका कियौ सब अँग लियै छिपाइ।
अँगुठा देखि पर्यौ तहीं, अँगुठा गई दिखाइ॥ १२०॥

जा दिन तैं देखे दृगनि, भाजी लाजं बजाइ।
सखी, साँवरे रूप की सोभा कही न जाइ॥ १२१॥
निकट पाट कंदावली बँधी कनक सुभ-बेष।
सोहत जनु बिजुरी किये सारद-ससि-परिवेष॥ १२२॥
अमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जिहिँ चितवत इक बार॥ १२३॥
सघन कुंज जमुहाति तिय, उठी प्रीत तजि सैन।
लगे गुलाब खुसामदी, चट चट चुटकी दैन॥ १२४॥
ठाढ़ी मंदिर पै लखैं मोहन-दुति सुकुमारि।
तन थाकं हूँ ना थकैं चख चित चतुर निहारि॥ १२५॥
गुहि लैहौं अपनौ हरा; छोड़ौ लाल, सुभाउ।
मेरौ तुमहाई वह एसौ जात है नाउ॥ १२६॥
जौ संपत्ति बहुतै बढ़ै, आनँद उपजै चित्त।
ए तीनौं न बिसारियै हरि, अरि, अपनौ मित्त॥ १२७॥
नैन-तुरंगम, अलक-छबि-छरी लगी जिहिं आइ।
तिहिं चढ़ि मन चंचल भयौ, पति दीनी बिसराइ॥ १२८॥
अरे हंस, या नगर मैं जैयौ आपु बिचारि।
कागनि सौं जिन प्रीति करि कोकिल दई बिडारि॥ १२९॥
नंद-नंद, गोबिंद जै, सुख-मंदिर गोपाल।
पुंडरीक-लोचन ललित, जै जै कृष्ण रसाल॥ १३०॥
ताहि देखि मन, तीरथनि बिकटनि जाइ बलाइ।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाइ॥ १३१॥
कहौ बात सब तैं भली, जौ कहि आवै दाइ।
एक बात हाथी बँधे, एक बाँधियतु पाइ॥ १३२॥
साहस करि कुंजनि गई, लख्यौ न नंद-किसोर।
दीप-सिखा सी थरहरी लगैं बयार-झकोर॥ १३३॥
मनमोहन के मिलन कौं करति मनोरथ नारि।
धरै पौन के सामुहैं दिया भौन कौ बारि॥ १३४॥
केलि करैं मधु-मत्त जहँ घन मधुपन के पुंज।
सोच न करि तौ सासुरै सखी, सघन बन-कुंज॥ १३५॥

---

१. चली भोर।

छुटैं सपल्लव-लाल कर लखि तमाल की हाल।
कुँभिलानी उर साल धरि फूलमाल ज्यौं बाल ॥ १३६ ॥
तेरी चलनि, चितौनि, मृदु मधुर मंद मुसकानि।
छाइ रही सखि, लाल की लखि अनिमिष अँखियानि ॥ १३७ ॥
नथुनी गजमुकतानि की लसत चारु सिंगार।
जिन पहिरै सुकुमारि तन और आभरन भार ॥ १३८ ॥
झूठें हीं ब्रज मैं लग्यौ मोहिं कलंकु गुपाल।
सपनें हूँ कबहूँ हियैं लगे न तुम नँदलाल ॥ १३९ ॥
प्रीतम कौं मनभावती मिलति बाँह दै कंठ।
बाहीं छुटीं न कंठ तैं, नाहीं छुटी न कंठ ॥ १४० ॥
प्रान-पियारौ पग परयौ, तूँ न तकति इहिं ओर।
ऐसौ उर जु कठोर, तौ न्यायहिँ उरजु कठोर ॥ १४१ ॥
चली अली, कहि, कौन पैं, बड़ौ कौन सौ भाग।
उलटी कंचुकि कुचनि पैं कहैं देति अनुराग ॥ १४२ ॥
सिसुता-अमल-तगीर सुनि भए और मिलि मैन।
कहौ होत हैं कौन के, ए कसबाती नैन ॥ १४३ ॥



# अधिक दोहों की अकारादि सूची

